भारतीय नागरिकता की भूमिका

(भारतीय नागरिक जीवन और संविधान)

लेखक

कन्हैयालाल वर्मा, एम० ए०

राजनीति-विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय

बनारस ।

प्रकाशक

नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स

बनारस ।

दूसरा संस्करण] १९५४ [मूल्य ५॥)

प्रकाशक
नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स
चौक, बनारस।

मुद्रक—
बालकृष्णशास्त्री;
ज्योतिष प्रकाश प्रेस, बनारस।

राष्ट्र-भाषा
के
प्रेमियों को

लेखक की अन्य कृतियाँ—

१. भारतीय राजनीति और शासन-पद्धति ८)
(उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत

२. राजनीतिक भारत (१९४०—५१) ४||)

३. संयुक्त-राज्य-अमरीका का संविधान ६)
(उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत)

४. हाईस्कूल नागरिक शास्त्र २||)

५. भारतीय-शासन (अप्राप्य)

६. नाजी जर्मनी (अप्राप्य)

७. लोकनीति और राष्ट्रीयता

८. पश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास ८||)
(उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत)

प्रथम संस्करण की भूमिका

यह पुस्तक बोर्ड आफ हाई स्कूल एंड इंटरमीजियेट एज्यूकेशन, इलाहाबाद और काशी हिंदू-विश्वविद्यालय की ११ वीं और १२ वीं कक्षाओं के लिए नागरिक शास्त्र के दूसरे प्रश्न-पत्र के पाठ्य-क्रम के अनुसार लिखी गयी है। नागरिक शास्त्र की कल्पना में भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों का समावेश होता है। अपनी मौजूदा समस्याओं के समझने के लिए नागरिकों को उनके भूतकालीन रूप का ज्ञान होना चाहिये। इसके बिना उसका ज्ञान संकीर्ण तथा अध्ययन-प्रणाली निराधार-सी हो जाती है। अतएव इस पुस्तक में भारतीय नागरिक जीवन के सभी अंगों की ऐतिहासिक व्याख्या की गयी है। किंतु नागरिक शास्त्र का क्षेत्र भूत तक ही सीमित नहीं होता। वह केवल वर्तमान ही नहीं, भविष्यत् तक विस्तृत होता है। अतएव इस पुस्तक में भारतीय नागरिकों के वर्तमान जीवन, उनकी मौजूदा समस्याओं तथा उनके भावी झुकाव पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके बिना नागरिक-शास्त्र का अध्ययन नीरस तथा व्यावहारिक और उपयोगिता की दृष्टि से निरर्थक हो जाता है।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय नागरिकों पर नये उत्तरदायित्व आ गये हैं। उन्हें सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों में उत्साह तथा काम करने की क्षमता हो। हमारी स्वतंत्रता के संग्राम का इतिहास इतना उत्साहवर्द्धक है कि भारत के प्रत्येक नागरिक को उसका समुचित ज्ञान होना चाहिये। हमारी स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ इतनी उपयोगी हैं कि प्रत्येक नागरिक को उनके द्वारा व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। उत्साह और ज्ञान के सहारे हम अपनी मौजूदा समस्याओं को सुगमता से हल कर सकेंगे। अतएव इस पुस्तक में स्थानीय स्वशासन और राष्ट्रीय उत्थान पर विशेष जोर दिया गया है। भारत के मौजूदा जीवन में आर्थिक समस्याओं के महत्व के विषय में दो मत नहीं हो सकते। अतएव आर्थिक जीवन की भी विस्तृत व्याख्या की गयी है। इन सब के विवरण में भारतीय दृष्टिकोण तथा संस्कृति का विशेष ध्यान रखा गया है। संविधान विषयी परिच्छेदों में यथासाध्य उसी शब्दावली का प्रयोग हुआ है जो भारत-सरकार द्वारा स्वीकृत भारतीय संविधान में। इसके कारण भाषा कहीं-कहीं क्लिष्ट हो गयी है। पर स्वीकृत शब्दावली के परित्याग बिना इससे बचना असंभव है।

आजकल नागरिक-शास्त्र की अनेक पुस्तकें बाजार में बिक रही हैं। किंतु प्रस्तुत पुस्तक अपनी उक्त विशेषताओं के कारण अनावश्यक नहीं प्रतीत होती। अतएव मैं इस पुस्तक को सर्वसाधारण, विद्यार्थियों और अध्यापकों के सम्मुख इस आशा से प्रस्तुत करता हूँ कि वे इससे कुछ लाभ उठा सकेंगे और इसकी त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करने की कृपा करेंगे।

हिंदू विश्वविद्यालय
१० जुलाई १९५०

कन्हैयालाल वर्मा

दूसरे संस्करण की भूमिका

इस संस्करण की सामग्री न्यूनाधिक वही है जो प्रथम संस्करण की। कहीं-कहीं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की बातों को कुछ संक्षिप्त कर दिया गया है। पुस्तक के अंत में दो नवीन परिच्छेद बढ़ाये गये हैं। पहले में स्वतंत्र भारत के आंतरिक शासन की समीक्षा है और दूसरे में पर-राष्ट्र-संबंध संचालन की।

२ जनवरी १९५४

कन्हैयालाल वर्मा

विषय-सूची

१

विषय-प्रवेश

नागरिकता—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे स्वभावतः तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति एवं अपने विकास के लिए, दूसरे मनुष्यों के साथ मिलजुल कर रहना और अनेक संस्थाओं का निर्माण करना पड़ता है। समाज के अगणित मनुष्यों तथा संस्थाओं के प्रति उसके अधिकार तथा कर्त्तव्य होते हैं। ये उसे समाज से बाँधे रहते हैं। कभी-कभी विभिन्न संस्थाओं तथा व्यक्तियों के प्रति, अपने कर्त्तव्य-पालन में, मनुष्य ऐसी परिस्थिति में पड़ जाता है कि उसके लिए आचरण का ठीक-ठीक मार्ग जानना कठिन हो जाता है। व्यक्तिगत हित तथा सामाजिक हित, धर्म-निष्ठा तथा देश-भक्ति, कुटुंब-प्रियता, तथा सत्य-व्रत आदि आदर्शों का परस्पर विरोध प्रायः सभी मनुष्यों के सामने उपस्थित होता है। कर्त्तव्यों के ठीक-ठीक क्रम को खोजने और तदनुसार आचरण का ही नाम नागरिकता है। इसका सार इसी में है कि मनुष्य व्यक्तिगत और सामाजिक हितों में सामंजस्य स्थापित कर सके।

भारतीय नागरिकता का सार—भारतीय नागरिकता का सार भारतीयों द्वारा, व्यक्तिगत तथा सामजिक हितों का सामंजस्य स्थापित करना है। उनके लिए यह समस्या, अन्य देशों की अपेक्षा अधिक कठिन है। विशाल क्षेत्रफल तथा सहस्रों वर्षों के क्रमानुगत इतिहास के कारण, भारत में ऐसी संस्कृतियाँ, सामाजिक प्रथाएँ और रीति-रेवाज प्रचलित हैं जो परस्पर विरोधी हैं और जिनमें सामंजस्य स्थापित करके ठीक-ठीक मार्ग का निर्धारण आसान नहीं है। नये आदर्शों और प्रभावों के आगमन तथा समावेश के कारण भारत में प्रायः सर्वदा प्राचीन और नवीन का संघर्ष रहा है और आज भी विद्यमान है। प्राचीन और नवीन आदर्शों के संघर्ष, धार्मिक मत-भेद, नवीन सभ्यता-जनित आर्थिक समस्याओं आदि के कारण, भारतीयों के लिए यह सहज नहीं कि वे विरोधात्मक आदर्शों और विचार-धाराओं में सामंजस्य स्थापित कर सकें। किंतु ऐसा करना असंभव भी नहीं है। देश ने भूतकाल में ऐसी अनेक परिस्थितियों का सफलतापूर्वक सामना किया है और अपनी प्रगतिशीलता के कारण, आधुनिक काल में भी, विरोधात्मक आदर्शों के संघर्ष को सफलतापूर्वक सुलझा सका है।

भारतीय नागरिकता के आधार—नागरिकता की कल्पना में दो बातों का होना आवश्यक है, प्रथम देश और द्वितीय उसके निवासियों का सर्वांगीण जीवन। देश नागरिकता का भौतिक आधार है। उसकी प्राकृतिक रचना, जलवायु, उपज आदि पर मनुष्य के जीवन का स्वरूप बहुत कुछ निर्भर करता है। नागरिकता का यह आधार एक प्रकार से चिरकालीन है। इस पर काल की गति का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। किंतु यह बात नागरिकता के दूसरे आधार के विषय में नहीं कही जा सकती। मनुष्य का जीवन, स्थिर (Static) नहीं, गतिशील (Dynamic) एवं विकासशील है। उसमें क्रांति का स्थान नहीं के बराबर है। मनुष्य के जीवन का आधुनिक स्वरूप भूत-कालीन जीवन का विकसित रूप है और गतिशील होने के नाते, नयी शक्तियों और प्रभावों के कारण, भविष्य विकास के पथ पर अग्रसर है। किसी देश की नागरिकता के अध्ययन के लिए हमें मनुष्य-जीवन की इस विकासशीलता एवं प्रगतिशीलता को सदा स्मरण रखना चाहिये। उसके निवासियों के भूत-कालीन जीवन का अध्ययन, आधुनिक जीवन को समझने के लिए करना चाहिये और आधुनिक शक्तियों, प्रभावों और आकांक्षाओं के आधार पर, भविष्य जीवन की कल्पना करनी चाहिये। हमें यह भी न भूलना चाहिये कि मनुष्य-जीवन एक इकाई (Unity) है। उसके विविध अंग अलग-अलग भले ही दृष्टिगोचर होते हों, किंतु वास्तव में वे एक दूसरे से गुथे हुए हैं। यही बात भारतीय नागरिकता के विषय में भी कही जा सकती है। भारत की भौगोलिक रचना आज भी प्रायः वही है जो ४००० बरस पूर्व थी। किंतु उसके निवासियों का आधुनिक जीवन भूतकालीन जीवन का विकसित रूप तथा अनेक बातों में उससे भिन्न है और आधुनिक शक्तियो, आदर्शों, प्रभावों और आकांक्षाओं के कारण, ऐसे भविष्यत् की ओर अग्रसर है जिसका अंतिम रूप भूतकालीन एवं आधुनिक जीवन से अनेक बातों में भिन्न होगा।

भारत में नागरिकता के सहायक और विरोधी गुण—भारत के प्रायः प्रत्येक धर्म ने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में सामंजस्य स्थापित करने तथा सांसारिक जीवन के पश्चात् परमार्थ प्राप्त करने की दृष्टि से कुछ आचार-व्यवहार के नियमों तथा व्यक्तिगत गुणों का उल्लेख किया है। हिंदू-धर्म ने समाज को अनेक छोटे तथा बड़े क्षेत्रों (जैसे श्रेणी, जाति, ग्राम, पुर, जनपद और राष्ट्र) में विभाजित करके सामाजिक आचरण का यह नियम निश्चित किया है कि छोटे क्षेत्र के हित का उससे बड़े क्षेत्र के हित के लिए बलिदान कर देना चाहिये। मनुष्य-जीवन को चार आश्रमों में तथा मनुष्य-समाज को चार वर्णों में विभाजित करके, उसने मनुष्य के स्वभाव तथा गुण के अनुसार काम का बँटवारा

किया है और प्रत्येक मनुष्य को किस ढंग तथा उद्देश्य से अपने निर्धारित काम को करना चाहिये, इस संबंध के नियम बनाये हैं और धर्म के आधार पर, प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उनका माना जाना अनिवार्य कर दिया है। किंतु सामाजिक जीवन का महत्त्व स्वीकार करने तथा उसके लिए अकाट्य नियमों को निश्चित करके भी, उसने मनुष्य के व्यक्तित्व का ह्रास नहीं किया है। सांसारिक जीवन के पश्चात्, प्रत्येक मनुष्य मोक्ष प्राप्त करने का इच्छुक होता है। अतएव उसने आत्मा के कल्याण के लिए समस्त पृथ्वी के बलिदान का आदेश दिया है। इन्हीं आदर्शों के आधार पर हिंदू धर्म-शास्त्रकारों ने मनुष्य के उन गुणों को निर्धारित किया है जो उत्तम वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक होते हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर में भक्ति आदि पांच नियम और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि पंच यम इसी उद्देश्य से निश्चित किये गये हैं। मनु के दशलक्षणात्मक धर्म में भी धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इंद्रिय-निग्रह धी, विद्या, सत्य, अक्रोध आदि गुणों पर जोर किया गया है। ये गुण सामान्य काल के लिए तथा मनुष्य के सामान्य धर्म के अंग हैं। किंतु मनुष्य को कभी-कभी आपत्तियों का, चाहे वे दैवी हों अथवा मानुषी, सामना करना पड़ता है। इस लिए हिंदू-धर्म में आपद्धर्म को भी स्थान दिया गया है।

बौद्धधर्म में प्रत्येक मनुष्य को अष्टांगिक मार्ग के अनुसार चलने के लिए कहा गया है। इसके आठो अंगों का नाम सद्विश्वास, सदिच्छा, सत्भाषण, सद्-कार्य, सत्जीवन, सत्प्रयत्न, सद्विचार और सत् एकाग्रता है। सिख-मत के संस्थापक गुरु नानक ने जाति-व्यवस्था का विरोध करके, हिंदू और मुसलमान सबको अपना भाई माना है। उन्होंने नम्रता और सहानुभूति को धर्म का तत्त्व बतलाया और तपस्या, सन्यास, साधु-जीवन की कठोरता आदि की अपेक्षा सदाचारी जीवन को उच्चतर स्थान दिया।

इस्लाम में भी प्रत्येक श्रेष्ठ मुसलमान में कुछ गुणों का होना आवश्यक समझा गया है। हजरत मोहम्मद साहब ने जाति और वर्ण के भेद को न मान कर, इस्लाम का द्वार सब के लिए खुला रखा। उन्होंने परिश्रम करके रोटी कमाने, पीड़ितों की सहायता करने, व्यभिचार या चोरी न करने के सद्गुणों को प्रत्येक मुसलमान के लिए आवश्यक बतलाया। इस्लाम में भी स्वर्ग और नरक की कल्पनाएँ हैं और दूसरों के साथ भलाई करने, नित्य नमाज़ पढ़ने और दान देने पर जोर दिया गया है। दया का भी महत्वपूर्ण स्थान है। "जो मनुष्य पर दया नहीं करता उस पर ईश्वर भी दया नहीं करता"। भारत में प्रचलित दूसरे धर्मों में भी, इसी प्रकार सांसारिक जीवन को सफल बनाने और तदुपरांत मोक्ष प्राप्त करने के लिए मनुष्य के सामाजिक तथा वैयक्तिक गुणों का उल्लेख है।

धार्मिक सिद्धांतों का उपर्युक्त साम्य धर्म के व्यावहारिक रूप में नहीं पाया जाता। प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने धामिक व्यवहारों को इतना महत्त्वपूर्ण समझने लगते हैं कि इनकी रक्षा के लिए वे धर्म के आधारभूत सिद्धांतों तथा अंतिम लक्ष्य के बलिदान में लेशमात्र भी संकोच नहीं करते। इन निंदनीय अवसरों पर, मनुष्य के वे गुण, जिन पर सब धर्मों में समान रूप से जोर दिया गया है, किंचित काल के लिए लुप्त से हो जाते हैं और मनुष्य इतना पतित हो जाता है कि नागरिकता की दृष्टि से, उसका स्थान बर्बर जातियों से भी हीन हो जाता है। कभी-कभी स्वार्थजनित आर्थिक बातों के कारण भी मनुष्य एक दूसरे के साथ इसी प्रकार का घृणित बर्ताव करने लगता है।

धर्म के सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूपों में विभिन्नता के कारण हमारे देश में बड़ी अशांति रही है। संसार के शायद ही किसी अन्य देश में धर्म के नाम पर इतना अधिक रक्तपात एवं विनाश किया गया हो जितना भारत में किया गया है। मुसलमानों के आगमन के साथ-साथ धार्मिक अत्याचार आरंभ हुए। अंगरेजी शासन-काल में भी भारतीय धर्मों का परस्पर विरोध पूर्ववत् बना रहा। उन्होंने धर्म की विनाशकारी लपटों को बुझाया नहीं, वरन् उन्हें, इस उद्देश्य से और भी अधिक प्रज्ज्वलित किया कि भारत की सब जातियाँ राष्ट्रीय ऐक्य के बंधन से बँधकर कहीं उन्हें निकाल न दें। फलस्वरूप विभाजन के पश्चात् भी कुछ दिनों तक, धर्म के नाम पर, बंगाल और पंजाब के हिंदुओं और मुसलमानों ने, एक दूसरे के साथ ऐसा अमानुषिक और निंदनीय बर्ताव किया कि उसके स्मरण-मात्र से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पूँजीवाद के उदय के कारण आर्थिक विरोध का भी अस्तित्व है। भारतीय समाज इस समय शोषक और शोषित दो वर्गों में विभक्त है और शोषित वर्ग के लोग अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उतावले हो रहे हैं। यदि निकट भविष्य में उनकी आर्थिक अवस्था में सुधार न हुआ तो बहुत संभव है कि वे धर्म और नीति की मर्यादा का उल्लंघन करने पर भी उतारू हो जायँ।

भारतीय नागरिता की समस्या—आधुनिक काल में भारतीय नागरिकता की एकमात्र यही समस्या है कि विरोधात्मक आदर्शों, धारणाओं और विचार-धाराओं के परस्पर संघर्ष को सुलझाकर, भारतीय नागरिक वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के सामंजस्य का ऐसा मार्ग अपनावें कि न तो प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का विप्लवात्मक परित्याग हो और न नयी सभ्यता का अपमान-सूचक तिरस्कार, न भारतीय नागरिक पुरातन-पूजक रूढ़िवादी बने रहें और न नयी सभ्यता से चमत्कृत होकर उसे इतना अधिक अपना लें कि उनकी पैतृक संस्कृति से

उनका संबंध-विच्छेद हो जाय। ऐसा करना सरल बात नहीं है। किंतु क्रियाशील भारतीयों के लिए, इस समस्या का सुलझा देना असंभव भी नहीं है।

विदेशी शासन के कारण भूतकाल में भारतीयों को उपर्युक्त समस्या के हल करने में कुछ ऐसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, जिनका संबंध परतंत्रता से था। परतंत्र जातियों एवं राष्ट्रों का नैतिक ह्रास हो जाता है और वे दास-वृत्ति से इतना जकड़ जाते हैं कि उनके सदस्य अधिकांश अवसरों पर, राष्ट्र-हित की अपेक्षा, व्यक्तिगत हित को उच्चतर समझने लगते हैं। सन् १९४७ तक भारतीय न्यूनाधिक ऐसी ही स्थिति में थे। उन पर एक ऐसी जाति का शासन था जो सभ्य जगत में उच्च स्थान रखती थी पर जिसका शासन नितांत नये ढंग का था। सोलहवीं शताब्दी तक भारत में जितनी जातियाँ आयी थीं उन्होंने इस देश को अपना घर बना लिया था। इसके विपरीत अंगरेजों ने अपना घर इंगलैंड में ही रखा। वे भारतीयों से बिल्कुल अलग रहे। अपने लाभ के उद्देश्य से वे इस देश पर शासन करते थे चाहे इस उद्देश्य की प्राप्ति में भारतीयों को हानि ही क्यों न पहुँचती हो। अपना आधिपत्य बनाये रखने के लिए उन्होंने उन सब साधनों को अपनाया जिनका सभ्य जगत प्रत्यक्ष रूप से विरोध न करे और जिनसे उनके उद्देश्य की पूर्ति होती रहे। शासकों की इस नीति के कारण, भारतीयों में उन गुणों का उदय न हो सका जो व्यक्तिगत और सामाजिक हितों में सामंजस्य स्थापित करते और उन्हें संसार के विकसित तथा सभ्य समाजों में समता का स्थान दिलाते।

किंतु अगस्त सन् १९४७ के पश्चात् यह अवस्था बदल गयी है। भारत अब परतंत्र नहीं, स्वतंत्र है। अंगरेज लोग उसे छोड़ कर चले गये हैं। अतएव हमारा उत्तरदायित्व भी बढ़ गया है। हमें उन सब कुविचारों को मिटाना है जिन्हें विदेशी शासन में प्रोत्साहन मिलता था और उनके स्थान पर ऐसे सद्विचारों का प्रचार करना है जिनसे हमारे दोष मिट जायँ और हम सब परस्पर कलह को छोड़ कर एक ऐसा मार्ग अपनावें जो हमें उच्च कोटि का नागरिक बना सके। यही भारतीय नागरिकता की समस्या है।

अभ्यास

१. "भारतीय नागरिता का सार भारतीयों द्वारा व्यक्तिगत् तथा सामाजिक हितों का सामंजस्य स्थापित करना है", इसकी व्याख्या कीजिये।
२. भारतीय नागरिकता के मुख्य आधारों की व्याख्या कीजिये।
३. भारतीय नागरिकता को उत्तम बनाने में किन बातों से सहायता मिलती है?
४. भारतीय नागरिकता की मुख्य समस्या की विस्तृत व्याख्या कीजिये।

२

हमारा देश, भारत

प्राकृतिक रचना और मनुष्य-जीवन—किसी देश की प्राकृतिक रचना और उसके निवासियों के जीवन में घनिष्ठ संबंध होता है। देश की स्थिति, उसकी भौगोलिक रचना, उसका जलवायु, भूमि की प्रकृति, उपज आदि ऐसी बातें हैं जिनका प्रभाव मनुष्य के जीवन पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। संसार के शैशव-काल में इन भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव अत्यधिक था। संभवतः इन्हीं के कारण जीव-जगत् की विभिन्न जातियों का प्रादुर्भाव हुआ था। आदिकालीन मनुष्य के जीवन पर इनका प्रभाव इतना अधिक पड़ा था कि कदाचित सभ्यता का जन्म प्राकृतिक उदारता का परिणाम था। सभ्यता का उदय मिस्र में नील, चीन में यांगटिसीक्याग की घाटियों और भारत में सिंध और गंगा के मैदान में, संभवतः इस लिए हुआ था कि इन प्रदेशों में प्रकृति की उदारता के कारण, मनुष्य को सोचने-विचारने का अवकाश मिलता था। इसका यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य प्रकृति के हाथ में कठपुतली के समान है। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य के शरीर की बनावट, उसके रंग, स्वभाव, मनोवृत्ति आदि पर, प्राकृतिक शक्तियों का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता है, किंतु प्रकृति और मनुष्य के परस्पर संबंध में, संसार की शैशवावस्था के अतिरिक्त, मनुष्य की ही प्रधानता रही है। मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करके तथा उन्हें वशीभूत करके, उनसे अपनी सेवा करवाने का प्रयत्न करता है और इसमें सफलता भी प्राप्त करता है। सारांश यह कि संसार के आरंभ में, स्थान विशेष की प्राकृतिक रचना द्वारा मनुष्य का जीवन प्रभावित तथा निर्धारित होता था, किंतु जैसे-जैसे मनुष्य सभ्य होता गया, उसने अपनी बुद्धि, उद्योग एवं साहस के सहारे, प्राकृतिक परिस्थिति की जगह अपने को प्रधान बना लिया, यहाँ तक कि आज वह प्राकृतिक परिस्थितियों के प्रभाव के मिटाने का प्रयत्न कर रहा है। उसे कहाँ तक सफलता मिलेगी, यह बतलाना कठिन है।

भारत की भौगोलिक रचना—भारत एशिया के दक्षिण में एक विशाल प्रायद्वीप है। १५ अगस्त १९४७ के पूर्व, पश्चिम में बिलोचिस्तान से पूर्व में आसाम तक इसकी लंबाई लगभग २३०० मील और उत्तर में काश्मीर

से दक्षिण में अंतरीप कुमारी तक इसकी चौड़ाई लगभग २२०० मील और क्षेत्रफल (बर्मा और अदन को छोडकर) लगभग १५, ७५, १०७ वर्गमील था। उत्तर में इसे हिमालय पर्वत-श्रेणी एशिया के दूसरे देशों से अलग करती थी। इसकी कुछ शाखाएँ पूर्व और पश्चिम में भी फैली हुई थीं और यद्यपि ये हिमालय के समान ऊँची न थीं तथापि इनकी ऊँचाई इतनी अधिक थी कि इनको आसानी से पार करना असंभव था। पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में बंगाल की खाड़ी, अरब सागर और हिंद-महासागर इसे संसार के दूसरे भागों से अलग करते थे। इन प्राकृतिक सीमाओं के कारण यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि प्रकृति ने भारत की रचना एक भौगोलिक इकाई (Geographical Unit) के रूप में की थी।

१५ अगस्त सन् १९४७ से हमारे देश की उक्त सीमाओं तथा रचना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये हैं। उस दिन इंगलैंड ने हमें स्वतंत्रता प्रदान की, किंतु हमारे देश को खंडित करके। पुराने भारत से, भारत और पाकिस्तान नाम के दो देश बने। फल-स्वरूप हमारा देश पहले की अपेक्षा छोटा हो गया है और उसकी प्राकृतिक सीमाएँ लुप्त हो गयी हैं। उसकी पश्चिमी सीमा पर अब पाकिस्तान का देश है। भारत का तारतम्य भी टूट-सा गया है। पूर्वी बंगाल का पाकिस्तानी प्रदेश उसे उसके आसाम राज्य से एक प्रकार से अलग कर देता है। केवल उत्तर में दोनों एक दूसरे से मिले हुए हैं। जनसंख्या पहले की लगभग तीन चौथाई रह गयी है और सामुद्रिक तट भी कम हो गया है। करांची और चटगाँव के बंदरगाह अब भारत में नहीं, पाकिस्तान में हैं। प्राकृतिक सीमाओं के अभाव में इस बात की आशंका निर्मूल नहीं कि भारत और पाकिस्तान में सदा सीमा संबंधी झगड़े होते रहेंगे।

पर्वत श्रेणियाँ—भारत की पर्वत श्रेणियाँ और नदियाँ इस प्रकार स्थित हैं कि उनसे देश को हर तरह का लाभ ही पहुँचता है। हिमालय पर्वत श्रेणी, लगभग १५०० मील तक, काश्मीर से आसाम तक, एक वक्र रेखा के रूप में दुर्भेद दीवाल की भाँति खड़ी है। इसकी चौड़ाई कहीं-कहीं २५ मील से भी अधिक है और इसकी लगभग ३०० चोटियाँ, २०,००० फीट से भी अधिक ऊँची हैं। यह पर्वत-श्रेणी भारत को चीन से सर्वथा पृथक् करती है जिसके कारण चीन के निवासियों और उनकी सभ्यता और भारत के निवासियों और उनकी सभ्यता में महत्त्वपूर्ण अंतर हैं। इसी पर्वत-श्रेणी की पश्चिमी शाखाओं में जो मूल श्रेणी से कम ऊँची हैं, खैबर और बोलन के दर्रे हैं। खैबर की ऊँचाई ३३७३ फीट और बोलन की ऊँचाई ५९०० फीट है। इन्हीं दर्रों के मार्ग से,

प्राचीन और मध्यकाल में, भारत पर अनेक आक्रमण हुए थे और आक्रमणकारी मूल निवासियों पर विजय प्राप्त करके, इस देश में बस गये थे। आज-कल ये दर्रे पाकिस्तान में हैं। भारत के मध्य में विंध्याचल पर्वत-श्रेणी है। इसकी ऊँचाई हिमालय से बहुत कम किंतु यह हिमालय से अधिक पुरानी है। यह पर्वत-श्रेणी उत्तर भारत को दक्षिण से अलग कर देती है। इसी पर्वत-श्रेणी के कारण दक्षिण भारत, उत्तर भारत की अपेक्षा, विदेशियों के आक्रमण से अधिक सुरक्षित रहा और अपनी संस्कृति एवं सभ्यता का विकास स्वतंत्र रूप से कर सका।

नदियाँ—उत्तर भारत की तीन मुख्य नदियाँ, सिंध, गंगा और ब्रह्मपुत्र हैं। इनमें साल भर इतना पानी रहता है कि छोटे जहाज और नावें सुगमता से चल सकती हैं। इनमें उत्तर और दक्षिण से आकर अनेक नदियाँ गिरती हैं। इनकी घाटियाँ, इन्हीं के द्वारा लायी गयी मिट्टी से बनी तथा अत्यंत उपजाऊ हैं। सिंध और गंगा के मैदान में जल-वृष्टि यथेष्ट मात्रा में होती है। अतः यहाँ के अधिकांश निवासियों का व्यवसाय कृषि है। दक्षिण भारत की अधिकतर नदियाँ पश्चिमी घाट के अधिक ऊँचे होने के कारण पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हैं। इनमें न तो सालभर पानी रहता है और न नावें ही चल सकती हैं। पठारों में बहने के कारण वर्षा-ऋतु में, इनकी धारा में बड़ा वेग होता है और बर्फीले पहाड़ों से न निकलने के कारण, गर्मी में पानी की कमी। दक्षिण भारत की मुख्य नदियाँ महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी हैं।

समुद्र-तट—भारत का समुद्र-तट उसके विशाल क्षेत्रफल को देखते हुए बहुत कम है। यह बहुत कम कटा है जिसके कारण इसमें अच्छे बंदरगाहों का अभाव है। केवल बंबई का ही बंदरगाह एक अच्छा एवं प्राकृतिक बंदरगाह कहा जा सकता है। मद्रास का बंदरगाह मनुष्य-निर्मित है, विजगापट्टम के बंदरगाह की उपयोगिता, प्रवेश-द्वार पर बालू के टीलों के कारण, बहुत कम हो गयी है। कलकत्ते के बंदरगाह में कीचड़ की भरमार रहती है। सपाट समुद्र-तट, बंदरगाहों की कमी, शांत समुद्र और देश में ही आवश्यकता की सभी वस्तुओं के प्रचुर मात्रा में मिल जाने के कारण, इस देश के प्राचीन निवासी समुद्र-यात्रा को बहुत कम जाते थे। फल-स्वरूप, सामुद्रिक तट के निवासियों के अतिरिक्त, भारत के प्राचीन निवासी न तो स्वयं अच्छे नाविक बने और न उन्होंने शक्तिशाली जल-सेना बनाने का कोई उल्लेखनीय प्रयत्न ही किया।

भारत के प्राकृतिक भाग—पहाड़ों, नदियों, समुद्र-तट तथा धरातल के कारण हम भारत को निम्नलिखित चार प्राकृतिक भागों में विभाजित कर सकते

हैं—(१) उत्तर का पहाड़ी प्रदेश, जिसमें मूल हिमालय पर्वत-श्रेणी तथा आसाम और काश्मीर तक विस्तृत उसकी शाखाओं की गणना है; (२) सिंध और गंगा का मैदान, जो इनके तथा इनकी सहायक नदियों द्वारा लायी गयी मिट्टी से बना है और जो इसके कारण अत्यंत उपजाऊ है, (३) दक्षिण का पठार। इसके उत्तर में विंध्याचल और सतपुरा की पहाड़ियाँ, पूर्व में पूर्वी घाट और पश्चिम में पश्चिमी घाट के पहाड़ हैं। यह पठार संभवतः भारत का प्राचीनतम भाग है। इसके कुछ भाग तो समुद्र के धरातल से ७००० फीट ऊँचे हैं और कुछ दो ही हजार फीट। चारो ओर पर्वत श्रेणियो से घिरे होने के कारण, इस पठार के कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ पर्याप्त जलवृष्टि नही होती, (४) समुद्र-तट के मैदान। ये पूर्व में पूर्वी घाट और पश्चिम में पश्चिमी घाट से समुद्र तक फैले हुए हैं। पूर्वी समुद्र तट के मैदान की चौड़ाई पश्चिमी समुद्र तट के मैदान की अपेक्षा अधिक है। इसमें महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि नदियों के मुहाने हैं। पश्चिमी मैदान की औसत चौड़ाई केवल चालीस मील है। इसे बहुत सी छोटी-छोटी नदियाँ काटती हैं। इनका पानी समुद्र में बेकार बह जाता है।

जलवायु—भारत की विशालता तथा विभिन्न धरातलों के कारण देश के विभिन्न भागों के जलवायु में विभिन्नता है। जिन स्थानों की ऊँचाई समुद्र के धरातल से अत्यधिक है वे भूमध्य-रेखा के निकट होने पर भी शीत हैं और जो स्थान नीचे धरातल पर मरुस्थल के निकट हैं, वे भूमध्य रेखा से दूर होने पर भी उष्ण हैं। समुद्र की निकटता तथा पहाड़ों की दिशा के कारण, भारत के विभिन्न भागों में, मानसून हवाओं द्वारा कम या अधिक पानी बरसता है। इसी जलवृष्टि पर देश की जलवायु तथा उपज निर्भर है। उपर्युक्त सब कारणों के सामूहिक परिणाम-स्वरूप भारत में तीन मौसम, जाड़ा, गर्मी और बरसात होते हैं।

उपज—भारत एक कृषि-प्रधान देश है। अतएव यहाँ की अधिकांश उपज या तो प्राकृतिक बनस्पतियाँ हैं या पहाड़ी जंगल या कृषि द्वारा उत्पन्न की गयी बनस्पतियाँ। भारतीय कृषि-उपज में धान, गेहूँ, ज्वार, जौ, मक्का, दाल, गन्ना, रूई, जूट, तंबाकू, चाय, कहवा, नील, तिलहन, मसाला आदि मुख्य हैं। खनिज पदार्थों में कोयला, मिट्टी का तेल, लोहा, सोना, ताँबा, मेंगानीज, अबरक, चांदी, संगमरमर, चूना, नमक, मणि आदि वस्तुएँ पायी जाती हैं और पशुओं में जंगली पशु-पक्षी, पालतू पशु-पक्षी, साँप और मछलियाँ। उपजाऊ भूमि तथा यथेष्ट जलवृष्टि के कारण, भारतीय कृषि में अन्य देशों की अपेक्षा कम परिश्रम

की आवश्यकता होती है। पर जल-वृष्टि के न होने पर अथवा अति या असमय वृष्टि के कारण, कभी कभी अकाल भी पड़ जाते हैं।

भौगोलिक रचना का भारतीय जीवन पर प्रभाव—भारत की भौगोलिक रचना तथा स्थिति का भारतीय जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। जलवायु के प्रभाव के कारण, कुछ प्रदेशों के निवासी श्याम वर्ण के हैं और कुछ के गौर वर्ण के; कुछ के हृष्ट-पुष्ट, उत्साही और परिश्रमी हैं, कुछ के दुर्बल, निरुत्साही और आरामतलब; कुछ के मंदबुद्धि और कुछ के तीक्ष्ण बुद्धि के। प्रकृति की उदारता तथा प्राकृतिक परिस्थिति एवं कम आवश्यकताओं के कारण, सिंध और गंगा के मैदान के निवासी प्राचीन काल में सभ्यता के जन्म-दाता हुए। उन्हें पहाड़ी तथा ऊसर प्रदेशों के निवासियों की भाँति अपना संपूर्ण समय भोजन और वस्त्र की प्राप्ति ही में न व्यतीत करना पड़ता था। उन्हें पर्याप्त अवकाश मिलता था जिसका होना सभ्यता के उत्पत्ति के लिए आवश्यक था। उनकी विकसित सभ्यता, शारीरिक दुर्बलता, प्राकृतिक उदारता एवं मनुष्य-उत्पादित संपत्ति के कारण ही, उत्तर-पश्चिम की कम सभ्य पर अधिक बलवती एवं निर्धन जातियों ने खैबर और बोलन के दर्रों से कई बार देश पर चढ़ाई की और यहाँ के मूल निवासियों पर विजय प्राप्त करके यहीं पर बस गयीं। कालांतर में प्रकृति के प्रभाव के कारण, उनकी भी वही दशा हुई, जो मूल निवासियों की हुई थी। प्राकृतिक प्रभाव के कारण ही, भारतीय इतिहास में सिंध और गंगा के मैदान की प्रधानता रही। यहीं पर भारत के प्रधान धर्मों के जन्मदाता आविर्भूत हुए और यहीं पर भारतीय साहित्य, कला तथा दर्शन का विकास हुआ।

भारत संसार के बड़े देशों में एक है। अतएव यहाँ पर विभिन्न प्रकार की जलवायु और उस पर निर्भर तरह-तरह के रहन-सहन, वेष-भूषा और रीति-रेवाज पाये जाते हैं। अधिकांश देश में पितृप्रधान कुटुंब प्रणाली का प्रचार है किंतु दक्षिण (ट्रावनकोर, कोचीन आदि) में मातृ-प्रधान कुटुंब भी पाये हैं। कहीं बहु-पत्नीत्व की प्रथा प्रचलित है, कहीं एक-पत्नीत्व की और कहीं एक ही समय में एक स्त्री कई पुरुषों की पत्नी होती है। कुछ जातियों में विधवा-विवाह सामाजिक दृष्टि से हीन समझा जाता है, कुछ में नितांत निषिद्ध है और कुछ में प्रचलित है। विभिन्न धर्मों के अनुयाइयों के एक साथ रहने तथा उनके रीति-रेवाजों में विभिन्नता के कारण कभी कभी परस्पर मेल तथा सद्व्यवहार की भावना तक का अभाव हो जाता है। प्राचीन काल में जब यातायात के साधन आजकल के समान सुगम न थे, सारे देश को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधना कठिन था। फिर भी लोगों में समस्त देश की एकता का भाव विद्यमान

था यहां तक कि कुछ महान राजा समस्त भारत को एक ही राजनीतिक सूत्र में बाँधने में सफल हुए। आधुनिक काल में समस्त भारत की राजनीतिक एकता स्थापित करने में वैज्ञानिक आविष्कारजनित यातायात के साधनों से बड़ी सहायता मिली है।

देश-प्रेम की भावना—प्राचीन काल में जब मनुष्य भ्रमणशील जीवन व्यतीत करता था, उसे अपने अल्प-कालीन निवास-स्थान से विशेष प्रेम न था। किंतु सभ्यता के विकास के साथ साथ, जैसे जैसे मनुष्य निश्चित स्थानों में बसने लगा और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा रक्षा का समुचित प्रबंध स्थान-विशेष में रहने के कारण होने लगा, उसे अपने निवास-स्थान से प्रेम होने लगा। कालांतर में स्थान-प्रेम स्थान-पूजा में परिवर्तित हो गया। यहीं देश-प्रेम का उदय हुआ और जन्म-भूमि और जननी का स्थान एक दूसरे के समान समझा जाने लगा।

स्वदेश के साथ आत्मीयता का अनुभव करना मनुष्य-मात्र के लिए स्वाभाविक है। जिस देश में कोई मनुष्य तथा उनके पूर्वज पैदा हुए तथा पले हों, जहाँ उसकी संतति पैदा होती, पाली-पोषी जाती और रहती हो, वही उसका स्वदेश है। जहाँ कोई जा कर बस जाता और जीवन व्यतीत करता है वह भी उसका स्वदेश है। वहाँ की हवा में साँस लेकर वह जीता है, वहीं का पानी पीता, अन्न खाता और वस्त्र पहनता है। वहीं की मिट्टी पत्थर से घर बनाता और उसमें आराम से रहता है। वहीं नित्य-प्रति का शारीरिक "तथा मानसिक व्यवसाय करता है। वहीं उसकी सारो आवश्यकताएँ, आकांक्षाएँ और लौकिक आशाएँ पूरी होती हैं। इस लिए स्वदेश के साथ आत्मीयता का मानना तथा उसका अनुभव करना मनुष्य-मात्र के लिए स्वाभाविक है।

देश-भक्ति एक उच्चादर्श है। इसके कारण मनुष्य आत्म-त्याग करके विविध कष्टों को सहता हुआ अपने देश की सेवा में संलग्न हो जाता है। वह अपने को देश-रूपी विस्तृत कुटुंब का सदस्य समझता और अपने देशवासियों के प्रति उसी नाते व्यवहार करता है। जैसे अपने छोटे से परिवार के लिए लोग स्वार्थ का बलि-दान करने में आगा-पीछा नहीं करते और उसकी उन्नति के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं, वैसे ही स्वदेश के विस्तृत कुटुंब की दुर्दशा और विपत्ति के समय व्यक्तिगत् तथा स्थानीय हितों की उपेक्षा करके, प्रत्येक देश-प्रेमी उसके कष्टों के दूर करने का प्रयत्न करता है।

भारत में देश-प्रेम की यह भावना हमेशा से रही है। प्राचीन काल ही में लोग इस देश को जन्म-भूमि, मातृ-भूमि, पुण्य-भूमि, देव-निर्मित-देश आदि

नामों से संबोधित करते थे। उनके विचार में जननी और जन्म-भूमि का स्थान स्वर्ग से भी ऊँचा था। भारत पर आक्रमण करनेवाली जातियों ने, यहां पर बसने के पश्चात् इसी भावना से प्रेरित हो कर अन्य आक्रमण-कारियों के रोकने का प्रयत्न किया। देश के मुसल्मान शासक भी इसी भावना से युक्त थे। वे भारत को ही अपना देश मानते थे और इसकी रक्षा के लिए विदेशी आक्रमण-कारियों के साथ युद्ध करते तथा आंतरिक उन्नति के लिए शांति और व्यवस्था का प्रबंध करते थे।

भारतीय इतिहास का आधुनिक काल—भारतीय इतिहास के आधुनिक काल में मनुष्य के बौद्धिक विकास तथा वैज्ञानिक उन्नति के कारण, कुछ ऐसी आश्चर्यजनक बातें हुई हैं जिनकी प्राचीन तथा मध्य-कालीन लोग कल्पना तक न कर सकते थे। इनके कारण, प्रकृति के विभिन्न अंगों की महत्ता में, क्रांतिकारी परिवर्त्तन हो गये हैं। अब हिमालय पर्वत-श्रेणी अलंध्य नहीं वरन् वायुयानों द्वारा थोड़े ही समय में पार की जा सकती है। अब भारत के दक्षिण में स्थित समुद्र भारत को संसार से अलग नहीं करते वरन् दूसरे देशों के साथ उसका संपर्क स्थापित करते हैं। अब भारतीय मैदानों के निवासी, उत्तर-पश्चिम के पहाड़ी देशों के निवासियों की अपेक्षा, शरीर में दुर्बल होते हुए भी, आधुनिक अस्त्र-शस्त्र की सहायता से, उन पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। वैज्ञानिक उन्नति ने युद्ध का रूप ही बदल दिया है। लड़ाइयाँ भूमि पर नहीं वरन् समुद्र और आकाश में होती हैं और सैनिकों के मारने का उतना प्रयत्न नहीं किया जाता जितना उनके गोदामों के नष्ट करने, शत्रु-देश को आर्थिक हानि पहुँचाने और उन लोगों के विनाश का किया जाता है जो रण-क्षेत्र में सैनिकों को खड़ा रखने में सहायता पहुँचाते हैं। हवाई जहाजों द्वारा गिराये गये बम, मनुष्य द्वारा सैकड़ों वर्षों में बनाये गये शहरों तथा उनके निवासियों को कुछ ही मिनटों में नष्ट-भ्रष्ट कर सकते हैं। वैज्ञानिक उन्नति द्वारा उपलब्ध यातायात के साधनों के कारण संसार लंबाई, चौड़ाई और क्षेत्रफल में पूर्ववत् बना रहने पर भी अति छोटा हो गया है। इन क्रांतिकारी परिवर्त्तनों का प्रभाव मनुष्य के सर्वांगीण, विशेषतया राजनीतिक जीवन पर पड़ा है। साम्राज्यवाद के उदय के कारण, आधुनिक काल का एक राज्य दूसरे राज्य पर इस लिए विजय प्राप्त नहीं करता कि उसके नागरिक पराजित राज्य में जाकर बस जायँ, उसे अपना देश मानें तथा उसके मूल निवासियों पर शासन करें, वरन् इस लिए कि पराजित राज्य का आर्थिक शोषण किया जाय। भारत के अंगरेज विजेताओं की यही मनोवृत्ति थी। वे सामुद्रिक मार्ग से आये थे। उनका देश इंगलैंड था और वे भारत को अपने

अधीन इस लिए किये हुए थे कि इससे उनके देश को लाभ पहुँचता था। उनकी नीति आर्थिक शोषण की नीति थी जिसके कारण भारत से प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इंगलैंड को मिलते थे। उपर्युक्त प्रकार का शासन भारत के लिए एक नयी बात थी। इसके कारण देश की निर्धनता नित्य-प्रति बढ़ती गयी, जनता का सामाजिक तथा नैतिक ह्रास तथा ऐसी निंदनीय दास-वृत्ति का जन्म हुआ जिसके कारण कुछ भारतीय, अंगरेजी शासकों के तथा अपने हितों में किसी प्रकार का भेद-भाव न करने लगे। किंतु सौभाग्य से अधिकतर लोग इस प्रकार के न थे। भारतीय जनता का अधिकांश स्वार्थ-परायणता की अपेक्षा देश-भक्ति को उच्चतर समझता था और अपने देश का गौरव बढ़ाने तथा अपने देश-वासियों को ऊपर उठाने के कामों में अनवरत रूप से संलग्न था। भारतीय काग्रेस के जन्म, विशेषतया सन् १९२० के पश्चात महात्मा गांधी के नेतृत्व में, भारतीयो ने जिस आत्म-बलिदान, कष्ट-सहन तथा उत्साह का परिचय दिया था, वह देश-भक्ति के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है।

भारत की मौलिक एकता; हिंदू-काल—हिंदू-काल में भारत के निवासी अपने देश की सर्वांगीण एकता की भावना से युक्त थे। "प्रकृति ने भारत को एक भौगोलिक इकाई बनाया है", हिंदू-काल के निवासी इस बात को जानते थे और इस सीमाबद्ध प्रदेश की धार्मिक ओर राजनीतिक एकता स्थापित करने में सफल हुए थे। हिंदू-काल में समस्त देश की धार्मिक एकता का पता इसी से चलता है कि हिंदुओं की पूजा की वस्तुएं एवं तीर्थ-स्थान समस्त देश में स्थापित थे और समस्त देश समान रूप से अवतारों, ऋषियों, आचार्यों, साधुओं और महात्माओ का आदर और उनके कीर्तिमान चरित्र एवं अमृतमय उपदेशों पर आचरण करता था। राजनीतिक दृष्टि से भी प्राचीन हिंदू समस्त देश की एकता स्थापित करना चाहते थे। महान राजाओं ने चतुरंत एवं चक्रवर्ती बनने का सफल प्रयत्न किया था। वे समुद्र पर्यंत समस्त प्रदेश पर शासन करते एवं अश्वमेध और राजसूय यज्ञो द्वारा समस्त देश पर अपना राजैश्वर्य स्थापित करते थे। देश में सांस्कृतिक एकता भी थी। संस्कृत सभ्य समाज की भाषा थी। भारतीय साहित्य समान रूप से उद्देश्य में आध्यात्मिक, चेष्टा और क्रिया में नैतिक और सांसारिक आवश्यकताओं में व्यावहारिक था। लोगों के रहन-सहन, वेष-भूषा, भोजन, सामाजिक नियमों, विचार-धारा, भाव, परंपरा और जीवन संबंधी दृष्टिकोण में समानता थी। देश में जातिगत् एकता का भी भाव विद्यमान था। समस्त देश में हिंदुओं की प्रधानता थी और उन्होंने नवागंतुकों को

अपने में इस प्रकार मिला लिया था कि उनके पृथक् अस्तित्व का एक भी चिह्न शेष न था।

मध्य काल—मध्य काल में मुसलमानों की विजय के कारण, भारत की मौलिक एकता को कुछ धक्का पहुँचा। देश की भौगोलिक एकता पूर्ववत् बनी रही और प्राचीन हिंदू राजाओं की भाँति मुसलमान बादशाह भी समस्त देश पर शासन करने के लिए प्रयत्नशील, एवं अलाउद्दीन खिलजी, अकबर और औरंगजेब इस उद्देश्य में सफल भी हुए। किंतु किंचित काल के लिए देश की धार्मिक एकता विलीन हो गयी। क़ुरान शरीफ़ के आधार पर मुसलमानों का अपना निश्चित धर्म था जिसे, ऊँच-नीच का विचार किये बिना, सब लोग स्वीकार कर सकते थे। अतएव अन्य नवागंतुकों की भाँति, हिंदू लोग उन्हें अपने में मिलाने में असफल रहे। फलस्वरूप धार्मिक एकता की दृष्टि से भारत दो भागों में विभाजित हो गया। सांस्कृतिक एकता भी पहले की सी न रह गयी। देश का सामाजिक जीवन दो विभिन्न आदर्शों से प्रभावित होने लगा। कालांतर में उपर्युक्त विभिन्नता की मात्रा कुछ कम हो गयी। भारत के मुसलमान विजेता इस देश में ही बस गये और दोनों धर्मों के अनुयाइयों ने एक दूसरे के जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। हिंदुओं और मुसलमानों का उपर्युक्त समन्वय, यदि अविरोध गति से होता रहता, तो संभव था कि दोनों में अधिक एकता स्थापित हो जाती। किंतु राजनीतिक परिस्थिति के कारण यह समन्वय न हो सका।

अनेकता की ओर—सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में भारत ने एकता के स्थान पर अनेकता की ओर दूसरा पग उठाया। औरंगजेब के अनीतिमय शासन के कारण, उसकी मृत्यु के पश्चात, उसका साम्राज्य अनेक स्वतंत्र राज्यों में विभाजित हो गया, जिनमें परस्पर मेल का अभाव था और जो संकीर्णता के आधार पर अपने सब काम करते थे। भौगोलिक तथा प्राकृतिक दृष्टि से, सारा भारत अब भी एक ही देश था, किंतु राजनीतिक दृष्टि से एक भी शासक ऐसा न था जो समस्त देश पर शासन करने के आदर्श से प्रभावित होता हो। देश की ऐसी शोचनीय अवस्था में, अंगरेजों की नयी शक्ति का आगमन हुआ। इसने भारतीय नरेशों और नवाबों के परस्पर युद्धों में भाग लेकर पहले तो अपने राज्य की स्थापना की और तत्पश्चात, 'विच्छेद और शासन' की नीति का आश्रय लेकर भारतीय जनता के समन्वय के मार्ग में अनुचित रुकावटें डालीं। इसके कारण देश में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ और युरोपियनों और भारतीयों के अनैतिक मिलन के कारण,

युरेशियन और एंग्लो-इंडियन जन-समुदायों का जन्म। इस प्रकार विभिन्नता की वृद्धि होती गयी। पर अंगरेजों ने देश की ऐसी राजनीतिक एकता स्थापित की जैसी पहले कभी न हुई थी। सारे देश की एक-केंद्रीय सरकार बनी। पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क तथा जीवन के पाश्चात्य दृष्टि-कोण के कारण, कुछ भारतीयों ने प्राचीन आदर्शों और व्यवहारों का विवेकात्मक मूल्यांकन किया। फल-स्वरूप अंतर्जातीय और अंतर्प्रांतीय विवाह होने लगे, अस्पृश्यता की प्रथा में शिथिलता आयी तथा सहभोज-प्रथा की वृद्धि हुई। उक्त प्रवृत्तियों के कारण देश में अधिक विभिन्नता दिखलायी पड़ने लगी है, किंतु जीवन के विवेकात्मक दृष्टिकोण के कारण यह आशा निर्मूल नहीं प्रतीत होती कि भविष्य में भारत की सर्वांगीण एकता पुनः स्थापित होगी।

आधुनिक विद्वान और भारत की मौलिक एकता—अनेक आधुनिक विद्वानों ने अविभाजित भारत की मौलिक एकता के विषय में अपने विचार प्रगट किये हैं। रैमसे मैकडॉनल्ड के मतानुसार हिमालय से लेकर अंतरीप कुमारी तक और बंगाल की खाड़ी से लेकर बंबई तक का सारा प्रदेश, प्रकृति ने एक सरकार के लिए बनाया है। भारत के मान-चित्र को देखते ही यह स्पष्ट हो जाता है। विंसेंट स्मिथ के मतानुकूल समुद्र और पर्वतों द्वारा आच्छादित भारत निर्विवाद रूप से एक भौगोलिक इकाई है। अतएव इस भूभाग का एक ही नाम से पुकारा जाना सर्वथा ठीक है। इसकी सभ्यता में भी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो ससार के किसी अन्य भाग में नहीं पायी जातीं और जो समस्त भारत में इतनी मात्रा में विद्यमान हैं कि इनके कारण, मानव-समाज के सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक विकास के इतिहास में इस सभ्यता का विशिष्ट एवं पृथक स्थान है। जे. टी. सडरलैंड के विचारानुकूल यदि संसार में कोई ऐसा राष्ट्र है जिसकी एकता सहस्रों साल पुरानी एवं इतनी व्यापक है कि वह लोगों के बौद्धिक एवं नैतिक विकास में प्रविष्ट एवं उनके जीवन का एक आवश्यक आधार है, तो वह राष्ट्र भारत है। बहिन निवेदिता के मतानुकूल वे ऊपरी विभिन्नताएँ जिन पर विशेष जोर दिया जाता था, अब हमारी दृष्टि में हमारी एकता का प्रमाण हैं। किसी सचेतन प्राणी के कोई भी दो अंग एक ही प्रकार के नहीं होते। प्रत्युत प्रत्येक अंग अपने ही ढंग से उसकी सेवा एवं रक्षा करता है। इसी प्रकार भारत का कोई भी प्रदेश न तो किसी दूसरे प्रदेश के समान है और न उसके कामों का प्रतिद्वंद्वी। अपनी विभिन्नता के कारण, बंगाली मराठों की और मराठे बंगालियों की समान रूप से सेवा करते हैं। हिंदू और मुसलमान एक दूसरे के पूरक हैं और पंजाबी और मद्रासी समान रूप से समस्त देश के लिए आवश्यक हैं।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञ और भारत की मौलिक एकता—उपर्युक्त विद्वानों के विचार, ब्रिटेन के साम्राज्यवादियों एवं कुछ राजनीतिज्ञों को ग्राह्य न थे। उनके विचार में, भारत में जितनी कुछ एकता थी, वह नूतन एवं ब्रिटिश शासन का परिणाम थी। अन्यथा देश विभिन्नताओं से परिपूर्ण था। अनेक साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञों ने इस पक्ष में अपने विचार प्रगट किये थे। उदाहरण के लिए साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर्याप्त होगी। उसके अनुसार यह कहना भूल होगी कि हिंदुओं और मुसलमानों का परस्पर विरोध वैसा ही था जैसा कि समकालीन पुरुष के धार्मिक संप्रदायों का। उनका विरोध आधारभूत था और सामाजिक प्रथाओं, आर्थिक प्रतिद्वंदता, धार्मिक असहिष्णुता आदि प्रत्येक स्थान में पाया जाता था। हरिजनों एवं अछूतों के विषय में कमीशन ने बतलाया कि "उनकी संख्या समस्त भारतीय जनता की २० प्रतिशत और हिंदू-जनता की ३० प्रतिशत है। कट्टर हिंदू धर्म के अनुसार उनके छूने से छूत लगती है और भोजन और पानी अशुद्ध हो जाता है। वे मंदिरों के भीतरी भाग में नहीं जा सकते। सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से ही वे दीन नहीं हैं। आर्थिक दृष्टि से भी वे सबसे नीचे एवं पूर्णतया अशिक्षित हैं।" कमीशन ने देश के विस्तृत क्षेत्रफल पर भी प्रकाश डाला और यह बतलाया कि देश में "लगभग २२२ भाषाएँ बोली जाती हैं, अंगरेजी समस्त भारत के शिक्षित अल्प-संख्यकों के पत्र-व्यवहार की भाषा है और यद्यपि हिंदुस्तानी का काफी प्रचार हो रहा है तो भी उसे संपूर्ण भारत के निवासी समझने में असमर्थ हैं।" ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के अतिरिक्त भारत के कुछ नेता भी सांप्रदायिक विभिन्नता पर विशेष रूप से जोर देते थे और कुछ पत्रकार भी इसके बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे थे।

इंगलैंड के राजनीतिज्ञ भारत की मौलिक एकता के स्थान पर विभिन्नता और ब्रिटिश सरकार-जनित एकता पर इतना अधिक ज़ोर देने के कारणों को स्वयं भली भाँति जानते थे। किंतु भारतीय राष्ट्रवादियों के मतानुकूल यह ब्रिटिश शासन के गुण-गान और भारत में राष्ट्रीयता का अभाव दिखलाने के लिए किया जाता था। "विच्छेद और शासन" की नीति के कारण, कभी कभी साम्राज्यवादी शक्तियाँ इसी प्रकार की विभिन्नता पर जोर देती हैं। किंतु इतिहास इस बात का साक्षी है कि विस्तृत देश, भाषाओं, धर्मों एवं संप्रदायों की विभिन्नता के कारण, राष्ट्रीय एकता में विशेष बाधा नहीं पड़ती और सारे देश की एक ही सरकार, यदि चाहे तो, विरोधी शक्तियों को दबाकर, राष्ट्रीय एकता स्थापित कर सकती है।

भारत की मौलिक एकता का ह्रास—भारत की अंगरेजी सरकार ने देश की राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। विपरीत इसके, अपने प्रभाव को स्थायी बनाने के लिए, उसने इस बात का प्रयत्न किया कि हिंदू मुसलमानों से, हरिजन सजातीय हिंदुओं से और भारत शेष एशिया से अलग रहे। मुसलमानों को पृथक् करने का सर्वप्रथम प्रयत्न बंग-विच्छेद द्वारा सन् १९०५ में किया गया था। सन् १९०६ में, सरकारी संकेतानुसार, मुस्लिम लीग की स्थापना की गयी और सन् १९०९ मॉर्ले-मिंटो सुधारों द्वारा सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली का श्रीगणेश हुआ। मुसलमानो ने ब्रिटिश सरकार की इस अनुकूलता का लाभ उठाया। कालांतर में भारतीय राष्ट्र के निर्माण की इच्छा से कांग्रेस ने भी मुसलमानों के प्रति अनुकूलता की नीति अपनायी। सन् १९१६ में लखनऊ पैक्ट द्वारा, उसने सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली तथा मुसलमानों के प्रतिनिधित्व के संबंध में भार के सिद्धांत को स्वीकार किया। कांग्रेस की धारणा थी कि इस नीति के कारण हिंदुओं और मुसलमानों की एकता स्थापित हो जायगी और भारत ब्रिटेन की परतंत्रता से मुक्त हो जायगा। किंतु उसका अनुमान गलत निकला। हिंदू-मुस्लिम एकता पहले की भाँति स्वप्नवत् बनी रही। उसके स्थान पर एक स्वतंत्र मुस्लिम राज्य (पाकिस्तान) स्थापित करने की योजना बनी जिसे मुस्लिम लीग ने अपना लिया। क्रमशः उस के पाकिस्तान संबंधी विचार दृढ़ होते गये यहाँ तक कि उसकी प्राप्ति के लिए उसने भारत की स्वतंत्रता के मार्ग को अवरुद्ध करने का निश्चय किया और अनावश्यक रक्तपात का भी सहारा पकड़ा। अंत में कांग्रेस ने देश को स्वतंत्र बनाने तथा उसे अनावश्यक रक्तपात से बचाने के लिए उसके विभाजन को स्वीकार किया। इस प्रकार देश की भौगोलिक एकता का ह्रास हो गया है और प्रकृति-निर्मित देश के स्थान पर अब भारत एक मनुष्य-निर्मित देश हो गया है।

खंडित भारत की मौलिक एकता—चूँकि विभाजन के पूर्व समस्त देश की मौलिक एकता का अस्तित्व था, इसलिए विभाजन के पश्चात् उसके एक अंग की एकता का भाव पूर्ववत् बना हुआ है। सारा भारत आज भी उन्हीं आदर्शों से प्रभावित हो रहा है जिनसे अखंड भारत होता था। वह एक ही सरकार के अधीन है और उसके समस्त अंग इस सरकार के प्रति राजभक्ति के बंधनों से बंधे हुए हैं। धार्मिक एकता पहले की अपेक्षा कहीं अधिक है। धर्म-निरपेक्ष राज्य की कल्पना के कारण, धर्म मनुष्य का व्यक्तिगत् विचार हो गया है। फल-स्वरूप भारत के नागरिक, धर्म के नाम पर अब एक दूसरे का रक्तपात नहीं करते। समस्त देश की एक भाषा एवं लिपि के कारण सांस्कृतिक

एकता की वृद्धि हो रही है। यातायात के सुगम साधनों ने देश के विभिन्न भागों को एक दूसरे के इतना निकट कर दिया है जितना पहले कभी न हुआ था। विभाजन-जनित कठिनाइयों के कारण भारत के विभिन्न भागो के निवासी एक दूसरे के अधिक निकट आ गये हैं। भारत ने जिस प्रकार शरणार्थियों की समस्या हल की है उससे स्पष्ट है कि भारत के निवासी प्रांतीयता के दोष से मुक्ति पाकर अब देश के विभिन्न भागों के निवासियो को अपना भाई समझने लगे हैं।

अभ्यास

१. भारत के मुख्य प्राकृतिक भागों के नाम लिखिये। आरंभ में भारत को सभ्य बनाने में उनका कितना हाथ था ?

२. "प्रकृति ने हमें किसी बात के लिए किसी पर निर्भर नहीं रखा है।" इसकी व्याख्या कीजिये।

३. भारतीयों की देश-भक्ति पर एक निबंध लिखिये।

४. भारत की मौलिक एकता का क्या अर्थ है ? प्राचीन काल में यह एकता कहाँ तक विद्यमान थी ?

५. "प्रकृति ने भारत को एक ही देश बनाया है।" उदाहरण-सहित व्याख्या कीजिये।

६. "मनुष्य ने प्रकृति-निर्मित भारत को मनुष्य-निर्मित देश में परिवर्तित कर दिया है।" कैसे ?

७. "भारत की अनेकता में एकता का अस्तित्व है।" उदाहरण-सहित इस वाक्य की व्याख्या कीजिये।

३

हमारे देश-वासी

भारतीय जनता संबंधी कुछ महत्त्वपूर्ण आँकड़े—भारत की गणना संसार के घने प्रदेशों में की जाती है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार इसकी जन-संख्या ३६,१८,२०,००० है। पूर्ववत् इस जनगणना में भी पुरुषों की संख्या स्त्रियो की संख्या से अधिक पायी गयी है। समस्त संसार के लगभग १५·१ निवासी भारत में रहते हैं। प्रति वर्गमील जन-संख्या का घनत्व २९६ है। जन-संख्या बड़े वेग से बढ़ रही है। पिछले दस बरसों में वृद्धि की दर १३·४ प्रतिशत है। उत्तर-प्रदेश का क्षेत्रफल १,१३,४०९ वर्गमील और जन-संख्या ६,३२,१५,७४२ है। प्रति दस शहर-निवासियों के पीछे ६३ देहाती और प्रत्येक एक हजार पुरुषों के पीछे ९१० स्त्रियाँ हैं। पिछले दस बरसों में जन-संख्या की वृद्धि की दर ११·९ प्रतिशत् है।

भारत में रक्त-मिश्रण—भारत की अपार जन-संख्या में विभिन्न जातियों (Races) का रक्त-मिश्रण हुआ है। इस देश के आदिम निवासी कौन थे, यह निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। कुछ विद्वानों का मत है कि कोल और द्रविड ही भारत के मूल-निवासी थे और आर्य लोग उत्तर-पश्चिम के दर्रों से आ तथा यहां के मूल निवासियों को खदेड़ कर यहाँ पर बस गये थे। दूसरे विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा है कि आर्य लोग भारत में उत्तर-पश्चिम से नहीं आये थें, वरन् यहीं के मूल निवासी थे। उनका आदिम निवास-स्थान मध्य देश[1] था और यहीं से वे समस्त भारत में फैले थे। आर्य और द्रविड जातियों के रक्त के अतिरिक्त, भारतीय जनता में उन अनेक जातियों का भी रक्त हैं जो समय-समय पर उत्तर-पश्चिम के दर्रों या उत्तर-पूर्व के मार्गों से इस देश में आयीं और यहीं पर बस कर यहाँ के निवासियों में घुल मिल गयीं। इनमें ईरानी, यूनानी, शक, हूण तथा मंगोल जातियों के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इन्होंने भारत में प्रचलित धर्मों को

---

(१) मध्य देश की सब से अधिक विस्तृत सीमा इस प्रकार है—उत्तर में हिमालय से दक्षिण में विंध्याचल पहाड़ी तक और पूर्व में राजमहल पहाड़ियों से पश्चिम में सतलज नदी तक।

ग्रहण किया और भारतीय जनता से विवाह आदि का संबंध स्थापित करके ये उस रक्त-मिश्रण के उत्तरदायी हुए जो आज भारत के निवासियों में पाया जाता है।

जातियों तथा जाति-मिश्रण के आधार पर हम भारतीय निवासियों को निम्नलिखित मुख्य वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) आर्य-जाति के लोग; ये पंजाब, काश्मीर, राजपूताना आदि प्रदेशों में रहते हैं। (२) द्रविड-जाति के लोग; ये मद्रास, हैदराबाद, मध्य देश, मध्य-प्रदेश और छोटा नागपूर में रहते हैं। (३) मंगोल-जाति के लोग; ये नैपाल, भूटान, आसाम तथा उत्तर-पूर्व के कुछ पहाड़ी प्रदेशों में रहते हैं। (४) आर्य और द्रविड जातियों के मिश्रित लोग; ये उत्तर प्रदेश बिहार, उड़ीसा और राजस्थान के कुछ प्रदेशों में रहते हैं। (५) शक और द्रविड जातियों के मिश्रित लोग; ये प्रधानतया गुजरात और मराठा प्रदेशों में रहते हैं। (६) तुर्की और ईरानी जातियों के मिश्रित लोग; ये पाकिस्तान के बिलोचिस्तान और उत्तरी-पश्चिमी-सीमांत प्रदेशों में रहते हैं।

मुसलमानों का आगमन—सातवीं शताब्दी ईसवी से भारत पर मुसलमानों के आक्रमण आरंभ हुए और ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ तक उन्होंने विकराल रूप धारण कर लिया। पूर्वकालीन आक्रमणकारियों की भांति, ये लोग पहले इस देश में बसने के पक्ष में न थे। लूटमार करना और दूसरे धर्मों की अपेक्षा, पाशविक बल से, अपने धर्म की उच्चता दिखलाना, ये ही इन आक्रमणों के मुख्य ध्येय थे। किंतु मुहम्मद गोरी ने भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना की और इस प्रकार अधिकाधिक संख्या में विदेशी मुसलमान भारत में बसने लगे।

भारत के मुसलमान आक्रमणकारी पूर्व आक्रमणकारियों से भिन्न थे। कुरान शरीफ के आधार पर उनका एक निश्चित धर्म था। इस्लाम को स्वीकार न करनेवाले काफिर समझे जाते थे और उनको मुसलमान बनाना या उनका वध करना धार्मिक कर्त्तव्य माना गया था। मुसलमानों में स्वयं, किसी प्रकार का भेद-भाव न किया जाता था। संसार की सब जातियाँ इस धर्म को स्वीकार कर सकती थीं। अन्य देशों में सफल होने के कारण, उनका उत्साह और भी बढ़ा-चढ़ा था। मुसलमान आक्रमणकारियों तथा निवासियों की उपर्युक्त मनोवृत्ति, भारत के लिए एक नयी बात थी। इसके कारण उसके निवासी इन्हें अपने में विलीन करने में असफल रहे। इतना ही नहीं, इस अपूर्व परिस्थिति के कारण, भारत के हिंदू-निवासियों ने, अपने को मुसलमानों से बचाने के लिए, जाति-व्यवस्था

(Caste system) के बंधन को इतना कड़ा किया कि उन्होंने उन व्यक्तियों से पूर्ण संबंध-विच्छेद कर लिया जो हिंदू-धर्म को छोड़ इस्लाम को स्वीकार करते थे। इस प्रकार हिंदुओं की मनोवृत्ति में संकीर्णता का उदय हुआ, उनकी संख्या क्रमशः कम होने लगी और मुसलमानों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी।

मुसलमानों में अधिक रक्त-मिश्रण—भारत के सभी धर्मों के अनुयायियों में विभिन्न जातियों का रक्त-मिश्रण है, किंतु भारतीय मुसलमानों में हिंदुओं की अपेक्षा रक्त-मिश्रण अधिक है। इसका कारण उनकी धर्म-परिवर्तन की नीति है। वे सब जातियों के लोगों को समान रूप से मुसलमान बना लेते हैं। अतएव उनमें भारत के सभी वर्गों के लोग हैं। साथ ही उनमें अरब, इरानी और तुर्क जातियों का भी रक्त विद्यमान है। सदियों के परस्पर विवाह आदि के संबंधों के कारण, यह रक्त-मिश्रण इतना अधिक हो गया है कि किसी व्यक्ति की मूल जाति का पता लगाना असंभव है।

मुसलमानों पर हिंदुओं का प्रभाव—लगभग ९०० बरस से साथ-साथ रहने के कारण हिंदुओं और मुसलमानों ने एक दूसरे के जीवन तथा जीवन के दृष्टिकोण को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया है। मुसलमानों ने हिंदुओं की अनेक ऐसी बातें अपना ली हैं जो उनमें पहले न थीं किंतु जिनका चलन हिंदुओं में बहुत दिनों से था। प्राचीन काल से ही हिंदू लोग अनेक देवी-देवताओं तथा ऋषियों की पूजा और मनोरथ-सिद्धि के लिए, उनकी मनौती करते आये हैं। मुसलमान लोग हिंदुओं के इस चलन से न बच सके और स्वयं ताजियों, कब्रों और फकीरों की पूजा तथा मनौती करने लगे। उन्होंने अनेक बातों में हिंदुओं के रहन-सहन, खान-पान और वेष-भूषा को भी अपनाया। भारत के अधिकांश मुसलमान उसी प्रकार के मकानों में रहते हैं जिस प्रकार के मकानों में हिंदू। उनका खान-पान अधिकांश मात्रा में हिंदुओं का-सा है और बहुतों ने हिंदुओं के वस्त्रों और आभूषणों को अपना लिया है। उन्होंने हिंदुओं से त्योहारों तथा उत्सवों का मनाना सीखा। ये बातें उनमें पहले न पायी जाती थीं। मुसलमानों ने हिंदू-संगीत को इतना अधिक अपनाया कि आज भी हिंदू-संगीत के कुछ प्रमुख गवैये मुसलमान हैं। क्रमशः उनमें भी, हिंदू जाति-व्यवस्था के प्रभाव के कारण, ऊँच-नीच का भेद-भाव किया जाने लगा और अंतर्जातीय विवाह संबंधी प्रतिबंधों का उदय हुआ। जीवन के दृष्टिकोण में भी हिंदुओं का प्रभाव विद्यमान है। बहुत से मुसलमान, हिंदुओं की भाँति संसार

को असार मानते हैं। कुछ मुसलमानों ने हिंदुओं के नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों तक को अपना लिया है। उनका एक वर्ग धर्म के नाम पर किये गये नर-संहार को देखकर, ब्रह्म और जीव संबंधी वैदिक धारणाओं से इतना प्रभावित हुआ कि वह सब धर्मों की आधार-भूत एकता को स्वीकार करके सबके प्रति धार्मिक उदारता तथा सहिष्णुता का उपदेश देने लगा। मुसलमानों पर हिंदुओं का उपर्युक्त प्रभाव स्वाभाविक था। बहुत से हिंदुओं ने स्वतः अथवा जबरदस्ती इस्लाम को स्वीकार किया था। केवल धर्म-परिवर्तन के कारण उनके समस्त पुराने संस्कारों का मिट जाना असंभव था। अतएव मुसलमान होने पर भी वे हिंदू-जीवन तथा उसके आदर्शों द्वारा प्रभावित होते रहे, यहां तक कि कालांतर में हिंदू-जीवन तथा उसके आदर्शों के कुछ अंश मुस्लिम जीवन और उसके आदर्शों में प्रविष्ट हो गये।

हिंदुओं पर मुसलमानों का प्रभाव—जिस प्रकार हिंदुओं ने मुस्लिम जीवन तथा आदर्शों को प्रभावित किया है उसी प्रकार मुसलमानों ने हिंदुओं के जीवन तथा आदर्शों को प्रभावित किया है। हिंदुओं के जीवन का दृष्टिकोण प्रधानतया आध्यात्मिक था और मुसलमानों के जीवन का प्रधानतया सांसारिक। अतएव उनके संसर्ग के कारण हिंदुओं के जीवन का दृष्टि-कोण पहले की अपेक्षा अधिक सांसारिक होने लगा। वे अनेकेश्वरवाद के स्थान पर एकेश्वरवाद की ओर झुकने लगे और धार्मिक बंधुत्व के आदर्श से प्रभावित हो, ऐसे मतों के जन्मदाता हुए जिनमें सब लोग एक दूसरे के बराबर समझे जाते हैं।

मुसलमानों के प्रभाव के कारण भारत में अरबी और फारसी के साहित्य का उदय हुआ और बहुत से हिंदू इन भाषाओं का अध्ययन करने लगे। उर्दू साहित्य का जन्म और उर्दू भाषा का प्रचार भी मुसलमानों के ही कारण हुआ है। इन भाषाओं के कारण, संस्कृत राज-भाषा के पद से उतार दी गयी और शासन-कार्य और न्यायालयों में फारसी और अरबी का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। मराठा काल में भी जब हिंदुओं का पुनरुत्थान हुआ, ये शब्द प्रायः पूर्ववत् व्यवहृत होते रहे और आज भी उनका व्यवहार न्यूनाधिक उसी प्रकार हो रहा है। मुसलमानों के प्रभाव के कारण भारतीय साहित्य की कुछ नयी शाखाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इतिहास-लेखन-कार्य आरंभ हुआ और नये ढंग की कविताएँ की जाने लगीं। ललित-कलाओं में नयी शैलियों का प्रवेश हुआ। मंदिर-निर्माण-काल और भास्कर-शिल्प पर भी अरब और फारस की शैलियों का प्रभाव पड़ा और बहुत सी इमारतें हिंदू और मुसलमान शैलियों के सम्मिश्रण के

अनुसार बनायी गयीं। मुसलमानों के प्रभाव के कारण चित्रकला में भी परिवर्त्तन तथा राजपूत शैली का जन्म एवं विकास हुआ।

मुसलमानों ने हिंदुओं के सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। हिंदू स्त्रियों में पर्दे की प्रथा संभवतः मुसलमानों के अनुकरण तथा उनसे बचे रहने का परिणाम है। बाल-विवाह का चलन भी संभवतः इसी काल में आरंभ हुआ और स्त्रियों में निरक्षरता बढ़ी। मुसलमानों की धार्मिक नीति के कारण हिंदुओं ने धर्म-परिवर्त्तन पर कड़े प्रतिबंध लगाये, जातिभेद अधिक कड़ाई से माना जाने लगा और छुआछूत का चलन हास्यास्पद सीमा तक बढ़ा। सामाजिक बातों में, हिंदुओं की मनोवृत्ति, इतनी रूढ़िवादी तथा अंध-विश्वासी हो गयी कि आधुनिक काल में परिस्थिति में परिवर्तन हो जाने पर भी उपर्युक्त सामाजिक कुरीतियाँ न्यूनाधिक पूर्ववत् बनी हुई हैं और समाज-सुधारकों को उनके उन्मूलन में भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

मुसलमानों का प्रभाव हिंदुओं की युद्ध-कला पर भी पड़ा। प्राचीन काल से हिंदू सेना के रथ, हाथी, अश्वारोही और पैदल सैनिक—ये चार विभाग होते थे। अपने युद्धों में साधारणतया वे हाथियों को सबसे आगे रखते थे और तत्पश्चात् सेना के दूसरे अंगों को। मुसलमानों के आगमन के पूर्व ही रथ का प्रयोग प्रायः बंद हो गया था, पर हाथियों का प्रयोग अधिकाश अवसरों पर किया जाता था। मुसलमानों ने बारूद का प्रयोग आरंभ किया। इसके कारण सेना का हाथी-दल अपनी ही सेना को पददलित करने लगा और कालांतर में सेना से निकाल दिया गया। हिंदुओं ने मुसलमानों से युद्ध के नये अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया और उनका प्रयोग करने लगे। अश्वारोहियों का स्थान पहले की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया और सेना के संचालन में एकाधिकार तथा वेग से आक्रमण करने की चाल का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा।

मुसलमानों के शासन-काल में, संसार के अन्य देशों से, भारत का संपर्क पहले की अपेक्षा कुछ अधिक हो गया। मुसलमान विजेता स्वयं विदेशी थे और यद्यपि उन्होंने भारत को अपना देश मान लिया था, तो भी वे अपने मातृ-देश को पूर्णतया न भूल गये थे। अतएव अफगानिस्तान, फारस, मध्य-एशिया और तुर्की के साथ भारत का अधिक संबंध होना स्वाभाविक था। मुसलमानों के अधिकांश तीर्थ-स्थान अरब में थे और प्रत्येक श्रेष्ठ मुसलमान के लिए हज़ करना आवश्यक था। अतएव भारत का अरब के साथ अधिक संपर्क स्थापित हुआ। युरोपीय देशों तथा नगरों के लोग भी भारत में व्यापार के लिए आने लगे।

युरोपियनों का आगमन—सोलहवीं शताब्दी ईसवी से युरोपीय जातियों के लोग अधिकाधिक संख्या में भारत में आने लगे। पहले पुर्तगाल के निवासी आये और तत्पश्चात् इंगलैंड, हॉलैंड और फ्रांस के। जिस समय इन लोगों ने अपने देश से विदेशों के लिए प्रस्थान किया, युरोप में विद्या का पुनरुत्थान (Renaissance) हो चुका था। अंध-विश्वास और रूढ़िवादिता का काल बीत चुका था और उनके स्थान पर विवेक और तर्क का आधिपत्य था। धार्मिक-सुधार (Reformation) भी होने लगा था। युरोपीय जीवन का दृष्टि-कोण सांसारिक एवं भौतिक हो चुका था और मध्यकालीन स्वर्ग और नरक की कल्पनाओं का बंधन कुछ ढीला पड़ गया था। युरोप के निवासी राष्ट्रीय भावना से युक्त थे और इसी के आधार पर अपने अधिकांश काम करते थे। ये लोग श्रेष्ठतर अस्त्र-शस्त्रों से परिचित थे और राष्ट्रीय भावना-युक्त होने के कारण, व्यापार तथा दूसरे साधनों द्वारा अपने देश को ऊपर उठाना चाहते थे।

ईसाई-धर्म का प्रचार—युरोपियनों के आगमन के कारण भारत में ईसाई-धर्म का प्रचार हुआ। पुर्तगाल के निवासी, सर्व प्रथम आने के कारण, पीछे आनेवाले युरोपियनों की अपेक्षा कम उदार थे। अतएव उन्होंने व्यापारिक लाभ के अतिरिक्त, मध्यकालीन विजेताओं की भाँति धर्म-परिवर्तन की नीति का अवलंबन किया और भारत के निवासियों को जबरदस्ती ईसाई बनाने लगे। अन्य युरोपीय जातियों ने भी ईसाई-धर्म का प्रचार-कार्य जारी रखा जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत में ईसाई-धर्मावलंबियों की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी। सन् १९४१ की जन-गणना के अनुसार भारत में रहनेवाले ईसाइयों की संख्या लगभग ५७ लाख थी।

भारत में अंगरेजी शासन और उसकी नीति—युरोपियनों के आगमन के कारण भारत में अंगरेजी राज की स्थापना हुई। पुर्तगाल के निवासियों की अपेक्षा अंगरेज धार्मिक बातों में अधिक उदार थे और इनके जीवन का दृष्टि-कोण भी अधिक सांसारिक था। इन्होंने राष्ट्रभावना से प्रेरित हो, नैतिक तथा अनैतिक साधनों द्वारा, भारत में अपना राज स्थापित किया, उसमें शांति और व्यवस्था की स्थापना की और पाश्चात्य विद्या और साहित्य तथा जीवन के पाश्चात्य दृष्टि-कोण का प्रचार किया। "धर्म मनुष्य का व्यक्तिगत् अधिकार है", इस आदर्श से प्रेरित होकर, इन्होंने भारतीय शासन का संचालन धार्मिक सहिष्णुता के आधार पर किया। अंगरेजों ने भारत में पाश्चात्य यातायात के साधनों का प्रचार किया जिसके कारण देश के विभिन्न भाग एक दूसरे के सन्निकट हो गये और भारतीय जीवन का दृष्टि-कोण स्थानीय अथवा प्रांतीय न

रहकर अखिल भारतीय हो गया। राष्ट्र-भावना-जनित साम्राज्यवाद के कारण, उन्होंने भारत में आर्थिक शोषण की नीति बर्ती और बड़े पैमाने पर नवीन दस्तकारियों को चला कर, भारत की आर्थिक नीति, इंगलैंड के हित में निश्चित की। उन्होंने भारत के राष्ट्रीय उत्थान में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से काफी सहायता पहुँचायी किंतु इस बात का भी ध्यान रखा कि कहीं भारत ब्रिटिश साम्राज्य से निकल न जाय। अतएव राजनीतिक उदारता के साथ साथ उन्होंने 'विच्छेद और शासन' की नीति का आश्रय लिया।

भारतीय जीवन का नया दृष्टि-कोण—युरोपियनों के संसर्ग के कारण भारतीय जीवन तथा उसके दृष्टिकोण में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये हैं। निम्न-लिखित परिवर्त्तन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(अ) जीवन का सासारिक दृष्टिकोण—युरोपियनों के संसर्ग के कारण भारतीय जीवन का दृष्टि-कोण अधिक सांसारिक हो गया है। लोग अब भी स्वर्ग, नरक और परमार्थ में विश्वास करते हैं, किंतु नरक के भय से पूर्व काल की भाँति उनका हृदय काँप नहीं उठता। वे अब अपने जीवन को सुख से बिताना चाहते हैं और मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग मिलेगा या नरक, इसके कारण विचलित नहीं होते। इसी भावना से प्रेरित होकर भारतीय पूँजीपति बड़े पैमाने पर नयी नयी दस्तकारियों को चला रहे हैं और भारतीय जनता, हड़ताल, सामाजिक दबाव तथा व्यावसायिक साधनों द्वारा, अपनी आर्थिक स्थिति के सुधारने में लगी है।

(ब) धर्म की महत्ता में कमी—पाश्चात्य संसर्ग के कारण भारतीय जीवन में धर्म की महत्ता कुछ कम हो गयी है। जीवन के इस क्षेत्र में भी अब विश्वास की अपेक्षा तर्क तथा विवेक से अधिक काम लिया जाता है। "धर्म मनुष्य का व्यक्तिगत अधिकार है", इसी आदर्श से आजकल भारत के अधिकांश निवासी प्रभावित हो रहे हैं। धर्म-जनित छुआछूत का रेवाज कम हो रहा है और प्रत्येक धर्म की व्यावहारिक कड़ाइयों में आश्चर्यजनक शिथिलता दृष्टिगोचर हो रही है।

(स) सामाजिक जीवन में अधिक उदारता—युरोपियनों के संसर्ग के कारण भारतीयों का सामाजिक जीवन अधिक उदार हो गया है। प्राचीन चलनों का मूल्य पुनः निर्धारित किया जा रहा है और धर्म के नाम पर प्रचलित वे प्रथाएँ, जो तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती, क्रमशः तिरस्कृत हो रही हैं। लोग खान-पान की छुआछूत छोड़ने लगे हैं और विदेश-यात्रा को पाप समझ कर वहाँ से लौटने के पश्चात् प्रायश्चित्त नहीं करते। समाज के तथाकथित अछूत या हरिजन वर्ग के साथ भी धीरे धीरे ढिलाई का बर्त्ताव बढ़ रहा है।

जाति-भेद के बंधन शिथिल हो रहे हैं। लोग विधवा-विवाह को हीनता की दृष्टि से नहीं देखते और बाल-विवाह तथा सामाजिक अवसरों के अधिक व्यय का विरोध करने लगे हैं। स्त्रियों को नित्य-प्रति अधिकाधिक अधिकार दिलाने के आंदोलन चल रहे हैं। यहां तक कि विवाह-विच्छेद तथा आर्थिक अधिकारों तक की चर्चा हो रही है। सामाजिक जीवन की उपर्युक्त उदार मनोवृत्ति पाश्चात्य संसर्ग का प्रभाव है।

(द) अंगरेजी साहित्य का विकास—पाश्चात्य संसर्ग के कारण भारत में अंगरेजी साहित्य का विकास हुआ है। विभाजन के पूर्व राज-भाषा होने के कारण, अंगरेजी का प्रचार पहले तो सरकारी नीति के कारण हुआ और तत्पश्चात् स्वतः भारतीयों की सरकारी पद-लालसा के कारण। कालांतर में अंगरेजी पढ़े लिखे लोग, यातायात के साधनों की सुविधा के कारण एक दूसरे के संपर्क में आये और अंगरेजी समस्त भारत के शिक्षित एवं जाग्रत वर्ग की भाषा हो गयी।

(य) राष्ट्र-भावना का उदय—अंगरेजी शासन तथा पाश्चात्य संसर्ग के कारण भारत में राष्ट्र-भावना का उदय एवं परिवर्द्धन हुआ। मुसलमानों की भाँति भारत के अंगरेज शासकों ने इस देश को अपना देश नहीं बनाया, वरन् विदेशी ही बने रहे। आर्थिक शोषण की नीति के कारण उन्होंने भारत को आर्थिक हानि पहुँचायी जिससे भारतीय जनता नित्य-प्रति अधिकाधिक निर्धन होती गयी। उन्होंने भारतीयों को ऊंचे सरकारी पदों से वंचित रखा। कालांतर में शासकों की इस नीति तथा पाश्चात्य अनुकरण के कारण, धर्म-प्रधान भारत में भी राष्ट्र-भावना की लहर दौड़ी और भारतीय जनता, अखिल भारतीय संस्थाओं का निर्माण करके, अपने देश को स्वतंत्र बनाने का प्रयत्न करने लगी।

भारत में जातीय सम्मिश्रण में रुकावटें—भारत में कौन-कौन सी जातियाँ बाहर से आयीं और उनका परस्पर तथा भारतीय जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया गया है। आगंतुकों के कारण भारतीय जनता में, जातियों का सम्मिश्रण हुआ, किंतु उतना अधिक नहीं जितना अन्यथा हो सकता था। भारत-निवासी आर्य लोग जातीय उत्कर्षता में विश्वास करते और अनार्यों को दस्यु समझते थे। अस्तु उन्होंने उनके साथ संपर्क तो स्थापित किया, किंतु इतना अधिक न मिले कि दोनों जातियों के मेल से समस्त भारत में इस मिश्रित जाति के ही लोग फैल जाते। क्रमशः हिंदुओं में जाति-भेद का प्रचार हुआ और ऊंच-नीच की भावना बढ़ी। विभिन्न जातियों में न तो खाने-पीने का संबंध रह गया और न विवाह का। इसके कारण रक्त-मिश्रण में कुछ रुकावटें आयीं। जाति-व्यवस्था के कारण मुसलमान लोग, शासक होते हुए भी,

भारतीय हिंदुओं को मुसलमान बनाने में असफल रहे। हिंदुओं ने उन्हें हमेशा अपने से अलग रखा और उनके साथ छुआछूत का बर्ताव करते रहे। इनका, अंगरेज-शासकों के प्रति भी इसी प्रकार छुआछूत का व्यवहार रहा। अंगरेजों ने स्वयं भी अपने को भारतीयों से अलग रखा। इसके कारण भी अधिक जाति-मिश्रण न हो सका।

जातीय मिश्रण और भारतीय नागरिकता की समस्या—जातीय सम्मिश्रण तथा पृथकता एवं मतमतांतरों की विभिन्नता के कारण, भारत के निवासियों के लिए नागरिकता की समस्या का हल करना कुछ कठिन सा हो गया है। यह कठिनता उस समय कुछ और बढ़ जाती है जब विभिन्न आदर्शों तथा विचार-धाराओं द्वारा प्रभावित मनुष्य एक दूसरे के पड़ोस में रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में किसी मनुष्य के लिए एक ऐसे मार्ग का खोज निकालना, जो सबको समान रूप से ग्राह्य हो, असंभव सा हो जाता है। जातिगत विशेषताएं चिरस्थायी हो जाती हैं। मनुष्य प्रगतिशील तभी होता है जब विवेक की प्रेरणा के कारण वह पुरानी बातों की परीक्षा करता है और उनको असंतोषप्रद पाकर एक ऐसे मार्ग को अपनाता है जो अधिक विवेकात्मक हो। आजकल हमारे देशवासी न्यूनाधिक ऐसी ही परिस्थिति में हैं। वे क्रमशः अंध-विश्वास और पुरातन-पूजा को छोड़कर, पुरानी प्रथाओं की परीक्षा और उन्हें तर्क की कसौटी पर कस कर उनका मूल्यांकन कर रहे हैं। यदि कुछ दिनों तक यही अवस्था रही तो भारत के निवासी एक ऐसा आचरण निर्धारित कर सकेंगे जो सबको या अधिकांश जनता को ग्राह्य होगा और जिसको अपना कर वे उत्तम नागरिक बन सकेंगे।

अभ्यास

१. भारतीय जन-संख्या की विशेषताओं को समझाकर लिखिये।

२. भारत में कौन कौन सी जातियाँ बाहर से आकर बस गयीं? भारतीय जन-संख्या पर उनका क्या प्रभाव पड़ा?

३. मुसलमानों और हिंदुओं के परस्पर प्रभावों को समझा कर लिखिये।

४. रक्त-मिश्रण का क्या अर्थ है? हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमानों में अधिक रक्त-मिश्रण क्यों हुआ?

५. युरोपियनों के आगमन के कारण भारतीय जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा?

६. भारतीय जीवन के नये दृष्टि-कोण का क्या अर्थ है? इसकी विस्तृत व्याख्या कीजिये।

७. जातीय मिश्रण का भारतीय नागरिकता पर क्या प्रभाव पड़ा है?

८. "भारत में उतना रक्त-मिश्रण नहीं हुआ है जितना अन्यथा हो सकता था।" क्यों?

४

हमारा धार्मिक जीवन

मानव-जीवन में धर्म का स्थान—मानव-जीवन में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संसार के इतिहास में अभी तक कोई ऐसा जन-समूह नहीं हुआ है जिसमें किसी न किसी रूप में धार्मिक भावना का अस्तित्व न रहा हो। विवेकयुक्त होने के कारण, मनुष्य संसार से परे, उसके नियंता की कल्पना करता, उसे अपने सुख-दुःख का विधायक समझता तथा अपने आचरण और उसकी उपासना द्वारा उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। फल-स्वरूप उसका सांसारिक जीवन सत्य, सुंदर और नैतिक हो जाता है और मृत्यु के उपरांत, वह ईश्वर में विलीन होने की आशा करता है। उसके जीवन के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक अंग उसी पर निर्भर करते, उसके द्वारा संचालित होते तथा उसके विरुद्ध होने पर हीन एवं निषिद्ध समझे जाते हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ जीवन के निर्माण में धर्म का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है।

भारतीय जीवन में धर्म की महत्ता—भारत में धर्म की महत्ता अन्य देशों की अपेक्षा अधिक है। वह भारतीय जीवन के सभी पहेलुओं में व्याप्त है और उसके प्रतिक्षण का नियमन करता है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में धर्म की प्रधानता है। भारतीय संस्कृति भी उसी के आधार पर खड़ी है। संसार के किसी अन्य देश के निवासी, न तो भारतीयों के समान धर्म के नाम पर त्याग कर सकते हैं और न धर्मजनित आनंद का लाभ। जिस समय भारत का निर्धन किसान त्योहार के दिन, गंगा-स्नान के पश्चात्, अपने परमार्थ के सुधारने के हेतु गोदान करता है, वह अपनी टूटी झोपड़ी, फटे कपड़ों और एक समय भोजन पाने वाले बच्चों को भूल जाता है। उसकी गाढ़ी कमाई क्षण भर में दूसरे के पास चली जाती है, पर उसके मुख पर उदासी नहीं आती, अपितु मुस्कराहट ही दृष्टिगोचर होती है। कथाओं के सुनने और कीर्तन करने में अधिकांश भारतीय अपने आपको विस्मरित कर देते हैं। भौतिकतावादियों के मतानुकूल यह उन्माद का एक रूप है, पर धर्मभीरु भक्तों के मतानुकूल अलौकिक सुख का अनुभव।

भारतीय धर्म—भारत में अनेक धर्मों का अस्तित्व है। उनमें से प्रायः सभी एक सर्व शक्तिमान अलौकिक शक्ति की कल्पना करते हैं। उसे वे

परमात्मा, ईश्वर, खुदा, अल्ला, गॉड आदि नामों से पुकारते तथा उसे अपने अस्तित्व एवं कल्याण का विधायक समझते हैं। उसकी इच्छा प्रगट करने के लिए कुछ धर्मों में पैगंबर की कल्पना की गयी है और कुछ में ऋषियों की, जिन्होंने आत्म-शासन, विवेक, योग आदि के द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त करके, उसे सर्व-साधारण के सम्मुख रखा है। कुछ धर्मों में वह सगुण रूप में पूजा जाता है और कुछ में निर्गुण रूप में। कुछ लोग उसे ज्ञान-मार्ग द्वारा प्राप्त करते हैं, कुछ कर्म-मार्ग और कुछ भक्ति-मार्ग द्वारा।

वैदिक हिंदू धर्म—हिंदू धर्म संसार के बड़े धर्मों में है। उसके अनुयायियो की संख्या लगभग २५ करोड़ है। वह संसार का सबसे प्राचीन धर्म है। उसके उदय की निश्चित तिथि का बतलाना कठिन है पर वह ४००० बरस से भी अधिक पुराना है। गतिशील होने के कारण उसके अनेक रूप हो गये हैं। सर्वप्रथम रूप वैदिक काल का है। वैदिक हिंदू धर्म के अनुसार वेद सत्य विद्या के भंडार हैं। वे मनुष्य कृत नहीं, ऋषि-कृत हैं। इन्होंने परमात्मा से साक्षात्कार करके ईश्वर प्रेरित भाषा में, उनका निर्माण, उस समय किया था जब संसार के कुछ भागों में बोली तक का विकास न हुआ था। उनकी ऋचाओं में नैतिक और आध्यात्मिक सत्यों के अतिरिक्त, सामाजिक जीवन की अनेक बातों का उल्लेख है। जिन देवताओं की उनमें उपासना की गयी है, वे आजकल के हिंदू देवताओं से भिन्न थे। वैदिक काल के हिंदू प्रकाशपूर्ण सुखदायिनी प्राकृतिक शक्तियों की ओर आकर्षित हो कर सूर्य, चंद्र, अग्नि, वरुण, उषा, विद्युत, समीर आदि की उपासना करते थे। उनका विश्वास था कि प्राकृतिक शक्तियाँ अपने में रहनेवाले देवताओं द्वारा शासित होती थीं जो एक ही सत् के विविध रूपों के समान थे। इस प्रकार वैदिक हिंदुओं ने प्रकृति की अनेक-रूपता और उसमें अंतर्निहित एक सत् की कल्पना और उपासना की।

वैदिक काल के हिंदू, प्राक्तिक शक्तियों में स्थित देवताओं की पूजा स्तुतियों और यज्ञों द्वारा करते थे। उनकी उपासना में आत्म-समर्पण और भक्ति के भावों की प्रधानता थी। उत्तर-वैदिक काल में इस मनोवृत्ति में परिवर्तन हुआ। अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति के लिए, आत्म-समर्पण और भक्ति के बदले, उन्होंने मंत्रोच्चारण और यज्ञों द्वारा, स्वयं देवताओं को अपने वश में करना चाहा। अतएव कर्मकांड का प्रचार बढ़ा और बहुत बड़ी संख्या में पशुओं का बलिदान होने लगा। विचारशील मनुष्यों को ये बातें असंतोषप्रद प्रतीत हुई और वे गंभीरतापूर्वक इन पर विचार करने लगे। फल-स्वरूप आरण्यकों और उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ। विश्व की

विविधता में एकता का आभास तो ऋग्वेद में ही सत् के रूप में हो गया था। वही अद्वितीय सत्ता उपनिषदों में ब्रह्म की कल्पना में अनुभूत हुई जो केवल सत् ही नहीं, वरन् सत्-चित् और आनंदमय दिखायी पड़ा। उपनिषदों के अनुसार "ब्रह्म सर्व-व्यापी, सर्वांतर्यामी, निर्गुण और निर्विकल्प है। विश्व का उदय, धारण और प्रलय उसी से होता है। वही एक वास्तविक सत्ता है, उसके अतिरिक्त विश्व में और कुछ नहीं है। आत्मा ब्रह्म की ही ज्योति है, उससे भिन्न नहीं। व्यक्ति केवल अज्ञानवश अपने को ब्रह्म से भिन्न और शरीर तक ही सीमित समझता है। अज्ञान में पड़ी हुई आत्मा, अपने शुभ और अशुभ कार्यों के अनुसार, कर्म के सिद्धांत से संचालित हो, बार बार जन्म और मरण के चक्कर में पड़ती है। इस अज्ञान से छुटकारा और ब्रह्मात्मा में एकता की अनुभूति की अवस्था को मोक्ष बतलाया गया। उपनिषदों के अनुसार मोक्ष का साधन है ज्ञान और नैतिक आचरण। उपनिषद्कारों ने कर्मकांड को बहुत गौण स्थान दिया है। उनका कहना है कि वे लोग मूर्ख हैं जो विश्वास करते हैं कि यज्ञों के द्वारा संसार से मुक्ति पा सकते हैं।"[१]

जैनधर्म—उपनिषदों में वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया तो आरंभ हुई; पर उनकी नीति समझौते और समन्वय की थी। अतएव उनके द्वारा परंपरागत धर्म का जोरदार विरोध नहीं हुआ। उनके अतिरिक्त कई अन्य संप्रदाय हुए जो वैदिक धर्म के कड़े आलोचक तथा उग्र एवं क्रांतिकारी विचारों के प्रवर्तक थे। इनमें जैन धर्म और बौद्ध धर्म विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

जैन धर्म को चलाने का श्रेय वर्द्धमान महावीर को है। ये चौबीसवें तीर्थंकर थे। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में जैनधर्म की रूप-रेखा निश्चित हो चुकी थी। सौ बरस की अवस्था तक वे उसका प्रचार करते रहे। उनकी शिक्षा में अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह के संकल्पों पर विशेष जोर दिया गया था। महावीर स्वामी का जन्म ईसा के लगभग ६०० बरस पूर्व हुआ था। ४५ बरस की अवस्था में उन्होंने अपने धर्म का प्रचार आरंभ किया। जैन धर्म के कुछ अंश वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में और कुछ उपनिषदों पर अवलंबित थे। उसमें किसी की पूजा का स्थान नहीं। महावीर स्वामी न तो परमात्मा के अस्तित्व को मानते थे और न उसकी उपासना ही करते थे। उनके अनुसार मनुष्य स्वयं ही अपना विधायक है। स्व के बाहर किसी की सहायता की आशा निराधार है।

---

१. राजबली पांडेय—भारतीय इतिहास की भूमिका पृष्ठ ७१।

जैनधर्म, ज्ञान और नीति पर अवलंबित है। महावीर स्वामी ने यज्ञ, कर्मकांड और पौरोहित्य का विरोध किया, पर वे ज्ञानमार्ग के विरोधी न थे। अलबत्ता वे उसे सर्व साधारण के लिए अनुपयुक्त समझते थे। फल-स्वरूप उन्होंने नीति-मार्ग का प्रतिपादन किया और उन सब संकल्पों पर जोर दिया जिनका उपदेश पार्श्वनाथ ने दिया था। उनके अनुसार सच्चा जैन वही है, जो नम्र, शीलवान और राग, द्वेष और प्रतिहिंसा की भावनाओं से रहित हो और तपस्वी की भाँति जीवन व्यतीत करता हो। आत्मा का भौतिक शरीर में बंद हो जाना मनुष्य के दुख का कारण था। अतएव व्रत और तपस्या द्वारा, शरीर को अधिक से अधिक कष्ट देकर, मनुष्य को अपनी आत्मा के उद्धार के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये। जैन धर्म में अहिंसा पर अत्यधिक जोर दिया गया है। महावीर स्वामी के अनुसार यज्ञ और पशु-बलि द्वारा मुक्ति का मिलना असंभव है। उसके लिए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र की आवश्यकता है। इनके बिना निर्वाण की आशा निराधार है।

जैनधर्म का देश में विशेष प्रचार न हुआ। इसका मुख्य कारण था उसकी कठोरता। जिन नैतिक बातों पर जैनधर्म अवलंबित था, उनका प्राप्त करना सरल न था। साथ ही अहिंसा के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान के कारण, वह समाज के कुछ वर्गों के लिए अनुपयुक्त था। फलस्वरूप उसका विशेष प्रचार न हो सका।

बौद्धधर्म—बौद्धधर्म को गौतम बुद्ध ने चलाया था। इनका जन्म ५६२ बरस ईसा के पूर्व, शाक्य-गण की राजधानी कपिलवस्तु में हुआ था। बचपन ही से ये चिंतनशील और कोमल स्वभाव के थे। संसार के सब सुख उन्हें सुलभ थे; तो भी वे जीवन, मरण, जरा और व्याधि के दृश्यों के कारण दुखी रहा करते थे। अंत में उन्होंने मनुष्य-मात्र के दुखों को दूर करने के उपाय खोज निकालने का निश्चय किया और राजमहल को छोड़ कर, चुपके से एक रात्रि, जंगल की ओर चल दिये। पहले तो उन्होंने कठोर तपस्या द्वारा अपने शरीर को इतना तपाया कि वह अस्थि-पंजर मात्र रह गया, पर इससे उन्हें लाभ न हुआ। तब अपने साथियों के विरोध करने पर भी, उन्होंने शरीर को घुलाना छोड़ दिया और आवश्यकतानुकूल भोजन आदि करके, शरीर की रक्षा के साथ साथ, अपने चिर-चिंतन के कार्य में लग गये। ऐसी अवस्था में उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई। वे स्वयं मोह-निद्रा से जगकर मुक्त हो गये और संसार को जगाने और उसे निर्वाण का मार्ग दिखलाने के प्रयत्नों में लग गये।

बुद्ध के उपदेश दार्शनिक न होकर व्यावहारिक थे। सरल भाषा में उन्होंने

सुबोध नीति का उपदेश दिया। उनके नैतिक उपदेशो में चार आर्य सत्य का उपदेश बड़ा प्रसिद्ध है। वे इस प्रकार हैं—(१) संसार में दुःख ही दुःख है। (२) दुःख का कारण तृष्णा अर्थात् कभी तृप्त न होनेवाली प्यास का अस्तित्व है। (३, तृष्णा और वासना के त्याग से जन्म-मरण और उनसे संबद्ध दुखों का अंत होता है। (४) दुख के अंत के लिए प्रत्येक मनुष्य को अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। अष्ट अंग इस प्रकार हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मांत, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इनमें अति का सर्वत्र विरोध किया गया है। नैतिक उपदेशों में बुद्ध ने दस शील के पालन पर बड़ा जोर दिया। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य सबके लिए आवश्यक थे और भिक्षुओं के लिए इनके अतिरिक्त नृत्य-गान का त्याग, सुगंध मालादि का त्याग, असमय भोजन का त्याग, कोमल शय्या का त्याग, कामिनी-कंचन का त्याग भी आवश्यक था। उनके मतानुकूल वंश या जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता। जिसमें सत्य और धर्म है, वही ब्राह्मण है, वही धन्य है।

बौद्धमत के दार्शनिक तत्त्वों में अनीश्वरवाद और अनात्मवाद की प्रधानता है। बुद्ध के मतानुकूल जगत की उत्पत्ति के लिए किसी स्रष्टा की आवश्यकता नहीं। कार्य-कारण की शृंखला से संसार चलता है। आत्मा का भी अस्तित्व नहीं है। शरीर के तत्त्वों के अलग हो जाने पर आत्मा का कोई भी स्थायी तत्त्व नहीं मिलता। उनके मतानुकूल संसार क्षणिक है और मनुष्य का बार-बार जन्म और मरण होता है। पर यह पुनर्जन्म आत्मा का नहीं, अनित्य अहंकार का होता है। जब मनुष्य की तृष्णा और वासना का अंत हो जाता है तो उसका अहंकार भी मिट जाता है और वह निर्वाण-पद को प्राप्त होता है।

बुद्ध ने वेदवाद, कर्मकांड और देववाद के स्थान पर ज्ञान और नैतिक आचरण को निर्वाण के लिए आवश्यक बतलाया। यह कोई नई बात न थी। उपनिषदों में इसका प्रतिपादन पहले ही किया जा चुका था। बुद्ध की मौलिकता उस विधि में थी जिसके द्वारा उन्होंने, प्राचीन विचारों को शृंखलाबद्ध करके, उन्हें नित्य-प्रति की व्यवहार की वस्तु बनाया। उन्होंने वेदांती बुद्धि के साथ मनुष्यता का संयोग करके, वेदांत के निर्जीव शरीर को सजीव और सन्यास के साथ सेवा का संयोग करके इसे अधिक लोकोपयोगी बनाया। यह कहना कि बुद्ध हिंदू धर्म के शत्रु थे, निराधार और भ्रामक है। पर वे उसके सुधारक अवश्य थे। इसमें अनेक ऐसी बातें आ गयी थीं, जिनके कारण जीवों के साथ

कठोरता का व्यवहार किया जाता था। बुद्ध ने इन्हीं को लक्ष्य बना कर, एक ऐसे धर्म को चलाया जो सिद्धांतों में वैदिक धर्म से मिलता हुआ होने पर भी व्यवहार में उससे भिन्न था और सब मनुष्यों को, नैतिक आचरण द्वारा, निर्वाण दिला तथा उन्हें वेदवाद, देववाद और कर्मकांड के विकट जंजाल से बचा सकता था।

स्मार्त हिंदू धर्म—वैदिक धर्म के विरुद्ध जैन और बौद्ध धर्मों की प्रतिक्रिया के कारण, उसमें भी सुधारों का होना अवश्यंभावी था। नये धर्मों की सफलता के कारण इस बात का प्रयत्न किया गया कि वह सरल होकर जन-साधारण की पहुँच के भीतर आ जाय। उपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान-मार्ग की साधना थोड़े से ही व्यक्ति कर सकते थे। जन-साधारण के लिए तो ऐसी सामाजिक व्यवस्था तथा नियमों और निषेधों की आवश्यकता थी जो उसे आध्यात्मिक जीवन के लिए तैयार कर सकते हों। कालांतर में स्मृतिकारों ने इस कार्य को संपन्न किया। उनमें मनु का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। अपनी स्मृति (मनुस्मृति) में उन्होंने मनुष्य के सर्वांगीण जीवन का निरूपण करके, चारो वर्णों के व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण के नियम प्रतिपादित किये। आध्यात्मिक बातों में वेदों की प्रामाणिकता पूर्ववत् बनी रही और यज्ञ और संस्कारों पर भी यथावत् जोर दिया गया; पर सामाजिक व्यवस्था में जाति-भेद की प्रधानता हो गयी और वर्णाश्रम-धर्म और उसके संरक्षण द्वारा मुक्ति का मार्ग निर्धारित हुआ। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत भी प्रभावशाली ढंग से प्रतिपादित किये गये। इनके अनुसार कर्मों के आधार पर मनुष्य का बार बार जन्म होता है। यदि वह इस आवागमन से बचना चाहता है तो उसे पाप कर्मों से दूर होकर सत्कर्मों में लग जाना चाहिये। इन्हीं के द्वारा मोक्ष मिल सकती है।

श्रीमद्भगवद्गीता और हिंदू धर्म—श्रीमद्भगवत्गीता में मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म, ज्ञान और भक्ति के मार्गों का निरूपण करके, अंत में भक्ति पर जोर दिया गया है। भक्ति द्वारा सबको मुक्ति मिल सकती है। यह काम सामाजिक कर्तव्यों के पालन के बिना नहीं हो सकता। अतएव प्रत्येक मनुष्य को अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन करना चाहिये, चाहे उनमें उसकी स्वार्थ-सिद्धि का सर्वथा अभाव ही क्यों न हो। गीता के अनुसार ज्ञानी और अज्ञानी में एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि ज्ञानी संसार से विरक्त रहते हुए भी, निरासक्त भाव से, अपने कर्तव्यों का पालन करता है और अज्ञानी संसार में लिप्त रहकर, वासनाओं के दास की भाँति, स्वार्थ-बुद्धि से।

पौराणिक हिंदूधर्म—पौराणिक हिंदूधर्म को नवीन हिंदूधर्म भी कहा

जाता है। इसके आरंभिक रूप का निरूपण महाभारत और पुराणों में किया गया है। इसका उद्देश्य भी जैन और बौद्ध धर्मों के आक्रमणों से हिंदूधर्म की रक्षा करना था। अतएव इसमें वे सब बातें त्याज्य समझी गयीं जिनके कारण हिंदू धर्म का ह्रास हुआ था और वे सब बातें बढ़ा ली गयीं जिनके कारण जैन और बौद्ध धर्मों की उन्नति हुई थी। यज्ञों और बलिदानों का प्रचार कम कर दिया गया, शूद्र भी मोक्ष के अधिकारी माने गये, दूसरे धर्मों की अनेक बातें हिंदूधर्म में सम्मिलित की गयीं और उदारता के साथ विदेशी लोग हिंदू बनाये गये। स्वयं धर्म का रूप इतना सीधा-सादा एवं सरल कर दिया गया कि केवल व्रत रखने, कथा सुनने या विशेष अवसरों पर विशेष नदी में स्नान करने से व्यक्ति को सांसारिक सुख की प्राप्ति हो सकती थी और उसका परमार्थ सुधर सकता था। देवी, देवताओं की संख्या असीम रूप से बढ़ी, उनकी मूर्तियों का निर्माण हुआ, उनके संबंध में आकर्षक कहानियाँ गढ़ी गयीं और नाना प्रकार से उनकी पूजा की जाने लगी। शिव, विष्णु और शक्ति की पूजा आरंभ हुई। कालांतर में शिव के भक्त शैव, विष्णु के भक्त वैष्णव और शक्ति के उपासक शाक्त कहलाये।

शैव संप्रदाय—शिव को परमेश्वर मानकर, उनकी पूजा और भजन द्वारा जो लोग मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हुए, वे सामूहिक रूप में शैव कहलाये। इनके अनुसार शिव के तीन रूप हैं—(१) धर्म और दर्शन के परब्रह्म का रूप; (२) सगुण भक्ति के देवादि देव का रूप और (३) पुराणों के नायक का रूप। शैव मतावलंबियों के अनुसार शिव सबको शरण देते हैं। वे पूर्ण योगी तथा योगियों के आदर्श हैं, जगत के जीवन-दाता एवं संहार-कर्ता हैं, परम सत्य, ज्ञान और आनंद हैं। चांडाल से चांडाल व्यक्ति भी शिव का नाम लेकर ऊपर उठ सकता है। उनके भजन से ही मुक्ति मिलती है। शैव मत के मुख्य तत्त्व निम्नलिखित हैं—जीव-हिंसा का त्याग करना, सत्य बोलना, सब जीवों पर दया करना, दान देना और व्यभिचार एवं चोरी से बचा रहना।

वैष्णव संप्रदाय—विष्णु को परमेश्वर मान कर उनकी पूजा और भजन द्वारा जिन लोगों ने मोक्ष-प्राप्ति के आदर्श को अपनाया, वे वैष्णव कहलाये। शिव की भांति विष्णु के भी तीन रूपों का निरूपण हुआ; (१) ज्ञान के परम तत्त्व का रूप; (२) भक्त के भगवान का रूप और (३) पुराणों के नायक का रूप। दार्शनिक दृष्टि से वे अद्वैत, अनंत, परम ब्रह्म एवं संसार के कर्ता, धर्ता और संहार-कर्ता हैं। भक्तों के उद्धार, दुष्टों के दमन तथा धर्म की संस्थापना के लिए वे बार बार अवतार लेते हैं। यदि व्यक्ति उनकी शरण में आ जाता है तो वे

उसे सारे पापों से मुक्त कर देते हैं। गीता के अनुसार जो व्यक्ति उनका कार्य तथा उनकी भक्ति करता है, जो अपने को उन्हें समर्पित कर देता है, जो निष्काम है और जिसमें किसी जीव के प्रति घृणा का भाव नहीं है वह उनमें प्राप्त होता अर्थात् मोक्ष पा जाता है।

शाक्त संप्रदाय—कुछ लोगों ने सर्वशक्तिमान सत्ता की कल्पना देव-रूप के स्थान में देवी के रूप में की और इस प्रकार शक्ति की आराधना आरंभ हुई। सर्वशक्तिमान देवी अपने भक्तों पर उसी प्रकार दया करती है जिस प्रकार माता अपने बालकों पर और सदा उनके कल्याण में रत रहती है। पर वह दुष्टों के रक्त की प्यासी रहती है। उसे प्रसन्न करने के लिए, उसके भक्त उसके सम्मुख नाना प्रकार के जीवों की बलि चढ़ाते हैं।

वेदांत का पुनरुत्थान—स्मृतियों में प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म के पालन तथा भक्ति और सेवा के सरल मार्गों द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के सुलभ साधनों के कारण, उपनिषदों में निरूपित चिंतन और ज्ञान का मार्ग किंचित काल के लिए लुप्त सा हो गया था। आठवीं शताब्दी में श्रीशंकराचार्य और बारहवीं शताब्दी में श्री रामानुजाचार्य ने उसकी पुनर्जागृति की। शंकराचार्य के मतानुकूल परमात्मा और आत्मा में किसी प्रकार का भेद न था। पर परमात्मा की प्राप्ति भक्ति और सेवा द्वारा नहीं, ज्ञान और चिंतन द्वारा ही हो सकती थी। श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। इसका तात्पर्य यह है कि मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात, आत्मा परमात्मा में विलीन हो कर भी, अपना अस्तित्व जारी रखती और परमात्मा से मिलने का आनंद अनुभव करती है। रामानुज ने भक्ति और सेवा के मार्गों पर पुनः जोर दिया और इस प्रकार उस आंदोलन की नीव पड़ी जो मध्यकाल में भक्ति-आंदोलन के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भक्ति-आंदोलन—चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दियों में भारत में भक्ति-आंदोलन की प्रधानता थी। इन दिनों भारत के शासक मुसलमान जाति के थे। वे हिंदुओं को सरकारी पदों से अलग रखते और जबरदस्ती अथवा प्रलोभन द्वारा उन्हें मुसलमान बनाते थे। ऐसी अवस्था में हिंदुओं को ईश्वर के अतिरिक्त और किसी का सहारा न था। उनमें ईश्वर-भक्ति द्वारा संकट के दूर होने की परंपरा भी थी। फल-स्वरूप हिंदू धर्म पुनः भक्ति मार्ग पर अग्रसर हुआ। रामानंद, वल्लभाचार्य, चैतन्य, तुलसीदास, मीराबाई तथा महाराष्ट्र के तुकाराम और रामदास आदि संतों ने उसका प्रचार करके, उसे घर-घर तक पहुँचा दिया।

रामानंद के विचारानुकूल जाति-पाँति के कारण भक्ति के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा नहीं हो सकती थी। फलस्वरूप नीच से नीच मनुष्य भी

भगवान की भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता था। चैतन्य महाप्रभु ने भी जाति-पाँति की कठोरता का खंडन करके, सबके प्रति प्रेम की शिक्षा दी। वे सबको सम दृष्टि से देखते थे। उनके मतानुकूल चांडाल भी कृष्ण की भक्ति द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर सकता था। तुलसीदास मन, वाणी और कर्म से राम के चरणों की भक्ति चाहते थे और मीराबाई के लिए गिरधर गोपाल के सिवा कोई दूसरा न था। रामदास के उपदेशानुसार प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक हृदय में एक ही ईश्वर का निवास था और तुकाराम के मत में जो दुखियों की सहायता करते थे, उनमें ईश्वर का निवास था।

कबीर भक्ति आंदोलन के उज्ज्वल तारों में थे। वे रामानंद के शिष्य और अपने गुरु से भी आगे बढ़ कर, हिंदुओं और मुसलमानों की एकता स्थापित करना चाहते थे। कबीर के मतानुकूल हिंदू और मुसलमान एक ही परम पिता की संतान और अल्लाह और राम एक ही ईश्वर के भिन्न भिन्न नाम हैं। वह न तो मंदिर में छिपा रहता है और न काबे में। न उसे चिल्ला कर पुकारने की आवश्यकता है और न उसके नाम की माला जपने की। व्रत, तीर्थ-यात्रा, नदियों में स्नान और मूर्ति पूजन से वह नहीं मिलता। भक्ति के साथ साथ मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। कबीर के पदों में इसी विचार-धारा का समावेश है। सूफी फकीरों का भी प्रयत्न इसी दिशा में था। वे ईश्वर को सुंदर और प्रेम करनेवाला मान कर, मनुष्य को अनंत काल तक उसकी भक्ति में तल्लीन रहने का उपदेश देते थे। कबीर की भांति वे भी हिंदुओं और मुसलमानों में किसी प्रकार का भेदभाव न करते थे।

उपर्युक्त संतों के प्रभाव के कारण हिंदुओं की परस्पर एकता बढ़ी, विपत्ति के काल में उन्हें सांत्वना मिली और वे उन कष्टों को हँसते और गाते हुए झेल गये जो अन्यथा बड़े कष्ट-साध्य होते। हिंदुओं और मुसलमानों में परस्पर सद्भावना की वृद्धि हुई और वे एक दूसरे की ओर अधिक आकृष्ट हुए।

हिंदू धर्म के आधारभूत तत्त्व—हिंदू धर्म के उक्त सिंहावलोकन से यह स्पष्ट है कि वह एक गतिशील धर्म है। समय के साथ-साथ उसके सिद्धांतों और उपासना की विधियों में परिवर्तन अवश्य हुए हैं, पर उसकी विभिन्नताओं में एकता का अस्तित्व है। कुछ आधारभूत तत्त्व ऐसे हैं जो उसके सभी रूपों में विद्यमान हैं। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) वेदों को प्रामाणिक धार्मिक ग्रंथ मानना।

(२) एक ईश्वर में विश्वास पर उसकी अनेक रूप में उपासना।

(३) कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष के सिद्धांतों में विश्वास।

(४) सामाजिक व्यवस्था में जाति-भेद का आधार-भूत स्थान।

(५) जीवन में नैतिक आचरण की प्रधानता।

उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलन—लगभग चार सौ बरस तक भक्ति-आंदोलन तथा पौराणिक धर्म के व्यापक प्रभाव के कारण, जब भारतीय मस्तिक अंध विश्वास की शृंखला में जकड़ा हुआ था, उस समय देश में अंगरेजों का शासन स्थापित हुआ। अपने साथ वे पाश्चात्य जीवन के पार्थिव और विवेकात्मक दृष्टिकोण को भी लाये, जिसके कारण चिंतनशील भारतीयों के लिए यह अनिवार्य-सा हो गया कि वे अपने धार्मिक विश्वासों और सामाजिक व्यवस्था का नयी परिस्थिति के अनुसार नया मूल्यांकन करें। ईसाई मत के प्रचार के कारण बहुत से हिंदू ईसाई भी बनाये जा रहे थे और हिंदू धर्म, अपनी अनुदारता के कारण, उन्हें अपने में मिलाने में असमर्थ था। पुरोहितों का बोलबाला था, समाज कुरीतियों से परिपूर्ण था और उसका नैतिक ह्रास हो रहा था। भारत की ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि देश का बौद्धिक विकास हो और कुछ ऐसी विभूतियाँ उत्पन्न हों जो सुधार-आंदोलनों द्वारा पतनोन्मुख देश को ऊपर की ओर उठावें। कालांतर में राजा राममोहन राय ने ब्रह्म-समाज की स्थापना करके, इस महत्त्वपूर्ण कार्य का श्रीगणेश किया। उन्हें आधुनिक भारत का जन्मदाता कहा जाता है।

ब्रह्म-समाज—राजा राममोहन राय का जन्म सन् १७७२ में एक कुलीन ब्राह्मण के घर में हुआ था। इन्हें फारसी, अंगरेजी, संस्कृत, यूनानी और यहूदी भाषाओं की शिक्षा दी गयी। फलस्वरूप इन्होंने इस्लाम, हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म और ईसाइयों और सूफियों के धर्मों का सारगर्भित अध्ययन किया और अंत में ये इस नतीजे पर पहुँचे कि विभिन्न धर्मों की बहिर्मुखी अनेकता के अंतस्तल में एकता का अस्तित्व है। उनका यह भी विचार था कि मध्य-कालीन मनोवृत्ति, भारत की समस्याओं को हल करने में असफल सिद्ध हो चुकी हैं। अतएव इन्होने अपने व्यक्तित्व, विचारों और आंदोलनों द्वारा, भारतीय मस्तिष्क को पुरातनवाद से मुक्त किया और वर्तमान में काम करने का अवसर तथा क्षेत्र देकर, उसके सामने भावी महानता का आदर्श रखा। सन् १८२८ में इन्होंने ब्रह्म-समाज की स्थापना की।

धार्मिक बातों में राजा राममोहन राय एक ईश्वर में विश्वास करते थे। वह नित्य, अज्ञेय, सर्वव्यापी, अनश्वर तथा संसार का स्रष्टा और पालक है। उसकी उपासना से व्यक्ति को चिरशांति मिलती है। उसकी पूजा के लिए न तो मूर्तियों की आवश्यकता है, न पुरोहितों की और न पशुओं के बलिदान की।

व्यक्ति स्वयं उससे साक्षात्कार करके उसे प्राप्त कर सकता है, क्योंकि वह सबकी प्रार्थनाओं को सुनता और उनका उत्तर देता है। उसका अवतार नहीं होता। राजा राममोहन राय के मतानुकूल सभी धर्मों में इसी सत्य का उपदेश है। फलस्वरूप ब्रह्म-समाज में दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता पर विशेष जोर दिया जाता है।

राजा राममोहन राय केवल धार्मिक सुधारक ही न थे। वे उच्चकोटि के सामाजिक सुधारक भी थे। सन् १८१९ में उन्होने कलकत्ते में हिंदू-कॉलेज की स्थापना की। देश में बहुत दिनों से सती की प्रथा तथा बच्चों की बलि का चलन था। राजा राममोहन राय ने इनका विरोध किया। विधवाओं के संरक्षण के लिए उन्होंने विधवा-विवाह पर जोर दिया और देश के हित के लिए बाल-विवाहों को रोकना चाहा। वे जाति-भेद के विरोधी थे। फलस्वरूप वे अस्पृश्यता को भी दूर करना चाहते थे। सारांश यह कि राजा राममोहन राय ने धार्मिक और सामाजिक समस्याओं के हल में रूढ़िवाद और अंधविश्वास के स्थान पर विवेक और तर्क से काम लिया और इस प्रकार उस विचार-धारा के जन्मदाता बने जिसके बिना बीसवीं शताब्दी के भारत का निर्माण असंभव होता। सन् १८३३ में ब्रिस्टल में उनका स्वर्गवास हुआ।

राजा राममोहन राय की मृत्यु के पश्चात् ब्रह्म-समाज के कामों में कुछ शिथिलता आ गयी। किंतु सन् १८४२ में महर्षि देवेंद्रनाथ टगौर के प्रवेश एवं काम संभालने के कारण उसकी पुनः उन्नति हुई और अगले तीस बरसों में, बंगाल के विभिन्न भागों तथा उसके बाहर ब्रह्म-समाज की अनेक शाखाएँ खुलीं। सन् १८५७ में केशवचंद्र सेन ब्रह्म-समाज में प्रविष्ट हुए। ये इतने प्रभावशाली थे कि चौबीस बरस की अवस्था में ही आचार्य की पदवी से विभूषित किये तथा ब्रह्म-समाज के विधायक बनाये गये। उनके प्रभाव के कारण अनेक नवयुवक ब्रह्म-समाज की ओर आकृष्ट हुए और उसका काम सुचारु-रूप से चलने लगा। पर उन्हें संस्कृत की शिक्षा न मिली थी। इसके विपरीत वे एक अंगरेजी स्कूल में पढ़ाये गये थे। इन पर ईसाई धर्म की छाप तो पड़ चुकी थी, पर ये हिंदू धर्म से भली भाँति परिचित न थे। अतएव कुछ ही दिनों में इनमें और महर्षि देवेंद्रनाथ टगौर में इतना मतभेद हुआ कि इन्होंने ब्रह्म-समाज से अलग होकर भारतीय ब्रह्म-समाज की स्थापना की। पुराने ब्रह्म-समाज का नाम अब आदि ब्रह्म-समाज हो गया।

सन् १८७८ में भारतीय ब्रह्म-समाज में भी विच्छेद हुआ। राजा राममोहन राय के समय से ही, ब्रह्म-समाज बाल-विवाह का विरोधी था। पर इस व्यवस्था

के होते हुए भी, केशवचंद्र सेन ने अपनी कन्या का विवाह कूच-विहार के राजकुमार के साथ ऐसी अवस्था में किया जो ब्रह्म-समाज की दृष्टि में कम थी। फल-स्वरूप समाज के बहुत से सदस्य उससे अलग हो गये और उन्होंने एक नये समाज की स्थापना की जिसका नाम साधारण ब्रह्म-समाज है। केशवचंद्र सेन और उनके अनुयायियों ने भी अपना समाज बनाया। इसका नाम नव-विधान रखा गया। आजकल तीनों प्रकार के ब्रह्म-समाजों की शाखाओं का अस्तित्व बंगाल के विभिन्न भागों में है। ब्रह्म-समाज हिंदू धर्म की ओर अधिक झुका हुआ है और नव-विधान ईसाई धर्म की ओर। प्रभाव और सेवा-कार्य में साधारण ब्रह्म-समाज का स्थान सर्वोपरि है।

प्रार्थना-समाज—सन् १८६४ में केशवचंद्र सेन बंबई गये। इसके तीन बरस पश्चात् महादेव गोविंद रानाडे, काशीनाथ त्रिंबक तैलंग, और आर० जी० भंडारकर के सहयोग से वहाँ पर प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। सन् १८६८ में केशवचंद्र सेन के दूसरी बार बंबई आने से इस समाज को बड़ा प्रोत्साहन मिला। समाज का कार्य-क्रम और उसके आधारभूत सिद्धांत प्रायः वे ही हैं जो ब्रह्म-समाज के। वह भी एक परमेश्वर में विश्वास करता और उसकी उपासना से इस लोक और परलोक दोनों के सुधार का आश्वासन देता है। वह मूर्ति-पूजा का विरोधी है, पर ब्रह्म-समाज के समान नहीं। सामाजिक बातों में वह बाल-विवाह का विरोधी और पाश्चात्य शिक्षा, स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह का समर्थक है। वह जाति-भेद का भी विरोध करता है पर ब्रह्म-समाज के समान नहीं।

आर्य-समाज—ब्रह्म-समाज और उसके प्रवर्तकों के प्रभाव के कारण पाश्चात्य सभ्यता एवं विद्याओं की भारत में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। इतिहास साहित्य, न्याय, दर्शन, विज्ञान, कला, धर्म आदि में नवीन जीवन का संचार हुआ और वे नये आवरण धारण करके नयी दिशा में विकसित होने लगे। किंतु परिवर्तन की गति बड़ी द्रुत थी और उसमें गुणों की अपेक्षा अवगुणों का अनुकरण अधिक हुआ था। पाश्चात्य संपर्क का परिणाम स्वतंत्रता प्राप्त करने की प्रबल इच्छा का होना समझा गया। अतएव लोग खाने-पीने, सोचने-विचारने और काम करने की स्वतंत्रता पर जोर देने लगे। शिक्षित समाज में चरित्र-हीनता का फैशन बढ़ा और धर्म और नीति का विरोध और भौतिकतावाद और उपयोगितावाद का अनियंत्रित प्रचार होने लगा। ऐसी अवस्था में प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। अति काल से वैदिक सभ्यता और संस्कृति को अपनाने और उसका पुनरुद्धार करनेवाला कोई महापुरुष भारतीय रंग-मंच पर

न आया था। स्वामी दयानंद सरस्वती ने इस कमी की पूर्ति की। उन्होंने प्रभावशाली ढंग से लोगों के विचारो को वैदिक धर्म और सभ्यता की ओर आकृष्ट किया।

स्वामी दयानंद सरस्वती (इनका पहला नाम मूलशंकर था) का जन्म सन् १८२४ में हुआ था। चौदह साल की अवस्था तक इन्हें हिंदू धर्म की शिक्षा दी गयी। सन् १८३८ में महाशिवरात्रि की रात्रि को इनके हृदय में मूर्ति-पूजा के प्रति विरोध उत्पन्न हुआ और चार साल पश्चात, दो बहिनो की मृत्यु के कारण, मोक्ष-प्राप्त करने की प्रबल इच्छा हुई। पिता ने विवाह करके इनका मन इस दिशा से फेरना चाहा किंतु वे घर से निकल भागे और योग की शिक्षा के लिए इधर-उधर भ्रमण करते रहे। श्री परमानंद ने इन्हें सरस्वती-संप्रदाय का सदस्य बनाया। अंत में वे पाणिनीय व्याकरण के प्रामाणिक विद्वान श्री विरजानंद के शिष्य बने। बिदाई के समय इनके गुरु ने इन्हें निम्नलिखित आदेश दिया— "भारत में बहुत दिनों से वेदों की शिक्षा उठ गयी है। जाओ और उसका प्रचार करो। देश का उपकार करो, सत्य शास्त्रों का उद्धार करो, मत-मतांतरों की अविद्या को मिटाओ और वैदिक धर्म को जगत में फैलाओ। स्मरण रखना कि मनुष्य-कृत ग्रंथो में परमात्मा और ऋषियों की निंदा है, ऋषि-कृत ग्रंथों में नहीं। इस कसौटी को हाथ से न छोड़ना।"

इस आदेश को लेकर स्वामी दयानंद सरस्वती ने कई स्थानों में विद्वानों से शास्त्रार्थ किया। सन् १८७५ में इन्होंने आर्य-समाज की स्थापना की। १८८३ में, ५९ बरस की अवस्था में इनका देहावसान हुआ।

स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा संस्थापित, आर्य-समाज जिन बातो में विश्वास करता है, वे उसके दस नियमो में घोषित कर दी गयी हैं। आर्य-समाज के दस नियम इस प्रकार हैं—(१) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है। (२) ईश्वर सच्चिदानंद, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसकी उपासना करनी योग्य है। (३) वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। (४) सत्य ग्रहण करने में और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। (५) सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करना चाहिये। (६) संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नत्ति करना। (७) सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये। (८) अविद्या

का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये। (९) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट न रहना चाहिये किंतु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये। (१०) सब मनुष्यों को, सामाजिक सर्व-हित के कामों में मतभेद को त्याग कर, अपने व्यक्तित्व का बलिदान करना चाहिये और व्यक्तिगत कामों में स्वतंत्र रहना चाहिये।

आर्य-समाज ने अपने कार्य-क्षेत्र को धार्मिक सुधारों तक ही सीमित नहीं रखा। ब्रह्म-समाज की भांति उसने समाज-सुधार की ओर भी ध्यान दिया। हिंदुओं को शक्तिशाली बनाने के लिए उसने शुद्धि और संगठन के आंदोलन चलाये। जाति-भेद, बाल-विवाह, मूर्ति-पूजा और पुरोहितो का विरोध किया और वैदिक और पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार। अनाथालयो और विधवाश्रमों को स्थापित करके उसने पतनोन्मुख हिंदू-समाज को अधिक नीचे गिरने से बचाया। स्वामी दयानंद सरस्वती ने इनके अतिरिक्त इस बात पर भी जोर दिया कि भारत भारतीयों के लिए है। "कोई कितना ही करे परंतु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम है।" स्वामी दयानंद सरस्वती के उक्त व्यापक दृष्टिकोण के कारण यह कहना अनिवार्य सा हो जाता है कि वे भारत के उत्थान के एक महान पथ-प्रदर्शक थे।

रामकृष्ण सेवाश्रम—स्वामी दयानंद सरस्वती के दस साल पश्चात, जिला हुगली के कमरपुकुर नामी गांव में, एक निर्धन ब्राह्मण के घर में, गदाधर चटर्जी नामी एक शिशु उत्पन्न हुआ था। उसकी शिक्षा का कुछ भी प्रबंध न हो सका था। किंतु बचपन ही में उसने अलौकिक स्मरण-शक्ति एवं धार्मिक ग्रंथों और कहानियों में रुचि का परिचय दिया था। लगभग २२ साल की अवस्था में वह दक्षिणेश्वर मंदिर में सहकारी पुजारी नियुक्त हुआ। किंतु प्रायः समाधि की अवस्था में होने के कारण वह अपने काम को भली भाँति न करता था। अतः वह मंदिर के पुजारी के पद से अलग कर दिया गया। इसके पश्चात् वह बारह बरस तक इधर-उधर जाकर, योगाभ्यास करता रहा। अंत में उसकी श्री तोतापुरी भेंट हुई। उन्होने उसे निर्विकल्प समाधि की शिक्षा दी और यह ज्ञान कराया कि ईश्वर निराकार है, मनुष्य की आत्मा और ईश्वर दोनो एक ही हैं और संसार असार है। उन्होंने गदाधर को सन्यास ग्रहण कराया और अपनी स्त्री को विस्मरित करके गदाधर ने भी सन्यास की शपथ ले ली। अब उसका नाम रामकृष्ण हो गया। सन् १८७१ में उसकी स्त्री उसकी प्रथम शिष्या बनी। क्रमशः रामकृष्ण ने जाति-पांति की भावना से मुक्त होने का प्रयत्न किया। वह

उन कामों को करने लगा, जिन्हें चांडाल ही किया करते थे। इस प्रकार स्व पर पूर्ण विजय पाकर वह रामकृष्ण परमहंस हो गया।

रामकृष्ण परमहंस ने, हिंदूधर्म के उस व्यापक रूप का अनुभव किया जिसे ऋषियों और महात्माओं ने अनेक शताब्दियों में निर्धारित किया था। वे एक ईश्वर में विश्वास करते थे और उनका विचार था कि विभिन्न धर्म उसकी प्राप्ति के विभिन्न साधन हैं। "सब धर्म सच्चे हैं और एक ही उद्देश्य की पूर्ति के विभिन्न साधन हैं।" इस सत्य का अनुभव तभी हो सकता है जब व्यक्ति किसी धर्म की समस्त विधियों और आदेशों के अनुसार अपने जीवन का संचालन करे। इस्लाम के सत्य के अनुभव के लिए मुसलमान की भांति रहना चाहिये और ईसाई धर्म के सत्य के अनुभव के लिए ईसाई की भांति। हिंदू-धर्म के विभिन्न रूप भी एक ही ईश्वर की प्राप्ति के विभिन्न साधन हैं। "जहां कहीं मै देखता हूँ, मुझे हिदू, मुसलमान, ब्रह्मो, वैष्णव आदि विविध वर्गों के लोग, धर्म के नाम पर लड़ते हुए दिखलायी पड़ते हैं। वे कभी यह नहीं सोचते कि जिसे वह कृष्ण कहते हैं वही शिव, शक्ति, अल्लाह, ईसा और सहस्र नामधारी राम भी है।"

रामकृष्ण परमहंस के आध्यात्मिक जीवन के कारण भारत के बहुत से लोग उनकी ओर आकृष्ट हुए। इनमें से एक का नाम नरेंद्रनाथ था। ये आगे चलकर स्वामी विवेकानंद के नाम से प्रसिद्ध हुए। मरने के कुछ दिन पूर्व परमहंस देव ने, अपने इस शिष्य को अपने साथ अकेले रखा और अपना सर्वस्व देकर, उसे यह आदेश दिया कि संसार में जाकर मानव-मात्र के कल्याण के लिए विश्व-व्यापक धर्म का प्रचार करना और स्वार्थवश अपनी ही मुक्ति के कामों में न लग जाना। स्वामी विवेकानंद ने अपने गुरू के आदेश का अक्षरशः पालन किया। भारत में ही नहीं, समुद्र-पार अमरीका तक में उन्होंने हिंदू-धर्म का झंडा ऊपर उठाया।

स्वामी विवेकानंद ने सन् १८९७ में रामकृष्ण सेवाश्रम की स्थापना की। आजकल भारत और विदेशों में इस नाम के अनेक सेवाश्रमों का अस्तित्व है। इसका उद्देश्य सर्वतोमुखी समाज-सेवा है। दीन-दुखियों का अस्तित्व प्रायः प्रत्येक स्थान में है। वे सब ईश्वर हैं। "ईश्वर की खोज में कहां जा रहे हो? क्या निर्धन, दुखी और निर्बल ईश्वर नहीं है? पहले उनकी पूजा क्यों नहीं करते?" स्वामी विवेकानंद के इन वाक्यों के चरितार्थ, सब रामकृष्ण आश्रमों में दरिद्रों को भोजन दिया जाता है, उनकी चिकित्सा की जाती है और रोगियों के ठहरने का प्रबंध किया जाता है। बाढ़, भूकंप, अकाल, महामारी आदि

आकस्मिक आपत्तियों के दिनों में वे अस्थायी केंद्रों को खोलकर पीड़ितों की सहायता करते हैं। वे शिक्षा का भी प्रचार कर रहे हैं।

थियासोफिकल सोसाइटी—उपर्युक्त तीनों धार्मिक-सुधार आंदोलनों के चलाने वाले भारतीय थे। किंतु थियासोफिकल सोसाइटी के चलानेवाले कर्नल अल्कॉट और मैडम ब्लेवाट्स्की विदेशी थे। थियासोफिकल सोसाइटी, १७ नवंबर सन् १८३५ को अमरीका की राजधानी न्यूयार्क में बनी थी। इसका उद्देश्य यह दिखलाना था कि "संसार और मानव-जाति का विकास, विकास की दैवी योजना के अनुसार होता है। समस्त धर्म इस ईश्वरीय योजना पर स्थित हैं। उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं हो सकता।" सोसाइटी ने इस बात पर भी जोर दिया कि "किसी राष्ट्र का विकास, उसके अपने नेताओ द्वारा होना चाहिये, बाह्य सहायता से नहीं।" सोसाइटी अंतर्राष्ट्रीय बंधुत्व और धर्म के वैज्ञानिक आधार में भी विश्वास करती है।

सोसाइटी के संस्थापक सन् १८७९ में भारत में पधारे। कर्नल अल्कॉट ने, भारत के विभिन्न नगरों में दिये गये अपने भाषणों में, यह स्पष्ट किया कि अपनी मौजूदा स्थिति में, पतितावस्था में होने पर भी, हिंदू-धर्म संसार का एक श्रेष्ठ धर्म था। हिंदुओं को चाहिये कि उसकी बुराइयों को दूर करके, पादरियों द्वारा किये गये, अधार्मिक और अराष्ट्रीय आक्रमणों से उसकी रक्षा करें। सन् १८८२ में न्यूयार्क के स्थान पर मद्रास (अड्यार), सोसाइटी का मुख्य केंद्र बनाया गया।

सन् १८९३ में श्रीमती एनीबेसेंट सोसाइटी में सम्मिलित हुईं। कर्नल अल्कॉट की मृत्यु के पश्चात् वे उसकी अध्यक्ष बना दी गयीं। उन्होंने कर्नल अल्कॉट द्वारा आरंभित हिंदू-धर्म के पुनरुद्धार के काम को जारी रखा और वेदों और उपनिषदों में, अपने विश्वास का परिचय देकर, ब्रह्म-समाज और आर्य-समाज द्वारा, प्रचलित हिंदू-धर्म पर किये गये आक्रमणों से, उसकी रक्षा की। सोसाइटी के प्रयत्नों के कारण हिंदूधर्म के अनेक ग्रंथों का अंगरेजी में अनुवाद हुआ, जिसके कारण वे नव शिक्षित भारतीयों तथा विदेशियों तक पहुँच सके।

थियासोफिकल सोसाइटी का काम धार्मिक आंदोलनों तक ही सीमित न था। उसने भारतीयों की शिक्षा के लिए अनेक स्कूल और कॉलेज खोले। सोसाइटी ने बाल-विवाह रोकने, धार्मिक सहिष्णुता बढ़ाने तथा जातिभेद की कठोरताओं के घटाने के भी अनेक काम किये हैं।

१९ वीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों का मूल्यांकन—उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों के उपर्युक्त विवरण के पश्चात् यह जान लेना आवश्यक है कि उन्होंने देश की कौन-कौन सी सेवाएं की हैं और किस सीमा तक उसके उत्थान में सहायता पहुँचायी है। हम उन्हें निम्नलिखित पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) जीवन का नया दृष्टि-कोण—उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों के कारण भारतीय जीवन में एक नवीन दृष्टि-कोण का समावेश हुआ। उनके पूर्व भारतीय जनता पुरातन-पूजक थी और अंधविश्वास के आधार पर अपने सब काम करती थी। इन आंदोलनों के कारण जीवन के विवेकात्मक दृष्टिकोण का उदय हुआ।

(२) धार्मिक सुधार—उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों ने अनेक आवश्यक धार्मिक सुधार किये। सब ने वेदों और उपनिषदों की प्रामाणिकता तथा एक ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया और पुरोहितों, यज्ञों और पशु-बलिदानों का विरोध। सबने नैतिक आचरण पर जोर दिया, मूर्ति-पूजा का खंडन किया और धार्मिक सहिष्णुता को देश के कल्याण के लिए आवश्यक बतलाया। कुछ ने धार्मिक सहिष्णुता को इतना महत्त्वपूर्ण समझा कि सब धर्म परस्पर विरोधी न होकर, एक ही ब्रह्म की प्राप्ति के विभिन्न साधन समझे गये। आर्य-समाज ही एक ऐसा धार्मिक आंदोलन था जो अन्य धर्मावलंबियों को शुद्धि द्वारा, उसी प्रकार हिंदू बनाने के पक्ष में था जिस प्रकार मुसलमान और ईसाई धर्मावलंबी हिंदुओं को अपने धर्म में मिलाते थे।

(३) सामाजिक सुधार—उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों का एक सामाजिक पहलू भी था। परतंत्र देशों का सामाजिक जीवन प्रायः गिर जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय हिंदुओं की यही दशा थी। उनके सामाजिक उत्थान के लिए इन आंदोलनों ने जाति-भेद की कठोरताओं को शिथिल करने का प्रयत्न किया। स्त्रियों की अवस्था सुधारने के हेतु सब ने बाल-विवाह को रोकने और विधवा-विवाह के चलाने पर जोर दिया। अनाथ बच्चों की रक्षा के लिए अनाथालय खोले गये और अछूतों के उद्धार के हेतु इस बात पर जोर दिया गया कि किसी मनुष्य का सामाजिक स्थान, उसके जन्म पर नहीं, कर्म पर निर्भर करता है। सती की अमानुषिक प्रथा तथा बाल-हत्या का विरोध किया गया और अनेक दातव्य औषधालयों की स्थापना द्वारा निर्धनों की चिकित्सा का प्रबंध।

(४) शैक्षिक सुधार—इन आंदोलनों का शैक्षिक कार्यक्रम भी था।

धार्मिक और सामाजिक सुधार या तो सरकार द्वारा किये जा सकते हैं या स्वयं जनता द्वारा। भारत में सरकारी प्रयत्नों का सर्वथा अभाव था। सरकारी सहयोग तक की विशेष आशा न थी। अतएव सुधार जनता द्वारा ही किये जा सकते थे। इसके लिए उसमें शिक्षा का प्रचार आवश्यक था। अतएव उन्नीसवीं शताब्दी के सभी धार्मिक आंदोलनों ने शिक्षा के प्रचार पर जोर दिया। सबने अपने स्कूल और कॉलेज खोले। स्त्री-शिक्षा के लिए कन्या-पाठशालाओं की स्थापना की गयी।

(५) राजनीतिक सुधार—उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों का स्पष्ट राजनीतिक कार्यक्रम न था। किंतु जीवन के विवेकात्मक दृष्टिकोण तथा सामाजिक और शैक्षिक सुधारो के कारण, यह अनिवार्य था कि लोग भारतीय राजनीतिक परिस्थिति का पर्यायलोचन करके राजनीतिक सुधारों के लिए प्रयत्नशील होते। स्वामी दयानंद सरस्वती ने तो, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, यह स्पष्ट कह दिया था कि भारत भारतीयों के लिए है और स्वदेशी शासन, सर्वोत्तम विदेशी शासन से भी, श्रेष्ठतर है। धार्मिक आंदोलनों ने अपने कामों द्वारा भूमि को तैयार करके, देश को ऐसा बना दिया कि उसमें राष्ट्रीय स्वतंत्रता का बीज सुलभता से पनप सका।

सिख धर्म—उपरिवर्णित हिंदू धर्म तथा उसके विभिन्न रूपो के अतिरिक्त, हमारे देश में कई अन्य धर्मों का अस्तित्व है। उनमें सिख धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म विशेषतया उल्लेखनीय हैं। सिख धर्म की बहुत सी बातें हिंदू धर्म से मिलती-जुलती है। इसका आरंभ पंद्रहवीं शताब्दी में गुरू नानक द्वारा किया गया था। हिंदू धर्म में अनेक बुराइयाँ आ गयी थीं। पुरोहितों की प्रधानता थी, यज्ञ और पशु-बलि बहुत बड़ी संख्या में हो रहे थे, जाति-भेद की कठोरताएँ बढ़ी हुई थीं और लोग अंध विश्वास के बंधनो से जकड़े हुए थे। इन सबके अतिरिक्त हिंदुओं और मुसलमानों में परस्पर विरोध था, जिसके कारण धर्म के नाम पर निर्दोषों के रक्त से धरा कलुषित हो रही थी। नानक ने इन सबके रोकने का प्रयत्न किया।

नानक का जन्म सन् १४६९ में लाहौर के निकट एक गांव में क्षत्री परिवार में हुआ था। बचपन ही से इस बालक में कुछ अलौकिक गुण विद्यमान थे। जब अन्य बालक खेल-कूद में अपना जी बहलाते थे, विरक्त और शांति-प्रिय नानक किसी दूर स्थान में जाकर चिंतन किया करता था। अपने अध्यापकों से वह ऐसे प्रश्न पूछता था जिनका उत्तर देने में वे असमर्थ थे। एक बार रुग्णावस्था में जब डाक्टर उसे देखने आये, उसने उनसे पूछा कि क्या आप मेरी

आत्मा के कष्ट को दूर कर सकते हैं ? उपनयन संस्कार के समय उसने पुरोहित से यज्ञोपवीत पहनने का कारण पूछा। पुरोहित ने उत्तर दिया कि यज्ञोपवीत पहनने से मनुष्य शुद्ध तथा पूजा-पाठ का अधिकारी हो जाता है। यदि यज्ञोपवीत पहनने के पश्चात् मनुष्य कुकर्म करे, तो क्या यज्ञोपवीत के कारण शुद्ध बना रहेगा ? इस प्रकार के कुछ अन्य प्रश्नोत्तर के पश्चात् नानक ने कहा "दया के सूत से प्रेम का धागा बनाओ और उसमें त्याग और सत्य की ग्रंथियां लगा कर उसे हृदय पर धारण करो। यह धागा न टूटता है, न खराब होता है, न जलता है और न खोता है। वे धन्य हैं जो इस धागे को पहनते हैं।" तत्पश्चात् उसने यज्ञोपवीत धारण करने से इनकार कर दिया। सब लोग समझा कर हार गये। अंत में माता के अनुरोध पर उसने केवल उसे प्रसन्न करने के हेतु यज्ञोपवीत को धारण किया।

बड़े होने पर नानक ने एक मुसलमान नवाब के यहां नौकरी की। वेतन के रूप में उसे जो कुछ मिलता था उसे वह दान में समाप्त कर देता था। अंत में नौकरी और घरबार छोड़कर, उसने ईश्वर की खोज में इधर-उधर घूमने का निश्चय किया। नवाब के बुलाने पर वह उसके पास कुछ देर में पहुँचा। जब इस अपराध के कारण नवाब ने उसके विरुद्ध क्रोध का प्रदर्शन किया, उसने कहा "अब मैं तुम्हारा नहीं, ईश्वर का नौकर हूँ।" थोड़ी देर बातचीत के पश्चात नवाब ने कहा "यदि तुम मेरे समान एक ही ईश्वर में विश्वास करते हो तो मेरे और तुम्हारे ईश्वर में कोई अंतर नहीं है। आओ, मेरे साथ नमाज पढ़ने चलो।" नानक नमाज पढ़ने के लिए तैयार हो गया और नवाब के साथ चल पड़ा। मुल्ला और नवाब झुक-झुक कर नमाज पढ़ रहे थे और नानक चुपचाप खड़ा था। नमाज के पश्चात् जब नवाब ने नमाज की क्रियाओं के न करने के कारण उस पर क्रोध दिखलाना आरंभ किया तब उसने कहा, "नमाज पढ़ते समय आप कंदहार से घोड़े मँगाने की सोच रहे थे और मुल्ला साहब का ध्यान अपनी उस घोड़ी पर था जिसके कल बच्चा हुआ है। जब आपका मन ही स्थिर नहीं है तो पूजा की क्रियाओं से क्या लाभ ?" इसी प्रकार नानक ने चमत्कार की कई अन्य बातें दिखलायीं। अंत में वे सिख धर्म के संस्थापक बने।

नानक के धार्मिक विचारों में से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—(१) ईश्वर में विश्वास। वह हिंदुओं, मुसल्मानों, ईसाइयों आदि सबका ईश्वर है। वह सत्पुरुष है और राग-द्वेष से रहित, अमर, अजन्मा, स्वयंभू, महान और दयालु है। वह बादशाहों का बादशाह है। उसके अनेक नाम हैं और उन नामों में सत् नाम सर्व-प्रधान है। (२) मूर्ति-पूजा और तीर्थ-यात्रा का विरोध। नानक

के विचारानुकूल मूर्ति-पूजा और तीर्थ-यात्रा से ईश्वर प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिए शुद्ध और सदाचारी जीवन की आवश्यकता है। (३) सन्यास का विरोध। ईश्वर की प्राप्ति के लिए सन्यास की भी आवश्यकता नहीं है। सांसारिक जीवन के कर्तव्यों का पालन करते हुए, सत् नाम के जप से ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। (४) कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास। आत्मा और परमात्मा दोनों एक ही हैं। आत्मा बारबार नये आवरण धारण करती है, पर उसकी मृत्यु नहीं होती। मुक्ति की प्राप्ति ईश्वर के ज्ञान से हो सकती है। (५) अवतारों में अविश्वास। (६) गुरु की आवश्यकता और महत्ता। नानक के मतानुकूल सत्गुरु के बिना सच्चा पंथ नहीं मिल सकता। यह तो इस धर्म के नाम से ही विदित है। सिख 'शिष्य' शब्द का अपभ्रंश मात्र है।

गुरु नानक की मृत्यु के पश्चात् सिख धर्म के ९ गुरु और हुए। भारत के मुसलमान शासकों का बर्ताव उनके प्रति अच्छा न था। गुरु अर्जुन के विरुद्ध जहाँगीर ने यह आरोप लगाया कि वे उसके विद्रोही पुत्रों के साथ सहानुभूति रखते थे। फल-स्वरूप वे पकड़कर कारागार में बंद कर दिये गये। वहीं उनकी मृत्यु हुई। औरंगजेब का बर्ताव भी उनके प्रति अच्छा न था, यहाँ तक कि उसने उनके नवें गुरु, गुरु तेग बहादुर को मरवा डाला था। अब अपनी रक्षा के लिए सिखों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे अपने संगठन में परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन करें। यह कार्य उनके अंतिम और दसवें गुरु, गुरु गोविंद सिंह ने संपादित किया।

पिता की हत्या के पश्चात् यह अनिवार्य था कि गुरु गोविंद सिंह कुछ दिनों तक चिंतायुक्त अवस्था में रहते। दुर्घटना के पश्चात् वे कुछ दिनों तक चिंतन करते रहे। तत्पश्चात् उन्होंने खालसा की स्थापना की। प्रत्येक सिख के लिए कच्छ, कड़ा, केश, कंघा और कृपाण धारण करना अनिवार्य कर दिया गया। गुरु के स्थान पर गुरु ग्रंथ साहब की प्रतिष्ठा हुई और संप्रदाय की देखभाल का अधिकार प्रमुख व्यक्तियों की एक कमेटी तथा समस्त खालसा संप्रदाय को मिला। संप्रदाय के सब सदस्य पूर्ववत् बिना भेद-भाव एक दूसरे के बराबर बने रहे। इस प्रकार सिख धर्म के अनुयायी एक सैनिक संप्रदाय में परिवर्तित हो गये।

इस्लाम—इस्लाम के चलाने का श्रेय हजरत मोहम्मद साहब को है। इनका जन्म २९ अगस्त सन् ५३० को मक्का में हुआ था। जन्म के कुछ सप्ताह के पश्चात् इनके पिता की मृत्यु हो गयी और इसके कुछ दिनों बाद माता की भी। अतः इनके पालन-पोषण का भार इनके बाबा पर आ पड़ा। पर

यह भी कुछ दिनों के पश्चात् संसार से चल बसे। अतएव इनके चाचा आबूतलीब ने इनका पालन-पोषण किया। २४ बरस की अवस्था में इन्होंने खदीजा नाम की एक स्त्री से विवाह किया जिसकी अवस्था इनकी अवस्था से कहीं ज्यादा थी।

उन दिनों अरब की अवस्था अच्छी न थी। चारो ओर धर्म के नाम पर मारकाट मची हुई थी। बैर-भाव एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलता था और लोग एक दूसरे का विश्वास न करते थे। मूर्तिपूजा और बाल-हत्या का प्रचार था और अनैतिक आचरणों के कारण पारिवारिक जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो रहा था। लोग एक दूसरे का तिरस्कार करते थे और छोटी-छोटी बातों के लिए लड़ाई की नौबत आ जाती थी। नौजवान मोहम्मद पर इस परिस्थिति का गहरा प्रभाव पड़ा। विवाह के पश्चात् लगभग पंद्रह बरस तक आंतरिक द्वंद्व के कारण वह नगर से दूर, रेगिस्तान के निर्जन खोहों में चिंतन करता रहा। अंत मे उसे ज्ञान की प्राप्ति हुई। एक फरिश्ते ने उससे कहा "तुम खुदा के पैगंबर हो, मालिक के नाम पर चिल्लाओ।" मोहम्मद ने पूछा कि मैं क्या चिल्लाऊँ। तब फरिश्ते ने उसे संसार और मनुष्य की उत्पत्ति, ईश्वर की एकता, फरिश्तों के रहस्य, उसके सम्मुख जो काम था आदि विषयों की अनेक बातें बतलायीं।

ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् मोहम्मद साहब अपनी स्त्री खदीजा के पास आये और उससे सलाह मांगी। उसने कहा "आप सच्चे और ईमानदार हैं। आप अपने वचन को कभी नहीं तोड़ते। सब लोग आपके चरित्र को जानते हैं। ईश्वर अपने भक्तों को धोखा नहीं देता। आपने जो कुछ सुना है, उसके अनुसार आचरण करिये।" इस प्रकार प्रोत्साहन पाकर मोहम्मद साहब आगे बढ़े। उनकी स्त्री उनकी प्रथम शिष्या बनी और तत्पश्चात् दूसरे संबंधी। तीन बरस के परिश्रम के पश्चात् उन्हें कुछ ऐसे अनुयायी मिल गये जो उन्हें ईश्वर का पैगंबर मानते थे। अब उन्होंने अपना पहला उपदेश दिया जिसमें एक ईश्वर पर जोर दिया और लोभ, लालच, मद्यपान, जीव-हत्या एवं कुत्सित जीवन का विरोध किया गया था। इसके पश्चात् कुछ अन्य लोग भी उनकी ओर आकृष्ट हुए। उनके अनुयायियों पर अत्याचार भी होने लगे। पर उन्होंने इसकी लेश-मात्र भी परवाह न की और मरते दम तक यह कहते रहे कि खुदा एक है और मोहम्मद साहब उसके पैगंबर हैं। अत्याचारों और अत्याचारियों की संख्या बढ़ती गयी और उन्हें अपनी रक्षा के लिए, मक्का से मदीना को भागना पड़ा। वहाँ वे शासक के पद पर नियुक्त हुए और उनके अधीन एक सेना भी हो गयी। इसके पश्चात् उनके अनुयायियों और विरोधियों में दस बरस तक संघर्ष

चलता रहा जिसके परिणाम-स्वरूप इस्लाम की कुछ उन्नति हुई। सन् ६३२ ई० को उनका देहांत हुआ।

इस्लाम का सैद्धांतिक रूप—इस्लाम के सैद्धांतिक रूप की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) नये मुसलमानों की प्रतिज्ञाएं—आरंभ में मोहम्मद साहब नये मुसलमानों से नीचे लिखी हुई प्रतिज्ञाएं करवाते थे—हम एक ईश्वर के अतिरिक्त किसी की पूजा नहीं करेंगे; हम बाल-हत्या न करेंगे; हम न तो किसी की निंदा करेंगे और न अपमान; हम किसी सच्ची बात में पैगंबर की आज्ञाओं का उल्लंघन न करेंगे। इन प्रतिज्ञाओं में एक भी ऐसी नहीं है, जिससे इस्लाम के नाम पर किये गये भविष्यत् के कामों का समर्थन होता हो।

(२) सहिष्णुता का उपदेश—मोहम्मद साहब के अनेक उपदेशों में धार्मिक सहिष्णुता का भाव विद्यमान है। "जो मनुष्य भूखा है, उसे रोटी दो और जो रोगी है उसके इलाज का प्रबंध करो। पीड़ितों की सहायता करो, चाहे वे मुसलमान हों या गैर-मुसलमान।" "जो मनुष्य ईश्वर और परलोक में विश्वास करता है उसे अपने पड़ोसी को हानि न पहुँचानी चाहिये।" "जो मनुष्य पर दया नहीं करते, उन पर ईश्वर भी दया नहीं करता।" मोहम्मद साहब के इन उपदेशों से मुसलमानो के उन कामों का समर्थन नहीं होता जो आगे चल कर इस्लाम के नाम पर किये गये।

(३) नित्य के काम—मोहम्मद साहब ने प्रत्येक मुसलमान को प्रतिदिन निम्नलिखित कामों के करने का आदेश दिया—(अ) प्रतिदिन इस बात में विश्वास प्रकट करना कि अल्लाह को छोड़कर कोई दूसरा ईश्वर नही है और मोहम्मद साहब उसके पैगंबर हैं। (ब) प्रतिदिन मक्का की ओर मुँह करके तीन या पांच बार नमाज पढ़ना। (स) प्रतिदिन कुछ दान करना। युद्ध के माल के संबंध में दान की विशेष व्यवस्था की। "यदि तुम्हें युद्ध की लूट का माल मिले, तो तुम्हें चाहिये कि उसके पंचमांश को अल्लाह या पैगंबर का समझ कर, उसे अनाथ, दीन-दुखियों, यात्रियों तथा निकट के संबंधियों में बाँट दो।" (द) रमजान के दिनों में रोजा रखना; (य) मक्का की जियारत अर्थात् हज करना। मुसलमानों की इस दिनचर्या में भी असहिष्णुता का सर्वथा अभाव है।

(४) ईश्वर की दया के पात्र—मोहम्मद साहब के उपदेशानुसार ईश्वर नीचे लिखे हुए मनुष्यों पर दया करता है—जो दूसरे की भलाई करते हैं; जो

मोहम्मद साहब द्वारा बतलाये गये रास्ते पर चलते हैं और न तो अभिमानी हैं और न डींग हाँकने वाले; जो सच्चा विश्वास करते हैं और तदनुकूल अपने कामों को संचालित करते हैं; जो ईश्वर के धर्म के लिए युद्ध करते हैं।

(५) इस्लाम के धार्मिक तत्त्व—इस्लाम के धार्मिक तत्त्वों के संबंध में मोहम्मद साहब ने नीचे लिखी हुई बातों पर जोर दिया—(अ) एक ईश्वर या अल्लाह में विश्वास। (ब) ईश्वर के सब फरिश्तों और पैगंबरों में विश्वास। "जो लोग ईश्वर और उसके सब फरिश्तों में विश्वास करते हैं और उनमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करते, उन्हें इसका पुरस्कार मिलता है।" (स) कुरान शरीफ में विश्वास। ईश्वरीय प्रेरणा से, मोहम्मद साहब ने, इस्लाम की शिक्षाओं का संग्रह इस ग्रंथ में किया है। (द) ईश्वर की दैवी योजना में विश्वास। ईश्वर संसार के प्रत्येक काम को पहले से ही निश्चित कर देता है। संसार की विभिन्न घटनाएँ उसी के अनुसार घटित होती हैं। (य) अंतिम न्याय और स्वर्ग और नरक में विश्वास। हिंदुओं की भाँति मुसलमानों में भी स्वर्ग और नरक की कल्पनाएं हैं। वे स्वर्ग में जाना और नरक से बचना चाहते हैं। (क) मूर्ति-पूजा और पुरोहितों का विरोध। इस्लाम में मूर्ति-पूजा और पुरोहितों का स्थान नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को, किसी की सहायता के बिना, निश्चित समयों पर खुद ही ईश्वर की पूजा का अधिकार है। (ग) सब मुसलमानों की समानता। इस्लाम का द्वार प्रत्येक जाति और संप्रदाय के लोगों के लिए खुला हुआ है। सब मुसलमान एक दूसरे के बराबर हैं। न कोई ऊँचा है और न कोई नीचा। (घ) मुसलमानों के सांसारिक जीवन में धर्म की प्रधानता। मुसलमानों का सांसारिक जीवन धर्म द्वारा संचालित होता है। शरीयत के नियम केवल आध्यात्मिक पथ का ही प्रदर्शन नहीं करते वरन् सांसारिक जीवन का भी नियमन करते हैं।

मुसलमानों के सुधार आंदोलन—भारत में स्थित मुसलमान, इस्लाम की उस शुद्धता का संरक्षण न कर सके, जिसका विवरण ऊपर दिया गया है। इसके दो मुख्य कारण थे। पहला यह कि जिन भारतीयों ने इस्लाम स्वीकार किया था उनमें से अधिकांश हिंदू थे और धर्म-परिवर्तन के पश्चात् भी उन्होंने अपने मूल धर्म के रेवाजों को जारी रखा था। दूसरा यह कि विजयी जाति के कुछ विद्वानों ने संस्कृत आदि हिंदू भाषाओं का अध्ययन करके, हिंदू धार्मिक ग्रंथों का मुसलमानी भाषाओं में अनुवाद किया, जिसके कारण अनेक मुसलमान हिंदू धर्म की महत्ता को समझने और कुछ उसके

अनुसार आचरण करने लगे। इस प्रकार भारतीय इस्लाम में कई ऐसी बातें आ गयीं, जो मौलिक इस्लाम से असंगत थीं। अंगरेजों की विजय के पश्चात् उनका राजनीतिक पतन हुआ। कट्टर-पंथियों के प्रभाव के कारण उनका सामाजिक जीवन भी ऊपर न उठ सका। विवाह कम अवस्था में होने लगे और विधवा-विवाह का विरोध बढ़ा। कुछ दिनों तक मुसलमानों ने पाश्चात्य शिक्षा तक को न अपनाया। फलस्वरूप वे बौद्धिक विकास और सरकारी नौकरियों में हिंदुओं के पीछे हो गये।

मुसलमानों की ऐसी अवस्था में यह अनिवार्य था कि सुधार-आंदोलन आरंभ होते। इनमें से कई तो कट्टरपंथी थे। वहाबी आंदोलन का, उद्देश्य यह था कि हिंदुओं से बने हुए मुसलमानों में जो गैर-मुस्लिम रीति-रेवाज और चलन प्रचलित थे, उनका अंत कर दिया जाय और इस्लाम के नैतिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक पुनरुत्थान द्वारा, उसकी प्रारंभिक शुद्धता और स्वतंत्रता की पुनर्स्थापना की जाय। अहमदिया आंदोलन का भी, यही उद्देश्य था। यह इस्लाम को आवश्यकतानुकूल परिवर्तनशील बनाने का विरोधी तथा उन सब बातों के अंत के पक्ष में था जिनके कारण इस्लाम की बुद्धिवादी व्याख्या की जा रही थी और मुसलमानों के सामाजिक जीवन में पाश्चात्य सभ्यता का समावेश हो रहा था। पर अलीगढ़ आंदोलन इनसे सर्वथा भिन्न था। उसके चलाने का श्रेय सर सैयद अहमद खाँ को था। धार्मिक बातों में वे इस्लाम की पूर्वकालीन सादगी और शुद्धता के पक्ष में थे, पर सामाजिक और शैक्षिक बातों में वे मुसलमानों के लिए उन सब बातों को करना चाहते थे, जिन्हें उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों ने हिंदुओं के लिए किया था। उनके मतानुकूल अंगरेजी शिक्षा का प्राप्त करना गुनाह न था। अतएव उन्होंने अलीगढ़ कॉलेज की स्थापना की, जो आजकल अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी में विकसित हो गया है। उनके विचार में अंगरेजी पोशाक के पहनने से भी किसी प्रकार की हानि का होना असंभव था। स्त्रियों के संबंध में वे पर्दे के रेवाज के विरोधी और उनकी शिक्षा के पक्ष में थे। अपने पत्र 'सोशैल रिफार्म' द्वारा उन्होंने अपने सामाजिक और शैक्षिक विचारों का काफी प्रचार किया। फलस्वरूप मुसलमानों का सामाजिक और शैक्षिक जीवन हिंदुओं की भाँति नयी सभ्यता की ओर झुका। पर शिक्षित होने पर भी अधिकांश मुसलमानों का धार्मिक जीवन कट्टरपंथी बना रहा।

यहूदी धर्म—यहूदी धर्म संसार के प्राचीन धर्मों में है। इस समय समस्त संसार में इसके अनुयायियों की संख्या लगभग सवा करोड़ है। सब

वर्णों के लोग इस धर्म को अंगीकार कर सकते हैं। पर यहूदी लोग धर्म-परिवर्तन द्वारा दूसरे धर्मावलंबियों को यहूदी नहीं बनाते। भारत के लगभग २५००० निवासी यहूदी धर्म को मानते हैं।

यहूदी धर्म के चलाने का श्रेय हजरत इब्राहीम और हजरत मूसा को है। ईश्वर ने हजरत मूसा को दस आदेश दिये थे जिनका पालन करना प्रत्येक यहूदी का कर्त्तव्य है। वे इस प्रकार हैं—(१) मेरे अतिरिक्त किसी और को ईश्वर मत मानो। (२) मूर्ति-पूजा मत करो। (३) व्यर्थ ईश्वर का नाम न लो और न उसकी सौगंध खाओ (४) जीव-हिंसा मत करो। (५) चोरी मत करो। (६) व्यभिचार मत करो। (७) दूसरे की संपत्ति देखकर लालच मत करो। (८) झूठी गवाही मत दो। (९) माता-पिता का आदर करो। (१०) किसी का दासत्व स्वीकार न करो और न उसका अभिवादन करो।

यहूदी धर्म के दार्शनिक तत्त्वों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—(१) ईश्वर एक है। वह पवित्र, सदाचारी, प्रेममय, विवेकमय, साकार, सगुण, आशुतोष, सर्व-शक्तिमान, सर्वज्ञ और सर्व-गुण-संपन्न है। वह मनुष्य-मात्र पर शासन करने वाला परमात्मा है। (२) ईश्वर पैगंबरों के द्वारा अपने संदेश को प्रकाशित करता है। (३) नैतिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। अतएव प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह अपने को पवित्र बनावे। "पवित्र बनो, क्योंकि तुम्हारा परमेश्वर मैं, जिहोवा, स्वयं पवित्र हूँ।" (४) ईश्वर अपने भक्तों से अंधविश्वास और समर्पण की आशा नहीं करता। (५) भावी मसीहा में विश्वास। यहूदियों का विश्वास है कि भविष्य में एक मसीहा आयगा, जो संसार को सुधार कर एक विश्व-व्यापी आदर्श सामाजिक व्यवस्था स्थापित करेगा। कालांतर में यहूदी धर्म का भी विकास हुआ। न्याय और नीति की कठोरताएँ बढ़ीं। व्यवहार में ऐसी विधियों और रीति-रेवाजों का प्रचार हुआ कि सीधा-सादा यहूदी धर्म जटिलताओं की ओर बढ़ा। उसमें संकीर्णता आ गयी। यहूदी लोग दूसरे धर्मावलंबियों का बहिष्कार तथा उनके साथ असहिष्णुता का व्यवहार करने लगे। फिलिस्तीन की ऐसी अवस्था में ईसाई धर्म का उदय हुआ।

ईसाई धर्म—ईसाई धर्म के चलाने का श्रेय महात्मा ईसा को है। इनका जन्म फिलिस्तीन में हुआ था। लगभग तीस बरस की अवस्था में इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। देववाणी ने इन्हें ईश्वर का पुत्र बतलाया। यहूदी लोग इस दावे के सहन करने में असमर्थ थे। भविष्य में आने वाले मसीहा में विश्वास

करने पर भी, उन्होंने ईसा को मसीहा स्वीकार करने से इनकार किया। उनके विरुद्ध अभियोग चलाया गया और यहूदियों के निर्णय के अनुसार वे सूली पर लटक गये इस समय उन्होंने जो बात कही उसे प्रत्येक मनुष्य को स्मरण रखनी चाहिये—"मेरे ईश्वर, इन्हें क्षमा करना। ये नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं।"

ईसा को प्रतिक्षण पापियों, दीन-दुखियों और पतितों की चिंता रहती थी। वे उन्हें उबारना चाहते थे। उनकी नैतिक शिक्षाएँ उच्चकोटि की थीं। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—(१) वे मनुष्य जो हृदय से शुद्ध हैं, धन्य हैं; क्योंकि वे ईश्वर से साक्षात्कार करेंगे। (२) यदि कोई व्यक्ति किसी स्त्री की ओर पाप की दृष्टि से देखता है, तो वह व्यभिचारी है; क्योंकि मन में वह उसके साथ व्यभिचार करता है। (३) अपने शत्रुओं से प्रेम करो; जो तुम्हें कोसें उन्हें तुम आशीर्वाद दो; जो तुमसे घृणा करें उनके साथ भलाई करो; जो बदनाम करें अथवा सतावें, उनके लिए प्रार्थना करो; ताकि तुम स्वर्ग में रहनेवाले पिता के सच्चे पुत्र हो सको। (४) बच्चों के प्रति सहनशील रहो और उन्हें मेरे पास आने से मत रोको। स्वर्ग का राज्य इन्हीं लोगों के लिए है। (५) धनी लोगों के लिए स्वर्ग में जाना कठिन है। धनी व्यक्ति के स्वर्ग में जाने की अपेक्षा एक ऊँट सुई के छेद से अधिक आसानी से निकल सकता है।

इन शिक्षाओं से स्पष्ट है कि ईसाई धर्म में उच्चकोटि के नैतिक आचरण पर बड़ा जोर दिया गया है। ईसाई धर्म के धार्मिक तत्त्वों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—(१) एक ईश्वर में विश्वास। ईश्वर सर्व-शक्तिमान्, सर्वज्ञ, दयालु, अनादि, पवित्र, न्याय-प्रिय और प्रेम-पूर्ण है। वह क्षमाशील भी है। वह दुष्टों और पापियों तक को क्षमा प्रदान कर सकता है। (२) महात्मा ईसा को ईश्वर का पुत्र मानना। (३) सदाचरण और सेवा-कार्यों द्वारा आध्यात्मिक ईश्वरीय राज्य की स्थापना में विश्वास। (४) स्वर्ग, नरक और अंतिम न्याय में विश्वास। इस संबंध में यहूदी और ईसाई धर्मों के विश्वासों में विशेष अंतर नहीं है।

भारत में ईसाई धर्म का प्रचार चौथी शताब्दी में आरंभ हुआ। उन दिनों सीरिया के अनेक ईसाई, अपने देश में धार्मिक अत्याचार के कारण, दक्षिण भारत के कारोमंडल किनारे पर आकर बस गये। पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में उनका दूसरा गिरोह आया। ये साधारणतया पुर्तगाल के निवासी थे। इन्होंने भारत में ईसाई धर्म का प्रचार, धर्म-परिवर्तन द्वारा आरंभ किया।

कभी-कभी कुछ लोग जबरदस्ती ईसाई बनाये गये। अंगरेजी राज्य की स्थापना के पश्चात्, मिशनरी सोसाइटियों द्वारा किये गये धर्म-परिवर्तन के कारण भारत में ईसाई धर्म का विशेष प्रचार हुआ।

पारसी धर्म—भारत में इस समय लगभग सवा लाख पारसी रहते हैं। वे उन मूल पारसियों की संतान हैं जो आठवीं शताब्दी में, फारस में इस्लाम के प्रचार के कारण, उस देश को छोड़ कर, भारत को आये थे। उन्होंने अपने धर्म के प्रचार का कोई प्रयत्न नहीं किया। फलस्वरूप उनकी संख्या में उतनी वृद्धि नहीं हुई जितनी अन्य धर्मावलंबियों की।

पारसी मत के चलाने का श्रेय जरथुष्ट्र को है। इनका जीवन-काल ६६० से ५८३ बरस ईसा के पूर्व तक था। इसके धार्मिक तत्त्वों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—(१) अहुर मजद के नाम से ईश्वर की कल्पना। अहुर मज़द सर्व-शक्तिमान, प्रकाशमय, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, संपूर्ण एवं प्रकाश, जीवन, सत्य और भलाई का घर है। (२) सूर्य, अग्नि, चंद्र, तारे, वायु, जल और पर्वतों की पूजा। सूर्य और अग्नि की पूजा पर विशेष जोर दिया जाता है। (३) पवित्रता पर जोर। प्रत्येक मनुष्य को अच्छी वाणी, विचार और कार्य द्वारा अपनी आत्मा को पवित्र बनाना चाहिये। (४) स्वर्ग, नरक और अंतिम न्याय में विश्वास। पारसी धर्म के अनुकूल स्वर्ग सत्कर्मों का पुरस्कार और नरक दुष्कर्मों का दंड है। अंतिम न्याय के दिन सब मृत आत्माएं जी उठेंगी और तब ईश्वर न्याय करेगा।

भारत की धार्मिक समस्या—भारत में प्रचलित धर्मों के उक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रायः सभी धर्मों के सैद्धांतिक रूपों और आधारभूत दार्शनिक तत्त्वों में समानता है। सभी एक ईश्वर में विश्वास करते तथा उसे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, अनादि, अजर, अमर, प्रेममय आदि विशेषणों से विभूषित करते हैं। सब में नैतिक आचरण पर जोर दिया गया है। इन तत्त्वों के कारण कुछ लोगों पर धर्म का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा है। धर्म के कारण कर्तव्या-कर्तव्य, विवेकाविवेक और भले-बुरे का ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने सेवा, दान, सहिष्णुता और शुद्ध जीवन द्वारा समस्त मानव-मात्र के प्रति भ्रातृत्व के भाव का अनुभव तथा इसी नाते उसके साथ व्यवहार किया। यदि सब धर्मों के अनुयायी इसी प्रकार की भावनाओं से प्रेरित होकर तदनुकूल आचरण करें, तो अंतर्राष्ट्रीयता का विकास बड़ी सुगमता से हो सकता है।

किंतु सैद्धांतिक रूप के अतिरिक्त प्रत्येक धर्म का व्यावहारिक रूप भी होता है। ईश्वर की पूजा किस प्रकार की जाय और उसे प्रसन्न करके कष्ट-

निवारण के कौन-कौन से साधन अपनाये जायँ, इस संबंध में विभिन्न धर्मों ने विभिन्न मार्ग निर्धारित किये हैं। कुछ में मंदिरों की व्यवस्था है, कुछ में मस्जिदों की और कुछ में गिरजाघरों की। कुछ में ईश्वर की पूजा कुछ शब्दों के उच्चारण से की जाती है, कुछ में कर्मकांड द्वारा और कुछ में पुरोहितों की सहायता से। ये रूढ़ियाँ अब इतनी दृढ़ हो गयी हैं कि लोग इन्हें ही सब कुछ मानने लगे हैं। धर्म के इस बाह्य रूप और तन्निर्भर आडंबर के कारण, विभिन्न धर्मावलंबियों में लडाई और मारकाट होती है। धर्म के नाम पर ऐसे कुत्सित कार्य किये जाते हैं जिनका धर्म के सैद्धांतिक रूप में कोई स्थान नहीं होता। धर्म-परिवर्तन का भी यही प्रभाव होता है, विशेषतया उस समय जब वह जबरदस्ती या प्रलोभनो द्वारा कराया जाता है।

भारत में, धर्म के इस बाह्य रूप के कारण, भयंकर रक्तपात हुआ है। हिंदुओं और मुसलमानों तथा एक ही धर्म के विभिन्न संप्रदायों ने एक दूसरे को कष्ट पहुँचाया है। इसका कुप्रभाव देश के राष्ट्रीय जीवन पर भी पड़ा। चालीस करोड़ व्यक्तियों के राष्ट्र पर थोड़े से अंगरेज लगभग १५० बरस तक शासन करते रहे। उनमें राष्ट्रीय एकता का उदय न हो सका। भारत के सभी धर्मावलंबियों पर विदेशी शासन का समान रूप से कुप्रभाव पड़ रहा था। तो भी धार्मिक कट्टरता से ऊपर उठकर, परस्पर मैत्री द्वारा, वे अंगरेजों से छुटकारा पाने में असमर्थ रहे। विपरीत इसके धर्म पर आधारित राष्ट्रवाद का सिद्धांत प्रतिपादित किया तथा देश का भारत और पाकिस्तान में विभाजन कर दिया गया।

इस विभाजन से भी हमारी धार्मिक समस्या हल नहीं हुई है। भारत के अनेक निवासी बहु-संख्यक जन-समुदाय के धर्म को नहीं मानते। पर भारतीय राज्य एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है। अतएव वह धर्म के आधार पर किसी जन-समुदाय के साथ किसी प्रकार का विभेद नहीं करता। किंतु पाकिस्तान एक इस्लामी राज्य है। फलस्वरूप उसका धार्मिक आधार है। यद्यपि उसकी सरकार दूसरे धर्मावलंबियों को नागरिकता के सब अधिकार देने के पक्ष में है, तो भी कट्टर मुसलमान, स्वार्थवश इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि पाकिस्तान से सब गैर-मुसलमान चले जायँ और वह विशुद्ध इस्लामी राज्य बन जाय। इसकी प्रतिक्रिया भारत में भी होती है। फल-स्वरूप देश के विभाजन के पश्चात भी, हमारी धार्मिक समस्या न्यूनाधिक पूर्ववत् बनी हुई है।

हमारी धार्मिक समस्या के हल के संबंध में निम्नलिखित सुझाव विचारणीय हैं—

(१) राज्य का धर्म-निरपेक्ष आधार। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य का कोई अपना धर्म नहीं है और धर्म के आधार पर वह नागरिकों के अधिकारों तथा सरकारी सेवाओं के संबंध में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करता। भारत के लोकतंत्रात्मक गणराज्य का यही आधार है।

(२) नित्य-प्रति के जीवन में धर्म-जनित कठोरताओं की शिथिलता। भारतीय जीवन में, जैसा ऊपर बतलाया गया है, धर्म की प्रधानता है। अतएव धर्म के नाम पर अनेक ऐसी प्रथाएं प्रचलित हैं जिनके संबंध में न तो धर्म की सम्मति है और न विवेक का समर्थन। फिर भी लोगों को उनके अनुसार आचरण करना पडता है। इसे दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि नित्यप्रति के जीवन में, सभी उचित उपायों द्वारा, धार्मिक कट्टरता को शिथिल किया जाय।

(३) कट्टरपंथी व्यक्तियों से मुक्ति। भारत में इस समय अनेक ऐसे व्यक्ति हैं, जो किसी काम को किये बिना, धर्म के नाम पर मौज उड़ा रहे हैं। इतना ही नहीं, अपने उपदेशों द्वारा वे जनता में कट्टरपंथी का प्रचार करते तथा ईश्वर के नाम पर अपील करके उसे विवेकहीन बनाये रखते हैं। भारतीय जनता को अब इस प्रकार के लोगों से मुक्ति मिलनी चाहिये।

(४) जीवन के भौतिक दृष्टि-कोण का प्रचार—धर्म की कट्टरता को कम करने के लिए यह भी आवश्यक है कि जीवन के भौतिक दृष्टिकोण का अधिक प्रचार किया जाय। स्वतंत्रता के पश्चात भारत की आर्थिक अवस्था बड़ी नाजुक हो गयी है। भारतीय शिक्षित समाज तथा भारत-सरकार का यह कर्तव्य है कि वह अंधविश्वास और पुरातन-पूजा से जकड़ी हुई भारतीय जनता में भौतिक दृष्टि-कोण का प्रचार करे। इसका तात्पर्य यह नहीं कि भारतीय जीवन में धर्म की इतिश्री हो जाय। हमें सांसारिक कर्तव्यों के पालन के साथ साथ ईश्वर को विसरित न करना चाहिये। पर प्रधानता कर्तव्य-पालन की होनी चाहिये; इसके बिना ईश-स्मरण हमें शक्तिशाली और पूर्ण राष्ट्र बनाने में असमर्थ सिद्ध होगा।

(५) धार्मिक सहिष्णुता—हमें दूसरे धर्मावलंबियों के प्रति धार्मिक असहिष्णुता का परित्याग करना चाहिये। धर्म का वास्तविक संबंध अंतःकरण से है, बाह्य आडंबर से नहीं। किसी मनुष्य के अंतःकरण में क्या है इसे जानने में हम असमर्थ हैं। अतएव हमारी धार्मिक लड़ाइयाँ प्रधानतः धर्म के बाह्य आडंबर के कारण होती हैं। हममें इन बातों के सहन करने की शक्ति होनी चाहिये। साथ ही हमें इस बात के लिए भी प्रयत्नशील होना चाहिये कि धर्म

के उक्त रूप के कारण, हम दूसरे के कामों में किसी प्रकार की बाधा न डालें और न सार्वजनिक शांति को भंग होने दें। धार्मिक सहिष्णुता के बिना ऐसा होना असंभव है।

अभ्यास

१. मानव-जीवन में धर्म का क्या स्थान है ?
२. भारतीय-जीवन में धर्म की महत्ता पर एक लेख लिखिये।
३. वैदिक धर्म का क्या अर्थ है ? उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप किन धर्मों की उत्पत्ति हुई ?
४ बौद्ध धर्म की आधारभूत बातों का संक्षिप्त विवरण लिखिये।
५. पौराणिक हिंदू धर्म पर एक लेख लिखिये।
६. भक्ति-आंदोलन का क्या तात्पर्य है ? भारतीय जीवन पर उसका क्या प्रभाव पड़ा ?
७. उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों का नाम लिखिये। राजा राम-मोहन राय आधुनिक भारत के जन्मदाता क्यों कहे जाते हैं ?
८. "स्वामी दयानंद सरस्वती का दृष्टि-कोण केशवचंद्र सेन के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था।" इसकी व्याख्या कीजिये और आर्य-समाज के नियमों का संक्षिप्त विवरण लिखिये।
९. उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों के सामाजिक कार्य-क्रम पर प्रकाश डालिये।
१०. "उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों ने नव भारत के निर्माण का मार्ग दिखलाया था।" इस विचार की विस्तृत आलोचना कीजिये।
११. सिख धर्म की आधारभूत शिक्षाओं का विवरण लिखिये। गुरु गोविंद सिंह ने सिख-धर्म के लिए क्या किया था ?
१२. इस्लाम की आधारभूत बातों का संक्षिप्त विवरण लिखिये।
१३. ईसा मसीह के विषय में आप क्या जानते हैं ? उनकी शिक्षाओं को संक्षेप में लिखिये।
१४. भारत की धार्मिक समस्या का संक्षिप्त विवरण लिखिये। उसे कैसे हल किया जा सकता है ?

५

हमारा सामाजिक जीवन

समाज की आवश्यकता—मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज में उत्पन्न होता और वहीं पर अपना जीवन व्यतीत करता है। स्वभाव से ही वह एकांत में नहीं रह सकता। अपनी सांसारिक, नैतिक, मानसिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे समाज की आवश्यकता होती है। वहीं पर उसके महान् गुणों का विकास होता है। यदि समाज न हो, तो न तो मनुष्य को अपने जीवन के भौतिक आधार मिलेंगे, न उसका नैतिक विकास होगा और न सांस्कृतिक उन्नति।

भारत का सामाजिक जीवन—समाज में व्यतीत होनेवाले मनुष्य के जीवन को सामाजिक जीवन कहते हैं। अन्य देशों में यह जीवन बड़ा सीधा-सादा होता है। किंतु भारत का सामाजिक जीवन कुछ जटिल है। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(१) भारत के सामाजिक जीवन का आधार धार्मिक और आध्यात्मिक है। सामाजिक जीवन में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। धर्म के ही आधार पर हम अपने सामाजिक संबंधों को निर्धारित करते और तदनुकूल आचरण करते हैं। धर्म की उक्त प्रधानता केवल हिंदुओं में ही नहीं, मुसलमानों और ईसाइयों के सामाजिक जीवन तक में पायी जाती है।

(२) धर्म की प्रधानता के कारण हमारा सामाजिक जीवन पृथकताओं से परिपूर्ण है। ऐसा होना कुछ स्वाभाविक सा है। देश में अनेक धर्मों का चलन है। वे अपने अपने विभिन्न आचरणों पर जोर देते हैं। अतएव यह अनिवार्य है कि उन पर निर्भर सामाजिक जीवन विभिन्नताओं से परिपूर्ण हो।

(३) भारतीय जनता में अनेक जातियों का मिश्रण है। भूतकाल में जितनी जातियाँ भारत में आयी थीं वे अपने साथ अपने सामाजिक जीवन को भी लायी थीं। भारतीय जनता में विलीन होने पर भी, स्वाभाविक पुरातन-पूजा के कारण, उन्होंने अपने सामाजिक जीवन और उसके रीति-रिवाजों को कायम रखा। फलस्वरूप हमारा सामाजिक जीवन पूर्णतया किसी एक जाति का-सा नहीं है।

(४) विभिन्न जातियों के विभिन्न सामाजिक आदर्शों के कारण भी हमारा सामाजिक जीवन जटिल हो गया है। हिंदुओं के सामाजिक जीवन के आदर्श मुसलमानों के आदर्श से भिन्न हैं। इसी प्रकार हिंदुओं और मुसलमानों दोनो के सामाजिक जीवन के आदर्श अंगरेजों के आदर्श से भिन्न हैं। आदर्शों के उक्त संघर्ष के कारण हमारी सामाजिक संस्थाओं का मूल्यांकन विभिन्न आधारों पर हुआ और हो रहा है। एक ही चलन एक आधार पर श्रेयस्कर समझा जाता है और दूसरे आधार पर निकृष्ट।

सामाजिक संस्थाएँ—'समाज' शब्द की सर्व-मान्य परिभाषा करना कठिन है। साधारण बोलचाल में मनुष्यों के किसी समूह को, चाहे वह संगठित हो अथवा असंगठित, समाज कहा जाता है। पर इस प्रकार के अनिश्चित समाज से हमारा काम नहीं निकलता। हमें अपने सामाजिक जीवन के संचालन के लिए नाना प्रकार की सामाजिक संस्थाएँ स्थापित करनी पड़ती हैं। ये संस्थाएँ सामाजिक जीवन को नियंत्रित करती तथा उसे व्यवस्थित रूप में बनाये रखती हैं। हिंदुओं में इस प्रकार की अनेक संस्थाएँ हैं। उनमें से वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था और परिवार मुख्य हैं। समाज में अनेक रीति-रेवाज भी प्रचलित हैं। नीचे हम सामाजिक जीवन की इन्हीं संस्थाओं और रीति-रेवाजों का विश्लेषण करके उनके मूल्यांकन तथा उनके सुधार के संबंध में आवश्यक सुझाव प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

वर्ण-व्यवस्था—हिंदुओं की सामाजिक संस्थाओं में वर्ण-व्यवस्था बड़ी पुरानी है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में यह बतलाया गया है कि विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, उसकी बाहुओं से राजन्य अर्थात् क्षत्री, उसकी जाँघों से विश् अर्थात् वैश्य और उसकी टाँगों से शूद्र उत्पन्न हुए। साधारण बोल-चाल में इससे कार्य-विभाजन का आभास होता है। समाज के वे लोग जो धार्मिक और बौद्धिक काम करते थे, ब्राह्मण कहलाये, जो सैनिक और राजनीतिक काम करते थे, क्षत्री कहलाये, जो कृषि, व्यापार आदि आर्थिक काम करते थे, वैश्य कहलाये और जो केवल शारीरिक काम करते थे, शूद्र कहलाये। इस प्रकार वैदिक काल में ही समाज वर्णों में विभक्त था। पर ये वर्ग जन्म के आधार पर नहीं, कर्म के आधार पर बनते थे। उत्तर-वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था पहले से अधिक दृढ़ हो गयी। प्रत्येक वर्ण के कामों का बँटवारा उप-कामों में किया गया और उनके करनेवाले लोगों को अलग अलग नाम दिये गये। उदाहरणार्थ ब्राह्मणों में कुछ साधारण पुरोहित कहलाये, कुछ राज-पुरोहित, कुछ शिक्षक, कुछ उपदेशक और कुछ आचार्य। सामाजिक जीवन में अधिक स्थिरता आने के कारण ये वर्ग पहले

की भाँति परिवर्तनशील न रहकर अधिक स्थिर हो गये। उनका आधार कर्म के स्थान पर जन्म हो गया और कर्मकांड की महत्ता के कारण ब्राह्मण अन्य वर्णों से ऊँचे समझे जाने लगे। भारतीय समाज ने इस संस्था को इतना अधिक अपनाया कि स्मृतिकारों ने इसे जन्म पर निर्भर एक स्थायी संस्था में परिवर्तित कर दिया और इसके साथ-साथ वर्णाश्रम धर्म के पालन द्वारा मोक्ष का सरल मार्ग दिखलाया। इस प्रकार आरंभित वर्ण-व्यवस्था हिंदुओं में आज भी प्रचलित है; किंतु जाति-भेद से मिश्रित होने के कारण उसका रूप अब इतना सरल नहीं है। कुछ जातियों के संबंध में यह कहना भी कठिन है कि वे किस वर्ण में हैं।

जाति-व्यवस्था—हिंदुओं की दूसरी सामाजिक संस्था का नाम जाति-व्यवस्था है। कुछ लोगों के मतानुकूल इसकी उत्पत्ति वर्ण-व्यवस्था से हुई है और कुछ के मतानुकूल यह वर्ण-व्यवस्था से भी अधिक प्राचीन है। उत्तर-पाषाण काल में समुद्र-तट, झील, मैदान, पर्वत और रेगिस्तान के लोग एक दूसरे से अलग रहते थे और उनमें एक दूसरे के प्रति वर्जनशीलता (Exclusiveness) की भावना तथा रहन-सहन और रीति-रेवाजों की भिन्नता थी। जाति-प्रथा का जन्म यहीं पर हुआ।

जाति की परिभाषा—भारत की मौजूदा जातियों की अनेक परिभाषाएँ की गयी हैं। विंसेंट स्मिथ के मतानुकूल "परिवारों के उस समूह को जाति कहते हैं जो छुआछूत, शादी-व्याह और खानपान के विशिष्ट आंतरिक बंधनों द्वारा बँधा हुआ हो।" प्रो॰ पुणतांबेकर के मतानुकूल जाति उस मनुष्य-समुदाय को कहते हैं जिसका मूल एक ही पूर्व-पुरुष माना जाता हो और जिसके सदस्यों में रोटी और बेटी का संबंध होता हो। इन परिभाषाओं से जाति शब्द का थोड़ा-बहुत ज्ञान हो जाता है। उसे भली भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी प्रमुख विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय। वे इस प्रकार हैं—(१) जाति जन्म पर निर्भर करती है। (२) प्रत्येक जाति का एक निश्चित व्यवसाय होता है। आजकल यह आवश्यक नहीं कि उसके सदस्य उस व्यवसाय को अवश्य करें। (३) प्रत्येक जाति के सदस्यों के विवाह-संबंध उसी के भीतर होते हैं, उसके बाहर नहीं। शिक्षित लोगों में जाति की इस विशेषता में शिथिलता आने लगी है। (४) प्रत्येक जाति के सदस्यों के सामाजिक आचरण पर कुछ प्रतिबंध लगाये जाते हैं। (५) प्रत्येक जाति के सदस्य अपने को समाज से पृथक् एक अलग समुदाय समझते हैं और अन्य लोगों की अपेक्षा अपनी जाति के लोगों के साथ अधिक सहानुभूति रखते तथा उनके साथ

सहयोग और आपत्ति में उनकी सहायता करते हैं । (६) जाति के सब सदस्य जातिगत् मामलों में एक दूसरे के समान समझे जाते हैं ।

जाति-व्यवस्था की प्रगति-शीलता—आरंभ में जातियों की संख्या कितनी थी यह बतलाना कठिन है । पर कालांतर में पूर्व-कालीन जाति-प्रथा तथा वर्ण-व्यवस्था के संयोग के कारण सब जातियाँ किसी न किसी वर्ण के अंतर्गत आ गयीं और उनके परस्पर नैतिक और अनैतिक मिलन के कारण उनकी संख्या भी बढ़ी । जातियों की वृद्धि में निम्नलिखित कारणो से सहायता मिली है—(१) विभिन्न व्यवसायों के करने वाले विभिन्न जातियों के समझे जाने लगे जैसे चमार, सुनार, लोहार आदि । (२) स्थान विशेष के निवासी उसी के नाम से विदित हुए जैसे कान्य-कुब्ज ब्राह्मण, गौड़ ब्राह्मण, सरयूपारी ब्राह्मण आदि । (३) दो विभिन्न जातियों के नैतिक और अनैतिक संबंध से जो संतान हुई वह उन जातियों से पृथक् एक तीसरी जाति की कहलायी । (४) विदेशियों के आगमन के कारण कुछ नयी जातियाँ बनीं । (५) विभिन्न धर्मों और संप्रदायों के कारण भी जातियों की वृद्धि हुई । (६) सरकारी पदो के कारण भी जातियों की संख्या बढ़ी । फलस्वरूप आजकल भारत में जातियों की संख्या लगभग ४००० है । कदाचित उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि भी हो रही है । आधुनिक भारत में राजनीति तथा राजनीतिक विचारों की प्रधानता है । बहुत संभव है कि कांग्रेसियो, समाजवादियों आदि की गणना कालांतर में विभिन्न जातियों में होने लगे ।

जाति-भेद एक प्रगतिशील संस्था है । समयानुकूल उसके रूप में परिवर्तन होते गये हैं और आज भी हो रहे हैं । जातियों की वृद्धि का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । जाति-व्यवस्था में निहित उच्चता और निम्नता का भाव सदा एक सा नहीं रहा है । आरंभिक जातियों में संभवतः इस प्रकार के भेद-भाव का सर्वथा अभाव था । उत्तर-वैदिक काल में कर्मकांड की प्रधानता के कारण ब्राह्मणों का स्थान अन्य जातियों की अपेक्षा ऊँचा हो गया । बौद्धो ने कर्मकांड के विरोध और तन्निर्भर ब्राह्मणों के प्राधान्य का अंत करने के लिए, क्षत्रियों के स्थान को ब्राह्मणों के स्थान से उच्चतर बतलाया, पर उन्हें विशेष सफलता न मिली । स्मृतिकारों ने वर्णाश्रम-धर्म की स्थापना द्वारा ब्राह्मणों के प्रभुत्व को पुन: स्थापित किया । मुसलमानों के आगमन के कारण जातियों की कठोरता तथा उनमें परस्पर उच्चता और निम्नता का भाव और भी अधिक दृढ़ हो गया । उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों ने उन्हें कुछ कम किया और बीसवीं शताब्दी में जीवन के विवेकात्मक और भौतिक दृष्टिकोण के

कारण, कुछ लोग समाज-सेवा की दृष्टि से, उन लोगों को अधिक उपयोगी बतलाने लगे हैं जो अधिक उपयोगी कामों को करते हैं। वे अभी तक यह तो नहीं कहते कि समाज में मेहतर का स्थान ब्राह्मणों और क्षत्रियों के स्थान से उच्चतर है, पर वे इतना अवश्य कहने लगे हैं कि समाज-सेवा की दृष्टि से ब्राह्मण के काम की अपेक्षा मेहतर का काम अधिक उपयोगी है। अतएव समाज द्वारा उसका आदर उसकी उपयोगिता के आधार पर होना चाहिये, जाति के आधार पर नहीं।

जाति-व्यवस्था की कठोरताएँ भी परिवर्तनशील रही हैं। आरंभ में संभवतः जातीय कठोरताओं का सर्वथा अभाव था। पर उत्तर-वैदिक, स्मार्त और पौराणिक कालों में जाति-जनित कठोरताओं का निश्चित रूप हो गया। जातियों में खान-पान, रहन-सहन, शादी-व्याह की जो प्रथाएं आजकल प्रचलित हैं, कदाचित इसी काल से आरंभ हुई थीं और मुसलमानों के शासन-काल में उन्होंने दृढ़ता प्राप्त की थी। बीसवीं शताब्दी में ये कठोरताएं क्रमशः शिथिल हो रही हैं। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारतीय जाति-व्यवस्था, स्थित-प्रिय नहीं, वरन् गतिशील संस्था है। आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुकूल उसमें परिवर्तन होते रहे हैं और आज भी हो रहे हैं।

जाति-व्यवस्था से लाभ—जाति-व्यवस्था ने हिंदू-समाज की अनेक सेवाएं की हैं। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) जाति-व्यवस्था के कारण समाज के विभिन्न भागों में कार्य-विभाजन हुआ। इसके बिना समाज की आवश्यकताएं सुचारु-रूप से पूरी न हो सकती थीं। (२) जाति-व्यवस्था के कारण समाज ऐसे वर्गों में विभाजित हो गया जो अपनी आंतरिक बातों और संबंधों में न्यूनाधिक स्वतंत्र थे। समाज में अनेक ऐसे वर्ग बने जिनको आंतरिक स्वराज प्राप्त था और जो राज्य की सहायता के बिना, स्वावलंबी हो कर अपने बहुत से कामों को स्वयं कर लिया करते थे। इसके संबंध में जाति की पंचायतों तथा उनके द्वारा दिये गये कामों का उल्लेख आवश्यक है। ये आज भी पायी जाती हैं और जाति के नैतिक आचरण का नियंत्रण करती। (३) जाति-व्यवस्था के कारण समाज के विभिन्न वर्गों ने अपने-अपने काम में बड़ी उन्नति की। पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही काम के करने से उन्होंने उसमें विशेष कुशलता प्राप्त की। उनका स्वभाव ही उस काम के अनुकूल हो गया। (४) जाति-व्यवस्था के कारण हिंदुओं में रक्त-मिश्रण उतना अधिक न हो सका जितना इसके अभाव में हो सकता था। प्रत्येक जाति के लोग अपने को दूसरी जातिवालों की अपेक्षा श्रेष्ठतर समझते

रहे। एक शूद्र भी यह सहन नहीं कर सकता कि उसकी पुत्री का विवाह दूसरे वर्णवाले के साथ हो। इस प्रकार जाति-भेद के कारण विवाह-संबंधों में वह स्वतंत्रता नहीं रही जो जातिविहीन वर्गों में पायी जाती है। (५) जाति-व्यवस्था के कारण राज्य को समाज-सेवा के अनेक कामों से मुक्ति मिली। प्रत्येक जाति के लोग यथासंभव अपनी जाति के निर्धनों की सहायता करते तथा बेकारों को काम-काज दिलाते हैं। समाज-सेवा के ये काम अन्यथा राज्य को करने पड़ते। (६) जाति-व्यवस्था के कारण हिंदुओं का धर्म-परिवर्तन सरलता से न हो सका। प्रत्येक जाति ने एक दुर्भेद गढ़ के समान उन लोगों का सामना किया जो धर्म-परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील थे। हिंदुओं को बड़े पैमाने पर धर्म-परिवर्तन से बचाने के लिए जो काम जाति-व्यवस्था ने किया है वह सुसज्जित सेनाएं भी न कर सकती थीं। (७) जाति-व्यवस्था के कारण हिंदू-संस्कृति का संरक्षण और पोषण हुआ। भारतीय हिंदुओं के धर्म और संस्कृति में घनिष्ठ संबंध है। जब धर्म बना रहा तो संस्कृति में भी विशेष परिवर्तन न किये जा सके।

जाति-व्यवस्था से हानियाँ—यदि एक ओर जाति-व्यवस्था से हिंदू-समाज को लाभ पहुँचता है तो दूसरी ओर उसका प्रभाव हानिकर दिशा में भी हुआ है। उसके दोषों में से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं। (१) जाति-व्यवस्था के कारण हिंदू-समाज संकुचित दृष्टिकोणवाले अनेक ऐसे छोटे-छोटे वर्गों में विभाजित हो गया जो अपने सीमित क्षेत्र से ऊपर उठने में असमर्थ थे। अतएव जीवन के राष्ट्रीय दृष्टि-कोण के विकास में अनावश्यक कठिनाइयाँ आयीं। जातिव्यवस्था का यह हानिकर प्रभाव अशिक्षित व्यक्तियों तक ही सीमित न रहा। शिक्षित व्यक्ति भी इसके शिकार हुए। (२) जाति-व्यवस्था जनित छूआछूत के विचारों के कारण भी राष्ट्रीय एकता का विकास न हो सका। किसी मनुष्य का छुआ खाना न खाने और पानी न पीने से उसके हृदय को कैसी चोट लगती है इसे वही समझ सकता है जिसने इसका अनुभव किया हो। जब तक लोग अंधविश्वास के वशीभूत हो, इसके अनुसार आचरण करते रहते हैं उन्हें इसके कुप्रभावों का पता नहीं चलता। किंतु जब तर्क के आधार पर वे इनकी परीक्षा करते हैं, तो अपमान-जनित क्रोध और ईर्षा की सृष्टि होती है। अतएव जाति-व्यवस्था-जनित छूआछूत के कारण, नीची जातियों के समझदार व्यक्ति, ऊँची जातियों के आधिपत्य को स्वीकार करने की अपेक्षा उनसे बदला लेने की सोचने लगते हैं। (३) जाति-व्यवस्था में मनुष्य की स्वाभाविक समता के स्थान पर कृत्रिम विषमता पर जोर दिया जाता है और वह भी कर्म के आधार पर नहीं, केवल

जन्म के आधार पर। ब्राह्मण जन्म ही से ऊँचे हो जाते हैं, चाहे उनका आचरण निंदनीय और वे स्वयं काला अक्षर भैंस बराबर ही क्यों न हों और शूद्र जन्म ही से हीन हो जाते हैं चाहे वे सत्कर्मी और विद्वान् ही क्यों न हों। समाज की यह व्यवस्था लोकतंत्रात्मक विचार-धारा के अनुकूल नहीं है। (४) आधुनिक काल में, जाति-व्यवस्था देश की आर्थिक उन्नति के अनुकूल भी नहीं है। इसके कारण मनुष्य को वंशानुगत काम अपनाना पड़ता है। ऊँची जातियों के लोग नीची जातियो के काम करने से मुख मोड़ते हैं, चाहे उन्हें भूखा ही क्यों न रहना पड़े। आधुनिक काल में आर्थिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि श्रमजीवी नमनीय हों और आवश्यकतानुसार एक काम से दूसरे काम में लगाये जा सकें। पर जाति-व्यवस्था का प्रभाव रूढ़ि-वादिता की दिशा में है। (५) जाति-व्यवस्था के कारण ऊँची जातियों को अपनी जाति का गौरव होता है और उसी के कारण वे अपनी खोखली महत्ता में चूर रहती हैं। संभवतः इसी के कारण ब्राह्मणों का नित्यप्रति पतन हो रहा है। गुणों के अभाव में, उनके लिए गौरवान्वित होना, पतन की पराकाष्ठा है। विपरीत इसके नीची जातियों की आत्मा का हनन होता है। जीवन के आरंभ ही में उनके हृदय पर एक भारी पत्थर बैठ जाता है, जो उन्हें ऊपर उठने से रोकता है। स्वयं उन्नतिशील होते हुए भी, सामाजिक प्रतिबंधों के कारण वे अपने को दबा हुआ पाते हैं। इसी प्रकार न तो उनकी उन्नति होती है और न उस समाज की जिसके वे अंग हैं और जो उन्हें दबाकर रखे हुए है। (६) जाति-व्यवस्था के कारण देश की रक्षा का भार प्रधानतया कुछ लोगों पर आ पड़ा और अन्य लोग यह समझने लगे कि देश की रक्षा के संबंध में उन्हें कुछ भी नहीं करना। इस मनोवृत्ति का व्यावहारिक प्रभाव देश के दासत्व की ओर पड़ा। (७) आधुनिक काल में जाति-व्यवस्था की कठोरताओं के कारण अनेक हिंदू, मुसलमान और ईसाई बनाये गये। जिन लोगों का धर्म-परिवर्तन हुआ, हिंदू-समाज ने उन्हें पुनः अपने में सम्मिलित करने से इनकार किया। इसके विपरीत वह उनके साथ भी छुआछूत का बर्ताव करने लगे। (८) जाति-व्यवस्था के कारण भारतीय जनता पुरातन-पूजक हो गयी है। धार्मिक और सामाजिक बातों में विवेक और तर्क के आधार पर सब कुछ समझने के पश्चात् भी, वह पुरानी बातों को नहीं छोड़ती। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण ही अनुदार और पुरातनवादी हो गया है।

जाति-व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया—प्राचीन काल में जाति-व्यवस्था को मिटाने अथवा शिथिल करने के अनेक प्रयत्न किये गये थे, पर उनमें से

कोई भी इतना व्यापक एवं प्रभावोत्पादक न था जितना बीसवीं शताब्दी का प्रयत्न। जीवन के पाश्चात्य दृष्टि-कोण तथा देश में पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार के कारण लोगों की विचार-धारा बदल गयी है और नवीन परिस्थितियों के कारण उन्हें जातिगत् प्रतिबंधों को शिथिल करना पड़ रहा है। रेल पर यात्रा करने, कल का पानी पीने तथा इस प्रकार की अनेक अन्य बातों के कारण, छुआछूत के अनेक बंधन शिथिल हो रहे हैं। लोग अंतर्जातीय विवाहों और सहभोजों की ओर झुक रहे हैं। निम्न जातियों में विद्या का प्रचार हो रहा है और उनके सदस्य ऊँचे सरकारी पदों पर नियुक्त हो रहे हैं। ऐसी अवस्था में ब्राह्मणों को भी उनका अभिवादन तथा आदर करना पड़ता है। जीवन का दृष्टि-कोण ही बदल गया है। हम प्रत्येक काम को अब तर्क की कसौटी पर कसने लगे हैं और यद्यपि हम अपने माता-पिता तथा जाति को नहीं बदल सकते, तो भी हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि केवल जन्म के कारण एक जाति के लोग सदा के लिए नीचे और दूसरी जाति के लोग सदा के लिए ऊँचे हो गये हैं।

जाति-व्यवस्था का भविष्य—जाति-व्यवस्था में आक्रमणों के सहन करने की अनुपम शक्ति है। भूतकाल में वह उन्हें सफलतापूर्वक सहन कर सकी है और संभवतः बीसवीं शताब्दी के आक्रमणों को भी उसी प्रकार सहन कर लेगी। हम ऊपर बतला चुके हैं कि जाति-व्यवस्था एक गतिशील संस्था है। भूतकाल में परिस्थिति के अनुकूल उसका रूप बदलता रहा है। यही बात आजकल भी हो रही है। भारत के अनेक निवासी अब न तो छूआछूत के प्रतिबंधों को मानते हैं और न विवाह और सहभोज के। फिर भी वे अपनी जाति छोड़ने तथा उसे बदलने में असमर्थ हैं। निकट भविष्य में जाति-व्यवस्था का संभवतः यही रूप होगा। उसकी कठोरताएँ तथा प्रतिबंध शिथिल हो जायँगे। कदाचित् कालांतर में उनका अंत भी हो जाय, पर अपने को दूसरे मनुष्यों से विभिन्न रखने के उद्देश्य से, लोग अपनी जाति का नाम बनाये रखेंगे। पूर्ण-रूपेण अंत के पूर्व जाति-व्यवस्था को निकट भविष्य में यह रूप अपनाना पड़ेगा।

संयुक्त कुटुंब-प्रणाली—कुटुंब मानव-समाज की सब से प्राचीन और प्रधान संस्था है। संसार के प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में इसकी प्रधानता रही है। इनके उदय का मुख्य कारण है मनुष्य के स्वभाव की एक विशेष आवश्यकता की पूर्ति। संभोग की इच्छा और अपनी संतति को अच्छी तरह छोड़ने की अभिलाषा स्त्रियों और पुरुषों में सदैव पायी गयी है। कुटुंब का उदय उक्त इच्छा और अभिलाषा का परिणाम है।

कुटुंबों का वर्गीकरण कई आधारों पर किया जा सकता है। वंश माता के नाम

जीवन में मनुष्य को अपने आचरण द्वारा ही नीति की व्यावहारिक शिक्षा मिल जाती है। यदि हम अपने सामाजिक संबंधों को उन्हीं आधारों पर संचालित करें, जिन पर संयुक्त कुटुंब में हमें चलना चाहिये, तो हमारा सामाजिक जीवन उन विपत्तियों से मुक्त हो जायगा जिनसे वह आजकल आक्रांत दिखलायी पड़ रहा है।

संयुक्त कुटुंब के गुण—(१) संयुक्त कुटुंब में मनुष्य को उन नैतिक गुणों की व्यावहारिक शिक्षा मिलती है जो उनके जीवन को उच्च तथा सुंदर बनाते हैं। बच्चे बड़ों की आज्ञा मानते, उनका आदर तथा परस्पर प्रेम करते एवं अनुशासित ढंग से रहना सीखते हैं। बड़े-बूढ़े, छोटों के लिए त्याग तथा उनके प्रति सहनशीलता का बर्ताव करते हैं। स्त्रियाँ घर की व्यवस्था तथा बच्चों का पालन-पोषण करती और स्वयं सबकी सेवा करके, बच्चों के सन्मुख सेवा-मार्ग को प्रस्तुत करती है। (२) आर्थिक दृष्टि से भारत ऐसे निर्धन देश के लिए संयुक्त कुटुंब अधिक उपयुक्त है। इसमें अपव्यय नहीं होता। अलग-अलग रहने से घर, सामान आदि की अलग अलग व्यवस्था करनी पड़ती है। इन सब के लिए धन की आवश्यकता होती है। संयुक्त कुटुंब में यह सब व्यय बच जाता है। अतएव मितव्ययता की दृष्टि से भी संयुक्त कुटुंब भारत ऐसे निर्धन देश के लिए अधिक उपयुक्त है। (३) संयुक्त कुटुंब में बेकारों और अपाहिजों की देख-भाल सुगमता से हो जाती है। सब की आय एक ही कोष में जाती तथा उसी से सबका पालन-पोषण किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति बेकार हो जाता है, तो भी उसकी नित्य-प्रति की आवश्यकताएँ पूरी की जाती हैं। वृद्धों और विधवाओं की देखभाल एवं भरण-पोषण उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार अन्य सदस्यों का। इसी से तो कहा जाता है कि समाजवाद के व्यावहारिक रूप का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हिंदुओं के संयुक्त कुटुंबों मिलता है। (४) संयुक्त कुटुंब के सदस्यों की संख्या काफी होती है। उसके विभिन्न सदस्य, यदि चाहें, तो विभिन्न प्रकार के कामों को करके कुटुंब और समाज दोनों के उत्थान में सहायता पहुँचा सकते हैं। यदि संयुक्त कुटुंब का कोई सदस्य, घर का काम-काज न करके समाज-सेवा में लग जाता है, तो भी कुटुंब केसब काम सुचारु रूप से चलते रहते हैं। (५) संयुक्त कुटुंब के सदस्यों को अपने में अधिक विश्वास होता है। अतएव वे तरह तरह के कामों के करने का साहस कर सकते हैं। यह विश्वास कि मेरे साथ इतने व्यक्ति हैं, मनुष्य को अधिक साहसी तथा उत्साही बना देता है। (६) संयुक्त कुटुंब में कुटुंब की समस्त संपत्ति एक इकाई समझी जाती है। उसमें उत्तराधिकार के नियमों

का वह कुप्रभाव नहीं पड़ता जिसके कारण कुटुंब की संपत्ति टूक टूक होकर इतनी कम हो जाती है कि समाज में उसका कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

संयुक्त कुटुंब के दोष—यदि संयुक्त कुटुंब में उक्त अच्छाइयाँ हैं तो उसमें कुछ दोष भी हैं और आजकल उन्हीं पर अधिक जोर दिया जाता है। उनमें से निम्नलिखित विचारणीय हैं—(१) सयुक्त कुटुंब में सदा कुछ ऐसे व्यक्ति पाये जाते हैं जो किसी प्रकार का काम-काज नहीं करते। यह विश्वास कि उन्हें खाने-पीने तथा घर और वस्त्र की कोई कठिनाई न होगी, उन्हें निष्क्रिय और अकर्मण्य बने रहने में सहायता पहुँचाता है। (२) संयुक्त कुटुंब में कभी कभी कमाने वाले व्यक्ति पर इतना अधिक दबाव पड़ता है कि वह जीवन से उकता जाता है। चारों ओर आश्रितों को देख कर वह चिंताओं से चूर रहता है। वह कभी कभी आवश्यकता से अधिक परिश्रम करता और इस प्रकार अपने स्वास्थ्य को गिरा देता है। यदाकदा उसका उत्साह भी मंद हो जाता है। (३) संयुक्त परिवार में भांति भांति की विषमताओं के कारण परस्पर झगड़े हुआ करते हैं। वे झगड़े कभी विचार-वैषम्य के कारण होते हैं, कभी आर्थिक बातो के कारण और कभी व्यक्तित्व के प्रदर्शन के कारण। यदि घर के बड़े-बूढ़े इन झगड़ों को सावधानी और समझदारी से नहीं निबटाते तो वे विकराल रूप धारण कर लेते और कौटुंबिक जीवन को अखाड़े में परिवर्तित कर देते हैं। (४) संयुक्त कुटुंब में व्यक्तित्व के विकास का यथेष्ट अवसर नहीं मिलता। कुटुंब की एक परंपरा बन जाती है जिसका संरक्षण उसके बड़े-बड़े बूढ़े किया करते हैं और जिसके अनुसार अन्य सदस्यों को चलना पड़ता है। यदि वे इस प्रकार के आचरण से मुख मोड़ते हैं तो उन पर इतना अधिक दबाव पड़ता है कि अंत में पराजित होकर वे कुल-धर्म के अनुसार आचरण करने लगते हैं। यदि दबाव पड़ने पर भी कोई सदस्य अपने विचारों पर दृढ़ रहता है तो उससे कुल की शांति में बाधा पहुँचती है। (५) संयुक्त कुटुंब का पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों पर अधिक कुप्रभाव पड़ता है। कभी कभी तो कौटुंबिक प्रतिबंधों के कारण पति और पत्नी भी स्वतंत्रतापूर्वक नहीं मिल पाते। स्त्रियों को परदे में रहना पड़ता है। वे घर के बाहर जाकर मनोविनोद नहीं कर पातीं। इसके कारण उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता और वे कूप-मंडूक की भांति अपना जीवन व्यतीत करती हैं। (६) आधुनिक सभ्यता का भी संयुक्त कुटुंब पर कुप्रभाव पड़ा है। आजकल के अनेक व्यक्तियों को जीविका कमाने के लिए अपने नगर से बाहर जाना पड़ता है। अपने साथ वे अपने स्त्री-बच्चों को भी ले जाते हैं। यातायात के सुगम

साधनों से उन्हें बाहर जाने में सुविधा होती है। अतएव संयुक्त कुटुंब पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार के अनुकूल नहीं है।

विभक्त कुटुंब की ओर—संयुक्त कुटुंब के उक्त दोषों तथा पाश्चात्य सभ्यता के विघटनकारी प्रभावों के कारण हमारे देश में संयुक्त कुटुंब प्रणाली क्रमशः टूटती जा रही है और उसके स्थान पर विभक्त कुटुंबों का प्रचार बढ़ रहा है। इनमें भी गुण और दोष दोनों ही पाये जाते हैं। विभक्त कुटुंब का सबसे बड़ा गुण व्यक्तित्व के विकास के लिए यथोचित वातावरण का अस्तित्व है। कमाने वाला व्यक्ति अपनी कमाई को मन चाहे ढंग से खर्च करता है। कौटुंबिक कलह के अभाव में उसके उत्साह में कमी नहीं हो पाती। वह कौटुंबिक परंपराओं को विवेक की कसौटी पर कस कर, बिना विरोध, उनका परित्याग कर सकता है। इस ज्ञान के कारण कि वह ही कुटुंब का कर्णधार है, वह आलसी होकर नहीं बैठ सकता और न दूसरों को ही आलसी बनने देता है। इन गुणों के साथ-साथ विभक्त कुटुंबों में कुछ दोष भी पाये जाते हैं। ऐसे कुटुंबों के सदस्य साधारणतया मनमाने हो जाते हैं। व्यक्तित्व के विकास के बहाने वे दूसरों के लिए अपने सुख के बलिदान का पाठ नहीं पढ़ते। कभी-कभी वे अपने में इतने लिप्त हो जाते हैं कि उन्हें दूसरों का ध्यान तक नहीं आता। आपत्ति के दिनों में इस प्रकार के कुटुंबों की दशा दयनीय हो जाती है। यदि पति-पत्नी के विचारों में विरोध हुआ तो विभक्त कुटुंब संयुक्त कुटुंब से भी अधिक दुखदायी हो जाता है। उत्तम नागरिकता के लिए आवश्यक गुणों की शिक्षा भी विभक्त कुटुंबों में उतनी अच्छी नहीं मिलती, जितनी संयुक्त कुटुंबों में।

कुटुंब का भविष्य—कौटुंबिक सुख की चाह, संतति-प्राप्ति और उसकी रक्षा की इच्छा, स्त्री और पुरुष का सापेक्षिक स्थान, संतान में आज्ञा-पालन का भाव—ये चार बातें कौटुंबिक जीवन की आधारभूत बातें हैं। युरुप तथा अमरीका में इन आधारों की नींव क्रमशः खोखली होती जा रही है। लोग कौटुंबिक सुखों को चाहते तो हैं, किंतु उनका प्रबंध कुटुंब के बाहर हो जाने के कारण, कुटुंब के बंधनों में नहीं पड़ना चाहते। आर्थिक मापदंड को ऊँचा करने के लिए वे संतति से बचना चाहते हैं। इसी उद्देश्य से अनेक स्त्रियां और पुरुष अविवाहित रहते हैं। अधिक अवस्था में विवाह के अंतस्तल में यह भी भावना है। स्त्रियों और पुरुषों के आपेक्षिक स्थानों में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहा है। स्त्रियां पुरुषों के साथ समानता का दावा कर तथा उनके सभी कामों के करने के अधिकार मांग रही हैं। आचरण की पवित्रता क्रमशः लुप्त होती जा

रही है। संतान में आज्ञापालन का भाव क्रमशः लुप्त हो रहा है। असहाय बालक भले ही माता-पिता की आज्ञा का पालन करे किंतु बड़े होने पर, वैयक्तिक स्वतंत्रता के भावों के कारण, बड़ों की आज्ञा का पालन, गुण की अपेक्षा अवगुण समझा जाने लगा है। उक्त परिवर्तनों के कारण यह आशंका निर्मूल नहीं कि युरुप और अमरीका में कुटुंब और कौटुंबिक जीवन का भविष्य कुछ अंधकारमय हो रहा है।

भारत में भी युरुप और अमरीका की उक्त प्रवृत्तिया क्रमशः अपना घर बना रही हैं। इसका उत्तरदायित्व कुछ अंश में उन लोगों पर है जिन्होंने जीवन के पाश्चात्य दृष्टिकोण को अपना लिया है, कुछ अंश में शिक्षा के प्रचार पर और कुछ अंश में स्वयं स्त्रियों के आंदोलन पर। किंतु अभी तक ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है। अतएव युरुप और अमरीका की उक्त प्रवृत्तियों का प्रभाव हमारे देश में अभी तक नहीं के बराबर है। जीवन का धार्मिक आधार तथा उसके नैतिक बंधन इतने कड़े हैं कि अधिकांश मनुष्य उन्हें तोड़ने का साहस नहीं कर पाते। कुटुंब-विघटन की पाश्चात्य प्रवृतियां भारत में आज भी घृणा की दृष्टि से देखी जाती हैं। अतएव यह निर्विवाद है कि भारत में अन्य देशों की अपेक्षा कुटुंब का अस्तित्व अधिक काल तक रहेगा। किंतु संयुक्त कुटुंब का नहीं। उसमें पहले तो स्वयं परंपरा-प्रियता, आर्थिक हीनता और प्रमाणिकता के दोष आ गये हैं। तिस पर पाश्चात्य सभ्यता तथा जीवन के पाश्चात्य दृष्टिकोण को अपनाने के कारण, ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो गयी हैं जो उसके अनुकूल नहीं कही जा सकतीं। अतएव निकट भविष्य में संयुक्त कुटुंबों की संख्या घटेगी और विभक्त कुटुंबों की बढ़ेगी। विभक्त कुटुंब का भी वह रूप न रह सकेगा जो आजकल प्रचलित है। उसमें समयानुकूल परिवर्तन करने पड़ेंगे। यदि हम कौटुंबिक जीवन में समयानुकूल उदारता, सहिष्णुता एवं परिवर्तनशीलता के गुणों को लाने से मुख मोड़ेंगे तो यह संभव है कि संस्कृतियों में संघर्ष के कारण, भारतीय भी उस मार्ग को अपना लें, जो संयम और बंधनों के स्थान पर असंयम और शिथिलता की ओर अधिक झुका हुआ हो।

अस्पृश्यता—हिंदुओं की सामाजिक संस्थाओं में अस्पृश्यता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका मूल उद्गम जाति-व्यवस्था में है। भूतकाल में कुछ काम इतने नीच, निंदनीय एवं घृणित समझे गये थे कि उनके करने वाले अछूत कहलाये। जो व्यक्ति शूद्र वर्ण के धर्म से च्युत हो जाते थे वे अंत्यज अथवा पंचम वर्ग के कहे जाते थे। उन्हें नगर के भीतर रहने की आज्ञा न थी।

उनके काम इतने घृणित तथा उनका आचरण इतना अनैतिक था कि उनके स्पर्श मात्र से ही लोग अपवित्र हो जाते थे। कालांतर में जाति-व्यवस्था की भाँति, इनमें भी जन्म का सिद्धांत लागू हो गया और समाज में एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो जन्म ही से अछूत था। इस प्रकार की छुआछूत के अतिरिक्त हिंदुओं में एक दूसरी प्रकार की छूआछूत भी पायी जाती है। कुछ परिवारों में यदि घर का भी कोई व्यक्ति कपड़ा पहने चौके में चला जाता है, तो सारा भोजन अपवित्र हो जाता है और धर्मभीरु व्यक्ति उसे खाने की अपेक्षा भूखा रहना श्रेयस्कर समझते हैं। विभिन्न जातियों के परस्पर व्यवहार में यह छूआछूत और भी अधिक मानी जाती है। किंतु अस्पृश्यता शब्द का प्रयोग इनके लिए न होकर केवल प्रथम अर्थ में किया जाता है।

दलित जातियों की कठिनाइयाँ—अपनी जीवन-यात्रा में दलित जातियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। सामाजिक बातों में वे इतनी नीच समझी जाती हैं कि उन्हें सजातीय हिंदुओं से अलग रहना पड़ता है। न वे उनके कुंओं से पानी भर सकती हैं और न उनके घाटों पर स्नान ही कर सकती हैं। कहीं-कहीं उन्हें सवारी पर चलने, सोने चाँदी के गहने पहनने तथा छाता लगाने तक का अधिकार नहीं होता। उनके बच्चे सजातीय हिंदुओं के स्कूलों में शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकते। फलस्वरूप वे अशिक्षित और इसलिए सामाजिक संबंधों में गिरे हुए रहते हैं। धार्मिक बातों में दलित जातियों के लोग देवालयों के भीतर नहीं जा सकते। वे हिंदू तो गिने जाते हैं, पर हिंदू देवताओं की पूजा सजातीय हिंदुओं की भाँति नहीं कर सकते। उन्हें धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन तक का अधिकार नहीं होता। आर्थिक बातों में उन्हें ऐसे काम करने पड़ते हैं, जिन्हें समाज नीच समझता तथा जिनके लिए कम से कम वेतन देता है। उनसे बेगार भी ली जाती है और काम लेते समय, कभी-कभी मनुष्यता तक को तिलांजलि दे दी जाती है। उनके लिए अपशब्द का प्रयोग एक साधारण सी बात है। शिक्षा-विहीन तथा सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से हीन जन-समुदाय के लिए राजनीतिक अधिकारों की आशा व्यर्थ हैं। किंतु ये सब बातें इतनी निराशाजनक नहीं, जितनी उनकी वह मनोवृत्ति है जिसके कारण वे अपनी अधोगति को पूर्वजन्म अथवा जन्मों के कर्म का फल समझकर, उसे शांतिपूर्वक सहन करती हैं। दलित जातियों में उत्साह का सर्वथा अभाव है। परमार्थ के सुधारने के हेतु वे इस जीवन में अपमान पर अपमान सहती हैं और मुँह में आह तक नहीं निकालती।

दलित जातियों के संबंध में अनेक हास्यास्पद बातें सुनने में आती हैं।

उदाहरणार्थ दक्षिण भारत के कुछ भागों में दलित जातियों के लोगो को दिन भर घर के भीतर रहना पड़ता है। अपने कामकाज के लिए वे रात को ही, जब सन्नाटा हो जाय, निकल सकते हैं। कहीं पर उन्हें गले में घंटी बांध कर चलना पड़ता है। उसके शब्द को सुन कर सब लोग दाहिने और बायें हट जाते हैं जिससे अछूतों से छू कर वे स्वयं अपवित्र न हो जायँ। ये अवस्था उनकी तभी तक रहती है जब तक वे हिंदू रहते हैं। धर्म-परिवर्तन करके यदि वे मुसल्मान अथवा ईसाई हो जाते हैं, तो वे अछूत नहीं रह जाते। हिंदूसमाज के लिए इससे अधिक हास्यास्पद बात और क्या हो सकती है?

अछूतों की अवस्था सुधारने के प्रयत्न—अछूतों का अस्तित्व ईश्वर और मनुष्य दोनों की दृष्टि में महापातक है। उनके उद्धार के बिना भारत का उत्थान असंभव है। अपना ही धर्म माननेवालों के एक महत्वपूर्ण अंश को इस प्रकार पतित समझना एक ऐसा पाप है जिसके कारण, भारत के अंगरेज शासकों ने, हमारे साथ वैसा ही बर्ताव किया जैसा हम अछूतों के साथ करते थे। वे हमें इतना पतित समझते थे कि न तो हम उनके क्लबों में जा सकते थे और न उनके सामाजिक जीवन में ही किसी प्रकार का भाग ले सकते थे। अछूतों के कारण हमें स्वराज्य मिलने में आवश्यकता से अधिक विलंब लगा। उस जन-समूह को स्वराज्य का क्या अधिकार जो अपने ही एक अंश को मनुष्यता के अधिकारों से वंचित रखना चाहता था? यह तर्क इतना अकाट्य था कि गांधीजी और कांग्रेस को अछूतोद्धार, अपने कार्य-क्रम का एक अनिवार्य अंग बनाना पड़ा।

भारत की दलित जातियों की अवस्था सुधारने के कई प्रयत्न भूतकाल में हुए हैं। उनका उल्लेख हम जाति-व्यवस्था के संबंध में कर चुके हैं। भगवान् बुद्ध, रामानंद, कबीर, तुकाराम, नामदेव आदि के प्रयत्न इस संबंध में विशेषतया उल्लेखनीय हैं। सिखों, मुसल्मानों और ईसाइयों ने अछूतों को अपने धर्म में सम्मिलित करके तथा उन्हें अन्य मनुष्यों के समान स्थान देकर, परोक्ष रीति से उनके उद्धार में सहायता पहुंचायी। धर्म-परिवर्तन के कारण, विचारशील हिंदुओं के हृदय में ऐसी ठेस लगी कि वे अछूतों की अवस्था पर विवेकात्मक दृष्टि से विचार करके, उनके उद्धार के लिए प्रयत्नशील हुए। इस संबंध में १९ वीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों के काम विशेषतया विचारणीय हैं। ब्रह्म-समाज में जाति के कारण मनुष्यों में भेद-भाव न किया जाता था। उनके मंदिरों में सब जातियों के लोग बिना भेद-भाव जा सकते थे। आर्य-समाज ने केवल अछूतों की दशा ही नहीं सुधारी, वरन् शुद्धि और संगठन द्वारा उसने इस बात का भी

प्रयत्न किया कि हिंदुओं का धर्म-परिवर्तन न हो और वे एक संगठित समाज में परिवर्तित हो जायँ। स्वामी श्रद्धानंद द्वारा संस्थापित दलितोद्धार सभा इस संबंध में उल्लेखनीय है। थियासोफिकल आदोलन और रामकृष्ण सेवाश्रमों का का प्रभाव भी इसी दिशा में पड़ा। पर इन आंदोलनों का प्रभाव इतना अधिक न था कि अछूतों का उद्धार हो सके। हिंदू जाति अभी तक अपने अंधविश्वास में लिप्त थी। पर इतना अवश्य था कि उसके कुछ प्रभावशाली व्यक्ति अछूतों की अवस्था में सुधार करने का उपदेश दे रहे थे और वे स्वयं कुलबुला रहे थे।

प्रथम महासमर के पश्चात् अछूतोद्धार आंदोलन ने कुछ जोर पकड़ा। अहिंसात्मक असहयोग के साथ-साथ गांधीजी ने इस बात का भी प्रयत्न किया कि दलित जातियों की स्थिति में सुधार हो। सन् १९२१ में दिये गये अपने एक भाषण में उन्होंने यह स्पष्ट किया, वे केवल दो बातों के लिए जीवित रहना चाहते थे, प्रथम अछूतों की अवस्था सुधारने और दूसरे गोरक्षा के लिए। "जब ये इच्छाएँ पूरी हो जायँगी, तब स्वराज्य मिल जायगा। इन्हीं में मेरी मोक्ष निहित है।" असहयोग आंदोलन के संबंध में चलाये गये राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ के प्रत्येक स्वयं-सेवक को निम्नलिखित शपथ लेनी पड़ती थी—"हिंदू होने की हैसियत से मैं अस्पृश्यता को दूर करने की न्यायपरता और आवश्यकता पर विश्वास करता हूँ और प्रत्येक संभव अवसर पर दलित लोगों के साथ व्यक्तिगत संपर्क रखूँगा और उनकी सेवा करूँगा।" हिंदू महासभा ने भी अछूतोद्धार के कार्यक्रम को अपनाया। सन् १९२४ के अधिवेशन में जगद्गुरु श्री शंकराचार्य ने, सभापति के पद से, अछूतों के संबंध में निम्नलिखित विचार प्रकट किये—"हमें यह न समझना चाहिये कि अछूतों को देखने से पाप लगता है। विपरीत इसके हमें चाहिये कि हम उन्हें आदर्श व्यक्ति और आत्म-बलिदान का मूर्तिमान स्वरूप समझें। जैसे हम उन्हें देखें, हमारे हृदय में उनके प्रति प्रेम, आदर और श्रद्धा के भावों को जाग्रत होना चाहिये।" किंतु इन बातों से हिंदुओं की निद्रा का भंग होना कठिन था। उसके लिए अधिक कठोर और भयावह उपचार की आवश्यकता थी। सन् १९३२ और १९३३ में गांधीजी ने अपने उपवासों द्वारा वह काम कर दिखाया जो पूर्वकालीन सुधारक सौ बरस में भी न कर सके थे।

सन् १९३२ में इंगलैंड के प्रधान मंत्री श्री रैमसे मेकडानल्ड ने अपना साम्प्रदायिक निर्णय दिया। इसके अनुसार भारतीय दलित जातियों को साधारण स्थानों से अलग करके पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिया गया। यह बात गांधी

जी को असह्य थी। उनके इस प्रश्न संबंधी विचारों का ज्ञान प्रधान मंत्री को पहले ही से था। द्वितीय गोलमेज परिषद् में उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि अछूतों के पृथक् निर्वाचन का विरोध वे अपने प्राणों की भी बाजी लगा कर करेंगे। उन्होंने भारत-मंत्री को भी इसी आशय का एक पत्र भेजा था। पर उनके विचारों का प्रधान मंत्री के निर्णय पर विशेष प्रभाव न पड़ा। अतएव २० सितंबर सन् १९३२ को तीसरे पहर उन्होंने अपना आमरण उपवास आरंभ किया। सारा देश चिंता में निमग्न हो गया। गांधी जी के प्राण बचाने के लिए सजातीय हिंदुओं और हरिजन नेताओं की बंबई में एक परिषद् हुई, जिसने शीघ्र ही पूना में अधिवेशन करके पूना-पैक्ट द्वारा एक ऐसा समझौता किया जिसे गांधी जी और हरिजन-नेताओं ने स्वीकार किया और जिसे ब्रिटिश सरकार ने भी जल्दी से जल्दी मान लिया। तत्पश्चात् गांधी जी ने अपना उपवास तोड़ा। इसके पश्चात् परिषद् के अधिवेशन बंबई में हुए। हरिजनों के संबंध में उसका स्वीकृत प्रस्ताव इस प्रकार था—

"यह परिषद् निश्चित करती है कि अब भविष्य में हिंदू जाति में किसी को जन्म से अस्पृश्य न समझा जायगा और जिन्हें अब तक अस्पृश्य समझा जाता रहा है उन्हें अन्य हिंदुओं की भाँति ही कुंओं, पाठशालाओं, सड़कों और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं का उपयोग करने का अधिकार रहेगा। मौका मिलते ही इस अधिकार को कानूनी स्वरूप दिया जायगा और यदि इस प्रकार का रूप उसे स्वराज्य पार्लमेंट के स्थापित होने के पहले तक प्राप्त न हुआ तो स्वराज्य-पार्लमेंट का पहला कानून इस संबंध में होगा।

"यह भी निश्चित किया जाता है कि सारे हिंदू नेताओं का यह कर्त्तव्य होगा कि पुराने रेवाजों के कारण अस्पृश्य कहलाने वाले हिंदुओं पर मंदिर-प्रवेश आदि के संबंध में जो सामाजिक बंधन लगा दिया गया है उसे वे सारे वैध और शांतिपूर्ण उपायों द्वारा दूर कराने की चेष्टा करें।"[1]

इस प्रकार अछूतोद्धार का काम बड़े जोर से आरंभ हुआ। अनेक मंदिरों के द्वार अछूतों के लिए खुल गये। उनके बच्चों की पढ़ाई तथा उनमें स्वास्थ्यवर्द्धक आदतों के डालने का प्रयत्न किया गया। कट्टरपन में कुछ शिथिलता आयी; पर उतनी नहीं जितनी गांधीजी चाहते थे। उन्होंने अपना व्रत हिंदू अंतःकरण में ठीक ठीक धार्मिक कार्यशीलता उत्पन्न करने के उद्देश्य से किया था। यह कुछ ही अंश में पूरा हुआ। अतएव ८ मई सन् १९३३ को आत्म-शुद्धि के

---

१ पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास प्रथम भाग, पृष्ठ ४७८।

लिए उन्होंने २१ दिन का दूसरा उपवास आरंभ किया। उनके ही शब्दों में "किसी धार्मिक आंदोलन की सफलता उसके चलाने वालों की बौद्धिक या भौतिक शक्तियों पर नहीं, आत्मिक शक्ति पर निर्भर करती है और उपवास इस शक्ति के बढ़ाने का सबसे अधिक जाना-बूझा उपाय है।" पहले उपवास की की भाँति यह भी जेल में ही आरंभ हुआ था। उनकी अवस्था बिगडने के कारण सरकार ने उन्हें छोड़ दिया। पर गांधीजी ने अच्छे होने के पश्चात्, इस रिहाई के कारण, सत्याग्रह आंदोलन न चला कर, उस समय तक हरिजन-सुधार के काम करने का निश्चय किया, जब तक वे अन्यथा जेल में रखे जाते। इस उद्देश्य से उन्होंने हरिजन-सेवक-संघ की स्थापना की और हरिजन-कोष को खोला। वे स्वयं हरिजनों की बस्तियो में ठहरने लगे, यहाँ तक कि उन्होंने एक भंगी की लड़की का पालन-पोषण और अंत में उसका विवाह किया। उनके अनुयाइयों तथा अन्य लोगों ने भी उनका अनुकरण किया और इस प्रकार उनके प्रयत्नों के कारण सजातीय हिंदुओं और हरिजनों के बीच की खाई पहले की अपेक्षा कुछ कम हुई।

अस्पृश्यता-निवारण में कांग्रेस पूर्णरूपेण गांधीजी के साथ थी। भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के एक्ट को, भीतर से तोड़ने के उद्देश्य से, जब उसने निर्वाचनों में भाग लेने का निश्चय किया, उस समय उसने अपनी चुनाव-घोषणा में, पिछड़ी हुई जातियों के संबंध में निम्नलिखित वादा किया था—"पिछड़ी हुई तथा दलित जातियों की रक्षा और उन्नति के लिए राज्य आवश्यक संरक्षणों की व्यवस्था करेगा जिससे वे वेग से उन्नति करके राष्ट्रीय जीवन में पूर्ण और समान भाग ले सकें। राज्य, विशेषरूप से कबाइली क्षेत्रों के निवासियों के उस प्रकार के विकास में सहायता पहुँचावेगा जो उनकी योग्यता के अनुकूल हो। वह परिगणित जातियों को भी सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक उन्नति में सहायता पहुँचावेगा।" पदासीन होने पर कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने अपने वादों को पूरा करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। हरिजनों की कुछ उन्नति भी हुई, पर द्वितीय महासमर जनित परिस्थिति में पद-त्याग के कारण उनका पूरा न हो सका।

भारत के बहुत से नेता यह चाहते थे कि देश का भावी संविधान भारतीयों द्वारा ही निर्मित हो। द्वितीय महासमर के काल में इस मांग ने और भी जोर पकड़ा। अतएव लड़ाई के पश्चात् भारतीय संविधानसभा का निर्माण हुआ और उसने लगभग तीन बरस के परिश्रम के पश्चात् भारत का नया संविधान बनाया। इस संविधान द्वारा भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित हुआ है, जिसमें

प्रत्येक नागरिक को कुछ मूल अधिकार दिये गये हैं। इनमें समता के अधिकार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। निर्धारित परिस्थतियों के अतिरिक्त केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर, राज्य द्वारा किसी नागरिक के विरुद्ध किसी प्रकार का भेद-भाव न किया जायगा। उक्त बातों के आधार पर दूकानों या सार्वजनिक होटलों या मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश, या राज्य द्वारा घोषित अथवा सर्व सधारण के लिए समर्पित कुंओं, तालाबों, सड़कों आदि के उपयोग के संबंध में भी किसी प्रकार का प्रतिबंध न लगाया जायगा। इसी के अंतर्गत अस्पृश्यता का अंत कर दिया गया है। संविधान की संबंधित धारा इस प्रकार है—"अस्पृश्यता का अंत किया जाता है और उसका किसी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृश्यता से उपजी किसी निर्योग्यता का लागू करना अपराध होगा जो विधि (कानून) के अनुसार दंडनीय होगा।" समता की उक्त व्यवस्था के होते हुए भी राज्य को पिछड़ी हुई जातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखने का अधिकार है। अछूत जातियों के लोग इन स्थानों के अतिरिक्त अन्य स्थानों के लिए भी उम्मेदवार हो सकते हैं।

अछूतों की मौजूदा स्थिति— सुधारकों के उक्त प्रयत्नों के कारण, अस्पृश्य जातियों की अवस्था पहले की अपेक्षा बहुत अच्छी हो गयी है। कानून की दृष्टि में अब कोई व्यक्ति अछूत नहीं है। पर हमारी सरकारें इतने से ही संतुष्ट नहीं हैं। वे नित्य प्रति इस बात का प्रयत्न कर रही हैं कि अछूतों में शिक्षा का प्रचार तथा उनकी सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति हो। इस उद्देश्य से कई संघांतरित राज्यों की सरकारों ने पिछड़ी जातियों के पृथक् विभाग स्थापित किये हैं, जो उनमें शिक्षा तथा स्वास्थ्य संबंधी बातों का प्रचार कर रहे हैं। पिछड़े हुए प्रदेशों में स्कूल और औषधालय खोले गये हैं, निर्धनों को छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं और पढ़े-लिखे व्यक्तियों को उपयुक्त सरकारी नौकरियाँ। कई राज्यों में हरिजनों से संबंधित कोष हैं जिनसे उनकी अवस्था सुधारने का प्रयत्न किया जाता है। हरिजन-सेवक-संघ इस संबंध में प्रशंसनीय काम कर रहा है। इन सबका सामूहिक प्रभाव हरिजनों के पक्ष में होगा। पर सुधार की गति कुछ मंद सी प्रतीत होती है। आवश्यकता इस बात की है कि शताब्दियों से दलित अछूतों में आत्मसम्मान का भाव जाग्रत हो जिससे वे अपने को स्वयं ही दूसरों से, जन्मतर के कारण, निम्नतर न समझे। साथ ही सरकार और सुधार-संस्थाओं को इस बात का भी प्रयत्न करना चाहिये कि अछूतों के प्रति जन-साधारण की मनोवृत्ति में वांछनीय परिवर्तन हो जाय। उस संबंध में अब तक जो कुछ हुआ है वह पर्याप्त नहीं है। सरकार को मूल अधिकारों के अनुसार काम

करने को तैयार रहना चाहिये। यदि अस्पृश्यता के संबंध में उसकी वही मनोवृत्ति रही, जो पिछली सरकार की शारदा ऐक्ट के संबंध में थी, तो उसके अंत में आवश्यकता से अधिक विलंब लगेगा और इस प्रकार हिंदू-समाज का वह कलंक बना रहेगा जिसे दूर करने के लिए गांधीजीने ने २१ दिन का उपवास किया था तथा प्राणों की बाजी लगायी थी। हरिजनों को भी अपनी दशा सुधारने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये। उनके जीवन तथा दैनिक आचरण में अनेक ऐसी बातें हैं जो उन्हें पतितावस्था में रखे हुए हैं। उन्हें उनका परित्याग करना चाहिये। अच्छे आचरण के बिना समाज में सम्मानित होने की आशा बालू से तेल निकालने के समान है।

स्त्रियों की अवस्था—पाश्चात्य लेखक तथा भारतीय समाज-सुधारक प्रायः इस बात पर जोर देते हैं कि भारतीय स्त्रियों की अवस्था अच्छी नहीं है। उनके कथन में सत्य का अंश हो सकता है, पर इतना अधिक नहीं कि वह समस्त देश के लिए ठीक समझा जाय। भारत की जन-संख्या इतनी अधिक और सामाजिक दृष्टि से इतने भागों में विभाजित है कि स्त्रियों की अवस्था से संबद्ध कोई भी बात समस्त देश के लिए लागू नहीं हो सकती। फिर भी कुछ ऐसी बातें हैं जिनके विषय में यह कहा जा सकता है कि यदि वे समस्त देश के लिए नहीं, तो कम से कम, उसके महत्त्वपूर्ण अंश के लिए अवश्य ठीक हैं।

यदि हम भारतीय स्त्रियों के अतीत पर विचार करें, तो हमें विदित होता है कि वैदिक काल में उनकी अवस्था न्यूनाधिक पुरुषों के समान थी। उन्हें उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। पर्दा की प्रथा का अभाव था। कुछ स्त्रियाँ युद्ध-विद्या में निपुण तथा रण-क्षेत्र में लड़ने के लिए जाती थीं। कुछ शास्त्रार्थों में भाग लेती थीं। पितृ-प्रधान कुटुंबों के प्रचार के कारण उनके आर्थिक अधिकार पुरुषों के समान न थे पर वे घर की रानी थीं और अपने पति की संपत्ति का पूर्णरूपेण उपभोग करती थीं। विवाह स्वयंवर द्वारा होते थे। बाल-विवाह की प्रथा का सर्वथा अभाव था। एक विवाह की प्रथा अधिक प्रचलित थी, पर पति या पत्नी की मृत्यु के पश्चात् दूसरा विवाह हो सकता था। विधवा-विवाह और नियोग की प्रथाएँ चालू थीं।

बौद्ध काल में स्त्रियों की उक्त दशा में कुछ परिवर्तन हुए। यद्यपि कुछ स्त्रियों के विवाह अब भी स्वयंवर द्वारा होते थे, पर साधारण तौर पर माता-पिता द्वारा विवाहों के निर्धारण की प्रथा चल पड़ी थी। दहेज की प्रथा आ गयी थी और एक पुरुष एक ही समय कई स्त्रियाँ रख सकता था। अतएव बहु-पत्नीत्व की प्रथा चल पड़ी थी। स्त्रियों का समाज में अब भी आदर था

पर उतना नहीं जितना वैदिक काल में। उनका कार्य-क्षेत्र पुरुषों से पृथक् हो गया था। प्रायः उन्हें घर के भीतर की व्यवस्था करनी पड़ती थी। बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण अनेक स्त्रियां भिक्षु बन गयी थीं। अत-एव स्त्रियों की स्वतंत्रता का घटना कुछ स्वाभाविक-सा था। पति के दुर्व्यवहार के कारण वे अब भी न्यायालयों से न्याय की प्रार्थना कर सकती थीं। पर्दा की प्रथा कुछ अंश में चल पड़ी थी। फलस्वरूप स्त्रियों में अंधविश्वास की मात्रा बढ़ रही थी।

स्मृतिकारो ने स्त्रियों की अवस्था और भी गिरा दी। मनु ने स्त्रियों को स्वतंत्रता न देकर उन्हें पिता, पति या पुत्र के अधीन रखा। कम अवस्था में विवाह के नियम बने। पर्दा की प्रथा बढ़ी और स्त्रियों के आर्थिक अधिकार घटाये गये। मुसलमानों की विजय तथा उनके अनैतिक कामों के कारण, उक्त बधन और भी अधिक कठोर किये गये। जौहर और सती की प्रथाओं ने जोर पकड़ा। बाल-विवाह अत्यधिक संख्या में होने लगे। स्त्रियाँ सामाजिक जीवन की सभी बातों से वंचित हो कर, घर की चाहारदीवारी के भीतर अपना जीवन बिताने लगी। अतएव उनका मानसिक विकास रुक गया और वे अंध विश्वास और हठ के सहारे अपने सब कामों को करने लगीं।

आजकल भारतीय स्त्रियों की दशा वैसी ही है जैसी उक्त ऐतिहासिक प्रगति के कारण होनी चाहिये। बाल-विवाहों का प्रचार है। विधवा-विवाह निषिद्ध समझे जाते हैं। विवाहों को साधारणतया वर-वधू के माता-पिता निश्चित करते हैं। अपने उत्तरदायित्व से मुक्त होने लिए वे कभी कभी बेमेल विवाह भी कर देते हैं। दहेज की प्रथा का प्रचार है। स्त्रियाँ अशिक्षित हैं और उन्हें पर्दे में रहना पड़ता है। ज्ञान के प्रकाश के बिना वे स्वयं अंध-विश्वास में लिप्त हैं और अपने बच्चों को भी उसी में लपेट देती हैं। उनके आर्थिक अधिकार नहीं के बराबर हैं। उनके अधिकार घर तक ही सीमित हैं और वहाँ भी विचारों और आदर्शों की विभिन्नता के कारण प्रायः कलह मची रहती है, जिसके कारण पति, पत्नी और बच्चों सभी का जीवन दुखी एवं क्लेशित रहता है। उनके राजनीतिक अधिकार भी, नये संविधान के पूर्व, प्रायः नहीं के बराबर थे। पति की योग्यता के आधार पर ही उन्हें मताधिकार प्राप्त था। स्त्रियों की ऐसी दशा में यह स्वाभाविक था कि जीवन के नवीन दृष्टि-कोण के कारण उनकी अवस्था पर विचार तथा उसे सुधारने का प्रयत्न किया जाता।

स्त्रियों की अवस्था में सुधार के प्रयत्न—आधुनिक काल में स्त्रियों की अवस्था सुधारने के सर्वप्रथम प्रयत्न उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों द्वारा किये गये थे। ब्रह्म-समाज स्त्रियों की शिक्षा, स्वतंत्रता और विधवा-विवाह

के पक्ष में था और बाल-विवाह का विरोधी। सती की प्रथा को बंद कराने में राजा राममोहन राय का काफी हाथ था। आर्य-समाज के अनेक काम इसी प्रकार के थे। बालिका-विद्यालयों को खोलकर उसने स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार किया और विधवाश्रमों को खोलकर उनकी रक्षा की। ब्रह्म-समाज की भाँति वह भी विधवा-विवाह के पक्ष में था और बाल-विवाह और पर्दे की प्रथाओं का विरोधी। थियोसोफिकल सोसाइटियों का प्रभाव भी इसी दिशा में था। पर इन आंदोलनों की पहुँच अधिकांश जनता तक न थी। इनका प्रभाव कुछ शिक्षित लोगों तक ही सीमित था। उनके प्रयत्नों के कारण जनता के कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों का ध्यान स्त्रियों की अवस्था की ओर आकर्षित हुआ और सरकार ने भी कुछ ऐसे कानून बनाये जिनका प्रभाव स्त्रियों के हित में था।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में स्त्रियों ने स्वयं अपनी दशा सुधारने के काम को अपनाया। राजनीतिक जागृति क्रमशः बढ़ रही थी। सरकार दमन-चक्र द्वारा राजनीतिक कार्य-कर्ताओं को दबाने में प्रयत्नशील थी। कुछ लोगो को अमानुषिक दंड भी दिये गये। गत् शताब्दी में शिक्षा के प्रचार के कारण उनमें से कुछ शिक्षित हो गयी थीं और पाश्चात्य सभ्यता और उसके अनुकरण के कारण वे अपने अधिकारों को समझने लगी थीं। अतएव प्रथम महासमर में, अपनी सन् १९१७ की घोषणा के पश्चात्, जब भारत-मंत्री भारत में आये, तो अखिल भारतीय नारी-शिष्ट-मंडल ने उनके सम्मुख स्त्रियों के मताधिकार संबंधी निम्नलिखित माँग पेश की—

"हमारी प्रार्थना है कि जब अधिक जनता को मताधिकार देने के नियम बनाये जाएँ तो स्त्रियाँ भी जनता की अंग समझी जायँ और उनके शब्द इस प्रकार के हों कि केवल लिंग के कारण ही हम अयोग्य न समझी जाँय, वरन् प्रतिनिधित्व संबंधी पुरुषों के समस्त अधिकार हमें भी प्राप्त हों।" भारतीय शासन संबंधी सन् १९१९ के ऐक्ट में तो स्त्रियों के मताधिकार की व्यवस्था न थी, परंतु उसके अंतर्गत् जो नियम बने वे इस प्रकार के थे कि प्रांतीय विधान-मंडल, निर्धारित शर्तों पर उन्हें मताधिकारी बना सकते थे। इस प्रकार कुछ स्त्रियों को मताधिकार मिला। असहयोग आंदोलन तथा सन् १९३० के सविनय-अवज्ञा-आंदोलन में स्त्रियों ने सराहनीय भाग लिया। पुरुषों के साथ-साथ उन्होंने भी जेल-यात्रा की, पुलिस के डंडे खाये और आवश्यकता पड़ने पर आंदोलन का संचालन किया। त्याग और कष्ट-सहन के इन कामों के कारण यह अनिवार्य था कि उनकी उन्नति हो। फलस्वरूप सन् १९३५ के संविधान में अधिक

स्त्रियों को मताधिकार मिला। वे नगर-पालिकाओं, जिला बोर्डों और विधान-सभाओं की सदस्या चुनी गयीं और उन्होंने सार्वजनिक सेवा और स्वास्थ्य के अनेक ऐसे कामों को अपनाया जो पहले केवल पुरुषों के ही हाथ में थे।

स्त्रियों के मताधिकार के उक्त प्रसार के कारण यह अनिवार्य था कि भारत के गणतंत्रात्मक संविधान में उनका राजनीतिक स्थान पुरुषों के समान कर दिया जाय। वयस्क मताधिकार के सिद्धांत के कारण अब समस्त स्त्रियों को उसी आधार पर मताधिकार प्राप्त है जिस आधार पर पुरुषों को। "राज्य लिंग के कारण नागरिकों के साथ किसी प्रकार का भेद-भाव न करेगा और समान काम के लिए स्त्रियों और पुरुषो दोनों को समान वेतन मिलेगा"। फलस्वरूप स्त्रियाँ सरकारी पदों पर नियुक्त होने लगी हैं। कुछ ने सैनिक शिक्षा भी प्राप्त की है और कुछ पुलिस का काम कर रही हैं। कई स्त्रियाँ संघीय और राज्यों के मंत्रि-परिषदों की सदस्या हैं और कुछ वैदेशिक काम कर रही हैं। पर अभी तक ऐसी स्त्रियों की संख्या बहुत कम है। अवसर की समता के साथ-साथ यह आवश्यक है कि अधिक स्त्रियाँ सार्वजनिक क्षेत्र में उतरें और अपने नवीन दृष्टि-कोण और उत्साह द्वारा, पुरातन-पूजक राष्ट्र को ऊपर उठाने में प्रयत्नशील हों।

स्त्री-आंदोलन—राजनीतिक आंदोलनों के अतिरिक्त, बीसवीं शताब्दी में, स्त्रियों के आंदोलन भी उनकी अवस्था सुधारने में संलग्न थे। उनमें से कुछ प्रांतीय आधार पर संगठित थे और कुछ अखिल भारतीय आधार पर। इनमें अखिल भारतीय नारी सम्मेलन का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसकी स्थापना का श्रेय बहिन निवेदिता को है। सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन जनवरी सन् १९२७ में हुआ था। आरंभ में तो वह स्त्रियों में केवल शिक्षा-प्रसार के लिए प्रयत्नशील था पर कुछ दिनों के पश्चात् वह उनके सर्वांगीण जीवन के सुधार के कामों में लग गया। उसे अपूर्व सफलता भी मिली। इस समय (सन् १९५१) इसके सदस्यों की संख्या लग-भग २७००० है और इसकी ४० शाखाएँ तथा १८४ उपशाखाएँ हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय स्त्रियों की राष्ट्रीय कौंसिल, नैशनल इंडियन एसोसिएशन, सेवा-समाज, भगनी-समाज, गुजराती स्त्री-मंडल आदि संस्थाएँ भी स्त्रियों की अवस्था सुधारने के सराहनीय प्रयत्न कर रही हैं। कस्तूरबा-निधि से भी स्त्रियों के सुधार के अनेक काम किये जा रहे हैं।

हिंदू कोड बिल—गत् ३० बरसों में भारत तथा उसके विभिन्न राज्यों (प्रांतों) में स्त्रियों की दशा सुधारने के कई प्रस्ताव पास हुए थे। अतएव

इस बात की आवश्यकता थी कि इन सबको एकत्रित तथा नये सुधारों को सम्मिलित करके समस्त हिंदू-समाज का एक नया कोड बनाया जाय। अतएव सन् १९४४ में राव कमेटी को, जो सन् १९४१ से स्त्रियों के आथक अधिकारों के संबंध में काम कर रही थी, इस विषय की जाँच तथा आवश्यक सिफारिशें करने का अधिकार मिला। कमेटी ने देश भर का दौरा करके अपनी रिपोर्ट पेश की। इसके आधार पर हिंदू कोड बिल बनाया गया जो कुछ दिनों तक संघीय विधान-मंडल के विचाराधीन हो कर किंचित काल के लिए अपने मौलिक रूप में उठा लिया गया है। बिल की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) धार्मिक तथा सिविल विवाह। पर किसी भी व्यक्ति की किसी भी हालत में एक से अधिक पत्नी न होगी। (२) पति और पत्नी दोनों को निर्धारित शर्तों पर विवाह-विच्छेद का अधिकार। (३) पुत्रियों का पुत्रों के समान पिता की संपत्ति पर अधिकार। (४) पुत्रियों और स्त्रियों का अपनी संपत्ति पर पूर्ण अधिकार। वे अपनी संपत्ति को जिस प्रकार चाहें, उस प्रकार भोग तथा दे सकेंगी। (५) चौदह बरस से कम अवस्था की बालिकाओं के विवाह कानून द्वारा अस्वीकृत। (६) अवर्ण विवाहों तथा दत्तक पुत्रों की व्यवस्था द्वारा जाति-व्यवस्था को तोड़ने का प्रयत्न। (७) कुछ नये प्रकार के विवाहों को धार्मिक विवाहों के अंतर्गत रखना।

यह बिल नेहरू-सरकार द्वारा संघीय विधान-मंडल में प्रेषित किया गया था और वह पाश्चात्य आदर्शों से प्रभावित हो तथा उसकी न्यायपरायणता में विश्वास करके उसे कानून बनाने पर उद्यत थी। स्त्रियों की संस्थाएँ तथा नयी रोशनी के प्राय: सभी व्यक्ति उसके साथ थे। पं० जवाहर लाल नेहरू ने तो यहाँ तक कह दिया था कि यदि यह बिल विधान-मंडल द्वारा अस्वीकृत हुआ तो वे इस अस्वीकृति को अपने में अविश्वास का प्रतीक समझेंगे। कांग्रेस के अनेक सदस्य इस सीमा तक नेहरू जी के साथ न थे।

भारत की जन-संख्या का एक महत्त्वपूर्ण अंश इस बिल का विरोधी था। उसमें अनेक शिक्षित लोग भी सम्मिलित थे। बिल के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क उल्लेखनीय हैं—

(१) साधारण निर्वाचन के पूर्व का विधान-मंडल, इस प्रकार के बिल पर विचार करने के लिए उपयुक्त न था। अतः वे चाहते थे कि नये संविधान के अंतर्गत, प्रथम निर्वाचन, इस बिल के आधार पर लड़ा जाय और यदि जनता उसका साथ दे, तो उसे कानून का रूप दिया जाय। (२) भारत एक धर्म-

निरपेक्ष राज्य था। उसे केवल एक धार्मिक जन-समूह के लिए नियम बनाने का अधिकार न था। (३) पुत्रियों को, पिता की संपत्ति पर, पुत्रों के समान अधिकार देने से स्त्रियों की आर्थिक दशा में सुधार की अधिक आशा न थी। यदि वे अपने पिता की संपत्ति का कुछ भाग पावेंगी, तो अपने स्वसुर की संपत्ति का कुछ भाग खो भी बैठेंगी। उन्हें पिता के ऋण में भी हाथ बँटाना पड़ेगा। भाई और बहनों के परस्पर संबंध में इस समय जो सद्भावना पायी जाती है वह भी लुप्त हो जायगी। (४) विवाह-संबंधी व्यवस्था के कारण १३ बरस ११ महीने की कन्या का सवर्ण विवाह कानून द्वारा अस्वीकृत था, पर १४ बरस की कन्या का अवर्ण विवाह नियम-संगत। (५) बिल द्वारा केवल एक पत्नी की व्यवस्था के कारण यह संभव था कि यदि किसी पुरुष की पत्नी रोगी या अन्य दृष्टि से वैवाहिक जीवन के उपयुक्त न होती तो भी उसे दूसरे विवाह का अधिकार तब तक न था जब तक वह अपनी पहली पत्नी को छोड़ न दे। (६) विवाह-विच्छेद की व्यवस्था स्त्रियों के लिए अहितकर थी। हिंदुओं के संस्कार इस प्रकार के हैं कि परित्यक्त स्त्री के लिए दूसरे पति का मिलना कठिन सिद्ध होता। अतः अनैतिक संबंधों के वृद्धि की आशंका थी। (७) बिल पाश्चात्य सभ्यता तथा जीवन के पाश्चात्य आदर्शों पर अवलंबित था। वहाँ पर स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार तो प्राप्त थे, पर इसके कारण उनका दांपत्य जीवन सुखी न था।

इन तर्कों के आधार पर हिंदू कोड बिल के विरोधी इस बात पर जोर देते थे कि नेहरू सरकार, इस बिल के संबध में विशेष व्यग्रता न दिखला कर, उसके विभिन्न अंगों को परिस्थिति के अनुकूल, क्रमशः कानून का रूप दे जिससे भारत की भूतकालीन संस्कृति और आधुनिक जीवन में विप्लवात्मक संबंध-विच्छेद न हो।

सामाजिक जीवन की कुप्रथाएँ—उपरिवर्णित बातों के अतिरिक्त हिंदू-समाज में कुछ ऐसी सामाजिक प्रथाएँ हैं जिन्हें सुधारवादी कुप्रथाओं की संज्ञा देते हैं। उनमें से निम्नलिखित विचारणीय हैं—(१) बाल-विवाह—हिंदुओं में बाल-विवाह का चलन है। कुछ विवाह तो इतनी कम अवस्था में होते हैं कि वर और कन्या भली भाँति कपड़ा धारण करना भी नहीं जानते। शारदा-विवाह ऐक्ट द्वारा इन्हें रोकने का प्रयत्न किया गया है, पर सरकार उस पर उतनी कड़ाई से अमल नहीं कर रही है जितनी इस कुप्रथा के मिटाने के लिए आवश्यक है। (२) दहेज की प्रथा—हिंदू-समाज के कुछ अंगों में दहेज की प्रथा प्रचलित है। इसके कारण कन्या के पिता को उपयुक्त वर खोजने

में कभी कभी अनावश्यक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वर के पिता कन्या के साथ साथ एक भारी रकम भी माँगते हैं और उसके न मिलने पर विवाह करने से इनकार कर देते हैं। फल-स्वरूप विवाह कन्या का नहीं, वरन् धन-सहित-कन्या का होता है। इसके कारण, वर हमेशा अपने को कन्या से श्रेष्ठतर समझता तथा कभी कभी, दूसरे दहेज के लोभ के कारण उसे इतना सताता है कि उसकी असमय मृत्यु हो जाती है। (३) विधवा-विवाह का न होना—हिंदू सामाजिक जीवन में विधवा-विवाह अनुचित समझा जाता है। इसमें संदेह नहीं कि वह राज्य के कानून द्वारा निषिद्ध नहीं है पर उच्च वर्णों का लोकमत उसके इतना विरुद्ध है कि बिरले ही मनुष्य इस प्रकार के विवाह की हिम्मत करते हैं। (४) बेमेल विवाह—हिंदू समाज में अनेक बेमेल विवाह होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वर की अवस्था कन्या की अवस्था से कहीं अधिक होती है। कभी कभी ६० या ६५ बरस के मनुष्य १८ या २० बरस की कन्या से विवाह करते हैं। ऐसे विवाह कालांतर में दुखदायी सिद्ध होते हैं। (५) सामयिक अवसरों पर धन और समय का नष्ट करना—हिंदुओं के जीवन में अनेक ऐसे सामयिक अवसर आते हैं जब वे अपने धन और समय दोनों को व्यर्थ खोते हैं। जन्म से लेकर मरण तक और उसके उपरांत भी हिंदुओं को चूड़ा-कर्म, कर्णवेध, उपनयन, विद्यारंभ, विवाह, मरण, श्राद्ध आदि अनेक उत्सव मनाने पड़ते हैं जिनमें बंधु-बांधव और संबंधी एकत्रित होते और भोजन आदि करते हैं। त्योहारों की भी भरमार है। प्रायः प्रति माह दो एक ऐसे त्योहार आते हैं जिन्हें मनाना प्रत्येक हिंदू का कर्तव्य समझा जाता है। कुंभ और ग्रहण के स्नानों में अनेक हिंदू दूर दूर के स्थानों से आकर गंगा में स्नान करते तथा दान देते हैं। संसार की मौजूदा स्थिति में, जब विभिन्न देश एक दूसरे के साथ प्रतिद्वंदता कर रहे हैं, इस प्रकार धन और समय की हानि अक्षम्य है। (६) अन्य कुरीतियाँ—उक्त कुप्रथाओं के अतिरिक्त हिंदू-समाज में कुछ अन्य कुरीतियाँ भी हैं, जैसे मद्यपान; घर के भीतर की छूआ-छूत; एक ही जाति के लोगों में विवाह आदि उत्सवों में ऊँच-नीच की भावना; पर्दा की प्रथा; साक्षरता का विरोध; सब अवांछित कामों के लिए भाग्य को दोषी ठहराना आदि। भारत का प्रत्येक निवासी इनसे इतना अधिक परिचित है कि इनकी विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

मुसलमानों का सामाजिक जीवन—भारत में लगभग पाँच करोड़ मुसलमान रहते हैं। उनका सामाजिक जीवन न तो अरब के मुसलमानों का सा

है और न भारत के हिंदुओं का सा। धर्म-परिवर्तन और तन्निर्भर रक्त-मिश्रण के कारण, उनमें कुछ ऐसी बातें आ गयी हैं जो इस्लाम के अनुकूल नहीं कही जा सकतीं।

हिंदुओं की भाँति मुसलमानों के सामाजिक जीवन का भी धार्मिक आधार है। इस्लाम सब मुसलमानों को, चाहे वे किसी ही जाति के क्यों न हों, सामाजिक, राजनीतिक और कानूनी दृष्टि से एक दूसरे के समान समझता है। उसमें न तो ऊँच-नीच की भावना है और न अछूतों का अस्तित्व। मोहम्मद साहब ने स्वयं अपने उपदेश में इस बात का जोर दिया था कि सब मुसलमान भाई-भाई और खुदा की नजर में बराबर हैं। "मैं जाति, वंश, रंग आदि के समस्त भेदों को पैरों तले कुचलता हूँ। आदम (Adam) मिट्टी से बना हुआ था और सब इंसान उसी की औलाद हैं"। इस्लाम का उक्त सैद्धांतिक रूप, व्यवहार में रक्षित न रह सका। अरब के मुसलमानों को अपनी राष्ट्र-जाति (कौम) का गौरव था। अतएव वे गैर-अरब मुसलमानों को न तो अपने बराबर समझते थे और न उनके साथ विवाह-संबंध जोड़ना चाहते थे। हिंदुओं को मुसलमान बनाने के कारण, यह भावना और भी अधिक बढ़ गयी। जाति-व्यवस्था-जनित ऊँच-नीच की भावना हिंदुओं के रक्त में ही विद्यमान है। इस्लाम को स्वीकार करने के पश्चात भी उनमें इस प्रकार का भेद-भाव बना रहा। भारत के आधुनिक मुसलमान, शेख, सैयद, मुगल, पठान आदि चार वर्गों में विभाजित हैं और यद्यपि सैद्धांतिक दृष्टि से वे एक दूसरे के समान हैं, तो भी उनमें परस्पर विवाह-संबंध पूर्णरूपेण ठीक नहीं समझा जाता। हिंदुओं की भाँति मुसलमानों में भी संयुक्त कुटुंबों का प्रचार है। बहु-विवाह की प्रथा तथा पिता की संपत्ति में पुत्री और पति की संपति में स्त्री के अधिकार के कारण, उनका कौटुंबिक जीवन और भी अधिक जटिल हो गया है। मुसलमानों के उत्तराधिकार संबंधी नियम इतने पेंचीदा हैं कि साधारण व्यक्ति के समझ में आसानी से नहीं आ सकते।

हिंदुओं की भाँति मुसलमानों के सामाजिक जीवन में अनेक बुराइयाँ हैं। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—(१) प्रामाणिकता—सामाजिक जीवन के धार्मिक आधार के कारण मुसलमानों में प्रामाणिकता का दोष आ गया है। किसी रेवाज को तर्क और विवेक की कसौटी पर न कस कर, वे परंपरागत् अंध विश्वास के आधार पर, उसके अनुसार आचारण करते हैं। फल-स्वरूप उनके जीवन में एक ऐसा कट्टरपन आ गया है जो उन्हें चतुर्दिक जकड़े हुए है और जिसके कारण वे, इस्लाम के बंधनों को तोड़े बिना, समाज में सुधार नहीं कर सकते। (२) विवाह संबंधी कुप्रथाएँ—हिंदुओं की भाति मुसलमानों में

भी बाल-विवाहों का चलन है। साथ ही उनमें निकट के संबंधियों में भी विवाह-संबंध हो जाता है। चचेरे भाई-बहिन आपस में विवाह करके स्त्री-पुरुष बन सकते हैं। इन दोनों कुप्रथाओं का प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ता है। मुसलमानों में बहु-विवाह पर किसी प्रकार का धार्मिक प्रतिबंध नहीं है, यद्यपि व्यवहार में बहुत कम मुसलमानों के एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं। मुसलमानों में विवाह-विच्छेद की व्यवस्था है, पर विच्छेद का अधिकार केवल पुरुष को ही है। विधवा-विवाह पर किसी प्रकार की रुकावट नहीं है, पर व्यवहार में ऊँचे घरानों की बहुत कम विधवाएँ अपनी दूसरी शादी करती हैं। (३) पर्दा की प्रथा—मुसलमानों में हिंदुओं से कहीं ज्यादा पर्दे की प्रथा का चलन है। औरतें घर के अंदर रखी जाती हैं और जब वे बाहर निकलती हैं, तो अपने सारे शरीर को एक खोल से ढक लेती हैं, जिसे बुर्का कहा जाता है। यह कुप्रथा भी धार्मिक आधार पर अवलंबित समझी जाती है और यदि कानून द्वारा इसे मिटाने की चर्चा होती है, तो उच्च पदासीन शिक्षित मुसलमान तक इसके मिटाने का विरोध करते हैं। (४) स्त्रियों की अवस्था—पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह और बहु-विवाह के कारण मुसलमान-स्त्रियों की हालत हिंदू-स्त्रियों से भी गिरी हुई है; पर विधवा-विवाह और संपत्ति में अधिकार के कारण उनकी अवस्था हिंदुओं की अवस्था से श्रेष्ठतर है। फिर भी मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि मुसलमानों में भी स्त्रियाँ संपत्ति के एक भाग अथवा मोल ली गयी दासी के समान समझी जाती हैं। (५) अन्य दोष—हिंदुओं की भाँति मुसलमानों में भी मद्यपान का दोष आ गया है। उनके जीवन का दृष्टि-कोण संकुचित तथा नैतिक आचरण इस प्रकार का है, जो नीति के बंधनों से जकड़े हुए हिंदुओं को अनुचित प्रतीत होता है। संयुक्त कुटुंबो के चलन के कारण उनमें भी कुछ ऐसे लोग पाये जाते हैं जो स्वयं परिश्रम न करके दूसरों की कमाई पर आनंद करते हैं। उसमें दूसरों के चलनों के प्रति सहिष्णुता का अभाव है यहाँ तक कि कभी कभी उनके ही दोनों वर्ग अर्थात् शिया और सुन्नी आपस में झगड़ पड़ते हैं।

समाज-सुधार की समस्या—उपरिवर्णित हिंदुओं और मुसलमानों के सामाजिक जीवन से यह स्पष्ट है कि दोनों में अनेक बुराइयां हैं, जिनका दूर करना राष्ट्र की उन्नति के लिए परमावश्यक है। पर समाज-सुधार की समस्या उतनी सरल नहीं जितनी बाह्य रूप में विदित होती है। समाज प्राचीन बातों और रूढ़ियों को छोड़ने के लिए सहसा तैयार नहीं हो जाता। उनके छोड़ने के पूर्व वह सुधारकों का विरोध करता है और कभी-कभी इतना अधिक कि उन्हें

अपने प्राण तक से हाथ धोना पड़ता है। सुकरात, ईसा मसीह, हजरत मोहम्मद और मार्टिन लूथर के नाम इस संबंध में उल्लेखनीय हैं। उनके जीवनकाल में समाज ने उनका घोर विरोध किया था, यद्यपि कालांतर में उनकी अधिकांश बातें स्वीकार कर ली गयी थीं। न्यूनाधिक यही अवस्था आजकल भारतीय समाज की है। पुरातन-पूजक होने के नाते वह किसी भी नयी बात को सहसा मानने के लिए तैयार नहीं हैं, पर यदि ढंग से काम किया जाय तो यह असंभव भी नहीं कि इसमें आवश्यक सुधार हो जायं।

समाज-सुधार के विभिन्न मार्ग—विभिन्न देशों में समाज-सुधार के दो विभिन्न मार्ग अपनाये गये हैं। पहला मार्ग क्रांति का है और दूसरा विकास का। पहले के अंतर्गत सुधार बड़ी द्रुत गति से किये जाते हैं। इस बात तक का विचार नहीं किया जाता कि जनता में उनके ग्रहण करने की क्षमता है अथवा नहीं। सुधार उस पर जबरदस्ती लादे जाते है और यदि वह उन्हें ग्रहण करने से मुख मोड़ती है, तो दंड पाती है। ऐसे सुधारों में प्रायः सरकार का हाथ होता है। यदि सरकार, अपनी इच्छा को कार्यान्वित करने के लिए, पर्याप्त मात्रा में शक्तिशाली नहीं होती, तो कभी-कभी वह उलट दी जाती है। पीटर महान के समय में रूस के और कमालपाशा के अधीन तुर्की के सुधार इसी प्रकार किये गये थे। अमानुल्ला खाँ ने अफगानिस्तान में इसी प्रकार सुधार करने का प्रयत्न किया था, पर वे असफल रहे और गद्दी से उतार दिये गये।

समाज-सुधार का दूसरा मार्ग विकास का मार्ग है। इसमें सुधार करने के पूर्व, जनता में उनका प्रचार किया तथा उसे उनके अनुकूल बनाया जाता है। सार्वजनिक भाषणों तथा अन्य साधनों से, उसका ध्यान प्रचलित कुरीतियों तथा उनके हानिकर प्रभावों की ओर आकर्षित किया जाता है और समझा-बुझा कर उसे इस प्रकार प्रोत्साहित किया जाता है कि वह सुधारों को स्वयं स्वीकार कर ले। इस काम में कभी दूसरे देशों के उदाहरण दिये जाते हैं और कभी देश के प्राचीन गौरव के नाम पर अपील की जाती है। समाज-सुधार के इस मार्ग में जल्दी से सफलता नहीं मिलती। पर जो कुछ सुधार हो जाते हैं, वे दृढ़ और दीर्घकालीन होते हैं। ब्रह्म-समाज, आर्यसमाज और कांग्रेस द्वारा किये गये समाज-सुधार के प्रयत्न इसी प्रकार के थे।

भारत में समाज-सुधार—भारत में अब तक जितने समाज-सुधार हुए हैं उनमें सार्वजनिक नेताओं और संस्थाओं तथा सरकार सबका हाथ रहा है। सार्वजनिक नेताओं और संस्थाओं ने जनता की बुद्धि से अपील करके, कभी उसके सम्मुख दूसरे देशों के उदाहरण रखे हैं और कभी उस का ध्यान अपने

अतीत की ओर आकर्षित किया है। सरकार ने सुधार-संबंधी कानून बनाये हैं, पर उनके कार्यान्वित करने में उसने वह दृढ़ता नहीं दिखलायी है जो सुधारों की सफलता के लिए आवश्यक थी।

भारत में समाज-सुधार का प्रथम पग राजा राममोहन राय ने उठाया था। जीवन के पाश्चात्य दृष्टि-कोण से प्रभावित हो, उन्होंने ब्रह्म-समाज की स्थापना द्वारा, जनता की बुद्धि से अपील करके, उसका ध्यान सामाजिक कुरीतियों की ओर आकर्षित किया तथा उससे उनके दूर करने की अपील की थी। केशव चंद्र सेन ने पाश्चात्य सभ्यता को इतना अधिक अपनाया था कि लोग उन्हें नकलची कहते थे। फलस्वरूप इन दोनों सुधारकों तथा ब्रह्म-समाज ने अनुकरण के सहारे, समाज-सुधार करने का प्रयत्न किया था।

विदेशी मिशनरी सोसाइटियाँ भी इसी प्रकार के कामों में संलग्न थी। वे न तो जाति-व्यवस्था को मानती थीं और न अस्पृश्यता को। उनमें पर्दे की कुप्रथा का अभाव, बाल-विवाहों का विरोध तथा शिक्षा-प्रचार के प्रति अनुपम अनुराग था। फलस्वरूप उन्होंने जिन लोगों को अपना धर्म स्वीकार कराया, उनका सामाजिक सुधार हो गया। हिंदू-धर्म के स्थान पर ईसाई धर्म को स्वीकार करने ही से, उन्हें उन सब अयोग्यताओं से मुक्ति मिल गयी, जो उन्हें अपने कठोर बंधनों द्वारा जकड़े हुई थीं। उनमें शिक्षा का प्रचार हुआ और वे जीवन के पाश्चात्य दृष्टिकोण से अनुप्राणित होने लगे। मिशनरी सोसाइटियाँ भारतीय समाज-सुधारकों के लिए पथ-प्रदर्शक के समान थीं।

स्वामी दयानंद सरस्वती और उनके द्वारा संस्थापित आर्य-समाज ने समाज-सुधार के अनेक काम किये। पर उनका दृष्टि-कोण उपर्युक्त दोनों प्रकार के सुधारकों के दृष्टिकोण से भिन्न था। जब राजा राजमोहन राय और श्री केशव-चंद्र सेन पश्चिम को अपना गुरु मानते थे, स्वामी दयानंद सरस्वती ने इस बात पर जोर दिया कि हमें पश्चिम से कुछ भी नहीं सीखना है। उनके विचारानुकूल हमारा अधःपतन इस कारण हुआ था कि हम अपनी सभ्यता और संस्कृति को छोड़कर पाश्चात्य बातों की ओर झुक गये थे। अतएव उन्होंने हिंदुओं का ध्यान अपने अतीत के गौरव की ओर आकर्षित किया और वेदों को सत्य विद्या का भंडार बतला कर, उनके आधार पर प्रचलित सामाजिक कुरीतियों का खंडन। इस प्रकार उत्तर भारतीय जनता के सामाजिक दृष्टिकोण में महान् परिवर्तन हो गया।

भारतीय कांग्रेस ने भी समाज-सुधार के अनेक प्रयत्न किये। उसकी मूल कल्पना ही समाज-सुधारक संस्था के रूप में हुई थी। सन् १८८५ में उसका

एक उद्देश्य "प्रत्यक्ष मैत्री व्यवहार द्वारा वंश, धर्म और प्रांत संबंधी तमाम पूर्व दूषित संस्कारों का मिटाना था।" सन् १८८९ से १९०२ तक कांग्रेस ने कई बार आबकारी और सैनिक छावनियों में प्रचलित वेश्यावृत्ति के संबंध में प्रस्ताव पास किये। लॉर्ड कर्जन के शासन-काल के पश्चात् यह स्वाभाविक था कि उसके कार्यक्रम में राजनीतिक बातों की प्रधानता हो जाय। फिर भी सामाजिक सुधारों को उसने अपने कार्यक्रम से अलग नहीं किया। सन् १९१७ के अधिवेशन में दलित जातियों की अवस्था सुधारने तथा उन पर लादी गयी परंपरागत अयोग्यताओं के दूर करने पर जोर दिया गया। महात्मा गांधी के पदार्पण के पश्चात् कांग्रेस के कार्यक्रम में अछूतोद्धार और मद्य-निषेध का विशेष स्थान हो गया। सन् १९२२ में कांग्रेस-कार्य-समिति ने स्वामी श्रद्धानंद, श्रीमती सरोजनी नायडू, जी० बी० देशपांडे, आई० के० याज्ञिक आदि सज्जनों की एक कमेटी नियुक्त की जिसका काम अछूतों की अवस्था को सुधारने के लिए व्यावहारिक कामों की एक योजना का तैयार करना था। सांप्रदायिक निर्णय के पश्चात् गाधीजी के आमरण उपवास का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। उसके कारण, केवल कांग्रेस ही नहीं, वरन् भारत की समस्त प्रमुख संस्थाओं तथा सार्वजनिक नेताओं ने, अस्पृश्यता-निवारण के कार्यक्रम को अपनाया। अनेक सजातीय हिंदुओं ने मंदिरों के द्वार अछूतों के लिए खोल दिये और महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने काशी में खुल्लमखुल्ला अछूतों को दीक्षा दी। हरिजन सेवक-संघ की स्थापना हुई और उसकी शाखाएँ भारत के प्रत्येक नगर में खुल गयीं। इस प्रकार कांग्रेस तथा सन् १९२० के पश्चात् उसे अनुप्राणित करनेवाले महात्मा गांधी के त्याग एवं आत्मबल के कारण, हिंदुओं के सामाजिक जीवन की दो बुराइयों पर ऐसे प्रहार हुए कि उनका अंत निकट प्रतीत होने लगा।

कांग्रेस के अतिरिक्त भारत की अन्य संस्थाएँ भी समाज-सुधार के प्रयत्न कर रही थीं। इनमें हिंदू महासभा, जाति-पाँत-तोड़क मंडल, भारत-सेवक-संघ (Servant of India Society) लोक-सेवक-संघ (Servant of People Society) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

उपरिवर्णित समाज-सुधारक और संस्थाओं का प्रभाव सरकार पर भी पड़ा और समय-समय पर उसने ऐसे कानून बनाये जिनका उद्देश्य समाज में सुधार करना था। इनमें से निम्नलिखित ऐक्ट उल्लेखनीय हैं—

(१) विलियम बेंटिंक के शासन-काल में सती, ठगी और बालिका-हत्या के विरुद्ध कानून बने। (२) सन् १८५० के एक नियम के अनुसार यह निश्चित

हुआ कि धर्म-परिवर्तन करने पर किसी व्यक्ति का अपनी संपत्ति पर अधिकार नष्ट नहीं होता। (३) सन् १८५६ में, लार्ड डलहौजी के शासनकाल में विधवा-विवाह नियम-संगत ठहराया गया। (४) सन् १८५८ में बंबई सरकार ने शिक्षा-संस्थाओं में सब जातियों के विद्यार्थियों की भर्ती का आदेश दिया। (५) सन् १८७२ के 'सिविल मैरिज ऐक्ट' के अंतर्गत गैर-ईसाइयों को इस शर्त पर 'सिविल मैरिज' करने का अधिकार मिला कि वे हिंदू, ईसाई, इस्लाम, पारसी या यहूदी धर्मों में से किसी को न मानते हों। इस कानून के अनुसार बाल-विवाह की प्रथा रोकी गयी, बहु-विवाह को नियम-विरुद्ध घोषित किया गया और विधवा-विवाह तथा अंतर्जातीय विवाह को स्वीकृति दी गयी। (६) सन् १८९१ में सहवास ऐक्ट (Age of Consent Act) स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार १२ बरस से कम अवस्था की लड़कियों के साथ सहवास दंडनीय निर्धारित हुआ। (७) सन् १९३० में बाल-विवाह-निषेध (शारदा विवाह) ऐक्ट स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार लड़कियों और लड़कों के विवाह की कम से कम अवस्था १४ और १८ बरस निर्धारित हुई। पर इस कानून के विरुद्ध किये गये विवाह नियम-विरुद्ध नहीं, केवल दंडनीय समझे गये। (८) सन् १९३७ में हिंदू महिला-संपत्ति-अधिकार नाम का कानून बना। इसके अनुसार विधवाओं को घर की संपत्ति का कुछ भाग मिला।

इन महत्त्वपूर्ण ऐक्टों के अतिरिक्त सरकार ने समाज-सुधार संबंधी अनेक दूसरे कानून भी पास किये। यदि उन पर कड़ाई से अमल किया जाता तो भारतीय समाज की अनेक कुरीतियाँ बहुत पहले समाप्त हो जातीं। पर ये ऐक्ट साधारणतया दंड-विधान के अंगमात्र थे। कुरीतियों के तथाकथित धार्मिक आधार के कारण भारत की विदेशी सरकार ने, जहाँ तक हो सका, अपने को उनसे अलग रखा था। फलस्वरूप कानून तो बन गये थे, पर उन्हें कार्यान्वित करने में शिथिलता के कारण, उन कुरीतियों में, किसी प्रकार का उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ था, जिनके अंत के लिए वे बनाये गये थे।

स्वतंत्र भारत और समाज-सुधार—अस्पृश्यता-निवारण और स्त्रियों की अवस्था में सुधार का विवरण देते समय हमने नये संविधान की कुछ धाराओं का उल्लेख किया था। वहाँ हमने यह बतलाया था कि नये संविधान के अनुसार अस्पृश्यता का अंत कर दिया गया है और हरिजनों के उत्थान के लिए महत्त्वपूर्ण संरक्षणों की व्यवस्था की गयी है। धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर, सरकार नागरिकों के साथ भेदभाव नहीं करती। स्त्रियों को पुरुषों के समान राजनीतिक अधिकार मिल गये हैं और समान कार्य के लिए दोनों के लिए

समान वेतन की व्यवस्था की गयी है। नये संविधान के अंतर्गत संगठित सरकारें भी समाज-सुधार के कामों में संलग्न हैं। मद्यपान एक प्रकार से बंद सा हो गया है। ग्राम-शासन की नवीन व्यवस्था के द्वारा ग्राम-वासियों को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जा रहा है और शिक्षा के प्रचार द्वारा उस अंधकार को मिटाया जा रहा है जिससे इस समय भारतीय नर-नारी और बालक-बालिकाएँ आच्छादित हैं। समाज-सुधार के उद्देश्य से संघीय विधान-मंडल, विभिन्न बिलों पर विचार कर रहा है।

समाज-सेवा की समस्या—स्वतंत्र होने के पश्चात् भारत-सरकार, भारतीय नेताओं, सार्वजनिक संस्थाओं और जनता के सम्मुख केवल दो ही समस्याएँ हैं, पहली नव-प्राप्त स्वतंत्रता की रक्षा और दूसरी देश का आंतरिक उत्थान। पहली समस्या के महत्त्व के विषय में किसी को लेशमात्र भी संदेह नहीं हो सकता। नव-प्राप्त स्वतंत्रता की रक्षा के लिए हमें सब प्रकार के कष्टों को सहने के लिए तैयार रहना चाहिये। पर दूसरी समस्या कम महत्त्व और उत्तरदायित्व की नहीं है। यदि स्वतंत्र होने के पश्चात् भी सामाजिक कुरीतियों का अंत न हुआ, तो हमारी स्वतंत्रता की नींव खोखली बनी रहेगी। अतएव हमारी सरकार को सामाजिक सुधारों की ओर प्रभावशाली ढंग से आगे बढ़ना चाहिये।

पर समाज-सुधार का काम बड़ा नाजुक होता है; विशेषकर उस अवस्था में जब सामाजिक कुरीतियों का धार्मिक आधार हो और लोग देवी-देवाताओं को प्रसन्न करने के लिए, उनसे चिपके रहें। ऐसे समाज को सुधारने के लिए सरकार नियम बना सकती है, कभी-कभी सख्ती कर सकती है, पर जनता को विरोधी बनाये बिना, शीघ्रता से सामाजिक कुरीतियों का अंत नहीं कर सकती। उसे अपने काम की सफलता के लिए सार्वजनिक संस्थाओं, नेताओं तथा कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होती है, जो सरकार के साथ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहयोग करते तथा उसके उद्देश्य की पूर्ति में सहायता भी पहुँचाते हैं। भारत में इस प्रकार की अनेक संस्थाएँ इस समय काम कर रही हैं। उनमें सर्वोदय-समाज का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। गांधीजी के सामाजिक एवं आर्थिक आदर्शों से प्रभावित हो, वह भारतीय जनता के सर्वांगीण उत्थान के प्रयत्न कर रहा है। अनेक सार्वजनिक नेता भी इसी दिशा में प्रयत्नशील हैं। पर समस्या की महानता को देखते हुए इन कार्यकर्ताओं की संख्या पर्याप्त नहीं है, विशेषकर उस समय जब कि देश में सुधार-विरोधी ऐसे वर्गों का अस्तित्व है जो जनता में प्रचलित कुप्रथाओं के अनुकूल बातों का प्रचार करके, उसकी धर्मभीरुता के सहारे, उसे अधिक जकड़ने के लिए तैयार हैं।

भारत में समाज-सुधार के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक शिक्षित भारतीय, जो समाज-सुधार के कार्य-क्रम में विश्वास करता है, उसे कार्यान्वित करने के लिए प्रयत्नशील हो। वह इस काम को या तो व्यक्तिगत् रूप से कर सकता है या नयी संस्थाओं को बना कर या मौजूदा संस्थाओं के साथ सहयोग करके। उसे अपने काम का पूरा पूरा ज्ञान होना चाहिये। इस उद्देश्य से ऐसे अस्थायी शिक्षण-केंद्रों को खोलना चाहिये जिनमें कार्यकर्ताओं को अपने काम का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाय। यदि सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में कष्ट भी उठाना पड़े, तो उन्हें सहर्ष उसके लिए तैयार हो जाना चाहिये। जब तक भारत के शिक्षित लोग, इस आदर्श से प्रभावित हो, समाज-सुधार के काम में न लग जायँगे और उनमें से प्रत्येक कम से कम एक व्यक्ति को न सुधारेगा, तब तक सरकार द्वारा निर्मित कानून अपने उद्देश्य में सफल न होंगे।

अभ्यास

१. भारत के सामाजिक जीवन की मुख्य विशेषताओं को समझा कर लिखिये।

२. वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था में क्या अंतर है? जातियों की वृद्धि किन कारणों से हुई?

३. जाति-व्यवस्था के गुण-दोष पर प्रकाश डालिये।

४. जाति-व्यवस्था के विरुद्ध मौजूदा प्रतिक्रिया का विवरण लिखिये। जाति-व्यवस्था के भविष्य के विषय में आपका क्या अनुमान है?

५. संयुक्त और विभक्त कुटुंबों के अंतर को समझा कर लिखिये।

६. संयुक्त कुटुंब के गुण-दोष पर प्रकाश डालिये।

७. कुटुंब के भविष्य के विषय में आपका क्या अनुमान है?

८. दलित जातियों का क्या अर्थ है? उनकी कुछ कठिनाइयों को समझा कर लिखिये।

९. सन् १९१७ से १९४७ तक दलित जातियों की अवस्था में जो सुधार हुए हैं, उनका संक्षिप्त विवरण लिखिये।

१०. बीसवीं शताब्दी में स्त्रियों की अवस्था में जो सुधार हुए हैं, उनका संक्षिप्त विवरण लिखिये।

११. नये संविधान में स्त्रियों और अछूतों की व्यवस्था का संक्षिप्त विवरण लिखिये।

१२. हिंदुओं के सामाजिक जीवन की कुछ कुप्रथाओं का उल्लेख कीजिये। उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है?

१३. समाज-सुधार के लिए आप क्रांति-मार्ग के समर्थक हैं या विकास-मार्ग के? सकारण उत्तर दीजिये।

१४. कांग्रेस के समाज-सुधार के कार्य-क्रम का संक्षिप्त विवरण लिखिये।

१५. समाज-सेवा के संबंध में भारत के शिक्षित लोगों का क्या कर्तव्य है?

१६. समाज-सुधार के लिए भारत-सरकार और प्रांतीय सरकारों द्वारा पास्ति महत्त्वपूर्ण ऐक्टों का संक्षिप्त विवरण लिखिये।

६

हमारा आर्थिक जीवन

उत्तम आर्थिक जीवन के साधन—आजकल संसार में आर्थिक बातों की प्रधानता है। सब लोग चाहते हैं कि आर्थिक दृष्टि से उनका जीवन सुखमय हो और उनकी सभी भौतिक आवश्यकताएँ संतोषपूर्वक पूरी होती जायँ। किसी देश के उत्तम आर्थिक जीवन के लिए निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है—

(अ) प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता—उत्तम आर्थिक जीवन का प्रथम साधन प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता है। यदि भूमि उपजाऊ है, वर्षा ठीक समय पर होती है, जल-वायु उपयुक्त है, तो साधारणतया ऐसे देश की उपज अच्छी होती है। यदि उपयोगी पशु और धातुएँ भी पर्याप्त मात्रा में पायी जाती हैं और प्राकृतिक यातायात के साधनों, जैसे समुद्र, नदियों आदि की सुलभता है, तो अच्छी उपज की सहायता से, ऐसे देश का आर्थिक जीवन साधारणतया अच्छा होता है। भारत में ये साधन पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। सिंध और गंगा तथा उनकी सहायक नदियों द्वारा निर्मित उत्तर भारत का मैदान, संसार के सबसे अधिक उपजाऊ प्रदेशों में है। यहाँ वर्षा पर्याप्त मात्रा में होती है, यद्यपि कभी-कभी उसके समय में अवांछित परिवर्तन हो जाता है। पशुओं, आवश्यक खनिज पदार्थों, अधिकांश देश में समतल भूमि तथा, बर्फ से ढके हुए पहाड़ों के कारण, प्राकृतिक जल-मार्गों की प्रचुरता है।

(ब) निवासियों की व्यावहारिक बुद्धि—किसी देश के उत्तम आर्थिक जीवन के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ के निवासियों की बुद्धि आर्थिक उन्नति के अनुकूल हो। इसके लिए व्यावहारिक बुद्धि का होना आवश्यक है। देश के निवासियों में ऐसी सामर्थ्य होनी चाहिये कि वे अपनी बुद्धि के सहारे प्राकृतिक उपज को बढ़ा सकें, प्रकृति से प्राप्त वस्तुओं के रूप को बदल कर, उन्हें अधिक सुंदर और उपयोगी बना सकें और अन्य ऐसे काम कर सकें जिनसे देश की दस्तकारियों की उन्नति हो और यातायात के साधनों में सुधार हो जिससे उनकी बनायी हुई वस्तुएँ समस्त देश को सुलभ हो जायँ। भारत के निवासियों में इस प्रकार की व्यावहारिक बुद्धि है। किंतु बीसवीं शताब्दी ईसवी के पूर्व इसके विकसित कराने अथवा बढ़ाने का कोई प्रयत्न बड़े पैमाने पर

नहीं किया गया था। आधुनिक काल में, आर्थिक बातों की महत्ता के कारण, भारतीय व्यावहारिक बुद्धि में अनुपम परिवर्त्तन हो गया है और भारतवासी, पाश्चात्य देशों के निवासियों की भाँति, उसे बढ़ाने और तज्जनित आर्थिक उन्नति में लगे हुए हैं।

(स) यातायात के साधनों की सुविधा—आर्थिक उन्नति के लिए यातायात के साधनों की सुविधा अत्यंत आवश्यक है। इसके बिना प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता तथा जनता की व्यावहारिक बुद्धि देश को समृद्धिवान बनाने में सफल नहीं होती। यातायात के साधन दो प्रकार के होते हैं (१) प्राकृतिक और (२) मनुष्य-निर्मित। समुद्र और साल भर बहनेवाली नदियाँ यातायात के प्राकृतिक साधनों के उदाहरण हैं। उत्तर भारत की नदियाँ इसी प्रकार की हैं। समुद्र से भी आने-जाने और माल ले जाने में बड़ी सहायता मिलती है। सड़क, रेल, स्टीमर, जहाज, नहर, तार, डाक, टेलीफोन आदि यातायात के मनुष्य-निर्मित साधन हैं। देश के क्षेत्रफल और निवासियों की संख्या को देखते हुए ये भारत में अभी तक पर्याप्त नहीं हैं और यद्यपि सामुद्रिक बेड़े का श्रीगणेश हो चुका है, तो भी देश की विशालता को देखते हुए वह नहीं के बराबर है।

(द) सरकार की नीति—सरकारी नीति पर देश की आर्थिक अवस्था बहुत कुछ निर्भर करती है। यदि सरकारी नीति उन्नति के अनुकूल होती है तो देश समृद्धिवान हो जाता है और यदि प्रतिकूल, तो देश में धन-धान्य की कमी की आशंका बनी रहती है। भारतीय इतिहास के प्राचीन और मध्यकाल में, सरकार की आर्थिक नीति का देश के हित में होना स्वाभाविक था। हिंदू-राजा और मुसलमान बादशाह इस देश में विदेशियों की भाँति शासन न करते थे। भारत उनका देश था। इसकी उन्नति में वे अपनी उन्नति समझते थे और इसकी अवनति में अपनी अवनति। आधुनिक काल के आरंभ में यह परिस्थिति बदल गयी। ईस्ट इंडिया कंपनी के उत्तरदायित्वरहित शासन-काल में, सरकार की आर्थिक नीति इस देश के अनुकूल न होकर इंगलैंड के अनुकूल रखी गयी। यहाँ की दस्तकारियों का विनाश किया गया, आयात-कर की नीति इंगलैंड के पक्ष में निर्धारित की गयी, इंगलैंड की बनी हुई वस्तुओं का प्रचार किया गया, मालगुजारी अनुचित आधार पर बढ़ायी गयी और ऐसा आर्थिक शोषण किया गया कि कंपनी के लगभग १०० बरस के शासन-काल में देश की आर्थिक अवस्था बिगड़ गयी। सिपाही-विद्रोह के पश्चात् भी भारत की अंगरेजी सरकार की नीति प्रधानतया इसी प्रकार बनी रही और यद्यपि कांग्रेस के जन्म के पश्चात् देश में राजनीतिक जागृति के कारण, इसमें कुछ परिवर्तन हुए, तो

भी यह कहना कठिन है कि सन् १९४७ के पूर्व भारत-सरकार की आर्थिक नीति सर्वथा भारत के पक्ष में थी।

भारत की आर्थिक अवस्था पर ऐतिहासिक दृष्टिपात—प्राचीन और मध्य काल में भारत की आर्थिक स्थिति किस प्रकार की थी, इस विषय में इतनी सामग्री उपलब्ध है कि थोड़े में उसका निचोड़ निकालना कुछ कठिन सा प्रतीत होता है। तो भी निम्नलिखित संक्षिप्त विवरण द्वारा हमें इस विषय का कामचलाऊ ज्ञान हो जायगा।

(१) प्राचीन काल—हिंदूकाल में देश की आर्थिक स्थिति का ज्ञान हमें बौद्ध-कालीन ग्रंथों, कौटिल्यीय अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज के विवरण, महाभारत, मनुस्मृति, फाह्यान और हीवांत्सांग के विवरणों तथा शुक्रनीति से मिलता है। इन सबमें समान रूप से इस बात पर जोर दिया गया है कि प्राचीन काल में देश की आर्थिक अवस्था बड़ी अच्छी थी। मेगस्थनीज के अनुसार लोग सीधी चाल-ढाल के तथा संयमी थे। वे आभूषणों का प्रयोग तो करते थे किंतु उनका पहिरावा बहुत सादा था। निर्धन और दरिद्र भी थे, परंतु उनकी गिनती बहुत कम थी और वे सरकारी आश्रय में रहते थे। इसके लगभग १००० बरस पश्चात् चीनी यात्री हीवांत्सांग के विवरण में भी देश की ऐसी ही आर्थिक अवस्था थी।

हिंदू राजत्व-काल में देश के अधिकांश निवासी गावों में रहते थे और उनका मुख्य पेशा खेती था। राजा उपज का निर्धारित भाग (बौद्ध ग्रंथों के अनुसार १०%) कर के रूप में लेता था। राज्य की ओर से कहीं-कहीं सिंचाई का प्रबंध था। पशुओं के चरने के लिए गोचर भूमि अलग कर दी जाती थी। कौटिल्य के अनुसार कृषि की देख भाल के लिए एक सरकारी अधिकारी होता था जो सीताध्यक्ष कहलाता था। दस्तकारियाँ भी उन्नत अवस्था में थीं। कौटिल्य के अनुसार कताई और बुनाई का काम बड़े पैमाने पर होता था और उसकी देख-भाल के लिए सूत्राध्यक्ष नामक एक राजकीय अधिकारी होता था। हीवांत्सांग के अनुसार सात बरस या इससे बड़े बालकों को पाँच विद्याएँ सिखायी जाती थीं। इनमें से दूसरी विद्या शिल्प-स्थान विद्या थी जिसमें कलाओं और यंत्रों का वर्णन था। ग्रामों के प्रबंध के लिए ग्राम-पंचायतों की व्यवस्था थी। विभिन्न व्यवसायो की भी पंचायतें थीं। अकाल साधारणतया पड़ते ही न थे और यदि पड़ते थे तो कौटिल्य के अनुसार राजा कम मूल्य पर अनाज देता तथा बीज बाँटता था। इन बातों के कारण हिंदू काल में भारतीयों की अच्छी आर्थिक स्थिति का होना कोई आश्चर्यजनक बात न थी।

(२) मध्यकाल—मध्यकाल में भी जनता की आर्थिक दशा न्यूनाधिक इसी प्रकार की थी। भारत के मुसलमान बादशाहों ने देश पर स्वदेशियों की भाँति शासन किया था। उनमें से एक भी देश के आर्थिक ह्रास का दोषी न था। अतएव मुसलमानों के शासन-काल में देश की आर्थिक अवस्था हिंदू-काल की भाँति अच्छी बनी रही। कृषि उन्नत अवस्था में थी। मालगुजारी उपज के एक भाग के रूप में ली जाती थी और उसके उगाहने का ढंग कठोर न था। दस्तकारियाँ भी अच्छी अवस्था में थीं। कताई-बुनाई का काम पहले ही की भाँति चालू था। इन दस्तकारियों में अब हिंदू और मुसलमान दोनों ही लगे हुए थे। निर्मल और इंदूर (हैदराबाद) में लोहे का कारबार उन्नत अवस्था में था। निर्मली और इंदूरी तलवारें, भाले, चाकू आदि समस्त देश में प्रचलित थे। मुगलों के शासन-काल में विदेशी व्यापार उन्नत अवस्था में था। ग्राम-पंचायतें साधारणतया पहले ही की भाँति सुरक्षित थीं। उनके प्रभाव और अधिकारों में किसी प्रकार का शाही हस्तक्षेप न होता था। वस्तुओं का दाम सस्ता था। ऐसी अवस्था में देश की अच्छी आर्थिक स्थिति का होना स्वाभाविक था। तभी तो इब्न-बतूटा ने, चौदहवीं शताब्दी का विवरण देते हुए लिखा है कि सबके पास सोने चाँदी के गहनों की अधिकता थी। स्त्रियाँ गहनों और आभूषणों से लदी हुई थीं और एक भी घर ऐसा न था, जहाँ अच्छा सामान न था।

(३) ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन-काल—मुसलमानों के पश्चात् ईस्ट इंडिया कंपनी का राज स्थापित हुआ। कंपनी का मुख्य उद्देश्य व्यापार से लाभ उठाना चाहता था। शासक बनने के पश्चात् भी उसकी मनोवृत्ति इसी प्रकार की बनी रही। वह उत्तरदायित्व-रहित अधिकारों से युक्त थी। अतएव उसने ऐसे काम किये जिनसे भारत को आर्थिक हानि पहुँची और एक शताब्दी के भीतर वह एक दयनीय निर्धन देश बन गया।

कंपनी का सबसे निकृष्ट काम भारतीय दस्तकारियों का ह्रास था। औद्योगिक क्रांति के कारण इंगलैंड को ऐसी मंडियों की आवश्यकता थी जो कच्चा माल देकर उसकी बनी हुई वस्तुओं को बदले में ले सकें। कंपनी ने भारत को इसी प्रकार का बना दिया। भारतीय कारखाने बंद होने लगे और इंगलैंड का बना हुआ माल भारतीय बाजारों में बेचा जाने लगा। उस पर आयात कर नाम-मात्र के लिए लगाया जाता था, किंतु भारत से बाहर जाने वाली वस्तुओं को पहले तो इसी देश में निर्यात-कर चुकाना पड़ता था और तत्पश्चात् इंगलैंड में अत्यधिक आयात-कर। इस प्रकार भारतीय दस्तकारियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो गयीं

और उनमें लगे हुए लोग कृषि की ओर झुके। पर कंपनी की नीति उन्नत कृषि के भी अनुकूल न थी। भूमि-कर इतना अधिक था कि कृषक उसे अदा करने में असमर्थ थे। तिस पर वह भूमि-कर को नगद लेती थी, उपज के अनुसार नहीं। ऐसी परिस्थिति में भारतीय कृषि का अवनत होना स्वाभाविक था।

कंपनी के शासन-काल में भारत की स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ भी लुप्त हो गयीं। उत्तर-भारत की ग्राम पंचायतें कब लुप्त हुईं, यह ठीक-ठीक नहीं बतलाया जा सकता; किंतु दक्षिण भारत में रैय्यतवारी बंदोबस्त के कारण, सरकार और किसानों का प्रत्यक्ष संबंध हो गया। फलस्वरूप ग्राम-पंचायतों की महत्ता घटी और वे या तो स्वयं लुप्त हो गयीं या दबा दी गयीं।

कंपनी के शासन-काल में भारत का धन अविराम धारा में इंगलैंड की ओर बहने लगा। देश का आर्थिक शोषण आरंभ हुआ। कच्चे माल का बाहर भेजा जाना और उसके बदले बनी हुई वस्तुओं का मंगाना आर्थिक शोषण का पहला रूप था। ऊँचे सरकारी तथा सैनिक पदों पर अंगरेजों को नियुक्त करना आर्थिक शोषण का दूसरा रूप था। 'होम चार्जेज्' के रूप में भारत के धन को इंगलैंड ले जाना आर्थिक शोषण का तीसरा रूप था। कंपनी की उपर्युक्त आर्थिक नीति के कारण, भारत नित्य-प्रति अधिकाधिक निर्धन होता गया।

(४) सन् १८५८ से १९४७ तक—इन दिनों भारतीय पूँजीवाद तथा राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ। इंगलैंड के पूँजीपतियों ने कंपनी के शासन-काल में ही, भारत में अपना काम-काज आरंभ कर दिया था। उनका अनुकरण करके भारत के धनी लोग भी अपनी पूँजी को अपनी तथा देश की आर्थिक उन्नति में लगाने लगे। इसके कारण दोनों में प्रतिद्वंदता हुई जिसमें भारत की अंगरेजी सरकार ने, विदेशी पूँजीवाद के साथ पक्षपात किया। पूँजीवाद के प्रसार के कारण भारत का औद्योगिक विकास हुआ और सूती और ऊनी कपड़े, लोहे, शक्कर तथा अन्य वस्तुओं की दस्तकारियाँ बड़े पैमाने पर की जाने लगीं। इन दस्तकारियों के कारण शहरों की आबादी क्रमशः बढ़ने लगी, यातायात के साधनों में विप्लवकारी परिवर्तन हुए, व्यापार की रूप-रेखा बदली, प्राचीन तथा मध्य-कालीन घरेलू दस्तकारियों की इतिश्री हो गयी, अधिकाधिक देहाती लोग खेती पर निर्भर होने लगे, देश की संपत्ति अल्प-संख्यक वर्ग के हाथ में एकत्रित होने लगी और अधिकांश जनता उत्तरोत्तर निर्धन होती गयी।

पूँजीवाद के उपर्युक्त प्रभावों और सरकार की आर्थिक तथा राजनीतिक नीति के कारण भारत में राष्ट्रीय भावना का उदय एवं प्रसार हुआ। सन् १८८५ में भारतीय कांग्रेस स्थापित की गयी। उसने प्रथम तो राजनीतिक सुधारों पर जोर दिया और तत्पश्चात देश की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करके वह इस निष्कर्ष पर पहुँची कि स्वतंत्रता के बिना भारत का उन्नत होना असभव था। अतएव स्वतंत्रता के आंदोलन आरंभ हुए। इनमें भारतीय पूँजीवाद साधारणतया कांग्रेस के साथ रहा। किंतु स्वाधीनता की लहर क्रमशः समाज के निम्न स्तरों में भी फैल गयी। मजदूरों और किसानों में नयी जाग्रति फैली और सामाजिक दृष्टि से दलित जातियों में नयी स्फूर्ति का जन्म हुआ। ब्रिटिश सरकार को भी क्रमशः भारतीय शासन की नीति बदलनी पड़ी। देश का शासन-सूत्र धीरे-धीरे राष्ट्रीय नेताओं के हाथ में आने लगा और उन्होंने जनता के सर्वांगीण सुधार, विशेषतया आर्थिक स्थिति के सुधारने का कठिन काम अपने हाथों में लिया। सन् १९३९ में द्वितीय महासमर आरंभ हुआ। इसका आर्थिक प्रभाव इतना व्यापक सिद्ध हुआ कि संसार आज भी उसके कुप्रभावो से मुक्त नहीं है। भारत में देश के विभाजन के कारण परिस्थिति कुछ और जटिल हो गयी। पर देश की नयी सरकार ने उसे इस प्रकार संभाला है कि सबको भोजन और वस्त्र मिलता जा रहा है।

सन् १९४७ के पश्चात्—विभाजन के कारण भारत की आर्थिक अवस्था बडी पेंचीदा हो गयी है। उसके संबंध की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) सन् १९४७ तक भारत का आर्थिक तंत्र समस्त देश को एक ईकाई मानकर रचा जाता था। विभाजन के पश्चात् यह बदल गया। इसके कारण नयी समस्याएँ हमारे सामने आ गयी हैं। (२) विभाजन के पूर्व भी भारत के पास इतना अन्न न था कि वह अपनी समस्त जनता को पर्याप्त मात्रा में भोजन दे सकता। पाकिस्तान के निर्माण के कारण, यह कमी बढ़ गयी है। हम अपने खाद्य पदार्थों के लिए विदेशों पर निर्भर हैं। हमारी जनसंख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ रही है। (३) विभाजन के कारण मीलों का भी विभाजन हुआ है। जूट की मीलें तो भारत में हैं पर कच्चा जूट पाकिस्तान में। अतएव जब तक भारत में जूट की खेती न हो, उसकी मीलें कच्चे जूट के लिए पाकिस्तान पर निर्भर करेंगी। (४) यही अवस्था सूती दस्तकारियों की भी है। भारत में अच्छी कपास इतनी मात्रा में उत्पन्न नहीं होती कि सूती दस्तकारी की सभी मीलों के लिए पर्याप्त हो। अतएव वह कपास के लिए विदेशों पर

निर्भर हो गया है। (५) देश के विभाजन के कारण शरणार्थियों की कठिन समस्या हमारे सम्मुख है। हमारी सरकार यथाशक्ति उनकी सहायता कर रही है। इसके कारण भारत के आर्थिक साधनों की बड़ी खींचातानी करनी पड़ी है। (६) विदेशों की आर्थिक नीति हमारी आर्थिक कठिनाइयों को कभी-कभी बढ़ा देती है। भारतीय रुपया इंगलैंड के पौंड से संबद्ध है। इसलिए सन् १९४९ में, जब पौंड की दर घटी, भारत को किंचित काल के लिए आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। (७) भारत की स्वतंत्र सरकार के सम्मुख पुनर्निर्माण की अनेक योजनाएँ हैं। उनको कार्यान्वित करने के लिए धन की आवश्यकता है। पर विचार-धाराओं के संघर्ष के कारण न तो देशी पूँजी पर्याप्त मात्रा में मिलती है और न विदेशी। (८) नवीन विचार-धाराओं के कारण भारतीय श्रमजीवियों की उत्पादन-शक्ति पहले से कुछ कम हो गयी है। जिस समय देश संकटों से घिरा हुआ हो, ऐसी मनोवृत्ति उसके लिए हितकर नहीं हो सकती।

भारतीयों की निर्धनता—भारत एक निर्धन देश है। सिपाही-विद्रोह के पश्चात् अनेक भारतीय तथा युरोपीय विद्वानों ने देश की प्रति व्यक्ति औसत् वार्षिक आय को निकाला है और असंदिग्ध रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि अन्य देशों की तुलना में इस देश के निवासी सचमुच निर्धन हैं। साइमन कमीशन के अनुसार भारत की प्रति व्यक्ति औसत् वार्षिक आय ८ पौंड से कम थी और इंगलैंड की प्रचलित विनिमय की दर से, ९५ पौंड। सर जेम्स ग्रिग के अनुसार सन् १९३६-३७ में भारत की प्रति व्यक्ति औसत् वार्षिक आय ५६ रुपया थी। सन् १९४५-४६ में भारतीय व्यापार-विभाग के अनुमान के अनुसार भारत की प्रति व्यक्ति औसत वार्षिक आय २०४ रु० थी।

मद्रास-सरकार के आर्थिक परामर्शदाता श्री नटराजन के अनुसार सन् १९४९-५० में खंडित भारत की वार्षिक औसत् आय २२८ रु० १० आ० थी। भारत-सरकार की नैशनल इनकम कमेटी ने यह अनुमान लगाया है कि सन् १९५१-५२ में भारत की प्रति व्यक्ति औसत् आय २८४ रु० थी। इस वृद्धि से जनता को विशेष लाभ नहीं पहुँचा है। वस्तुओं का मूल्य इतना अधिक बढ़ गया है कि उक्त वृद्धि के कारण जनता की वास्तविक आय में वृद्धि न होकर कमी ही हुई है। यह आय भी देश की समस्त जनता में समान रूप से विभाजित नहीं है। समस्त देश की आय का लगभग एक तिहाई भाग एक प्रतिशत लोगों को मिलता है। यदि इस संख्या में आश्रितों की संख्या जोड़

दी जाय, तो यह आय लगभग ५ प्रतिशत् लोगों की हो जाती है। शेष में से समस्त आय का ३५ प्रतिशत् भाग, ३३ प्रतिशत् लोगों को मिलता है और इस प्रकार बची खुची ३२ प्रतिशत् आमदनी, शेष ६२ प्रतिशत लोगों को मिलती है। इन आँकड़ों से यह निष्कर्ष निकालना अतिरंजन नहीं प्रतीत होता कि हमारे देश के बहुत से निवासी आधे पेट या एक ही समय भोजन खा कर अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

भारत की निर्धनता के कारण—भारत की निर्धनता के कारणों में से निम्नलिखित ध्यान देने योग्य हैं—

(१) भूमि पर अधिक भार—भारत के अधिकांश लोगों का व्यवसाय खेती है। सन् १८९१ में कृषि ६१ प्रतिशत लोगों का व्यवसाय था, १९०१ में ६६ प्रतिशत लोगों का, १९११ में ७३ प्रतिशत लोगों का, १९३१ में ६७ प्रतिशत् लोगों का और १९४१ और १९५२ में ७० प्रतिशत लोगों का। भूमि पर भार तथा बार-बार अकाल पड़ने के कारण, लोगों की आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी है और वे निर्धन हो गये हैं। (२) घरेलू दस्तकारियों का अभाव—दूसरा कारण घरेलू दस्तकारियों का अभाव है। कंपनी के शासन-काल के पूर्व भारतीय कृषक घरेलू दस्तकारियों के द्वारा अपनी आय को बढ़ा लेते थे। दस्तकारियों में उन्हें स्त्रियों, बच्चों और वृद्धों तक का सहयोग प्राप्त था। आधुनिक काल में मीलों के खुल जाने के कारण इन दस्तकारियों की इतिश्री हो गयी है। लोग अब केवल कृषि के सहारे रहते हैं इसका परिणाम जनता की निर्धनता है। (३) जन-संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि—तीसरा कारण जन-संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि है। सन् १९४१ से १९५१ तक भारतीयो की संख्या लगभग १३·४ प्रतिशत बढ़ी है। इस उत्तरोत्तर वृद्धि के भरण-पोषण का भार, दस्तकारियों के अभाव में, कृषि पर पड़ा है। उसको भी वैज्ञानिक उन्नति नहीं हुई है। अतः जनता की निर्धनता बढ़ गयी है। (४) मुकदमेबाजी की आदत—चौथा कारण, भारत-वासियों की, विशेषतया देहाती जनता की मुकदमेबाजी की आदत है। भारतीय कृषक छोटी-छोटी बातों के लिए आपस में तथा जमीदारों में झगड़ पड़ते हैं और न्यायालयों में अपना मुकद्दमा करवाते हैं। वहां पर अनावश्यक व्यय के कारण उनकी निर्धनता बढ़ती गयी है। (५) शिक्षा का अभाव—पाँचवाँ कारण शिक्षा का अभाव है। शिक्षा की कमी के कारण भारतीय जनता में अनेक ऐसी रूढ़ियाँ प्रचलित हैं जो शिक्षित अवस्था में स्वतः विलुप्त हो जायंगी। बाल-विवाह, त्यौहारों तथा सामयिक अवसरों पर आवश्यकता

से अधिक व्यय, मुकद्दमेबाजी, अपनी भलाई और बुराई को न समझने की सामर्थ्य आदि ऐसी बातें हैं जिनसे, भारतीय जनता को आर्थिक हानि सहनी पड़ रही है। (६) असंतोषप्रद स्वास्थ्य—छठा कारण लोगों का असंतोष-प्रद स्वास्थ्य है। पर्याप्त और पुष्टिकारक भोजन के अभाव में लोगों की अवरोधक शक्ति क्षीण हो जाती है और वे बीमारियों के चंगुल में फँस जाते हैं। भारतीय जनता की यही दशा है। मलेरिया, दाद, खुजली आदि अनेक बीमारियाँ भारतीय जनता को घेरे तथा उसकी शक्ति को क्षीण करती रहती हैं। इसके कारण लोगों की उत्पादन-शक्ति कम हो गयी है और वे निर्धन हो गये हैं। [७] बेकारी का अस्तित्व—सातवाँ कारण बेकारी का अस्तित्व है। संयुक्त कुटुंब की प्रथा के कारण, प्रायः प्रत्येक बड़े परिवार में कुछ ऐसे लोग अवश्य पाये जाते हैं जो किसी प्रकार का कामकाज नहीं करते। स्वास्थ्य-वर्द्धक जलवायु तथा पुष्टिकारक भोजन के अभाव में बुढ़ापा बड़ी जल्दी आ जाता है। भारत की आधुनिक शिक्षा-प्रणाली भी, लोगों को अकर्मण्य बनाती है। पढ़े-लिखे लोग अपने हाथ से काम करने की अपेक्षा बेकार रहना श्रेष्ठतर समझते हैं। फल-स्वरूप बेकारी के कारण भी जनता में निर्धनता का प्रकोप बढ़ता जाता है। (८) सरकारी नीति—आठवाँ कारण पुरानी सरकार की शासन-नीति है। हम ऊपर देख चुके हैं कि ईस्ट इंडिया कंपनी की शासन-नीति के कारण भारतीय दस्तकारियों का विनाश तथा कृषि का पतन हुआ था। भारत की अंगरेजी सरकार की नीति भी भारतीय जनता के अनुकूल न होकर प्रतिकूल ही बनी रही। अतः भारतीय जनता निर्धन हो गयी है। (९) जनता की दार्शनिकता आदि—कुछ लोगों का विचार है कि भारतीयों की निर्धनता उनकी दार्शनिकता तथा इस भावना का परिणाम है कि अपने हाथ से काम करने से आदमी की मर्यादा भंग हो जाती है। इस विचार में कुछ सत्य अवश्य है किंतु उतना अधिक नहीं, जितना बतलाया जाता है।

कृषि का व्यवसाय—भारत एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ के अधिकांश निवासियों का व्यवसाय कृषि है। सन् १८७२ में समस्त जन-संख्या के केवल ६५ प्रतिशत मनुष्य खेती पर निर्वाह करते थे किंतु सन् १९५२ में इनकी संख्या बढ़कर लगभग ७० प्रतिशत हो गयी है। विभाजन के पूर्व समस्त संसार का लगभग ९० प्रतिशत जूट और ४५ प्रतिशत धान भारत में उपजाया जाता है। सन् १९४० में समस्त संसार की जूट उपजानेवाली भूमि की ९९.२ प्रतिशत, चावल उपजाने वाली भूमि की ४८.६ प्रतिशत, रुई उपजाने वाली भूमि की २९.६ प्रतिशत, तिलहन उपजाने वाली भूमि की १४.१

प्रतिशत, गेहूँ उपजाने वाली भूमि की १३'४ प्रतिशत और जौ उपजाने वाली भूमि की ६'८ प्रतिशत भारत में स्थिति थी। अतएव संसार के कृषि-व्यवसाय में भारत का एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। आज भी भारत की अवस्था न्यूनाधिक इसी प्रकार की है।

भारतीय भूमि का वर्गीकरण—उपज की दृष्टि से हम भारत की भूमि को निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं—

भूमि की किस्म	क्षेत्रफल १००० एकड़ में	
	१९४७–४८	१९४८–४९
जंगलात	८८,५५२	८६,९६०
कृषि के लिए अनुपयुक्त	९३,६०३	९३,११५
कृषि योग्य ऊसर भूमि	९२,४१६	९३,२००
परती भूमि	६०,९४२	६३,०५५
कृषि में प्रयुक्त भूमि	२,४५,४०४	२,४३,८३२

भारत में भूमि की अवस्था तो उक्त प्रकार की है, पर जन-संख्या नित्यप्रति बढ़ती जा रही है। फलस्वरूप स्थिति संतोषप्रद नहीं है। जंगलों की भूमि का घटाना संभव नहीं। भारत में ऐसी भूमि का क्षेत्रफल बहुत कम है। किंतु कृषि के लिए अनुपयुक्त तथा कृषि के योग्य ऊसर भूमि को इस प्रकार सुधारा जा सकता है कि उसमें जंगली वस्तुएँ तथा वृक्ष उपज सकें और इस प्रकार भारतीय भूमि का भार कुछ कम हो जाय। भारत-सरकार इस दिशा में प्रयत्नशील है।

उपज की दर—भारतीय कृषि की उपज की दर क्रमशः घटती जा रही है। यदि हम सन् १९३६–३९ तक की औसत उपज को १०० मानें, तो १९३९–४० की औसत उपज ९९ थी; १९४०–४१ की ९८; १९४१–४२ की ९५; १९४२–४३ की १०५; १९४३–४४ की १०६; १९४४–४५ की १०१; १९४५–४६ की ९९; १९४६–४७ की ९६; और १९४७–४८ की ९७। विभिन्न वस्तुओं की उपज में भी यही कमी पायी जाती है। नीचे दी गयी तालिका से हमें प्रति एकड़ विभिन्न वस्तुओं की घटती हुई उपज की दर का पता चलता है—

वस्तु	औसत उपज १९४०-४५	औसत उपज १९५१-५२
धान	७४५ पौंड	६०५ पौंड
गेहूँ	६७३ "	६१६ "
ज्वार	४४६ "	३०५ "
गन्ना	२९२८ "	२९५९ "
कपास	८७ "	८३ "
जूट	८७२ "	९०८ "
तमाखू	८३५ "	६७० "

इस तालिका से स्पष्ट है कि खाद्य-पदार्थों की उपज की दर कम हो रही है। कुछ वस्तुओं जैसे गेहूँ, धान आदि की उपज की दर चिंताजनक गति से कम हो रही है। आइने-अकबरी से ज्ञात होता है कि अकबर के शासन-काल में प्रति एकड़ १५५५ पौंड गेहूँ उत्पन्न होता था। सन् १९३१ में उपज की दर केवल १००० पौंड रह गयी और आज केवल ६१६ पौंड है।

जब हम भारत की उपज की दर की संसार के अन्य देशों की उपज की दर से तुलना करते हैं, तो भारतीय दर और भी अधिक असंतोष-प्रद प्रतीत होने लगती है। सन् १९३८ में इटली में प्रति एकड़ ४९२८ पौंड धान उत्पन्न होता था और भारत में केवल ८३४ पौंड; जर्मनी में २४६४ पौंड गेहूँ और भारत में ७२८ पौंड। कपास की उपज की दर की भी यही व्यवस्था थी। सन् १९४५-४६ में भारत में प्रति एकड़ ७५ पौंड कपास उत्पन्न हुई थी, पाकिस्तान में १७० पौंड, मिस्र में ५०७ पौंड, सोवियत रूस में २७१ पौंड और मेक्सीको में २३० पौंड। इन सब बातो में स्पष्ट है कि भारतीय कृषि की अवस्था संतोषप्रद नहीं है।

कृषि की अवनत अवस्था के कारण—आधुनिक काल में भारतीय कृषि की अवनत अवस्था के कारणों में निम्नलिखित विचारणीय हैं—

(१) खेतों का छोटा एवं तितर-बितर होना—भारत में खेतो का औसत क्षेत्रफल बहुत कम है। मद्रास (राज्य) में प्रति व्यक्ति एक एकड़ से कम भूमि का हिसाब बैठता है। उत्तर-प्रदेश और बंगाल की अवस्था न्यूनाधिक इसी प्रकार की है। बंबई राज्य के लगभग ५० प्रतिशत खेतों का क्षेत्रफल पाँच एकड़ से कम है और अन्य राज्यों में ६० प्रतिशत खेतों का। इस प्रकार के खेतों की उपज अधिक नहीं हो सकती। उनमें वैज्ञानिक आविष्कारों का

अनभिज्ञ हैं। न वे स्वयं किसी बात को समझ सकते हैं और न पुस्तकों और अखबारों को पढ़कर अपने ज्ञान को बढ़ा सकते हैं। बाहरी जगत से भी उनका किसी प्रकार का संपर्क नहीं होता। अतएव वे अपने ही संकुचित संसार से आच्छादित रहते हैं। न तो वे वृक्षों की बीमारियों को जानते हैं, न पशुओं की बीमारियों को और न अपनी बीमारियों को। वे वैज्ञानिक उन्नति से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। वे अपनी कर्तृत्व-शक्ति को न बढ़ाकर भाग्यवादी बने रहते हैं। अज्ञानता का यह प्रकोप भारतीय कृषि की अवनत अवस्था का एक प्रधान कारण है।

(५) दोषपूर्ण सामाजिक प्रथाएं—पांचवां कारण दोषपूर्ण सामाजिक प्रथाओं का अस्तित्व है। हिंदू कृषकों में जाति-भेद अनिवार्य रूप से पाया जाता है। इस प्रथा के कारण ऊँची जातियों के लोग कुछ कामों को हीन समझते हैं। उत्तराधिकार के नियमों के कारण, पिता की मृत्यु के पश्चात, सब पुत्रों में संपत्ति का बंटवारा हो जाता है। परिणाम-स्वरूप खेत छोटे एवं आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त होते गये हैं। बाल-विवाह, बेमेल-विवाह, स्वास्थ्य के प्रति उदासीनता आदि के कारण, कृषकों का शरीर दुर्बल होता गया है और वे अब उतना काम नहीं कर पाते जितना उनके पूर्वज किया करते थे। समस्त देश में जीवन का दृष्टि-कोण ही आध्यात्मिक है। इसके कारण भारतीय कृषक भी, संसार को असार समझते हैं और अपने परलोक को सुधारने के उद्देश्य से सांसारिक उन्नति की ओर उतना ध्यान नहीं देते जितना वे अन्यथा दे सकते हैं। उपर्युक्त सामाजिक कुप्रथाओं के कारण, भारतीय कृषि का उन्नतिशील न होना एक स्वाभाविक सी बात है।

(६) किसानों की निर्धनता—छठा कारण किसानों की निर्धनता है। हम ऊपर भारतवासियों की औसत आय पर कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। किसानों की औसत् वार्षिक आय इससे कहीं कम थी। सन् १९४९-५० के पूर्व उनकी औसत आय तो और भी कम थी। इसी आय से उन्हें मालगुजारी तथा लगान चुकाना, ऋण का ब्याज अदा करना और सामयिक अवसरों का व्यय सहन करना पड़ता था। अतः बचत का तो कहना ही क्या, उनकी साधारण आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो पाती थीं। निर्धनता के कारण भारतीय किसान अपने को शिक्षित नहीं बना सकते थे। वे न तो अपने खेतों में अच्छे बीज बो सकते थे, न उनमें अच्छी खाद डाल सकते थे और न वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करके खेतों की उपज को बढ़ा सकते थे। भारतीय कृषकों की उक्त

निर्धनता एक प्रकार से स्थायी सी हो गयी है। इसका स्वाभाविक परिणाम कृषि की अवनत अवस्था है।

(७) भूमि का बंदोबस्त—सातवां कारण भूमि का बंदोबस्त है। अच्छा बंदोबस्त वही कहा जा सकता है जिसमें किसान के पास उपज का अधिकांश रह जाय और वह खेत के अपहरण के भय से मुक्त रहा करे। इसके लिए यह आवश्यक है कि किसान को भूमि का मालिक समझा जाय और उससे मालगुजारी टैक्स के रूप में ली जाया करे। स्वतंत्रता के पूर्व भारतीय भूमि का बंदोबस्त इससे सर्वथा भिन्न था। भूमि किसान की न हो कर सरकार की समझी जाती थी और किसान को उसके प्रयोग का किराया अदा करना पड़ता था। रैय्यतवारी बंदोबस्त में किसान और सरकार का प्रत्यक्ष संबंध था, किंतु जमींदारी बंदोबस्त में किसान और सरकार का संबंध बजरिये जमींदार होता था। जमींदारी बंदोबस्त में किसान जमींदार को लगान अदा करता था जो मालगुजारी की अपेक्षा कहीं अधिक होता था। सरकार मालगुजारी को और जमींदार लगान को नगद वसूल करते थे जिसके कारण उपज न होने पर किसानों को यह रकम अपने पास से चुकानी पडती थी। यदि किसान इसे नहीं चुका पाता था तो वह बेदखल कर दिया जाता था। इस परिस्थिति के कारण किसान अपनी भूमि को अच्छा बनाने का प्रयत्न न करता था। सारांश यह कि भारत की अधिकांश भूमि की व्यवस्था उन्नत कृषि के अनुकूल न थी।

(८) अकाल और महामारियाँ—आठवाँ कारण समय-समय के अकालों तथा महामारियों का प्रकोप है। ऐसे समय में न तो किसान को भोजन मिलता है और न उसके पशुओं को चारा। महामारियों के कारण लाखों किसान और उनके पशु मौत के घाट उतर जाते हैं। सारांश यह कि अकाल, महामारी आदि दैविक आपत्तियों से भी भारतीय कृषि की उन्नति में बाधा पड़ती है।

(९) घरेलू उद्योग-धंधों का अभाव—नवाँ कारण घरेलू उद्योग-धंधों का अभाव है। भारतीय किसान साल में कुछ महीने बेकार बैठा रहता है। यदि पहले की भांति देहातों में घरेलू उद्योग-धंधे पुनः आरंभ हो जायँ तो किसानों की बेकारी का अंत हो जायगा, उनकी आमदनी बढ़ेगी, मुकद्दमेबाजी का व्यय बच जायगा और अधिक आय के कारण, खेती में भी कुछ उन्नति होगी। जब तक भारत के देहातों में व्यापक रूप में घरेलू उद्योग-धंधे पुनः आरंभ नहीं होते तब तक यह आशा निर्मूल-सी जान पड़ती है कि भारतीय कृषि उन्नत अवस्था को प्राप्त कर सकेगी।

(१०) सरकारी नीति—दसवाँ कारण कृषि संबंधी सरकारी नीति है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि विदेशी सरकार की भूमि-व्यवस्था संबंधी नीति उन्नत कृषि के अनुकूल न थी। सरकार की अकाल, तकावी आदि की नीति भी इसी प्रकार की थी। बीसवीं शताब्दी में जब अन्य देशों की सरकारें, समाजवादी सिद्धांतों से प्रभावित होकर, अपने-अपने देश की आर्थिक उन्नति में संलग्न थीं, भारत की विदेशी सरकार या तो जांच-पड़ताल कर रही थी या कृषि-सुधार-संबंधी ऐसे दिखावटी काम, जिनका वास्तविक प्रभाव नहीं के बराबर था। फल-स्वरूप भारतीय कृषि अवनत अवस्था में बनी रही।

स्वतंत्र भारत की खाद्य-समस्या—दूसरे महासमर के पूर्व भारत में लगभग १५ लाख टन खाद्य अन्न, विदेशों से, विशेषतया चावल के रूप में आता था। अनावृष्टि के दिनों में वार्षिक आयात की मात्रा २५,००,००० टन तक हो जाती थी किंतु अच्छे बरसों में औसत् से भी कम। विभाजन के कारण अतिरिक्त उपज के प्रदेश पाकिस्तान में चले गये हैं और इस प्रकार भारत में खाद्य अन्न की कमी बढ़ गयी है। सन् १९४८ में २८,००,००० टन अनाज विदेशों से आया था, सन् १९४९ में लगभग ३८,००,००० टन और सन् १९५०-५१ में १७,००,००० टन। सरकार की कृषि-नीति तथा कृषि-सुधार के कार्य इस उद्देश्य से किये जा रहे हैं कि निकट भविष्य में भारत खाद्य अन्न की दृष्टि से स्वपर्याप्त हो जाय।

भारत की खाद्य-समस्या के तीन पहलू हैं—(१) कमी की पूर्त्ति, (२) उपज की वृद्धि और (३) खाद्य-पदार्थों के पौष्टिक गुणों की वृद्धि। कमी की पूर्त्ति अनाज को उगाह कर की जा रही है। वह जनता में न्यायपूर्ण आधार पर बांटा तथा यातायात के साधनों की सहायता से अतिरिक्त प्रदेशों से कमी के प्रदेशों में भेजा जा रहा है। वैज्ञानिक अन्वेषण द्वारा इस बात का प्रयत्न हो रहा है कि अनाजों के पौष्टिक गुणों की वृद्धि हो। सरकार कृषि-सुधार के भी प्रयत्न कर रही है। भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना कृषि-प्रधान है। आशा की जाती है कि इन कामों के कारण भारतीय कृषि की उन्नति होगी और निकट भविष्य में खाद्य अन्न की दृष्टि से, देश स्वपर्याप्त हो जायगा।

स्वतंत्रता के पूर्व कृषि-सुधार के प्रयत्न—स्वतंत्र होने के ५०-६० बरस पहले से ही, भारत-सरकार ने विदेशी होते हुए भी, कुछ ऐसे काम किये थे जिनसे भारतीय कृषि को प्रोत्साहन मिला था। अकाल-कमीशन, सिचाई-कमीशन, कृषि-कमीशन आदि की नियुक्ति करके उसने कृषि-संबंधी बातों की जांच करायी थी और कुछ सिफारिशों को कार्य-रूप में परिणत

करके शासन तथा नियम संबंधी कई सुधार किये थे। सन् १८८० के अकाल कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के अनेक अधिकारी, कृषि संबंधी बातों की जांच, उसकी उन्नति के साधनों का अन्वेषण और अकाल संबंधी समस्याओं का अध्ययन करने लगे थे। सन् १९०३ में पूसा के एग्रीकल्चर रिसर्च इंस्टीट्यूट और एक्सपेरीमेंटल फार्म (Agriculture Research Institute and Experimental Farm) खोले गये थे। भारतीय शासन संबंधी १९१९ के ऐक्ट के अनुसार कृषि हस्तांतरित विषय हो गया था। अतएव उसकी देखभाल प्रांतीय विधान-सभाओं के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों द्वारा होने लगी थी। इन मंत्रियों ने कृषि की उन्नति के लिए कुछ काम भी किये थे। प्रायः प्रत्येक प्रांत में कृषि-कालेज खोले गये थे और कहीं पर किसानों को, उन्हीं के खेतों में वैज्ञानिक ढंग से खेती करके, उन्हें उस प्रणाली के लाभ प्रत्यक्ष रूप से दिखलाये गये थे। किंतु द्वैध शासन-प्रणाली के दोषों के कारण, मंत्री लोग उतना काम न कर सके जितना अन्यथा हो सकता था।

सन् १९२८ में शाही कृषि-कमीशन की सिफारिशों के अनुसार इंपीरियल कौंसिल आफ एग्रीकल्चर रिसर्च स्थापित की गयी। इसका काम समस्त भारत में किये गये कृषि-संबंधी अन्वेषणों का समन्वय करना, अन्वेषकों को शिक्षा देना, वैज्ञानिक लेखों का छापना तथा कृषि-संबंधी सूचना को एकत्रित एवं उसका प्रसार करना था। गत् संसार-व्यापी महासमर में, भारत-सरकार एवं प्रांतीय सरकारों ने "अधिक अन्न उपजाओ" आंदोलन चलाया। महासमर के पश्चात् भी यह आंदोलन उसी प्रकार चलता रहा। अंतःकालीन सरकार के खाद्य-सदस्य डा० राजेंद्र प्रसाद ने अन्न की कमी को दूर करने के लिए एक पंचवर्षीय योजना पर जोर दिया। ११ जनवरी सन् १९४७ को उन्होंने खाद्य-सम्मेलन में अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये थे—"जहाँ तक आर्थिक सहायता का प्रश्न है, साधारणतया भारत-सरकार ने यह फैसला किया है कि 'अधिक अन्न उत्पादन करो' आंदोलन पर जितना भी रुपया खर्च करना पड़े उसमें प्रति रुपया चार आने भारत सरकार, चार आने प्रातीय सरकारें और शेष आठ आने वे लोग दें जिन्हें इस आंदोलन से लाभ पहुँचेगा। आर्थिक सहायता के अलावा भारत-सरकार टेकनिकल और विशेषज्ञों की सलाह उपलब्ध करने की व्यवस्था और इस (पंचवर्षीय) योजना को कार्यान्वित करने के लिए प्रांतों को जिस रूप में भी सहायता की आवश्यकता होगी, उसका प्रबंध करेगी।

सरकार ने केवल कृषि की ही उन्नति के प्रयत्न नहीं किये वरन् उन बातों पर भी ध्यान दिया जिनका कृषि से घनिष्ठ संबंध था। जानवरों के अस्पताल

खोले गये और उनकी बीमारियों का अन्वेषण किया गया। सिंचाई के साधनों की भी उन्नति हुई। नहरों, तालाबों, कुओं के अतिरिक्त नलकूप (Tube wells) भी बनाये जाने लगे। उपज की विभिन्न वस्तुओं के विषय में अलग-अलग अनुसंधान हुए। हक आराजी के कानूनों को बनाकर सरकार ने किसानों को जमींदारों के अत्याचारो और सहकारी समितियों को स्थापित करके उन्हें महाजनों के चंगुल से बचाने तथा मिलकर काम करने के लिए प्रोत्साहित किया। ग्राम-सुधारों के कामों द्वारा सरकार ने किसानो की शिक्षा तथा ग्राम्यीय जनता की सामाजिक एवं नैतिक अवस्था सुधारने का प्रयत्न किया। सेंट्रल मारकेटिंग परामर्शदाता तथा इसी प्रकार के प्रांतीय अधिकारियों के प्रयत्नों के कारण कृषि की उपज को श्रेष्ठतर रीति से बेचने का भी प्रयत्न किया गया।

सरकार के अतिरिक्त कुछ गैर-सरकारी संस्थाएं भी भारतीय कृषि और कृषकों की उन्नति के प्रयत्न कर रही थीं। सन् १९३७ की चुनाव-घोषणा के अनुसार कांग्रेस का ध्येय "बंदोबस्त, लगान व मालगुजारी में काफी कमी कराना है, ऐसी जमीनों का लगान बिल्कुल माफ कराना है जिनसे किसानों को कोई फायदा नहीं है तथा काश्तकारी की जमीन के बोझ को उचित रीति से कम कराना है।" कांग्रेस किसानों की कर्ज-अदायगी के मुल्तवी करने, कर्ज को कम करने तथा ऐसे नियमों को बनाने के पक्ष में थी, जिनके द्वारा किसानों को सरकार से कम ब्याज पर ऋण मिल सके। कांग्रेसी शासन-काल में कुछ प्रांतों में इस प्रकार के नियम बनाये गये और उन पर अमल भी हुआ। कांग्रेस समाजवादी दल भी किसानों और मजदूरों की अवस्था सुधार करके, उनका राज स्थापित करना चाहता था। स्वयं किसान भी इन दिनों अकर्मण्य न थे। किसानों की कम से कम मांगें निम्नलिखित थीं—(१) जमींदारी प्रथा का नाश किया जाय; (२) वर्त्तमान लगान तथा मालगुजारी के स्थान पर ५००) या उससे अधिक खेती की आय पर टैक्स की व्यवस्था की जाय और इससे कम आय वाले खेतों को लगान तथा मालगुजारी से मुक्त कर दिया जाय। (३) पुराने ऋणों से छुटकारा दिलाया जाय और नये ऋणों की व्यवस्था की जाय (४) भूमि-रहित किसानों के लिए भूमि की व्यवस्था की जाय। (५) आबपाशी की दर में ५० प्रतिशत् कमी की जाय। (६) बेगार, नजराना आदि की कुप्रथाएं बंद कर दी जायँ। इन मांगों की पूर्ति के लिए किसान-आंदोलन चलाये गये। कभी-कभी किसानों ने सत्याग्रह तक का सहारा पकड़ा। किंतु उनकी वास्तविक अवस्था में स्वतंत्रता के पूर्व कोई उल्लेखनीय परिवर्तन न हो सका था।

स्वतंत्रता के पश्चात कृषि-सुधार—स्वतंत्र होने के पश्चात भारतीय संघ और उसके अंग किसानों की दशा सुधारने में संलग्न हैं। साधारणतया कृषि की देखभाल संघांतरित राज्यों की सरकारें करती हैं। संघीय कृषि-विभाग राज्यों के कामों का समन्वय तथा कृषि और उससे संबंधित विषयों के अन्वेषण कराता है। सरकार द्वारा किये गये निम्नलिखित काम उल्लेखनीय हैं—

(१) **मौजूदा कृषि-भूमि से अधिक उत्पादन का प्रयत्न**—हम ऊपर बतला चुके हैं कि अन्य देशों की अपेक्षा भारतीय कृषि-भूमि की उपज की दर बहुत कम है। सरकार इस बात का प्रयत्न कर रही है कि उपज की दर बढ़े। इस उद्देश्य से उसने सिंचाई का प्रबंध किया है और बांध आदि को बनाकर भूमि की उन्नति का प्रयत्न। उसने अच्छे बीज बांटे तथा कंपोस्ट और रसायनिक खादों का प्रबंध किया है। पौधों को बीमारियों से बचाने के उद्देश्य से उसने अन्वेषण प्रयोग-शालाएं स्थापित की हैं। कहीं-कहीं नलकूप भी बनाये गये हैं। इस संबंध में पंजाब, उत्तर-प्रदेश और बिहार की योजना इस प्रकार है—

राज्य	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५१-५२	योग
पंजाब	४००	४५०	६००	१४५०
उत्तर-प्रदेश	१४५	६५०	८५०	१९१५
बिहार	४००	४००	४००	१२००
योग	१२१५	१५००	१८५०	४५६५

पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जिलों में १६६० नलकूप बनाये जायंगे।

(२) **कृषि योग्य परती भूमि को हल के तले लाना**—सरकार का दूसरा काम ऐसी भूमि को हल के तले लाना है जिसमें आजकल जंगली घास उगी हुई है और जिसे किसान स्वयं जोतने और बोने में असमर्थ है। इस उद्देश्य से केंद्रीय ट्रैक्टर संगठन (Central Tractor Organisation) की स्थापना की गयी है। इसका काम ऐसी भूमि का जोतना है जो जंगली घास के कारण अभी तक हल के तले नहीं आयी है। उत्तर-प्रदेश, बिहार, मध्य-भारत, राजस्थान आदि राज्यों में इस प्रकार की लाखों एकड़ भूमि कृषि योग्य बन चुकी है और भविष्य में बनायी जायगी।

(३) **सिंचाई का प्रबंध**—कृषि और सिंचाई का घनिष्ठ संबंध है। इस उद्देश्य से सरकार ने कई ऐसी योजनाएं बनायी हैं जिनसे विद्युत के उत्पादन के साथ-साथ सिंचाई में भी सहायता मिले। जिन योजनाओं पर काम हो रहा है

उनके नाम इस प्रकार हैं—दामोदर घाटी योजना; हीरा कुंड-योजना; रिहंद-योजना; यमुना-घाटी योजना आदि। योजनाओं की पूर्ति के पश्चात लाखों एकड़ भूमि कृषि योग्य बन जायगी। सरकार नयी नहरें भी बना रही है। नल-कूपों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

(४) कृषि की उन्नति के लिए सरकार ने खाद की फैक्टरियां खोलो तथा अच्छे बीजों के वितरण की व्यवस्था की है। किसानों के ज्ञान के लिए उसने ऐसे केंद्र स्थापित किये हैं जहा पर वे उत्तम उपज को देख सकें। उसने औजारों को श्रेष्ठतर बनाने तथा जानवरों की बीमारियो के दूर करने का भी प्रयत्न किया है। खाद्य अन्न के साथ-साथ तरकारियों की भी उपज बढ़ाने का प्रयत्न हो रहा है।

(५) जमींदारी उन्मूलन—कृषकों की अवस्था सुधारने के लिए भारत के विभिन्न राज्य या तो जमींदारी-उन्मूलन ऐक्ट को पास कर चुके हैं या तत्संबंधी प्रस्तावों पर विचार कर रहे हैं। अपनी १९४५-४६ की चुनाव-घोषणा में, कांग्रेस ने भूमि-बंदोबस्त और कृषि के संबंध पर प्रकाश डालते हुए इस बात पर जोर दिया था कि किसानों और सरकार के मध्य में स्थित वर्गों का अंत प्रतिकर देकर किया जायगा। अतएव विभिन्न राज्यों में जमींदारी उन्मूलन ऐक्ट पास किये गये हैं। उत्तर-प्रदेश के विधान-मंडल द्वारा स्वीकृत जमींदारी उन्मूलन-ऐक्ट की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(अ) जमींदारी उन्मूलन कानून का उद्देश्य राज्य और किसानों के बीच में पड़ने वाले सभी मध्यस्थों को हटाकर किसानों की हित-साधना तथा राज्य के उत्पादन में वृद्धि करना है। अनुभव द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि जब तक भूमि के बंदोबस्त में इस प्रकार के परिवर्तन न होंगे तब तक कृषकों और कृषि की उन्नति की कोई भी योजना सफल न होगी।

(ब) जमींदारी का अंत प्रतिकर दे कर किया जायगा। प्रतिकर की रकम का निर्णय मुनाफे के आधार पर किया जायगा। जमींदारों को मुनाफे का अठ-गुना प्रतिकर के रूप में मिलेगा। बड़े जमींदारों को यह रकम किस्त द्वारा चुकायी जायगी।

(स) ५००० रुपये से अधिक मालगुजारी देने वाले जमींदारों के अति-रिक्त शेष सब जमींदारों को प्रतिकर के अतिरिक्त निम्नलिखित दर से पुनर्वास की रकम मिलेगी—

२५) तक के	मालगुजार को	मालगुजारी का			२० गुना
२५) से ५०)	”	”	”		१७ गुना
५०) से १००)	”	”	”		१४ गुना
१००) से २५०)	”	”	”		११ गुना
२५०) से ५००)	”	”	”		८ गुना
५००) से २०००)	”	”	”		५ गुना
२०००) से ३५००)	”	”	”		३ गुना
३५००) से ५०००)	”	”	”		२ गुना

(द) वह भूमि जो जमींदारों के हल के तले है और उनके बाग व मकान व निजी इस्तेमाल के कुंएँ उनके लिए छोड़ दिये जायँगे। इनके द्वारा वे किसी का शोषण नहीं करते हैं। वे इनके भूमि-धर समझे जायँगे। ऐक्ट के पास होने के पाँच बरस पश्चात् कोई व्यक्ति अधिवासी न रह जायगा। वह १५ गुना लगान दे कर भूमिधर बन सकेगा। सब सीरदार १० गुना लगान देकर तुरंत ही भूमि-धर बन सकते हैं। इस उद्देश्य से जमींदारी उन्मूलन-कोष चलाया गया है। यदि कोई सीरदार इस समय भूमिधर नहीं बनता, तो उसका भूमि पर पूर्ववत् अधि-कार बना रहेगा, पर वह भूमि संबंधी उन रिआयतों से वंचित रहेगा जो भूमिधरों को दी गयी हैं।

(य) भूमिधर को कई रिआयतें दी गयी हैं। वह बकाया लगान व किसी हालत में बेदखल न किया जा सकेगा। उसका लगान तुरंत ही आधा हो जायगा। उसके लगान की हैसियत मालगुजारी की हो जायगी और ४० वर्ष तक किसी प्रकार भी न बढ़ सकेगी। उसे अपनी सब जमीन या उसके भाग के बेचने का अधिकार होगा। वह नजराना आदि देने से बच जायगा और लगान का दस गुना देकर ही भूमि का मालिक बन जायगा। खेती के अतिरिक्त वह अपनी भूमि का दूसरे ढंग से भी प्रयोग कर सकेगा; अर्थात् वह उस पर किराये के मकान बनवा सकेगा अथवा उसे बेच या दान दे या वसीयत कर सकेगा। वह सब प्रकार से अपनी भूमि का मालिक होगा।

(६) सहकारिता आंदोलन का प्रचार—किसानों में सहकारिता आंदोलन का प्रचार बढ़ रहा है। शाही-कृषि-कमीशन ने इसकी आवश्यकता पर बड़ा जोर दिया था। उसके मतानुकूल "यदि सहकारिता आंदोलन असफल रहा तो ग्राम्यीय-जनता की सर्वश्रेष्ठ आशा असफल रहेगी"। फलस्वरूप सहकारिता आंदोलन आरंभ हुआ। गत पाँच वर्षों में उसकी बड़ी उन्नति हुई है। इस समय (सन्

१९५१ में) उसके सदस्यों की संख्या लगभग १२६,००००० , सोसाइटियों की संख्या लगभग १६९९५० और पूँजी २,३३,००,००,००० रुपया है।

सहकारी-बंकों से किसानों को कम ब्याज पर ऋण मिल जाता है। उत्तर-प्रदेश में प्रत्येक बीज-भंडार को केंद्र मानकर उसके आस-पास के १०-१५ गांवों का विकास-क्षेत्र बनाया गया है और उसमें बहुधंधी समितियाँ संगठित की गयी हैं। विकास-क्षेत्रों की समितियो का एक यूनियन बनाया गया है जो जिला फेडरेशन द्वारा उत्तर प्रदेशीय राज्य फेडरेशन से संबद्ध है। इस प्रकार सब गाँव सहकारी श्रृंखला में आ गये हैं। ये समितियाँ इस समय कृषि-उत्पादन में वृद्धि के लिए अच्छे बीज, खाद, खेती के उन्नत औजारों आदि का प्रबंध कर रही हैं। भविष्य में इनसे बिक्री, पशुओ के सुधार, घरेलू उद्योग-धंधों के संगठन आदि में भी सहायता ली जायगी। अब तक २२०० विकास-क्षेत्रों को बनाकर १८,००० गाँवों में बहुधंधी सहकारी समितियों की स्थापना हो चुकी है। गन्ने की खेती, खेतों की चकबंदी तथा घी-दूध के लिए भी सहकारी-समितियों का प्रयोग क्रमशः बढ़ रहा है। उपभोक्ताओं की सुविधा के लिए, उपभोक्ता-सहकारी-समितियों की स्थापना हो रही है। जो अवस्था उत्तर-प्रदेश की है वही दूसरे राज्यों की भी है। सहकारिता आंदोलन के प्रोत्साहन के लिए सरकार ने अन्न उगाहने तथा उसके वितरण के काम को सहकारी समितियों को सौंपा है।

(७) देहाती जनता में शिक्षा का प्रचार—कृषकों की अवस्था सुधारने के लिए देहाती जनता में शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा है। इस संबंध में दो योजनाएँ काम कर रही हैं। पहली का संबंध कम अवस्था के बालकों और बालिकाओं से है। उन्हें बुनियादी शिक्षा के अनुसार शिक्षित बनाया जा रहा है। प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए सामाजिक शिक्षा की योजना बनायी गयी है और उस पर अमल भी हो रहा है। योजना के अनुसार आगामी पाँच बरस में १२ बरस से ४० बरस तक के ५० प्रतिशत प्रौढ़ों को शिक्षित बनाया जायगा। यदि ये दोनों योजनाएँ सफलतापूर्वक कार्यान्वित हो गयीं, तो देहाती जनता में शिक्षा का प्रचार बढ़ेगा और वह अपनी अवस्था को सुधारने में सफल होगी।

(८) घरेलू दस्तकारियों का पुनरुत्थान—किसानों की अवस्था सुधारने के लिए यह भी आवश्यक है कि उनका समय व्यर्थ न जाय। अतः घरेलू दस्तकारियों को पुनर्जाग्रत किया जा रहा है। इनका विवरण आगे दिया जायगा।

(९) पंचायतों की स्थापना—देहाती जनता की उन्नति के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमें स्वावलंबन का गुण आ जाय। इस उद्देश्य से प्रायः सभी

प्रांतों में ग्राम-शासन संबंधी नये कानून स्वीकृत हुए हैं। उत्तर प्रदेश का पंचायत-राज-ऐक्ट सन् १९४७ में स्वीकृत हुआ है। उसका उद्देश्य गांवों में स्वशासन की संस्थाएं स्थापित करके उनके शासन का अच्छा प्रबंध करना है। इस उद्देश्य से हजारों गांव सभाएं और अदालती पंचायतें स्थापित हो चुकी हैं। उनके निरीक्षण की समुचित व्यवस्था की गयी है। इनका ब्यौरेवार विवरण स्थानीय स्वशासन के परिच्छेद में दिया जायगा।

कृषक-मजदूर—कृषि संबंधी जितनी बातें ऊपर बतलायी गयी हैं, उनका संबंध मुख्यतः उन कृषकों से है जिनके पास अपनी भूमि है। इनके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के कृषक भी पाये जाते हैं। इनके पास अपनी भूमि नहीं होती और यदि होती भी है तो इतनी कम कि उससे इनकी जीविका नहीं चल सकती। अतः ये दूसरों के खेतों में मजदूरी करके कृषि-कार्य किया करते हैं। ऐसे लोगों की संख्या नित्यप्रति बढ़ती जाती है। इन्हें साल भर तक काम नहीं रहता। अतः इनका बहुत-सा समय व्यर्थ जाता है। इनमें अपने काम की लगन भी नहीं पायी जाती। भारत के अन्य मजदूरों की भांति ये भी कम काम और अधिक पारिश्रमिक के इच्छुक हैं। परिणाम-स्वरूप इनकी मजदूरी तो बढ़ती जाती है पर उत्पादन की दर में तदनुकूल वृद्धि नहीं होती। इन लोगों की समस्याएं प्रायः वे ही हैं जो अन्य कृषकों की। इनकी दशा सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि इन्हें अपने काम के उत्तरदायित्व का ज्ञान कराया जाय और यथासंभव इन्हें इतनी भूमि दी जाय कि ये भूमिरहित न रहकर भूमि से संबद्ध हो जायं और अपने कामों को बेगार न समझ कर उत्तरदायित्व की भावना से करें। आचार्य विनोबा भावे द्वारा चलाया गया भूदान आंदोलन इस दिशा में एक महान प्रयोग है। लाखों बीघा भूमि दान-स्वरूप मिल चुकी है। यह निश्चित सिद्धांतों के अनुसार उन लोगों में विभाजित की जायगी जो आजकल भूमिरहित कृषक अथवा कृषक-श्रमजीवी है।

भारतीय कृषि का भविष्य—सुधार के जिन प्रयत्नों का ऊपर विवरण दिया गया है, वे इतने व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके प्रभाव के संबंध में दो मतों का होना असंभव है। उनके द्वारा वैज्ञानिक कृषि, उत्तम बीज और खाद, सिंचाई, किसानों में परस्पर सहयोग, सरकारी सहायता आदि सभी बातों की व्यवस्था की गयी है। जिमींदारी उन्मूलन तथा ऋण-संबंधी नियमों द्वारा किसानों की रक्षा का प्रबंध किया गया है और पंचायत राज ऐक्टों, शिक्षा-प्रसार और स्वास्थ्य-संबंधी बातों के प्रचार द्वारा उनकी सामाजिक उन्नति का। यदि सरकार की यह मनोवृत्ति कुछ दिनों तक बनी रही और किसानों तथा भारत की

देहाती जनता ने उससे यथेष्ट मात्रा में लाभ उठाया, तो यह आशा निर्मूल नहीं कि निकट भविष्य में भारतीय कृषि उन्नत अवस्था में होगी और भारत, खाद्य-सामग्री और कच्चे माल दोनो की दृष्टि से स्वपर्याप्त हो जायगा।

भारतीय उद्योग-धंधे—भारतीयों का दूसरा महत्त्वपूर्ण व्यवसाय दस्तकारियाँ हैं। आधुनिक काल की भारतीय दस्तकारियाँ दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं-(१) मीलों की दस्तकारियाँ और (२) हाथ की दस्तकारियाँ। हाथ की दस्तकारियों के लिए भारत अति प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा है। मीलों की दस्तकारियाँ आरंभ करने का श्रेय अंगरेजी पूँजीवाद को है। इसी का अनुकरण करके भारतीय पूँजीवाद भी औद्योगीकरण के मार्ग पर अग्रसर हुआ और यद्यपि उसे सरकारी सहानुभूति प्राप्त न थी, तो भी राष्ट्रीय जागृति के कारण, उसे बड़ा प्रोत्साहन मिला और कालांतर में वह विदेशी पूँजीवाद का भयंकर प्रतिद्वंदी बन गया। मौजूदा काल में भारत की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण मीलों की दस्तकारियां या तो विदेशी पूँजीपतियों के हाथ में हैं या भारतीय पूँजी-पतियों के हाथ में। उनकी काफी उन्नति भी हो चुकी है। पर देश के साधनों और उसकी आवश्यकताओं को देखते हुए उनका अभी तक समुचित विकास नहीं हुआ है।

भारत की दस्तकारियों का आधुनिक विकास—भारत की दस्तकारियों का आधुनिक विकास सन् १८५०–५५ से आरंभ होता है। इन्हीं दिनों पहला रुई का मील, पहला जूट का मील और पहली रेलवे लाइन बनी थी और पहले-पहल कोयले का खोदा जाना आरंभ हुआ था। क्रमशः इन दस्तकारियों का विकास होने लगा है। सन् १९१४ में युरोपीय महासमर आरंभ हुआ। भारतीय दस्तकारियों के विकास के लिए यह एक अच्छा अवसर था। यदि भारत-सरकार चाहती, तो युद्ध-काल में ही भारत का औद्योगीकरण हो जाता; किंतु ऐसा न हो सका। युद्ध-काल की आवश्यकताओं के कारण किंचित् काल के लिए सरकार ने कुछ सहानुभूति अवश्य दिखलायी किंतु युद्ध समाप्त होने के पश्चात् पुरानी मनोवृत्ति पुनः आ गयी और विदेशी पूँजीवाद के आक्रमण के कारण भारत की बढ़ती हुई दस्तकारियों की अवस्था शोचनीय हो गयी। युद्ध-काल में लोहे, जूट, चमड़े, ऊनी और सूती कपड़ों की दस्तकारियों की अच्छी उन्नति हुई, किंतु युद्ध के पश्चात्, आर्थिक संकट के काल में, बहुत सी कंपनियाँ टूट गयीं; यहाँ तक कि टाटा आयरन और स्टील (Tata Iron and Steel) कंपनी को भी चिंतायुक्त समय बिताना पड़ा। निम्नलिखित तालिका से हमें सन् १९२२–२३,

और सन् १९३८-३९ में भारतीय दस्तकारियों की तुलनात्मक स्थिति का पता चलता है—

दस्तकारी	१९२२-२३.	१९३८-३९.
सीमेंट	१९,३०० टन	१,७०,००० टन
कोयला	१,९०,००,००० टन	२,८३,००,००० टन
रुई	१,७१,३५,००,००० गज़	४,२६,९३,००,०००गज
जूट	१,१८,७५,००,००७ गज़	१,७७,४०,००,०००गज
दियासलाई	१,६५,००,००० ग्रुस	२,११,००,००० ग्रुस
कागज़	२३,५७६ टन	५९,१९८ टन
कच्चा लोहा	४,५५,००० टन	१५,७५,५०० टन
शक्कर	८४,००० टन	१०,४०,००० टन
सलफ्यूरिक एसिड	५,२९,६०० हंडरवेट	६,०७,००० हंडरवेट
ईस्पात	१,३१,००० टन	९,७७,४०० टन

सन् १९३९ में दूसरा महासमर आरंभ हुआ। युद्ध में जापान की शत्रुता के कारण भारत का स्थान और भी महत्त्वपूर्ण हो गया और भारतीय दस्तकारियों को, युद्ध की आवश्यकताओं के कारण, पुनः प्रोत्साहन मिला। युद्ध-काल में यह विदित हो गया कि भारतीय दस्तकारियाँ बाहर से आनेवाली मशीनों और दवाइयों पर सर्वथा निर्भर थीं और इनके अभाव में भली भांति स्थापित दस्तकारियों की अवस्था भी शोचनीय हो सकती थी। फिर भी युद्ध-काल में भारतीय दस्तकारियों की अच्छी उन्नति हुई। नीचे दी गयी तालिका से हमें सन् १९३८-३९ के आधार पर दस्तकारियों की वृद्धि का पता चलता है—

दस्तकारी	१९३८-१९३९	१९३९-१९४१	१९४०-१९४१	१९४१-४२	१९४२-४३
लोहा और ईस्पात	१००	११०	१२५	१५०	२००
रुई	१००	८४	१००	१५३	९२
जूट	१००	१०६	९१	१०३	८५
शक्कर	१००	१९१	१६८	१२०	१६३
कागज़	१००	११८	१४९	१५९	११२
बिजली का सामान	१००	१०९	११५	१३५	१३५

इस युद्ध के काल में भी भारत की विदेशी सरकार ने देश के औद्योगीकरण के प्रति वह सहानुभूति नहीं दिखलायी जो ऑस्ट्रेलिया और केनाडा की सरकारों ने अपने देशों के प्रति दिखलायी थी। यद्यपि ऑस्ट्रेलिया के प्राकृतिक साधन भारत की अपेक्षा हीन थे तो भी सरकार के प्रयत्नों और ब्रिटिश और अमरीकन पूँजीपतियों के सहयोग के कारण दो ही साल में ऑस्ट्रेलिया में हवाई जहाज़, बेतार (Wireless) की मशीनें तथा दूसरी वस्तुएँ इतनी मात्रा में बनने लगीं कि उनका आयात बंद हो गया। कैनाडा की सरकार ने चार कॉरपोरेशनों को हवाई जहाज़, शेल (Shell), बंदूक और औज़ार बनाने के लिए स्थापित किया। किंतु भारत में न तो हवाई जहाज़ बन सके, न मोटर और न इंजन। ऐसी परिस्थिति का प्रधान कारण सरकार की ओर से पर्याप्त सहायता और सहानुभूति और प्रोत्साहन का अभाव था।

भारत के औद्योगीकरण के न होने के कारण—भारत में छोटे पैमाने की दस्तकारियों के स्थान पर बड़े पैमाने की दस्तकारियों के आरंभ तथा विकास में बहुत समय लगा है। इसके निम्नलिखित प्रधान कारण हैं—

(१) मशीन विषयी बुद्धि की कमी—पहला कारण भारतीयों में मशीन विषयी बुद्धि की कमी है। मशीनों के बनाने एवं तत्संबंधी बुद्धि के विकास के लिए यह आवश्यक है कि जीवन के दृष्टिकोण में सांसारिकता हो, लोग विवेकवादी हों और उनका मस्तिष्क किसी प्रकार के अंध विश्वासों से जकड़ा हुआ न हो। इंगलैंड में मशीनों का बनना उसी समय आरंभ हुआ था जब धर्म-जनित बौद्धिक बंधन शिथिल हो गये थे, इंगलैंड के नाविक भारत और अमरीका पहुँच गये थे और अंगरेज़ों में धनी होने की प्रबल कामना जाग्रत हो चुकी थी। भारत की परिस्थिति, १९वीं शताब्दी के अंतिम चरण के पूर्व, इस प्रकार की न थी। भारतीय जीवन में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उसके कारण जनता की बुद्धि जकड़ी हुई थी और सांसारिकता तथा जोखिम के सामना करने की हिम्मत के अभाव में, लोगों में मशीन-विषयी बुद्धि की कमी थी।

(२) शांति और व्यवस्था का अभाव—दूसरा कारण देश में शांति और व्यवस्था का अभाव था। जिन दिनों इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति हो रही थी, भारत, मुग़ल साम्राज्य के पतन के कारण, अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था जो परस्पर लड़ा तथा एक दूसरे को हानि पहुँचाया करते थे। यह परिस्थिति औद्योगीकरण के अनुकूल न थी। शांति और व्यवस्था तथा जीवन की स्थिरता के बिना, दस्तकारियों के आरंभ तथा विकास की आशा निर्मूल है।

(३) भारतीयों का देश के बाहर न जाना—तीसरा कारण, भारतीयों की अपने देश के बाहर न जाने की प्रथा थी। भारत के हिंदू-समाज की यह धारणा थी कि देश के बाहर जाने से मनुष्य धर्म-भ्रष्ट हो जाता है। अतएव इंगलैंड के अधीन होने पर भी, भारत के बहुत कम निवासी इंगलैंड जाते तथा जा सकते थे। इंगलैंड के आर्थिक जीवन से संपर्क स्थापित करके तथा इंगलैंड के औद्योगीकरण का अनुकरण करके यह संभव था कि भारत का भी औद्योगीकरण हो जाता। किंतु देश के बाहर न जाने की प्रथा के कारण विदेशी संपर्क तथा अनुकरण को भी प्रोत्साहन न मिल सका।

(४) भारतीय पूँजीपतियों की मनोवृत्ति—चौथा कारण, भारतीय पूँजीपतियों की मनोवृत्ति थी। पूँजीवाद का विकास साधारणतया तीन मंजिलों में होता है। पहली को व्यापारिक पूँजीवाद (Commerical Capitalism), दूसरी को औद्योगिक पूंजीवाद (Industrial Capitalism), और तीसरी को वित्तीय पूंजीवाद (Financial Capitalism) कहते हैं। साधारणतया लोग पहले अपनी पूंजी को व्यापार में लगाते हैं। इसमें पूंजी के विलीन हो जाने का भय बहुत कम होता है और थोड़ी ही पूंजी से लंबा कारबार आरंभ किया जा सकता है। अधिक उत्साही लोग व्यापार में न फँसकर, अपनी पूंजी से मीलें खोलते तथा दस्तकारियाँ करते हैं और इनसे भी अधिक उत्साही लोग अपनी पूंजी को धनोपार्जन के लिए देश-विदेश में जाकर लगाते हैं। किसी देश के औद्योगीकरण के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ के पूजीपतियों की मनोवृत्ति दूसरे तथा तीसरे प्रकार की हो। किंतु बहुत दिनों तक भारतीय पूंजीपतियों की मनोवृत्ति व्यापारिक पूंजीपतियों की सी थी। अतएव देश के औद्योगीकरण में विलंब हुआ।

(५) कारीगरों की कमी—पांचवां कारण, कुशल कारीगरों की कमी थी। मैनेजर और इंजीनियर तो विदेशों से बुलाये जा सकते थे, किंतु फोरमैन तथा मशीनों के चलाने वाले नहीं। भारत में ऐसे कारीगरो की भी कमी थी। अतः औद्योगीकरण में विलंब का होना स्वाभाविक था।

(६) विदेशी दस्तकारियों की प्रतिद्वंदता—छठा कारण विदेशी दस्तकारियों की प्रतिद्वंदता थी। जिन देशों का औद्योगीकरण, पहले हो चुका था वहाँ श्रेष्ठतर मशीनों का प्रयोग होता था और बड़े पैमाने पर सस्ती और अधिक अच्छी वस्तुएं बनायी जाती थीं। उनकी अपेक्षा भारतीय दस्तकारियाँ पिछड़ी हुई तथा अधिक व्यय-साध्य थीं। भारत एक ऐसे देश के अधीन था जिसका

औद्योगिक विकास सर्वप्रथम हुआ था और जो अपने माल को भारतीय बाजारों में बिना रोक-टोक बेंच सकता था। भारतीय दस्तकारियों के लिए उसके मुकाबले में ठहरना कठिन था। अतएव भारत के औद्योगीकरण में विलंब हुआ।

(७) सरकारी नीति—सातवां कारण, भारत-सरकार की नीति थी। जिस समय भारत का शासन-सूत्र ब्रिटिश सरकार के हाथ में आया, वह आर्थिक बातों में हस्तक्षेप न करने की नीति को अपना चुकी थी। यही नीति भारत पर भी लादी गयी, यद्यपि देश की स्थिति इंगलैंड से भिन्न थी और अहस्तक्षेप की नीति, देश के लाभ की दृष्टि से, सर्वदा अनुपयुक्त थी। प्रथम युरोपीय महासमर के काल में भारत-सरकार को हस्तक्षेप की नीति को छोड़कर, राज्य के प्रबंध में, राज्य की सहायता से, दस्तकारियों को बढ़ाना पड़ा। सरकार ने भारतीय उद्योग-कमीशन (Industrial Commission) को नियुक्त करके, दस्तकारियों और तत्संबंधी प्रश्नों की जाँच करायी और उसने यह सिफारिश की कि भविष्य में सरकार को दस्तकारियों के विकास में सक्रिय सहयोग प्रदान करना चाहिये। किंतु लड़ाई के समाप्त होने पर यह परिस्थिति बदल गयी और विदेशी प्रतिद्वंदता के सामने, भारत की युद्ध-कालीन विकसित दस्तकारियाँ क्रमशः लुप्त होने लगीं। भारतीय शासन-संबंधी सन् १९१९ के ऐक्ट के अनुसार दस्तकारियों का विषय हस्तांतरित विषय निर्धारित हुआ और दस्तकारियो की देखभाल प्रांतीय विधान-सभाओं के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों द्वारा होने लगी। किंतु दोषपूर्ण कार्य-विभाजन के कारण, उत्तरदायी मंत्री भी दस्तकारियों के यथोचित विकास में असफल रहे।

भारतीय शासन-संबंधी सन् १९१९ के ऐक्ट के प्रारूप पर विचार करते समय संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी ने आयात-निर्यात कर संबंधी स्वाधीनता (Fiscal Autonomy Convention) की प्रथा की सिफारिश की थी। उसका विचार था कि भारत को इस संबंध में ग्रेट ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कैनाडा और दक्षिणी अफ्रीका का सा स्थान मिलना चाहिये। कमेटी की राय थी कि यदि किसी विषय में भारतीय विधान-मंडल और भारत-सरकार एकमत हों, तो भारत-मंत्री को, जहाँ तक संभव हो, उनके निर्णय में हस्तक्षेप न करना चाहिये। हस्तक्षेप केवल उसी समय होना चाहिये जब भारत-सरकार के निर्णय का साम्राज्य के किसी अंतर्राष्ट्रीय इकरारनामें पर या साम्राज्य के अंतर्गत् किसी ऐसे समझौते पर, जिसमें सम्राट की सरकार सम्मिलित है, कुप्रभाव पड़ता हो। सन् १९२१ में भारत-मंत्री ने इस सिफारिश को स्वीकार किया और उसी साल

भारत-सरकार की आयात-निर्यात-कर-नीति की जाँच करने के लिए आयात-निर्यात-कर कमीशन (Fiscal Commission) नियुक्त हुआ। कमीशन ने मुक्त वाणिज्य की नीति को, जो भारत पर देश की स्थिति का विचार किये बिना लादी गयी थी, छोड़कर विवेकात्मक संरक्षण (Discriminate protection) की सिफारिश की। इसका तात्पर्य यह था कि उन दस्तकारियों को संरक्षण दिया जाय जिनके लिए देश में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता थी, जो संरक्षण के बिना या तो उन्नति या इतने वेग से उन्नति न कर सकती थीं जितनी देश के हित के लिए आवश्यक थी और जो कालांतर में संसार की प्रतिद्वंदता का सामना कर सकती थीं। इस सिफारिश को कार्य-रूप मे परिणत करने के लिए, सन् १९२३ में भारतीय लेजिस्लेटिव असेंबली ने टैरिफ बोर्ड (Tariff Board) के नियुक्त करने का प्रस्ताव पास किया और कुछ दिनों के पश्चात्, भारत-सरकार ने विभिन्न दस्तकारियों की जाँच के लिए, अलग-अलग टैरिफ बोर्डों को नियुक्त करना आरंभ कर दिया। इनमें सभापति के अतिरिक्त एक या दो अन्य सदस्य होते थे और ये किसी विशेष दस्तकारी की जांच करके, इस बात की सिफारिश करते थे कि उसे विवेकात्मक संरक्षण (Discriminatory Protection) दिया जाना चाहिये अथवा नहीं।

सन् १९२३ में इस प्रकार भारत के आर्थिक जीवन का नया युग आरंभ होता है। इस साल तक भारत-सरकार को मुक्त वाणिज्य के सिद्धात का अनुसरण करना पड़ता था। सन् १९२३ में दस्तकारियों के संरक्षण का सिद्धांत स्वीकार कर लिया गया और कालांतर में, टैरिफ बोर्डों की सिफारिश पर, लोहे और ईस्पात, रूई, शक्कर, कागज, दियासलाई, कांच आदि की दस्तकारियों को संरक्षण दिया गया, जिसके कारण उनकी अच्छी उन्नति हुई। किंतु इतने से ही संतोष-प्रद स्थिति का होना असंभव था। तिसपर, भारतीय असेंबली के विरोध करने पर भी, भारत-सरकार ने इस देश पर, साम्राज्य के देशों के साथ रिआयत (Imperial Preference) का सिद्धांत लागू किया। टैरिफ बोर्ड भी अपने काम को उस ढंग से न कर सके जिसकी आशा की गयी थी। आवश्यकता इसबात की थी कि एक स्थायी बोर्ड नियुक्त किया जाता और उसे दस्तकारियों के संरक्षण के संबंध में सिफारिश करने का अधिकार मिलता। आयात-निर्यात-कर संबंधी कमीशन की सिफारिश इसी आशय की थी। संरक्षण के सिद्धांत के स्वीकार हो जाने पर भी, भारत-सरकार ने, उसे देश की दस्तकारियों पर, उस उत्साह से, लागू नहीं किया जिसकी आवश्यकता थी। इतना ही नहीं, उसने कैनाडा और ऑस्ट्रेलिया की सरकारों की भाँति, देश की

दस्तकारियो को न तो आर्थिक सहायता दी और न उनके चलाने का उत्तरदायित्व ही अपने ऊपर लिया। विनिमय-दर द्वारा भी उसने देश की दस्तकारियों के उत्थान में सहायता नहीं पहुँचायी। राष्ट्रवादियों के मतानुकूल रुपये की १६ पेस की दर भारतीय दस्तकारियों के अनुकूल न होकर प्रतिकूल ही थी।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय दस्तकारियॉ—स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय दस्तकारियों का नया युग आरंभ होता है। इसमें संदेह नहीं कि विभाजन के दुष्परिणामों के कारण देश के औद्योगीकरण को कुछ अनावश्यक बाधाओं का सामना करना पड़ा है; फिर भी स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार ने अपनी आर्थिक नीति का निर्धारण इस प्रकार किया है कि सर्वथा अनुकूल परिस्थिति के न होते हुए भी, उत्पादन में वृद्धि हुई है और नयी नयी दस्तकारियॉ चलायी गयी हैं। अगस्त सन् १९४७ में भारत-सरकार ने उद्योगपतियों, श्रमजीवियों तथा प्रांतीय सरकारों का एक सम्मेलन बुलाया। उसके निर्णयों के आधार पर, अप्रैल सन् १९४८ में उसने औद्योगीकरण के संबंध में नये उत्तरदायित्वों के लेने की घोषणा की। अब सरकार उन दस्तकारियों को चलाने तथा प्रोत्साहन देने को तैयार थी जिनका पूंजीपतियों द्वारा यथेष्ट विकास नहीं हो रहा था। उसने इस प्रकार की कुछ दस्तकारियों को चलाया भी है। प्रयोगशालाओं और अन्वेषण-समितियों को स्थापित करके वह उद्योगपतियों को सहायता पहुँचा रही है। पंचवर्षीय योजना में भी दस्तकारियों के विकास पर यथेष्ट ध्यान दिया गया है। इस नीति के कारण दस्तकारियों की की उन्नति अनिवार्य है।

भारतीय दस्तकारियों में सर्वप्रथम स्थान लोहे और ईस्पात की दस्तकारी का है। सन् १९४० में भारत में ८,८६,००० टन ईस्पात तैयार किया गया था और सन् १९५१ में १०,७६,००० टन। उसकी वास्तविक आवश्यकता २५ लाख टन की है। सरकार बिजली के सामान की वृद्धि के लिए भी प्रयत्नशील है। इसी प्रकार वह रेडियो और रेडियो के सामान बनाने की फैक्टरी की स्थापना पर विचार कर रही है। जहाज बनाने के लिए उसने विजगापट्टम में सिंधिया स्टीम नैवीगेशन कंपनी के यार्ड (Yard) को अपने अधीन कर लिया है। इस प्रकार राज्य के संरक्षण में इस दस्तकारी का विकास हो रहा है। रसायनिक खाद के लिए उसने सिंद्री (Sindri) में एक ऐसी फैक्टरी स्थापित की है जो प्रतिवर्ष ३½ लाख टन एमोनियम सल्फेट (Ammonium-Sulphate) तैयार कर सकती है। सूती कपड़े की दस्तकारी के प्रोत्साहन के लिए उसने १½ लाख एकड़ भूमि पर कपास बोआने तथा मशीनों को

भारत में बनवाने का निश्चय किया है। देश के विभाजन के कारण जूट की दस्तकारी पर कुछ संकट सा आ पड़ा है। पर पाकिस्तान से समझौता करके उसने इस संकट को दूर करने का प्रयत्न किया है। वह देश में जूट पैदा करने की दिशा में भी प्रयत्नशील है। कागज की दस्तकारी की भी उन्नति हो रही है। इस समय भारतीय फैक्टरियाँ केवल १·२५ लाख टन कागज तैयार करती हैं जब कि हमारी आवश्यकताएं २ लाख टन की है। दिसंबर सन् १९४८ को अखबारी कागज बनाने के लिए चंदी (Chandi) में एक नयी फैक्टरी बनायी गयी है। पूरी होने पर यह फैक्टरी भारतीय अखबारों के एक तिहाई भाग को पूरा कर सकेगी। सीमेंट और चीनी की दस्तकारियाँ भी उन्नत अवस्था में हैं और यही बात कोयला खोदने की दस्तकारी के विषय में भी कही जा सकती है। दस्तकारियों को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने विदेशों से व्यापारिक संधियां की हैं और सरकारी कामों के लिए देश की बनी हुई वस्तुओं के लेने का निश्चय किया है। बिजली के उत्पादन के लिए उसने कई हाइड्रो-एलेक्ट्रिक (Hydro-Electric) योजनाएँ बनायी हैं और कुछ पर काम भी आरंभ कर दिया है। इनके द्वारा केवल बिजली ही उपलब्ध नहीं होगी वरन् सिचाई के कामों में भी सहायता मिलेगी। संघांतरित राज्यो की सरकारें भी इसी प्रकार अपने-अपने राज्य के औद्योगीकरण के लिए प्रयत्नशील हैं। उपर्युक्त तथा पूर्वकालीन प्रयत्नों के कारण भारत की गणना संसार के प्रमुख औद्योगिक देशों में की जाती है, पर देश की आवश्यकताओं को देखते हुए, उसकी उत्पादन-शक्ति अभी तक बहुत कम है।

घरेलू उद्योग-धंधे—हमारे देश में अनेक प्रकार की घरेलू दस्तकारियों का अस्तित्व है। उन्हें हम चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। पहली वे जिन्हें किसान अपने अवकाश में करता है। इनकी बड़ी आवश्यकता है। भारतीय किसानों को कुछ समय तक तो कठिन परिश्रम करना पड़ता है, पर शेष समय वे बेकार रहते हैं। उस समय के सदुपयोग के लिए कताई, बुनाई, टोकरी, रस्सी तथा बेंत की वस्तुएँ बनाना, कंबल की बुनाई करना आदि दस्तकारियां की जाती हैं। सरकार भी उन्हें प्रोत्साहन दे रही है। अनुमान किया जाता है कि भारत में इस समय लगभग २५ लाख करघे बुनाई की दस्तकारी में लगे हैं और कपड़े की कुल खपत का एक तिहाई भाग इनके द्वारा बनाया जाता है। दूसरे वर्ग में वे घरेलू दस्तकारियां आती हैं जिन्हें लोग अपनी जीविका कमाने के लिए अपनाते हैं; जैसे लोहारी, बढ़ईगीरी, सुनारी, कुम्हारी, चमारी आदि। इस प्रकार के दस्तकार सारे देश में पाये जाते हैं।

प्राचीन काल में भारत का प्रत्येक गांव इन कामों में स्वपर्याप्त था। आजकल भी इनकी दशा न्यूनाधिक इसी प्रकार की है। तीसरे वर्ग में वे घरेलू दस्तकारियां आती हैं जिनके द्वारा गाँव के लोग शान-शौकत की वस्तुएँ तैयार करते हैं जैसे रेशम तैयार करने, कालीन बुनने, कढ़ाई करने आदि की दस्तकारियाँ। चौथे वर्ग में वे घरेलू दस्तकारियाँ आती हैं जिन्हें शहरों या उनके निकटवर्ती स्थानों के लोग करते हैं और जिनके द्वारा वे तीसरे वर्ग की अपेक्षा अधिक शान-शौकत की वस्तुएं तैयार करते हैं जैसे जरी का काम, दुशाला काढ़ने का काम, जवाहरात का काम आदि। इनकी सफलता के लिए धनी लोगों का संरक्षण आवश्यक है और ऐसे लोग प्रायः शहरों में ही पाये जाते हैं।

घरेलू दस्तकारियों के संबंध में आजकल भारत में दो विभिन्न विचार-धाराओं का अस्तित्व है। पहली के अनुसार देश के औद्योगीकरण के साथ साथ घरेलू दस्तकारियां स्वयं लुप्त हो जायंगी। वे फैक्टरी की दस्तकारियों का सामना करने में असमर्थ सिद्ध होंगी। अतएव सरकार को उनके संबंध में कुछ भी न करना चाहिये। दूसरी विचारधारा घरेलू दस्तकारियों के प्रोत्साहन के पक्ष में है। अपने पक्ष के समर्थन में इसके समर्थक निम्नलिखित तर्क उपस्थित करते हैं—(१) भारत एक कृषि-प्रधान देश है और कुछ समय तक इसी अवस्था में रहेगा। किसानों के अवकाश के सदुपयोग के लिए यह आवश्यक है कि घरेलू दस्तकारियाँ बनी रहें। (२) फैक्टरियों और मशीनों के अधिकाधिक प्रयोग के कारण अनेक व्यक्ति बेकार हो जाते हैं। घरेलू दस्तकारियों के कारण उन्हें कुछ काम काज मिल जाता है। (३) अनेक दस्तकारियां ऐसी हैं जिनके उत्पादन में कारीगर के व्यक्तित्व की छाप रहती है और जो बड़े पैमाने पर नहीं की जा सकतीं। वे घरेलू उद्योग-धंधों के बिना नहीं चल सकतीं। (४) बड़े पैमाने की दस्तकारियाँ विशेष स्थानों में केंद्रित हो जाती हैं। दस्तकारियों के प्रादेशिक वितरण की दृष्टि से यह बात ठीक नहीं। अतएव घरेलू दस्तकारियो द्वारा इस परिस्थिति में थोड़ा-बहुत परिवर्तन हो जाता है। (५) संसार के अन्य देशों में घरेलू दस्तकारियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत में भी ऐसा ही होना चाहिये। अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ ऐसी दस्तकारियों की अधिक आवश्यकता है। (६) घरेलू दस्तकारियों द्वारा भारत की निर्धनता और धन के न्यायपूर्ण वितरण की समस्या हल हो सकती है। बड़े पैमाने की दस्तकारियां पूँजीपतियों के हाथ में होती हैं जो श्रमजीवियों का शोषण करते तथा राष्ट्रीय संपत्ति को कुछ व्यक्तियों के हाथ में केंद्रित रखते हैं। (७) भारत के औद्योगीकरण का स्वाभाविक परिणाम ऐसे प्रदेशों का पता लगाना होगा जो

उसकी बनी हुई वस्तुओं को मोल ले सकें। संसार में ऐसे प्रदेश अब बहुत कम रह गये हैं। अतएव भारत को औद्योगीकरण द्वारा अधिक उत्पादन न करके, ऐसी आर्थिक नीति को अपनाना चाहिये कि दस्तकारियों की दृष्टि से वह स्वपर्याप्त हो जाय।

औद्योगीकरण के संबंध में गांधीजी के विचार—गांधीजी चरखे के समर्थक थे। उनके मतानुकूल "······चरखा तो लँगड़े की लाठी है—सहारा है। भूखे को दाना देने का साधक है। निर्धन स्त्रियो के सतीत्व की रक्षा करने वाला किला है।" "सारी चीज़े चरखे से निकली हैं। ·········मेरी प्रवृत्तियों की ग्रहमाला का वही सूर्य है।" चरखे के समर्थन के साथ-साथ गांधीजी घरेलू उद्योग-धंधों के भी समर्थक थे। उनके मतानुकूल कल-कारखानें साँप के बिल की तरह थे जिनमें एक नहीं हजारों साँप भरे पड़े थे। पर वे मशीनों के विरोधी न थे। "जब मैं समझता हूँ, कि मेरा शरीर ही एक बड़ा नाजुक यंत्र है तब यंत्रों के खिलाफ होकर मैं कहाँ रह सकता हूँ। मेरा विरोध यंत्रो के संबंध में फैले दीवानेपन के साथ है, यंत्रों के साथ नहीं। ········· परिश्रम की बचत इस हद तक की जाती है कि हजारों को आखिर भूखों मरना पड़ता है और उन्हें बदन ढकने तक को कुछ नहीं मिलता। ······ आज यंत्रों के कारण लाखों की पीठ पर मुट्ठी भर आदमी सवार हो बैठे हैं और उनको सता रहे हैं। क्योंकि इन यंत्रों के चलाने के मूल में लोभ है, धन-तृष्णा है, जन-कल्याण की भावना नहीं है।" गांधीजी ऐसे कारखानों के भी विरोधी न थे जहाँ मशीनें बनायी जायँ। पर वे "किसी की संपत्ति न होंगे बल्कि सरकारी मिल्कियत होंगे। इतना सोशलिस्ट मैं हूँ।" स्वतंत्र भारत की औद्योगिक नीति गांधीजी के उक्त विचारों के सर्वथा अनुकूल नहीं प्रतीत होती। पर ऐसा होना कुछ अनिवार्य सा है। स्वतंत्र भारत को संसार के अन्य देशों के बीच में रहना और उनके साथ उठना और गिरना है। अतएव उसे बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण को अपनाना पड़ेगा। पर उसे गांधीजी के आदर्श को भी विस्मरित न करना चाहिये। उस औद्योगीकरण से घरेलू दस्तकारियाँ श्रेष्ठतर हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप जनता की निर्धनता में कमी न हो और उनके सताने वाले वर्ग की शक्ति बढ़े।

मील-मजदूरों की अवस्था—भारत में इस समय कितने मजदूर मीलों तथा फैक्टरियों में काम कर रहे हैं, इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर देना कुछ कठिन है। किंतु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि उनकी कुल संख्या समस्त जन-संख्या की १० प्रतिशत से अधिक नहीं है। इन मजदूरों में

भी अधिकांश दस्तकारियों के विकास के लिए उपयुक्त नहीं कहे जा सकते। निर्धनता के कारण, वे शहरों में जीविका कमाने के लिए, बेमन आते हैं। साधारणतया उनके परिवार के लोग देहातों में ही रहा करते हैं। फल-स्वरूप उनके जीवन में न तो स्थिरता होती है और न किसी प्रकार का क्रम। वे अपने काम को प्रायः बदला करते हैं और किसी एक काम में कुशल नहीं हो पाते। शहरों में वे गंदे घरों में रहते हैं जहाँ खाने-पीने की शुद्ध तथा पर्याप्त वस्तुओं के अभाव, शहर के जीवन के प्रलोभनों तथा कौटुंबिक जीवन के बंधनों की अनुपस्थिति, में उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और उनकी काम करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। शिक्षा के अभाव तथा सामाजिक कुरीतियों के दासत्व के कारण, उनकी कार्य-कुशलता भी अधिक नहीं होती। फलस्वरूप उनको अन्य देशों के मजदूरों की अपेक्षा वेतन कम मिलता और अधिक समय तक काम करना पड़ता है। इतने पर भी उनकी उत्पादन-शक्ति उतनी नहीं है जितनी संसार के अन्य देशों के मजदूरों की है।

मजदूरों संबंधी सरकारी ऐक्ट—सन् १९१९ में वरसाई की संधि द्वारा यह स्वीकृत हुआ कि यदि कोई राष्ट्र मानवता-संबंधी बातों की अवहेलना करता है तो उससे दूसरे राष्ट्रों की उन्नति में बाधा पहुँचती है। अतएव प्रथम अंतर्राष्ट्रीय-श्रम-सम्मेलन (International Labour Conference) में यह निश्चित हुआ कि भारतीय मजदूरों को प्रति सप्ताह ६० घंटे काम करना चाहिये। सन् १९१९–२० में अनेक भारतीय मीलों में मँहगी के कारण वेतन-वृद्धि संबंधी हड़तालें हुईं और काम करने के समय के घटाने की माँग उपस्थित की गयी। फल-स्वरूप भारत-सरकार और प्रांतीय सरकारों के सहयोग से सन् १९२२ का फैक्टरी ऐक्ट पास हुआ। उसकी महत्त्वपूर्ण धाराओं का भावार्थ इस प्रकार है—(१) फैक्टरी की रजिस्ट्री के लिए बीस आदमियों का काम करना आवश्यक था। (२) बारह बरस से कम आयु के लड़कों से फैक्टरियों में काम न लेना चाहिये। बारह से पंद्रह बरस तक के लड़कों से केवल छः घंटे काम लेना चाहिये, चार घंटे काम के पश्चात् उन्हें ½ घंटे की छुट्टी देनी चाहिये और किसी लड़के से एक ही दिन दो फैक्टरियों को काम न लेना चाहिये। (३) मजदूरों से प्रति सप्ताह अधिक से अधिक ६० घंटे और प्रति दिन ११ घंटे काम लेना चाहिये। (३) सात बजे सायंकाल से साढ़े पाँच बजे प्रातःकाल तक, स्त्रियों से, कुछ दस्तकारियों को छोड़कर, काम न लेना चाहिये। (५) प्रति दिन और प्रति सप्ताह आराम करने के लिए छुट्टी मिलनी चाहिये। (६) मजदूरों के स्वास्थ्य के लिए सीलन आदि से बचाव का प्रबंध होना चाहिये।

उपर्युक्त ऐक्ट के पास हो जाने पर भी मजदूरों की दशा में विशेष परिवर्तन न हुआ। आर्थिक संकट के काल में, सन् १९२२ और सन् १९२८ में अहमदाबाद और बंबई की मीलों में भयंकर हड़तालें हुईं। सन् १९२८ में मजदूर और किसान पार्टी का अस्तित्व भली भाँति स्पष्ट हो गया और यह भी प्रगट हो गया कि अनेक मजदूर-संघ उसके सदस्यों के प्रभाव में थे। अतएव मजदूरों की अवस्था की जाँच करने के लिए एक शाही कमीशन नियुक्त हुआ। प्रधानतया इसी कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर मजदूरों की भलाई के भविष्य के अनेक केंद्रीय तथा प्रांतीय नियम बने जिनमें निम्नलिखित विशेषतया ध्यान देने योग्य हैं—

(१) फैक्टरी ऐक्ट सन् १९३४–इस ऐक्ट के अनुसार भारतीय फैक्टरियाँ दो भागों में विभाजित की गयीं, पहली साल भर चलने वाली और दूसरी मौसमी। प्रति दिन अधिक से अधिक दस घंटे और प्रति सप्ताह अधिक से अधिक ५४ घंटे का काम साल भर चलने वाली मीलों के लिए निर्धारित हुआ और प्रतिदिन ११ घंटे और प्रति सप्ताह ६० घंटे का काम मौसमी फैक्टरियो के लिए। दोनों प्रकार की फैक्टरियों में लड़कों के काम करने का समय घटाकर पाँच घंटे कर दिया गया और स्त्रियों का दस घंटे। सात बजे सायंकाल से छः बजे प्रातःकाल तक स्त्रियों और लड़कों के काम की मनाही कर दी गयो। समय से अधिक काम के लिए, अतिरिक्त वेतन की व्यवस्था की गयो और आराम की साधारण छुट्टियों के अतिरिक्त, प्रति वर्ष दस दिन की पूरे वेतन पर छुट्टी बड़े मजदूरों के लिए और चौदह दिन को स्त्रियों और बच्चों के लिए नियत की गयी। मजदूरों की रक्षा एवं भलाई के लिए भी कुछ प्रबंध किया गया और प्रतिदिन अतिरिक्त समय मिलाकर अधिक से अधिक कितने घंटे काम लिया जाय, इसकी भी सीमा निर्धारित कर दी गयी। सन् १९३६, १९४०, १९४१, १९४४, १९४५ और १९४६ में इस ऐक्ट में संशोधन किये गये और सन् १९४८ में इन सबको एकत्रित करके एक नया ऐक्ट पास हुआ।

(२) फैक्टरी ऐक्ट सन् १९४८—इस ऐक्ट द्वारा फैक्टरी की परिभाषा तथा प्रांतीय सरकार द्वारा उनकी रजिस्ट्री की व्यवस्था की गयी। श्रमजीवियों के स्वास्थ्य तथा संरक्षण की व्यवस्था के अतिरिक्त, प्रति सप्ताह उनसे ४८ घंटे काम लिया जा सकता है और पाँच घंटे काम के पश्चात् आधे घंटे का अवकाश दिया गया है। समय से अधिक काम के लिए दूना वेतन देना पड़ता है। सात बजे सायंकाल से ६ बजे प्रातःकाल तक स्त्रियों से काम नहीं लिया जा सकता। एक साल के काम के पश्चात् श्रमजीवी कम से कम १० दिन

और प्रति २० दिन काम के पीछे एक दिन की पूरे वेतन पर छुट्टी ले सकते हैं। बच्चों के लिए ये काल क्रमशः १४ और १५ दिन नियत किये गये हैं।

(३) भारतीय खान (Mines) ऐक्ट—इस संबंध का पहला ऐक्ट सन् १९०१ में पास हुआ था। सन् १९३५ में यह पूर्णतया बदला गया और सन् १९३६, १९३७, १९४० और १९४६ में इसमें पुनः संशोधन किये गये। यह ऐक्ट सब खानों पर लागू है। इसके अनुसार किसी श्रमजीवी से खान के बाहर और भीतर मिलाकर प्रति दिन १० घंटे और प्रति सप्ताह ५४ घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता। सप्ताह में एक दिन की छुट्टी अनिवार्य कर दी गयी है। १५ बरस से कम उम्र वाले लड़कों से खान में काम लेने की मनाही है।

(४) वेतन अदायगी (Payment of Wages) ऐक्ट सन् १९३६ के अनुसार श्रमजीवियों का वेतन एक महीने से अधिक नहीं रोका जा सकता और महीना समाप्त होने के सात दिन के भीतर वेतन अदा करना पड़ता है। सन् १९४८ के कम से कम वेतम (Minimum Wages) ऐक्ट के अनुसार कुछ दस्तकारियों के लिए कम से कम वेतन की व्यवस्था की गयी है।

(५) श्रमजीवी क्षतिपूर्त्ति (Workman Compensation) ऐक्ट १९२४ के अनुसार, यदि श्रमजीवी को काम करने के कारण किसी प्रकार क्षति उठानी पड़ती है, तो उसे हरजाना देने की व्यवस्था की गयी है। किंतु उस अवस्था में किसी प्रकार का हरजाना नहीं दिया जाता जब क्षति का प्रभाव सात दिन से अधिक न रहे, या क्षति श्रमजीवी की लापरवाही या आज्ञा न मानने के कारण पहुँची हो।

(६) मजदूरों और पूँजीपतियों के संबंध-संचालन के लिए सन् १९२६ में भारतीय मजदूर-संघ (Indian Trade Union) ऐक्ट और सन् १९४७ में Industrial Disputes ऐक्ट स्वीकार हुए हैं। इनके अनुसार नोटिस दिये बिना न तो श्रमजीवी हड़ताल कर सकते हैं और न मोलमालिक द्वारावरोध (Lockout)। यह ऐक्ट विशेषतया उन दस्तकारियों पर लागू है जिनकी गणना आधारभूत दस्तकारियों में की जाती है।

(७) दूकानों में काम करने वाले कर्मचारियों की रक्षा के लिए विभिन्न प्रांतों में अलग-अलग ऐक्ट पास हुए हैं। उनके द्वारा प्रति दिन काम के घंटे निर्धारित कर दिये गये हैं और प्रति सप्ताह एक दिन की छुटी की व्यवस्था की गयी है।

उपर्युक्त ऐक्ट केवल उदाहरणार्थ दिये गये हैं। सरकार ने मजदूरों की रक्षा के लिए अनेक दूसरे ऐक्ट भी पास किये हैं। उन सबका विवरण देना इस स्थान पर संभव नहीं। किंतु उपरिवर्णित ऐक्टों से यह स्पष्ट है कि भारतीय राज्य पुलिस-राज्य न रहकर लोक-कल्याण राज्य मे परिवर्तित हो गया है, यद्यपि उसके लोक-कल्याण के काम अभी तक उतने व्यापक नहीं हो पाये हैं जितने की आवश्यकता है। स्वतंत्रता के कारण श्रमजीवियों में नयी स्फूर्ति आ गयी है। वे अपनी दशा सुधारने के लिए प्रयत्नशील हैं। उनके प्रयत्नों के कारण इस बात की आशंका है कि उत्पादन की गति अवरुद्ध हो जाय। भारत तथा संघांतरित राज्यों की सरकारों को श्रमजीवियों की दशा सुधारने तथा उत्पादन को बढ़ाने में अनावश्यक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। किंतु यदि श्रमजीवी और मील-मालिक बुद्धिमत्ता से काम लेंगे, तो यह असंभव नहीं कि वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति में सफल हों।

भारत में मजदूर आंदोलन—मजदूरों की भलाई से संबद्ध उपर्युक्त ऐक्ट किस सीमा तक सरकार तथा पूँजीपतियों की मानवता का परिणाम है, यह बतलाना कठिन है। किंतु यह निर्विवाद है कि इनके पास कराने में मजदूरों और उनके संगठनों का काफी हाथ रहा है। भारत में मजदूर आंदोलन का श्री गणेश सन् १८७५ से माना जा सकता है। उस साल भारत-मंत्री के संकेतानुसार, बंबई सरकार ने अपने प्रांत के मजदूरों की जाँच के लिए एक कमीशन बैठाया था। बहुमत से कमीशन ने यह निर्णय किया कि फैक्टरी कानूनों द्वारा मजदूरों को संरक्षण देने की आवश्यकता न थी। यह बात मैंचेस्टर के मील-मालिकों को नापसंद थी। उनके आंदोलन तथा दबाव का यह परिणाम निकला कि सन् १८८१ में पहला फैक्टरी ऐक्ट पास हुआ, जिसमें केवल बालकों के काम के घंटे निर्धारित किये गये थे और जिससे कोई भी संतुष्ट न था।

सन् १८९० में बंबई मील मजदूर-संघ (Bombay Mill Hand Association) नामक संस्था की स्थापना हुई। उसका उद्देश्य मजदूरों की अवस्था सुधारने के अतिरिक्त, फैक्टरी कानून में आवश्यक संशोधन कराना था। इसी साल भारत-सरकार ने, अंतर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार, मजदूरों की अवस्था की जाँच तथा उसके संबंध में सिफारिशें करने के लिए एक मजदूर कमीशन नियुक्त किया। उसकी रिपोर्ट के आधार पर सन् १८९१ का ऐक्ट बना। इसके अनुसार स्त्रियों से अधिक से अधिक ११ घंटे का काम लिया जा सकता था और मीलों में काम करने

वाले बालकों की अवस्था ७ से १२ वर्ष के स्थान पर ९ से १४ वर्ष कर दी गयी। सन् १९१० में 'कामगर हितवर्द्धक सभा' नामक मजदूरों का दूसरा संगठन बंबई में बना।

प्रथम युरोपीय महासमर के प्रभावों के कारण मजदूरों में नवीन जाग्रति हुई। एक ओर तो वस्तुओं का मूल्य असीमित रूप से बढ़ रहा था। फलस्वरूप मजदूर और निर्धन लोग साधारण आवश्यकताओ के लिए तरस रहे थे। पर मील-मालिकों के घरों में चाँदी बरस रही थी। दूसरी ओर महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन की बातचीत हो रही थी और सरकार दमन के शस्त्र का प्रयोग कर रही थी। ऐसी अवस्था में निर्धन वर्ग का दुखी होना स्वाभाविक था। रूस से उसे नयी आशा मिली। वहाँ जारशाही का अंत हुआ और उसके स्थान पर किसानों और मजदूरों के राज्य की स्थापना की गयी। भारत के मजदूरों को इस सफलता से बडा प्रोत्साहन मिला। फलस्वरूप मजदूर-संगठन तेजी से बढ़ने लगे। मद्रास, बंबई, कलकत्ता, अहमदाबाद आदि औद्योगिक नगरो में मजदूर-संघ बने। अहमदाबाद के सूती कपड़ों के मजदूर-संघ की स्थापना स्वयं गांधीजी ने की। ये मजदूर-संघ पहले की भांति दब्बू न थे। विपरीत इसके ये विद्रोह की भावना से युक्त न थे। इनके प्रयत्नों के कारण प्रायः सभी औद्योगिक नगरों में हड़तालें हुई। इससे पूँजीपति भयभीत हुए और मजदूरों और उनके नेताओं के दबाने का अवसर खोजने लगे। यह अवसर उन्हें शीघ्र ही मिल गया। बकिंघम मील, मद्रास की हड़ताल के कारण, मजदूर-नेता वी० पी० वाडिया और उनके सहयोगियों के विरुद्ध हानि का दावा किया गया। मद्रास हाईकोर्ट का निर्णय मील के पक्ष तथा मजदूर-नेताओ के विपक्ष में हुआ। इंगलैंड के मजदूर दल को यह निर्णय नापसंद था। अतएव उसने भारत-मंत्री के पास एक शिष्ट-मंडल इस उद्देश्य से भेजा कि भारत में ट्रेड युनियन संबंधी कानून पास किया जाय। भारत-मंत्री ने शिष्ट-मंडल को यह आश्वासन दिया कि वे भारत-सरकार को लिखेगे।

मजदूरों के उक्त संगठन एक दूसरे से प्रायः स्वतंत्र थे। उन्हें एक मंच पर लाने के लिए लाला लाजपत राय की अध्यक्षता में, ३१ अक्टूबर सन् १९२० को, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बंबई और दूसरा सन् १९२१ में झरिया में हुआ। इसी बीच अंतर्राष्ट्रीय-श्रमजीवी-संघ (International Lobour Organisation) की स्थापना हो चुकी थी। भारत भी उसका सदस्य था। उसके प्रस्तावों के फलस्वरूप सन्

१९२२ का फैक्टरी कानून पास हुआ जिसके अनुसार प्रौढ़ों से प्रति सप्ताह अधिक से अधिक ६० घंटे और बालकों से प्रति दिन छः घंटे काम लिया जा सकता था। सन् १९२६ में ट्रेड यूनियन ऐक्ट पास हुआ। इसके अनुसार उन ट्रेड यूनियनों के विरुद्ध दीवानी और फौजदारी अभियोग न चलाये जा सकते थे जिन्होंने सरकार द्वारा अपनी रजिस्ट्री करा ली थी। इस प्रकार अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की अध्यक्षता में भारत का मजदूर-आंदोलन क्रमशः अधिकाधिक प्रभावशाली होता गया।

मजदूर आंदोलन की उक्त एकता बहुत दिनों तक न रह सकी। आंदोलन के अनेक कार्य-कर्ता कांग्रेस के भी कार्य-कर्ता थे और कांग्रेस की नीति और ध्येय में परिवर्तन के साथ-साथ मजदूर आंदोलन को वाम पक्ष की ओर ले जाना चाहते थे। फलस्वरूप १९२९ में ट्रेड यूनियन कांग्रेस में प्रथम विच्छेद हुआ और अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन नामक मजदूरों की दूसरी अखिल भारतीय संस्था बनी। सन् १९३० में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में दूसरा विच्छेद हुआ। इस बार कम्यूनिस्ट विचारधारा के व्यक्ति उससे अलग हो गये और उन्होंने लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस नामी एक नयी अखिल भारतीय संस्था की स्थापना की। इस प्रकार सन् १९३० में भारत में मजदूरों की तीन अखिल भारतीय संस्थाएँ थीं—(१) अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस, जो कांग्रेस के प्रभाव में थी; (२) अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फेडेरेशन, जो दक्षिण पथ की ओर अधिक झुकी हुई थी और (३) लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस जो साम्यवाद (Communism) की ओर अधिक झुकी हुई थी।

इन दिनों देश आर्थिक संकट के पंजे में था। मजदूरों की हड़तालें निरर्थक सिद्ध हो रही थीं और ऐसा विदित होता था कि मजदूर आंदोलन सदा के लिए शक्तिहीन बना दिया जायगा। सरकार ने १९२९ का ट्रेड डिस्प्यूट्स ऐक्ट बनाकर हड़तालों को एक प्रकार से गैर-कानूनी घोषित कर दिया था। मजदूरों की दशा सुधारने के लिए, लेबर कमीशन की सिफारिशों के आधार पर उसने सन् १९३४ का फैक्टरी कानून स्वीकार किया जिसके अनुसार मजदूरों से प्रति सप्ताह अधिक से अधिक ५४ घंटे और बालकों से प्रति दिन पाँच घंटे काम लिया जा सकता था। मौसमी कारखानों में अधिक से अधिक ६० घंटे काम लिया जा सकता था। सन् १९३६ में आठ प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का शासन स्थापित हुआ। मजदूरों को कांग्रेस से बड़ी-ब

आशाएँ थीं। फल-स्वरूप उनमें नयी जाग्रति हुई और उनकी अवस्था में थोड़े-बहुत सुधार भी किये गये।

सन् १९३५ से मजदूरों की उपरिवर्णित तीनों अखिल भारतीय संस्थाएं पुनः एक दूसरे के निकट आने लगीं। इस साल लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से मिल गयी और सन् १९३८ में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फेडेरेशन ने भी यही किया। किंतु उक्त एकता बहुत दिनों तक न रह सकी। सन् १९३९ में दूसरे महासमर के छिड़ने के कारण साम्यवादी पुनः ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलग हो गये और उन्होंने अखिल भारतीय लेबर फेडेरेशन नामक अपनी नयी संस्था बनायी। इस समय तक समाजवादी दल भी कुछ प्रभावशाली हो गया था। सन् १९४२ की क्रांति में उसके कुछ कार्यकर्ताओं ने सराहनीय काम किया। फलस्वरूप श्रमजीवियों पर उसका प्रभाव नित्य प्रति बढ़ने लगा। अभी तक वह कांग्रेस के साथ था। फलस्वरूप उसकी और कांग्रेस की नीति में विशेष अंतर न था। उसका नाम ही कांग्रेस समाजवादी दल था। सन् १९४७ से समाजवादी दल कांग्रेस से अलग होकर एक स्वतंत्र राजनीतिक दल बन गया है।

सन् १९४८ और १९४९ में भारतीय मजदूर आंदोलन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। साम्यवादियों ने ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर अपना प्रभाव बढ़ा कर उसे न्यूनाधिक अपने अधीन कर लिया है। फलस्वरूप अनेक मजदूर-संस्थाओं ने उससे अपना संबंध-विच्छेद कर लिया है। आजकल इस संस्था का प्रभाव बहुत कम हो गया है। मजदूरों की दूसरी अखिल भारतीय संस्था का नाम भारतीय नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (Indian National Trade Union Congress) है। यह प्रधानता भारतीय कांग्रेस के प्रभाव में है। तीसरी संस्था का नाम हिंद-मजदूर पंचायत है। यह समाजवादियों के प्रभाव में है और क्रमशः इसकी शक्ति बढ़ रही है। भारतीय-मजदूर आंदोलन का भविष्य दूसरो और तीसरी संस्थाओं के हाथ में है।

भारतीय श्रमजीवी आंदोलन के उक्त सिंहावलोकन से यह स्पष्ट है कि अभी तक हमारे देश में मजदूरों की संस्थाएं उतनी प्रभावशाली नहीं हो पायी हैं जितनी की आवश्यकता है। इसका प्रधान कारण मजदूरों और उनके कार्यकर्ताओं की उदासीनता है। भारतीय मजदूर संस्थाएं सदा सजीव न रह कर कभी कभी सचेतन हो जाती हैं और तत्कालीन आवश्यक कामों को करने के पश्चात् पुनः सुप्तावस्था को प्राप्त हो जाती हैं। उनका एक मात्र काम हड़ताल कराना तथा जलूस निकालना समझा जाता है। फलस्वरूप साधारण जनता

इन्हें विशेष आदर की दृष्टि से नहीं देखती। इस परिस्थिति से बचने के लिए यह आवश्यक है कि मजदूर आंदोलन रचनात्मक कार्यक्रम को अपनावें और मजदूरों में शिक्षा-प्रचार, स्वास्थ्य-सुधार, आदि के कामों को करके उन्हें इस योग्य बनावें कि वे किसान-मजदूर राज्य के अनुकूल बन जायं। रचनात्मक कार्यों पर ही भारत का भविष्य निर्भर करता है।

भारतीय आर्थिक जीवन की प्रमुख समस्याएं—भारत के आर्थिक जीवन के उक्त संक्षिप्त विवरण के पश्चात् हमें भारतीय आर्थिक जीवन की प्रमुख समस्याओं का कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं —

(१) निर्धनता की समस्या—हम ऊपर बतला चुके हैं कि आजकल भारत की गणना संसार के निर्धन देशों में की जाती है। हमारी राष्ट्रीय आय संसार के अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। दूसरे महासमर के कुप्रभावों के कारण वस्तुओं का मूल्य इतना अधिक बढ़ गया है कि अधिकांश व्यक्ति साधारण आवश्यकताओं के लिए तरस रहे हैं। मध्यम वर्ग का अंत सा हो रहा है। निर्धनता के कारण राष्ट्र का स्वास्थ्य गिर रहा है। प्रौढ़ों की कौन कहे, बच्चों तक को दूध पीने को नहीं मिलता। उक्त निर्धनता स्वतंत्र भारत की सर्वप्रथम आर्थिक समस्या है। इसे दूर करने के लिए सरकार और जनता दोनों को प्रयत्नशील होना चाहिये।

(२) स्वपर्याप्तता की समस्या—भारतीय आर्थिक जीवन की दूसरी समस्या स्वपर्याप्तता की समस्या है आजकल हम प्रायः सभी वस्तुओं के लिए दूसरों पर निर्भर हैं। हमारे पास समस्त जनता को खिलाने के लिए पर्याप्त अन्न तक नहीं है। कृषि द्वारा उत्पादित अन्य वस्तुओं में इसी प्रकार की कमी है। औद्योगिक वस्तुएं भी पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलतीं। चीनी, कागज, सीमेंट, जूट, कपास आदि का उत्पादन देश की आवश्यकताओ के देखते हुए कम है। यातायात के साधन भी अपर्याप्त हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल ले जाने में आवश्यकता से अधिक विलंब लगता है। आवश्यक वस्तुओं में स्वपर्याप्तता हुए बिना भारत संसार के अन्य राष्ट्रों में वह स्थान नहीं प्राप्त कर सकता, जिसका वह अधिकारी है।

(३) अधिक उपजाओ की समस्या—निर्धनता को दूर और स्वपर्याप्तता को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन में वृद्धि की जाय। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण इसकी आवश्यकता और भी अधिक हो गयी है।

सरकार ने कृषि और औद्योगिक वस्तुओं के अधिक उत्पादन के लिए पंचवर्षीय योजना बनायी है। किंतु योजना बनाना एक बात है और उसे कार्यरूप में परिणत करना दूसरी। जनता के सहयोग के बिना सरकारी योजनाएं निरर्थक सिद्ध होंगी। भारत की मौजूदा परिस्थिति में यह अनिवार्य है कि भारत का प्रत्येक कृषक और श्रमजीवी, अधिक से अधिक उत्पादन का प्रयत्न करे। अधिक उपजाये बिना स्वतंत्र भारत का उत्थान असंभव सिद्ध होगा। बहुत संभव है कि उसके बिना हमारी नवप्राप्त स्वतंत्रता भी खटके में पड़ जाय। पूँजीपतियों और मध्यस्थों को भी अपने लाभ को इस प्रकार घटाना चाहिये कि कृषकों और श्रमजीवियों के अधिकारों पर आघात न हों।

(४) **बेकारी की समस्या**—हमारी चौथी आर्थिक समस्या बेकारी की है। देश में तीन तरह के बेकार मनुष्य पाये जाते हैं—(१) देहाती क्षेत्रों में बेकार मनुष्य; (२) बेकार श्रमजीवी; (३) शिक्षित बेकार लोग। कृषि के संबंध में हम बतला चुके हैं कि भारत में कृषि-भूमि पर दबाव अत्यधिक है और कृषकों के पास साल भर के लिए काम का अभाव है। फल-स्वरूप अपना बहुत सा समय वे बेकार खोते हैं। इन लोगों के समय के सदुपयोग के लिए यह आवश्यक है कि घरेलू उद्योग-धंधों की उन्नति की जाय और सहकारी आंदोलन के प्रचार द्वारा इस बात का प्रयत्न किया जाय कि देहाती जनता अपने खाली समय को उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन में व्यतीत करे। शहरों में अनेक बेकार श्रमजीवी पाये जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि शहरों में काम-काज की खोज के लिए इतने अधिक आदमी आ जाते हैं कि सबको काम नहीं मिलता। कभी-कभी हड़तालों और द्वारावरोध के कारण भी बहुत से मनुष्य बेकार हो जाते हैं। श्रम बचानेवाली मशीनों का आविष्कार भी श्रमजीवियों की बेकारी बढ़ाता है। इस प्रकार की बेकारी को घटाने के लिए सरकार ने केंद्रीय काम-काज परामर्श कमेटी (Central Employment Advisory Committe) की नियुक्ति की है। इसमें कुछ प्रतिनिधि तो संघीय और संघांतरित राज्यो की सरकारों के होते हैं और कुछ श्रमजीवियों और उनको नौकर रखनेवालों के। कमेटी का मुख्य काम बेकारी दूर करने के संबंध में परामर्श देना है। तीसरे प्रकार की बेकारी अधिक भयानक है। यह प्रधानतया मध्यम वर्ग के लोगों में पायी जाती है। इसका मुख्य कारण देश में अनुपयुक्त शिक्षा का प्रचार है। शिक्षा के साहित्यिक आधार के कारण, उन्हें क्लर्की के अतिरिक्त किसी दूसरे काम का ज्ञान नहीं होता और सभी पढ़े-लिखे लोगों को क्लर्की या मास्टरी नहीं मिलती। फलस्वरूप उनमें से अधिकांश

बेकार घूमते रहते हैं। देश की स्वतंत्रता के पूर्व इस प्रकार की बेकारी की जांच के लिए विभिन्न प्रांतों में कमेटियां नियुक्त हुई थीं। किंतु इसके वास्तविक हल के लिए जांच-पड़ताल की इतनी आवश्यकता नहीं जितनी शिक्षा के आधार में परिवर्तन करने की है। हर्ष की बात यह है कि इस दिशा में प्रथम पग उठाया जा चुका है। शिक्षा को क्रमशः उद्योगवाद की ओर इस प्रकार झुकाया जा रहा है कि वह देश की अवस्था के अधिक अनुकूल हो जाय।

भ्रष्टाचार की समस्या—हमारी पांचवी आर्थिक समस्या भ्रष्टाचार की समस्या है। अंगरेजों ने हमारे देश को ऐसे समय में छोड़ा है जब वह दूसरे महासमर-जन्य कुप्रभावों से आक्रांत था। तिस पर उसका बँटवारा करके शरणार्थियों, कश्मीर और हैदराबाद की नयी समस्याएँ हमें उपहार-स्वरूप दी गयीं। इनके कारण हमारे कोष पर काफी खींचातानी हुई। परतंत्र देश का नैतिक पतन एक स्वाभाविक बात है। हमारी सरकार ने यथाशक्ति इस बात का प्रयत्न किया कि देश का अधिक नैतिक पतन न हो और सब लोगों को सभी आवश्यक वस्तुएँ उचित मात्रा में मिलती रहें। फलस्वरूप नियंत्रण आरंभ किये गये। गांधीजी उनके पक्ष में न थे। उन्होंने नियंत्रणों का विरोध इतना अधिक किया कि अंत में सरकार को उनके निर्णय के सामने झुकना पड़ा। किंतु उनकी मृत्यु के पश्चात् नियंत्रण पुनः आरंभ हो गये हैं। नियंत्रण में नौकरशाही जनता की आत्मा का हनन करती है और नियंत्रण के अभाव में पूँजीपति उसका शोषण करते हैं। ऐसी अवस्था में भ्रष्टाचार का होना स्वाभाविक है। देश के आर्थिक उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि प्रचलित भ्रष्टाचार का अधिक से अधिक विरोध किया जाय।

पंचवर्षीं योजना—भारत की आर्थिक परिस्थिति इतनी जटिल है कि पूँजीवादी और व्यक्तिवादी आधार पर किये गये कामों द्वारा सुधारी नहीं जा सकती। उसके सुधारने के लिए एक योजना तथा उसके अनुसार काम की आवश्यकता है। सन् १९४८ में भारत सरकार ने अपनी आर्थिक नीति की घोषणा की। उसके अंतस्तल में मिश्रित आर्थिक व्यवस्था (Mixed Economy) की कल्पना थी। इसके अनुसार आर्थिक उन्नति के लिए सरकारी तथा व्यक्तियों द्वारा किये गये कामों को स्वीकार करके उनमें सामंजस्य स्थापित करना था। अतः मार्च सन् १९५० में प्रधान-मंत्री की अध्यक्षता में एक योजना-कमीशन नियुक्त हुआ। इसने जुलाई सन् १९५१ में देश के विचारार्थ प्रथम पंचवर्षीय योजना को प्रस्तुत किया। उसका अंतिम रूप दिसंबर सन् १९५२ में भारतीय संसद में प्रेषित तथा उसके द्वारा स्वीकृत हुआ है।

पंचवर्षीय-योजना भारतीय संविधान के राज्यनीति के निदेशक तत्वों पर आधारित है। उसका उद्देश्य उत्पादन को इस प्रकार बढ़ाना है कि जीवन का स्तर ऊपर उठे, आय और संपत्ति की असमानता कम हो जाय और २७ बरस में भारत की प्रति व्यक्ति औसत आय आज की दूनी हो जाय। योजना कमीशन के मतानुकूल नियोजित आर्थिक व्यवस्था की सफलता के लिए तीन शर्तों की पूर्ति आवश्यक है— (अ) अभीष्ट के विषय में अधिक से अधिक सहमति, (ब) नागरिकों के सहयोग के आधार पर राज्य की प्रभावशाली सत्ता और निर्धारित अभीष्ट की पूर्ति के लिए इस सत्ता का सच्चा और दृढ़ प्रयोग; (स) इस प्रकार के सरकारी अधिकारी जो योग्यतापूर्वक काम करने की क्षमता रखते हों। भारत में इन शर्तों की पूर्ति किस सीमा तक हो रही है, इसके विषय में मतैक्य का अभाव है। पर यह निश्चित है कि योजना के उद्देश्यों के संबंध में किसी को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।

योजना में कृषि-सुधार को प्राथमिकता दी गयी है और उद्योग-धंधों को गैर-सरकारी उद्योगपतियों के हाथ में छोड़ दिया गया है। उसका कुल व्यय भी प्रारुप की अपेक्षा बढ़ा दिया गया है। निम्नलिखित तालिका से हमें व्यय की विभिन्न मदों का ज्ञान प्राप्त होता है—

मद	प्रारूप में खर्च	अंतिम रूप में खर्च	प्रतिशत
कृषि और ग्राम्यीय विकास	१९१'६९ करोड़ रु०	३६०'४३ करोड़ रु०	१७'४
सिंचाई और शक्ति	४५०'३६ " "	५६१'३६ " "	२७'२
यातायात और उसके साधन	३८८'१२ " "	४९७'१२ " "	२४'०
उद्योग-धंधा	१००'९९ " "	१७३'९९ " "	८'४
सामाजिक सेवा	२५४'२२ " "	३३९'८१ " "	१६'४
पुनर्वास	७९'०८ " "	८५'०० " "	४'
विविध काम	२८'५४ " "	५१'९९ " "	२'५
योग	१९९३'०० " "	२०६८'७८ " "	१००'०

योजना के अंतस्तल में राज्यों का सहयोग विद्यमान है। इसके बिना वह रकम नहीं मिल सकती जो योजना की सफलता के लिए आवश्यक है। निम्नलिखित तलिका से हमें इस बात का ज्ञान प्राप्त होता है कि आवश्यक पूँजी किस प्रकार प्राप्त की जायगी—

	संघ-सरकार का	राज्यों का	योग
पूर्ण व्यय	१२४१ करोड़ रु०	८२८' करोड़ रु०	२०६९ करोड़ रु०
बजट से प्राप्त	४९७ करोड़ रु०	७६१ करोड़ रु०	१२५८ " "
बाह्य सहायता	१५६ " "	×	१५६ " "
कुल प्राप्त धन	६५३ " "	७६१ " "	१४१४ " "
कुल कमी	५८८ " "	६७ " "	६४५ " "

कमी की पूर्ति या तो अतिरिक्त कर से की जायगी या बाहरी सहायता से या घाटे के बजट के द्वारा।

पंचवर्षीय-योजना के कार्यान्वित रूप द्वारा उत्पादन की वृद्धि होगी। योजना कमीशन ने उसका अनुमान इस प्रकार लगाया है—

खाद्यान्न	७२,०२,००० टन
जूट	३६८,००० टन
कपास	२,१४,००० टन
तिलहन	३,७५,००० टन

इस वृद्धि के कारण सन् १९५६-५७ में प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति को प्रतिदिन १४·५ औंस खाद्यान्न मिल सकेगा और भारतीय मीलों को पर्याप्त मात्रा में कपास और जूट मिल जायगी। औद्योगिक उत्पादन की भी वृद्धि होगी। प्रत्येक व्यक्ति को योजना के अंत में १५ गज कपड़ा मिल सकेगा और ८·३ पौंड चीनी। जूट का उत्पादन भी २५% बढ़ जायगा। बड़े पैमाने की दस्तकारियों में निम्नलिखित वृद्धि का अनुमान लगाया जाता है—

ईस्पात	१३,१५००० टन
सिमेंट	४६,००,००० टन
अलमुनियम	२०,००० टन
कागज और दफ्ती	१,६५,००० टन
अखबारी कागज	२०,००० टन
नमक	३,०७,५०० टन

उत्पादन की उक्त वृद्धि के कारण खाद्य-सामग्री और कच्चे माल की कमी दूर हो जायगी। यदि व्यापार में किसी प्राकार की गड़बड़ी हुई तो सन् १९५६-५७ में जनता की आधारभूत आवश्यकताएं उसी प्रकार पूरी होंगी जिस प्रकार वे द्वितीय महासमर के आरंभ में पूरी होती थीं।

पंचवर्षीय योजना की आलोचना—(१) पंचवर्षीय योजना कोई ऐसी योजना नहीं है जिसे किसी भी अर्थ में क्रांतिकारी कहा जा सके। वह आगे की ओर न देखकर पीछे की ओर देखती है। सन् १९५६-५७ में वह जनता को वह आर्थिक जीवन उपलब्ध कराना चाहती है जो उसे द्वितीय महासमर के पूर्व प्राप्त था। उसमें मौलिकता का अभाव है। यह केवल संकलन मात्र है। अतः उसमें वे सब दोष विद्यमान हैं जो एक ईकाई के रूप में न सोची गयी योजनाओं में हो सकते हैं। (२) पंचवर्षीय योजना में कृषि-विकास की प्रधानता है। दस्तकारियों और उद्योग-धंधों के विकास के लिए बहुत कम धन दिया गया है। कृषि और उद्योग-धंधों के विकास में सामंजस्य के अभाव में यह आशंका निर्मूल नहीं कि योजना के कार्यान्वित रूप में उस अभीष्ट की पूर्ति न होगी, जो उसके सम्मुख है। (३) बड़े पैमाने की दस्तकारियां निजी पूंजी पर छोड़ दी गयीं हैं। यह कहाँ तक उपलब्ध हो सकेगी इस विषय में मतैक्य का अभाव है। पूंजीपति अपनी पूंजी लगाने के पूर्व दो बातों के विषय में आश्वासन चाहते हैं। पहला यह कि उनकी पूंजी सुरक्षित रहेगी और दूसरा यह कि उन्हें लाभ होगा। भारत-सरकार की मौजूदा आर्थिक नीति के कारण जो न तो समाजवादी है और न व्यष्टिवादी, पूंजीपति अपनी पूंजी की सुरक्षा के विषय में निश्चिंत नहीं है। अतः हाल में की गयी कुछ रिआयतों पर भी वे अपनी पूंजी को लगाने से मुंह मोड़ रहे हैं। (४) आँकड़ों के आधार पर पंचवर्षीय योजना सन् १९५६-५७ में प्रति व्यक्ति को अधिक खाद्यान्न, कपड़ा तथा चीनी देने का अनुमान लगाती है। किंतु प्रत्येक व्यक्ति के पास उनके प्राप्त करने के साधन होंगे या नहीं, इस विषय में वह चुप है। उसका अनुमान केवल इतना है कि २७ बरस में प्रति व्यक्ति की औसत आय आज की दूनी हो जायगी। सन् १९५६-५७ में वह कितनी होगी, योजना में इस विषय पर प्रकाश नहीं डाला गया है। उसमें यह भी नहीं बतलाया गया है कि सन् १९५६-५७ में जनता को किस प्रकार वस्तुएं मिलेंगी। (५) योजना कृषकों की बेकारी को दूर करना चाहती है। यदि कृषि बड़े पैमाने पर होगी तो उसमें काम करने वालों की संख्या घटेगी। अतः बहुत से कृषक बेकार हो जायँगे। तिस पर जन-संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। ऐसे अवस्था में किसानों की बेकारी किस प्रकार दूर होगी, इसके विषय में संदेह का होना स्वाभाविक है। (६) नियोजित आर्थिक व्यवस्था में सामाजिक क्रांति का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। भारत की पंचवर्षीय योजना में इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। यदि सामाजिक व्यवस्था वही बनी रही जिसने भारत को अपनी मौजूदा स्थिति को पहुँचा दिया

है तो पंचवर्षीय योजना की सफलता ईश्वर की कृपा पर ही निर्भर करेगी। (७) पंचवर्षीय योजना की सफलता के लिए योग्य सरकारी अधिकारियों का होना अत्यंत आवश्यक है। उन्हें अपने काम में विशेषज्ञ होना चाहिये। भारत के मौजूदा सरकारी अधिकारी सामान्य शासन और न्याय के कामों के लिए नियुक्त हुए हैं। उसमें पंचवर्षीय योजना की सफलता के लिए आवश्यक ज्ञान की कमी है। अतः कुछ लोगों का मत है कि पंचवर्षीय योजना की सफलता के लिए, प्रशासनीय और पुलिस सर्विस की भांति भारतीय आर्थिक सर्विस भी होनी चाहिये।

पंचवर्षीय योजना की उपर्युक्त दुर्बलताओं के होते हुए भी उसका स्वागत अनिवार्य है। देश के प्रमुख दल नियोजित आर्थिक व्यवस्था के समर्थक हैं। अपने-अपने निर्वाचन-घोषणा-पत्रों में उन्होंने उसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। अतः पंचवर्षीय योजना ने भारतीय जनता, राजनीतिक दलों और पूंजीपतियों का ध्यान प्रभावशाली ढंग से आकृष्ट किया है।

विकास-योजनाएँ (Development projects)—इन योजनाओं का संबंध देहाती क्षेत्रों से है। छः साल के भीतर भारत के लगभग एक चौथाई गांवों में इनके अनुसार काम किया जायगा। योजनाओं का लक्ष्य यह है कि संबद्ध गांवों के सब निवासी अच्छी तरह रहने के योग्य बन जायँ। आरंभ में भोजन-प्राप्ति पर विशेष जोर दिया जा रहा है। लक्ष्य की पूर्ति के लिए ग्राम-निवासी आपसी सहयोग से काम करेंगे। राज्य की सरकार भी उन्हें सक्रिय सहायता देगी। नेतृत्व और आर्थिक सहायता राज्य के अधीन हैं और काम करना ग्रामवासियों के अधीन। अनुमान लगाया जाता है कि प्रत्येक विकास-योजना पर लगभग ७० लाख रुपये खर्च होंगे। इन योजनाओं के अंतर्गत प्रत्येक गांव के लिए निम्न-लिखित बातों की कल्पना की गयी है— (१) दो कुंएं, जिससे ग्राम-वासियों को पीने के लिए शुद्ध पानी मिल जाय। (२) कृषि-कार्य के लिए नलकूपों का निर्माण। अन्य क्षेत्रों के लिए सिंचाई के उद्देश्य से नहर, तालाब और कुंओं के निर्माण में सहायता। (३) कृषि-योग्य ऊसर भूमिको यथासंभव हल के तले लाना। (४) स्वास्थ्य संबंधी बातों की व्यवस्था। (५) यातायात के साधनों का सुधार जिसमें सब गांव एक दूसरे से संबद्ध हो जाय। (६) आरंभिक शिक्षा और प्रौढ़ लोगों की शिक्षा की व्यवस्था। (७) ऐसे लोगों की व्यवस्था जो ग्रामवासियों को अपने काम की शिक्षा दे सकें। (८) विकास-योजना के प्रत्येक क्षेत्र में, १५ से २५ तक गांवों के लिए एक मंडी की व्यवस्था। उत्तर प्रदेश में छः विकास क्षेत्रों की

व्यवस्था की गयी है। उनका संबंध गोरखपुर, आजमगढ़, फैजाबाद, मैनपुरी, झाँसी और अल्मोड़ा जिलों से हैं।

अभ्यास

१. किसी देश के उत्तम आर्थिक जीवन के लिए किन किन साधनों की आवश्यकता होती है ? भारत में वे किस सीमा तक विद्यमान हैं ?
२. भारतीयों की निर्धनता के मुख्य कारणों को समझा कर लिखिये।
३. भारतीय कृषि के उन्नत अवस्था में न होने के क्या कारण हैं ?
४. भारतीय कृषि के सुधार के लिए स्वतंत्रता के पूर्व कौन-कौन से प्रयत्न हुए थे ?
५. स्वतंत्रता के पश्चात् कृषि-सुधार के कामों का संक्षिप्त विवरण लिखिये।
६. ग्राम-सुधार का क्या तात्पर्य है ? ग्राम-सुधार के कुछ कामों का संक्षिप्त विवरण लिखिये।
७. उत्तर-प्रदेश के जमींदारी-उन्मूलन प्रस्ताव की मुख्य धाराओं की व्याख्या कीजिये।
८. भारत के विलंबित औद्योगीकरण के मुख्य कारणों को समझाकर लिखिये।
९. स्वतंत्रता के पश्चात् भारत के औद्योगीकरण का संक्षिप्त हाल लिखिये।
१०. देश के बँटवारे का भारत की कृषि, दस्तकारियों और स्वपर्याप्तता पर क्या प्रभाव पड़ा है ?
११. घरेलू उद्योग-धंधों का क्या तात्पर्य है ? भारत के आर्थिक उत्थान में उनकी महत्ता पर प्रकाश डालिये।
१२. औद्योगीकरण के कुछ कुप्रभावों को समझा कर लिखिये। गांधीजी के औद्योगीकरण के संबंध में क्या विचार थे ?
१३. भारतीय मजदूर-आंदोलन का क्या उद्देश्य है ? उसके क्रमिक विकास का संक्षिप्त विवरण लिखिये।
१४. गत १० बरसों में मजदूरों की दशा सुधारने के लिए कौन-कौन से कानून बन गये हैं ?
१५. बेकारी का क्या तात्पर्य है ? उसे दूर करने के लिए कौन-कौन से प्रयत्न किये गये हैं ?
१६. भारत की प्रमुख आर्थिक समस्याओं को समझा कर लिखिये।
१७. भारत की प्रथम पंच-वर्षीय योजना के विषय में आप क्या जानते हैं ?
१८. विकास योजनाओं पर एक लेख लिखिये।

७

हमारा शैक्षिक जीवन

शिक्षा की महत्ता—उत्तम नागरिक जीवन के लिए शिक्षा की आवश्यकता के संबंध में मतभेद का होना असंभव है। शिक्षा उत्तम नागरिक जीवन की आधार-शिला के समान है। देश के कितने निवासी शिक्षित हैं और उन्हें किस प्रकार की शिक्षा दी गयी है, इन दोनों बातों के आधार पर हम इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि वहां का नागरिक जीवन किस प्रकार का होगा। इसी उद्देश्य से प्राचीन स्पार्टा में नागरिकों को शिक्षित करना राज्य का एक प्रधान कर्तव्य था। नागरिकों को बचपन ही से राज्य के अनुकूल शिक्षा दी जाती थी। अफलातून इस बात से असंतुष्ट था कि उसके राज्य एथेंस में नागरिकों की शिक्षा किसी का भी काम न था। इसी कारण एथेंस अयोग्य व्यक्तियों द्वारा शासित हो रहा था। उसकी इच्छा थी कि एथेंस भी अपने नागरिकों की शिक्षा का प्रबंध करें, पर उसका पाठ्य-क्रम स्पार्टा की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं उदार हो।

भारतीय शिक्षा पर ऐतिहासिक दृष्टिपात—भारत में प्राचीन काल से ही शिक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया गया तथा उसके प्रचार की व्यवस्था की गयी थी। पर उन दिनों की शिक्षा-पद्धति तथा उसका प्रबंध आजकल से सर्वथा भिन्न था। हिंदू-काल में प्रचलित शिक्षा की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) शिक्षा राज्य के नियंत्रण में न होकर सर्वसाधारण के अधीन थी। राज्य विद्वानों और उनकी संस्थाओं को आर्थिक सहायता देता था, पर इसके कारण उनकी नीति और संचालन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करता था

(२) शिक्षा का उद्देश्य भावी जीवन की तैयारी करना था। अतएव विद्यार्थी-जीवन में विद्यार्थियों को अध्यापकों के नियंत्रण में, विद्याध्ययन के अतिरिक्त, आत्म-संयम के साथ ब्रह्मचारी होकर रहना पड़ता था। प्रत्येक वर्ण के लिए उसके अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था थी। शिक्षा का पाठ्य-क्रम संकुचित न होकर व्यापक था। धर्म, साहित्य, विज्ञान, दर्शन आदि सभी विषयों की शिक्षा की व्यवस्था थी। औद्योगिक शिक्षा की अलग व्यवस्था थी।

उसे या तो पिता स्वयं देता था या वह किसी शिल्पी की देखरेख में प्राप्त की जाती थी।

(३) हिंदू काल में अध्यापक का कार्य वे ही लोग कर सकते थे, जिनमें ज्ञान के साथ साथ चरित्र-बल भी था। विद्यार्थी गुरु के आश्रम में रहता तथा उसकी सेवा-सुश्रुषा करता था। दोनो में पिता-पुत्र का सा संबंध था। परस्पर संपर्क इतना अधिक एवं व्यापक था कि गुरु की छाप विद्यार्थी पर अनिवार्य रूप से लग जाती थी।

(४) शिक्षा की पद्धति आजकल की पद्धति से भिन्न थी। विद्यार्थी का कर्तव्य था कि अध्यापक जो कुछ समझावे, उसे सुने, समझे और अपना बना ले। वह अध्यापक से तर्क कर सकता था, पर शिष्टता के साथ। इस प्रकार प्रत्येक विद्यार्थी को अपने विकास का पूर्ण अवसर मिलता था। सार्वजनिक शास्त्रार्थ भी हुआ करते थे। इनमें विद्यार्थियों और अध्यापकों की विद्वत्ता का प्रदर्शन तो होता ही था, साथ ही सर्वसाधारण को भी अनेक बातों का ज्ञान प्राप्त हो जाता था।

(५) स्त्रियों की शिक्षा पर भी जोर दिया जाता था। पर उनकी शिक्षा उनके पिता के घर पर ही होती थी। उन्हें वेद न पढ़ाया जाता था, पर वे वेद, कथा आदि श्रवण कर सकती थीं। फलस्वरूप स्त्रियां धार्मिक ज्ञान से वंचित न थीं।

(६) आश्रमों के अतिरिक्त शिक्षा के अनेक सुविख्यात केंद्र भी थे, जो आधुनिक काल के विश्वविद्यालयों के समान थे और जिनमें विद्याध्यन के लिए दूर-दूर देशों तक के विद्यार्थी आते थे। इनमें प्राय: सभी किसी न किसी विद्या के विशेष ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे। काशी और तक्षशिला शास्त्र, दर्शन और व्याकरण, उज्जयिनी ज्योतिष, कांची वैदिक गान, नवद्वीप (नादिया) तर्क और नासिक धर्म-शास्त्रों के अध्यापन के लिए प्रसिद्ध थे। बल्लभा, ओदांतपुरी और विक्रमशिला भी शिक्षा के सुविख्यात केंद्र थे।

(७) बौद्धकाल में शिक्षा की उक्त व्यवस्था पूर्ववत् बनी रही, पर उसे सर्व-साधारण तक पहुँचाने का प्रयत्न किया गया। प्रत्येक भिक्षु का, धर्मोपदेश के अतिरिक्त, यह कर्तव्य भी था कि वह आसपास के बालकों को शिक्षा प्रदान करे। फलस्वरूप पहले की अपेक्षा सर्वसाधारण में शिक्षा का अधिक प्रचार हुआ। शिक्षा का माध्यम प्राकृत भाषा थी; पर उच्च शिक्षा संस्कृत और पाली में दी जाती थी।

(८) हिंदुओं की शिक्षा-पद्धति में अनेक अच्छाइयाँ थीं, पर कुछ ऐसी बातें भी थीं, जिनकी आलोचना करना अनिवार्य सा हो जाता है। शिक्षा सबके लिए समान न थी। उसके संबंध में लिंग एवं वर्ण के आधार पर भेदभाव किया जाता था। फलस्वरूप सर्वसाधारण के लिए मानसिक विकास के समान अवसर का अभाव था। शिक्षा में प्रमाणवाद का भी दोष था। अतएव न तो विद्यार्थियों का पूर्णरूपेण मानसिक विकास होता था और न विद्या की ही उन्नति होती थी।

मुसल्मानों के शासन-काल में भी शिक्षा का काफी प्रचार था। विद्यार्थी या तो मकतबों में शिक्षा प्राप्त करते थे या मदरसों में। मकतब मसजिदों के साथ लगे हुए आरंभिक स्कूलों के समान थे। मदरसों में उच्च कोटि की शिक्षा का प्रबंध था। लाहौर, दिल्ली, रामपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, जौनपुर, अजमेर, बीदर आदि के मदरसे सुविख्यात थे।

हिंदू काल की भांति मुस्लिम काल में भी शिक्षा सर्वसाधारण के नियंत्रण में थी। मुस्लिम शासक और अमीर, विद्वानों और मौलवियों को आर्थिक सहायता देते थे। पाठ्य क्रम कुछ संकुचित सा था। अकबर ने प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अक्षर-ज्ञान, शब्दार्थ, मिसरा, गद्य और पठित पाठ्य का अर्थ-ज्ञान अनिवार्य कर दिया था। गणित, ज्योतिष और नीति की भी शिक्षा दी जाती थी। उसके शासन-काल में हिंदू शिक्षण-संस्थाएं भी अपना काम कर रही थीं।

मुस्लिम शिक्षा-पद्धति में कई दोष थे। अपने धार्मिक आधार के कारण वह संकीर्ण थी और उसमें उदारता का अभाव था। प्रमाणवाद के कारण, विद्यार्थियों का मानसिक विकास पर्याप्त मात्रा में न हो सका। विपरीत इसके वे कट्टरपन की ओर अधिक झुके गये। शिक्षा का माध्यम अरबी भाषा थी। अतएव वह इतनी व्यापक न हो सकी जितनी अन्यथा हो सकती थी। फिर भी शिक्षा का काफी प्रचार था। अनुमान किया जाता है कि स्कूली अवस्था के योग्य, लगभग २० प्रतिशत् बालक इन दिनों शिक्षित हुआ करते थे।

आधुनिक शिक्षा का श्रीगणेश—भारत की आधुनिक शिक्षा और उसकी पद्धति अंगरेजी राज्य की स्थापना से संबंधित है। फलस्वरूप उसका आधार और दृष्टि-कोण, भारतीय नहीं, विदेशी है। वह इस देश पर एक प्रकार से लाद सी दी गयी है।

अंगरेजी शासन-काल में शिक्षा-संबंधी सर्वप्रथम पग वारेन हेस्टिंग्स के शासन-काल में कलकत्ता मदरसा की स्थापना के समय उठाया गया था। मदरसा

का उद्देश्य उच्च घराने के मुस्लिम बालकों को इस प्रकार शिक्षित करना था कि वे राज्य के उत्तरदायी और लाभप्रद स्थानों को ग्रहण कर सकें। दो बरस पश्चात् बनारस का संस्कृत कालेज हिंदुओं के लिए इसी उद्देश्य से स्थापित किया गया। इन दोनों संस्थाओं में शिक्षित लोग प्रधानतया अंगरेज न्यायाधीशों को न्याय करने में सहायता पहुँचाने को थे।

अंगरेजी सरकार की उक्त शिक्षा-नीति कुछ लोगों को नापसंद थी। अतः उन्होंने सरकार से यह प्रार्थना की कि वह बंगाल के निवासियों के लिए अंगरेजी की शिक्षा का प्रबंध करे। कुछ भारतीय भी इसी विचार के थे। उनमें राजा राममोहन राय का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। सन् १८१७ में उनके सहयोग से कलकत्ते में हिंदू कालेज की स्थापना हुई और सन् १८१८ में कलकत्ते के बिशप ने एक ऐसी संस्था की स्थापना की जो ईसाई-पादरियों की शिक्षा के अतिरिक्त, हिंदुओं और मुसलमानों को अंगरेजी की शिक्षा देने को थी। बंबई प्रांत में भी इसी प्रकार के विचार क्रमशः विकसित हो रहे थे। सन् १८३२ में एलफिंसटन कोष और सरकारी सहायता से बंबई में एलफिंसटन कालेज की स्थापना हुई।

पौर्वात्य या पाश्चात्य शिक्षा?—जिन दिनों अंगरेजी शिक्षा का उक्त प्रचार क्रमशः बढ़ रहा था, देश में पौर्वात्य और पाश्चात्य शिक्षा के संबंध में भयंकर मतभेद था। अंत में यह प्रश्न सरकार के विचाराधीन किया गया और इसके संबंध में जाँच करके लॉर्ड मेकॉले ने, एक सुझाव पेश किया। इसके अनुसार सरकार ऐसी शिक्षा का प्रबंध करने को थी, जिसे भारतीय प्राप्त करना चाहें और जो संस्कृत और अरबी के ज्ञान की अपेक्षा उनके लिए अधिक लाभदायक हो। उक्त सुझाव के आधार पर गवर्नर जनरल और उनकी कौंसिल ने ७ मई सन् १८३५ को, एक प्रस्ताव पास किया जिसके महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार थे—

(१) ब्रिटिश सरकार का महान् उद्देश्य भारतियों में अंगरेजी साहित्य और विज्ञान प्रचार करना होना चाहिये। अतएव शिक्षा संबंधी समस्त अनुदान अंगरेजी शिक्षा के प्रचार में अधिक उपयोगी ढंग से व्यय होगा। (२) पौर्वात्य शिक्षा के कॉलेज बंद न किये जायँगे, पर उनके विद्यार्थियों को जो सहायता दी जाती थी वह न दी जायगी। (३) सरकारी कोष से पौर्वात्य साहित्य की पुस्तकें प्रकाशित न की जायँगी। (४) भविष्य में सरकार के पास जो कुछ कोष होगा वह भारतीयों को अंगरेजी साहित्य और विज्ञान की शिक्षा प्रदान करने में खर्च किया जायगा।

उक्त निर्णय की आलोचना—सरकार का उक्त निर्णय कुछ अंश में भारतीयों के अनुकूल सिद्ध हुआ और कुछ में उनके प्रतिकूल। पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता के प्रचार के कारण देश में राष्ट्र-भावना का उदय हुआ और वह अंत में विदेशी शासन से मुक्त हो गया। पर सरकारी निर्णय संभवतः इस उद्देश्य से न किया गया था। लॉर्ड मेकॉले के मतानुकूल नयी शिक्षा के कारण "तीस बरस में भारत में एक भी मूर्ति-पूजक न रह जायगा" और सरकार को अनेक ऐसे व्यक्ति मिल जायंगे जो उसमें और जनता के बीच में द्विभाषियों की भाँति काम करेंगे। इससे स्पष्ट है कि लार्ड मेकॉले एक ओर तो भारतीयों के धार्मिक बंधन शिथिल करना चाहते थे और दूसरी ओर ऐसे व्यक्तियों की खोज में थे, जो कम वेतन पर सरकारी नौकरी करने को तैयार हों। ट्रेवेलियन (Trevelyan) के मतानुकूल भारतीय हिंदू अंगरेजों को म्लेच्छ और मुसलमान काफिर समझते थे। अंगरेजी शिक्षा के प्रचार द्वारा इस बात की आशा की जाती थी कि नयी शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति उन्हें अपना मित्र एवं संरक्षक समझेंगे। वे जन्म और रक्त से तो भारतीय होंगे पर जीवन के दृष्टिकोण, बुद्धि, संस्कृति आदि मे अंगरेज। इस प्रकार उक्त सरकारी निर्णय के अंतस्तल में भारत की सांस्कृतिक विजय का उद्देश्य था। वास्तविक उद्देश्य क्या था यह बतलाना कठिन है। पर उक्त निर्णय का व्यावहारिक रूप देश के लिए उतना हितकर न हो सका जितना देश की परिस्थिति से संबद्ध दूसरा निर्णय हो सकता था। उसके कारण भारतीय शिक्षा कुछ लोगों तक ही सीमित रही और सर्वसाधारण तक न पहुँच सकी। उसका विकास भी बड़ी मंद गति से हुआ। परिणामस्वरूप भारत में निरक्षरता का प्रकोप बढ़ा और शिक्षित और अशिक्षित वर्गों की खाई नित्य-प्रति अधिकाधिक चौड़ी होती गयी। शिक्षा का व्यावहारिक उद्देश्य न होने के कारण, उसके द्वारा जीवन-यात्रा की तैयारी में किसी प्रकार की सहायता न मिली और उसके साहित्यिक आधार के कारण अंत में देश के सम्मुख शिक्षित लोगों की बेकारी की समस्या आ खड़ी हुई। धार्मिक और नैतिक शिक्षा के अभाव में जनता का नैतिक जीवन गिरता गया। अध्यापकों और विद्यार्थियों का परस्पर संपर्क इसे कुछ अंश में रोक सकता था। पर नयी शिक्षा में इसकी भी व्यवस्था न थी। विपरीत इसके शिक्षा का संचालन और नियंत्रण सरकार के अधीन था और शिक्षण-संस्थाओं को निश्चित नियमों के अनुसार काम करना पड़ता था, अपनी इच्छा के अनुकूल नहीं। इस प्रकार नयी शिक्षण-संस्थाओं में हिंदू और मुस्लिम शिक्षण-संस्थाओं की स्वतंत्रता का अभाव था। वह भारतीय संस्कृति और सभ्यता से लेशमात्र भी संबंधित न थी

और विदेशी आदर्शों और आकांक्षाओं से अनुप्राणित हो, इस देश पर अशोभन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक प्रकार से लादी गयी थी।

सर चार्ल्स वुड का खरीता १८५४—सन् १८३५ से १८५४ तक भारत में शिक्षा का प्रचार सन् १८३५ के निर्णय के अनुसार होता रहा। सन् १८५४ में, सर चार्ल्स वुड ने, संचालक-मंडल के सम्मुख अपना खरीता पेश किया। इसे भारत में अंगरेज़ी शिक्षा का मैगनाकार्टा कहा जाता है। इसमें शिक्षा के उद्देश्य और उसकी नीति का निरूपण किया गया था। महत्त्वपूर्ण बातें इस प्रकार थीं—(१) शिक्षा का उद्देश्य भारतीयों में पाश्चात्य कला, विज्ञान, दर्शन और साहित्य के ज्ञान का प्रचार था। (२) शिक्षा कुछ लोगों तक ही सीमित न होकर सर्वसाधारण तक पहुँचनी चाहिये। (३) इस उद्देश्य की सफलता के लिए भारतीय भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य था। आरंभिक शिक्षा अंगरेजी के माध्यम द्वारा न हो सकती थी। अतएव वुड ने आरंभिक शिक्षा के लिए मातृ-भाषा को और उच्च शिक्षा के लिए अंगरेजी को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया। (४) खरीते में सिफारिश की गयी थी कि सब प्रांतों में शिक्षा-विभाग खोले जायं। (५) सरकार केवल अपनी ही संस्थाओं का व्यय-भार वहन न करके सर्वसाधारण द्वारा संस्थापित शिक्षण-संस्थाओं को भी आर्थिक सहायता दिया करे। (६) खरीते में विश्व-विद्यालयों की स्थापना पर भी जोर दिया गया था। (७) उसके अनुसार शिक्षण-संस्थाओं पर सरकारी नियंत्रण बढ़ाया गया और प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण बातों के लिए शिक्षा-विभाग की अनुमति आवश्यक कर दी गयी।

सन् १८५४ से १९३५ तक—सर चार्ल्स वुड के खरीते के पश्चात् भारत में शिक्षा संबंधी अनेक घटनाएँ हुईं जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) सन् १८८२ में हंटर कमेटी की नियुक्ति हुई। इसने अनुदान के सिद्धांत को अधिक व्यापक बना कर संपूर्ण माध्यमिक शिक्षा को प्राइवेट संस्थाओं के अधीन करने का सुझाव प्रस्तुत किया।

(२) सन् १९०२ में लार्ड कर्जन ने युनीवर्सिटीज कमीशन की नियुक्ति की। उसकी सिफारिशों के आधार पर सन् १९०४ का युनीवर्सिटीज ऐक्ट स्वीकार हुआ। ऐक्ट का मुख्य उद्देश्य विश्वविद्यालयों पर सरकारी और स्कूलों और कॉलेजों पर विश्वविद्यालयों के नियंत्रण का बढ़ाना था।

(३) सन् १९०४ में भारत-सरकार ने शिक्षा की नीति से संबंधित एक नया प्रस्ताव पास किया। इसके अनुसार सरकार, प्राइमरी और सेकंडरी स्कूलों

को प्राइवेट प्रबंध में रखने के सिद्धांत को मानते हुए, प्रत्येक प्रकार के कुछ सरकारी स्कूल रखने को थी।

(४) सन् १९१३ के प्रस्ताव में भारत-सरकार ने पुराने परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालयों की स्थापना पर जोर दिया। प्रस्ताव में शिक्षकों के वेतन बढ़ाने, स्वास्थ्य-संबंधी शिक्षा, अन्वेषण-संबंधी सुविधा, बालिकाओं की शिक्षा के लिए स्त्री-शिक्षकों की व्यवस्था आदि पर जोर दिया गया था।

(५) सन् १९१७ में कलकत्ता युनीवर्सिटी के संबंध में सैडलर कमीशन की नियुक्ति हुई। उसकी सिफारिश थी कि सेकंडरी और इंटरमीजियेट कक्षाओं की शिक्षा के प्रबंध के लिए युनीवर्सिटी से पृथक् संस्थाएं स्थापित की जायं, युनीवर्सिटी की शिक्षा तीन बरस की हो, कलकत्ता विश्वविद्यालय भारत-सरकार के अधीन न हो कर बंगाल-सरकार के अधीन कर दिया जाय, स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाय और ढाका में एक नया विश्वविद्यालय खोला जाय।

(६) भारतीय शासन संबंधी सन् १९१९ के ऐक्ट के अनुसार शिक्षा का विषय हस्तांतरित होने के कारण सार्वजनिक मंत्रियों के अधीन हो गया।

(७) सन् १९३५ में समस्त भारत की शिक्षा-नीति में एक एकता बनाये रखने के उद्देश्य से सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड आफ इज्यूकेशन की पुनस्संस्थापना की गयी। इसमें राज्यों की सरकारों के प्रतिनिधि बैठते और शिक्षा-संबंधी अखिल भारतीय नीति का निर्धारण करते हैं। बोर्ड की सिफारिश के अनुसार सन् १९४५ में भारत सरकार का शिक्षा-विभाग खोला गया। सन् १९४७ में वह शिक्षा-मंत्रालय (Ministry of Education) में परिवर्तित हो गया।

मौजूदा शिक्षण-संस्थाएं—भारत में आजकल दो प्रकार की शिक्षण-संस्थाएं पायी जाती हैं। पहली वे जिन्हें सरकारी स्वीकृति प्राप्त है और दूसरी वे जिन्हें इस प्रकार की स्वीकृति प्राप्त नहीं है। अस्वीकृत संस्थाएं न तो सरकार द्वारा स्वीकृत पाठ्य-क्रम को पढ़ाती हैं और न उसके नियंत्रण को स्वीकार करती हैं। सरकारी नौकरियों के लिए उनके विद्यार्थी उपयुक्त नहीं समझे जाते। उन्हें साधारणतया सरकारी सहायता भी नहीं मिलती। इस प्रकार की अनेक संस्थाएं आजकल भारत में शिक्षा का प्रचार कर रही हैं। निम्नलिखित तालिका से हमें इस प्रकार की संस्थाओं और उनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या का पता चलता है—

	१९४६-४७	१९४९-५०
पुरुष संस्थाएं	६३२४	८४५७
स्त्री-संस्थाएं	५३७	६६४
योग	६८६१	९१२१
पुरुष-विद्यार्थी	२,३२,१४७	२,९२,०००
स्त्री-विद्यार्थी	४६,४४४	८५,०००
योग	२,७६,५९१	३,७७,०००

सरकार द्वारा अनभिज्ञात् शिक्षण-संस्थाओं में कुछ तो पुराने ढंग के पाठशाला और मकतब हैं जहां पर गुरुजी या मौलवी साहब ऐसे विषयों की शिक्षा देते हैं जिनकी पढ़ाई की व्यवस्था सरकारी या सरकार द्वारा अभिज्ञात शिक्षण-संस्थाओं में नहीं होती, जैसे मुनीमी या धार्मिक ग्रंथों की शिक्षा आदि; कुछ ऐसे दूरवर्ती स्थानों में स्थापित हैं जहां पर किसी प्रकार की अन्य शिक्षण-संस्थाएं नहीं हैं और कुछ सुविख्यात विद्वानों से संबंधित हैं।

सरकार द्वारा अभिज्ञात मौजूदा शिक्षण-संस्थाओं को हम निम्नलिखित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) प्राथमिक शिक्षालय—इनमें ६ से १० बरस तक के बालकों और बालिकाओं को शिक्षा दी जाती है। सन् १९४९-५० में इस प्रकार की संस्थाओं की संख्या ३,०६,४५७ थी और इनमें १,७७,४६,००० विद्यार्थी शिक्षा पा रहे थे।

(२) माध्यमिक शिक्षालय—इनमें १० से १६ बरस तक के बालकों और बालिकाओं की शिक्षा की व्यवस्था है। सन् १९४९-५० में समस्त भारत में इस प्रकार के १९,६६४ स्कूल थे और उनमें ४३,९०,००० विद्यार्थी शिक्षा पा रहे थे। लगभग १,६१,००० विद्यार्थी इंटरमीजियेट कक्षा के थे।

(३) कॉलेज और विश्वविद्यालय—भारत में इस समय (सन् १९५३ में) ३० विश्व-विद्यालय हैं। सन् १९४९-५० में कालेजों की संख्या ४५७ थी और उनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या १,०५,०००। इस संख्या में इंटरमीजियेट कक्षा के विद्यार्थियों की संख्या सम्मिलित नहीं है। पर (Affiliating) विश्व-विद्यालयों में उनके अधीन कॉलेजों के विद्यार्थियों की संख्या सम्मिलित कर ली गयी है।

प्राथमिक शिक्षा—उत्तम नागरिकता के लिए आरंभिक शिक्षा की आवश्यकता के विषय में दो मतों का होना असंभव है। किंतु भारत की विदेशी

सरकार ने, इस पर किसी प्रकार का ध्यान न दिया था। निर्धनता के कारण जनता भी बालकों और बालिकाओं की शिक्षा की ओर से उदासीन थी। फलस्वरूप अंगरेजी शासनकाल में जनता की निरक्षरता बढ़ती गयी यहाँ तक कि समस्त भारत में शिक्षित लोगों की संख्या १० प्रतिशत् से भी कम हो गयी। भारतीय शासन संबंधी सन् १९१९ के ऐक्ट के अनुसार, जब शिक्षा का विषय सार्वजनिक मंत्रियों के हाथ में आया, तब इस दिशा में कुछ काम किया गया। आरंभिक शिक्षा प्रधानतया नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों आदि के अधीन कर दी गयी। विभिन्न प्रांतों में प्राइमरी इज्यूकेशन ऐक्ट स्वीकार हुए और उनमें आवश्यकतानुकूल संशोधन किये गये। अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा की भी व्यवस्था की गयी। यदि कोई स्थानीय संस्था अपने क्षेत्र में अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा आरंभ करना चाहती थी, तो निर्धारित शर्तों की पूर्ति के पश्चात, प्रांतीय सरकार की अनुमति से वह ऐसा कर सकती थी। पर परिस्थिति में विशेष अंतर न हुआ। इसके कारण कहीं-कहीं यह चर्चा होने लगी कि आरंभिक शिक्षा को, स्थानीय संस्थाओं के हाथ से लेकर किसी केंद्रीय संस्था के अधीन किया जाय।

सन् १९४० तक प्रचलित आरंभिक शिक्षा के दोषों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं। (१) शिक्षा का जीवन से किसी प्रकार का संबंध न था। शिक्षा और साक्षरता पर्यायवाची शब्द हो गये थे। (२) अनेक अवसरों पर विद्यार्थियों का समय और सरकारी धन व्यर्थ ही नष्ट होते थे। बालक और बालिकाएं निर्धारित समय तक विद्याध्ययन न करके, बीच में ही छोड़ बैठते थे। अतएव कुछ दिनों के पश्चात वे वह भी भूल जाते थे, जो उन्हें सिखलाया गया था। (३) विद्यार्थियों के स्वास्थ्य, चरित्र-निर्माण, शरीर-गठन आदि पर कुछ भी ध्यान न दिया जाता था। (४) इन शिक्षालयों में न तो सहयोगी जीवन पर जोर दिया जाता था और न कार्यात्मक शिक्षा पर। (५) इन शिक्षालयों में उपयुक्त अध्यापकों की भी कमी थी। वेतन कम होने के कारण वे ही लोग अध्यापक बनते थे जो किसी और काम के योग्य न थे। (६) निरक्षर प्रौढ़ों की शिक्षा पर लेशमात्र भी ध्यान न दिया जाता था।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि सन् १९३५ में सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड आफ इज्यूकेशन की पुनर्स्थापना हुई थी। उसी साल उसने शिक्षा के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकार किया जिसके अनुसार शिक्षा के पुनर्संगठन के संबंध में जांच और सिफारिश करने के लिए दो विशेषज्ञों की एक कमेटी नियुक्त हुई। सदस्यों के नाम पर इसे वुड-एबट (Wood-Abbot) कमेटी कहते हैं। प्राइमरी शिक्षा के संबंध में इसकी मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं—(१)

जहाँ तक संभव हो, शिशुओं की शिक्षा स्त्री-शिक्षकों के हाथ में हो। फल-स्वरूप स्त्रियों की शिक्षा की अधिक व्यवस्था अनिवार्य थी। (२) प्राइमरी शिक्षा का आधार किताबी ज्ञान नहीं वरन् बच्चों का स्वाभाविक झुकाव तथा उनकी क्रियाशीलता होनी चाहिये। साक्षरता पर अधिक जोर देना शिक्षा के उद्देश्य को संकीर्ण तथा उसे दूषित बना देना है। सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड ने इन सिफारिशों के साथ-साथ जाकिर हुसेन कमेटी की रिपोर्ट पर भी विचार किया जिसमें गांधी जी द्वारा प्रतिपादित नयी तालीम या बुनियादी शिक्षा पर विचार किया गया था।

बुनियादी शिक्षा या नयी तालीम—बुनियादी शिक्षा आधुनिक शिक्षा सिद्धांत के आधारभूत तत्त्वों पर अवलंबित है। उसके संबंध में सर्वप्रथम गांधी जी ने अपने विचार जुलाई सन् १९३७ के 'हरिजन' में प्रकाशित किये थे। "शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक और मनुष्य के शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास से है। बालक में जो भी सौंदर्य है उसका विकास ही शिक्षा है। शिक्षा और साक्षरता पर्यायवाची शब्द नहीं है। साक्षरता न तो शिक्षा का आदि है और न अंत। वह तो नर-नारियों को शिक्षित बनाने का साधन-मात्र है। अतएव मैं शिक्षा का आरंभ साक्षरता से नहीं, वरन् कार्य से करना चाहता हूँ। बालक की शिक्षा उसी समय आरंभ होती है जब वह कुछ करना सीखता है, कुछ वस्तुएं बनाने लगता है।" गांधी जी के उक्त विचारों में बुनियादी शिक्षा के निम्नलिखित सिद्धांत निहित हैं—(१) बालकों को सात बरस तक अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा दी जाय। (२) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो। इसके कारण बालक शिक्षा को स्वाभाविक रूप से ग्रहण कर सकेगा। (३) शिक्षा स्थानीय दस्तकारियों द्वारा दी जाय। गांधी जी का विचार था कि शिक्षा का आरंभ अक्षर-ज्ञान और पढ़ाई-लिखाई से नहीं वरन् उद्योग और उसके द्वारा होना चाहिये। औद्योगिक शिक्षा द्वारा गांधी जी भारतीय जीवन में उद्योग को एक आदरणीय स्थान देना चाहते थे। (४) शिक्षा स्वावलंबी हो। गांधी जी एक ऐसे समाज के समर्थक थे जिसका प्रत्येक व्यक्ति स्वावलंबी हो अर्थात् कोई किसी के ऊपर अपनी जीविका के लिए निर्भर न हो और स्वावलंबन सहयोग के आधार पर हो। स्कूलों के स्वावलंबी बनाने के लिए उन्होंने यह सुझाव पेश किया कि सरकार को उनकी बनी हुई वस्तुओं को मोल लेना चाहिये।

गांधी जी के उक्त क्रांतिकारी विचारों पर विचार करने के लिए अक्टूबर सन् १९३८ में प्रांतीय शिक्षा-मंत्रियों की एक सभा वर्धा में हुई और उसने नयी तालीम के सिद्धांतों को स्वीकार करके, उसके पाठ्य-क्रम को बनाने के लिए

डा० जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में एक कमेटी की नियुक्ति की। कालांतर में विभिन्न प्रांतों में नयी तालीम के अनुसार शिक्षा आरंभ हुई। किंतु सन् १९३९ में, द्वितीय महासमर के कारण, जब कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने अपना त्याग-पत्र दे दिया तो नयी तालीम में भी कुछ शिथिलता आयी और क्रमशः बिहार के अतिरिक्त प्रायः सभी प्रांतों में वह एक प्रकार से बंद सी हो गयी। सन् १९४२ की क्रांति के कारण उसको और भी ठेस लगी; किंतु उसके पश्चात् जब गांधी जी आगा खाँ के महल से छूटे, तो उन्होंने नयी तालीम को बिल्कुल ही नये रूप में सर्व-साधारण के सम्मुख रखा। "अपनी कैद में मैं नयी तालीम की संभावनाओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करता रहा हूँ। यहां तक कि मेरा मन उसके संबंध में उद्विग्न हो गया। हमें अपनी मौजूदा सफलताओं से ही संतुष्ट न हो जाना चाहिये। हमें बच्चों के घरों में हाथ बंटाना चाहिये। हमें उनके माता-पिता को भी शिक्षित बनाना चाहिये। बुनियादी शिक्षा को अक्षरशः जीवन की शिक्षा बन जानी चाहिये।" गांधी जी के उक्त विचारों के कारण बुनियादी शिक्षा का नया अध्याय आरंभ हुआ। जनवरी सन् १९४५ में रचनात्मक कार्य-कर्ताओं और बुनियादी शिक्षकों का एक सम्मेलन वर्धा में हुआ। गांधी जी ने उसका उद्घाटन निम्नलिखित शब्दों में किया—"अभी तक हम एक सुरक्षित खाड़ी में थे और हमारे कार्य का निश्चित क्षेत्र था। आज हम इस सुरक्षित खाड़ी से खुले समुद्र में फेंके जा रहे हैं। हमें मार्ग दिखलाने के लिए देहाती घरेलू दस्तकारियों का ही ध्रुव तारा है। हमारा क्षेत्र अब ७ से १४ बरस के बच्चों से ही सीमित नहीं है। आज नयी तालीम ने अपना क्षेत्र गर्भाधान से मृत्यु पर्यंत समस्त जीवन में विस्तृत कर दिया है।" नयी तालीम के इस रूप को व्यावहारात्मक बनाने के लिए उसके संबंध में निम्नलिखित कार्यक्रम निश्चित किया गया—(१) प्रौढ़ों की शिक्षा; अर्थात् सब स्त्रियों और पुरुषों की शिक्षा; इसमें गर्भवती स्त्रियों और शिशियुक्त माताओं की शिक्षा सम्मिलित है। (२) सात बरस से कम बच्चों की शिक्षा; (३) ७ से १४ बरस तक के बालकों की बुनियादी शिक्षा। (४) उन लोगों की शिक्षा जो बुनियादी शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं।

इधर सरकार भी अपना काम कर रही थी। एबट-वुड और डा० जाकिर हुसेन कमेटियों से उत्पन्न समस्याओं की जाँच के लिए उसने कई उप-समितियों की नियुक्ति की। सन् १९४३ और सन् १९४४ में सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड ने युद्धोपरांत शिक्षा के विकास के संबंध में कुछ सिफारिशें कीं। इन्हें साधारण बोल-चाल में सारजेंट (Sargent) रिपोर्ट कहते हैं। प्राइमरी शिक्षा के

संबंध में उसकी सिफारिशें इस प्रकार थीं—(१) ६ से १४ बरस तक के बालक और बालिकाओं के लिए अनिबार्य निःशुल्क प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था शीघ्रातिशीघ्र की जाय। उपयुक्त शिक्षकों के अभाव में यह योजना १६ बरस में पूरी की जाय। (२) शिक्षा का स्वरूप वही हो जो बुनियादी शिक्षा की कमेटियों द्वारा निर्धारित किया गया है। (३) सीनियर बुनियादी अर्थात् मिडिल स्कूलों की शिक्षा और अध्यापकों पर अधिक धन खर्च किया जाय। (४) शिक्षा, अध्यापकों पर निर्भर करती है। अतः उनकी स्थिति में सुधार किया जाय। (५) स्त्री-शिक्षकों की संख्या बढ़ायी जाय। (६) नर्सरी स्कूलों की शिक्षा में पढ़ाई-लिखाई की अपेक्षा सामाजिक अनुभव पर अधिक ध्यान दिया जाय। (७) प्रौढ़ों की शिक्षा पर भी ध्यान दिया जाय, केवल साक्षर बनाने के लिए नहीं वरन् इस उद्देश्य से कि उनमें स्वतंत्र देश की नागरिकता के समस्त गुण आ जायँ।

इस रिपोर्ट के आधार पर देश में प्राथमिक शिक्षा का विकास होने लगा। मार्च सन् १९५१ में बुनियादी शिक्षा का सातवां अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ। उसके विचारों से यह स्पष्ट है कि बुनियादी शिक्षा के कारण विद्यार्थियों के बौद्धिक ज्ञान में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई है। संभवतः इस प्रकार के विद्यार्थी पूर्वकालीन विद्यार्थियों से श्रेष्ठतर होते हैं। बुनियादी अध्यापकों की शिक्षा-दीक्षा की भी व्यवस्था की गयी है।

बुनियादी शिक्षा की आलोचना—बुनियादी शिक्षा के उपर्युक्त विवरण के पश्चात् यह आवश्यक है कि उसके संबंध में जो मत प्रगट किये गये हैं उनका भी थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय। बुनियादी शिक्षा में, शिक्षा सिद्धांत की अब तक बतलायी गयी सभी मौलिक बातों का समावेश है। भारत की मौजूदा परिस्थिति में, उसके लिए बुनियादी शिक्षा से बढ़कर दूसरी शिक्षा-पद्धति नहीं हो सकती। वह बालक को केंद्र मान तथा वातावरण के महत्त्व को स्वीकार करके उसे शिक्षित बनाना चाहती है। उसमें सहकारिता और स्वावलंबन के भाव विद्यमान हैं और स्वतंत्र अनुशासन पर जोर दिया जाता है। पर कुछ लोग बुनियादी शिक्षा को केवल खेलकूद समझते और इस लिए उसका विरोध करते हैं। कुछ उसके स्वावलंबी आदर्श को स्वीकार नहीं करते। आधुनिक भारत में प्रायः सभी वर्गों के लोग धन की कमी से व्यथित हैं। अध्यापकों की भी यही अवस्था है। अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा में सरकार को उसका सारा खर्च सहन करना पड़ता है। योग्य अध्यापकों को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें पर्याप्त वेतन मिले। शिक्षा के स्वावलंबी होने में यह न हो सकेगा। वह तो एक आदर्श व्यवस्था है जो उसी समय पूरी हो सकेगी, जब सब मनुष्य

स्वावलंबी बन जायँ। योग्य और चरित्रवान अध्यापकों के बिना, जिन्हें समाज आदर की दृष्टि से देखे, बुनियादी शिक्षा सफल न हो सकेगी। बुनियादी शिक्षा की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि उसके पाठ्य-क्रम में अधिक निश्चयता हो। बारबार पाठ्य-क्रम का बदलना इस बात का प्रतीक है कि जिनके हाथ में शिक्षा का सूत्र है वे अपना रास्ता खोजने के लिए विद्यार्थियों और अध्यापकों के साथ प्रयोग कर रहे हैं। पाठ्य-ग्रंथों को भी इस प्रकार चुनना चाहिये कि विद्यार्थियों को विषय का वास्तविक ज्ञान हो और उनके द्वारा किसी प्रकार का प्रचार-कार्य न किया जाय। यह दोष बुनियादी शिक्षा का नहीं, वरन् उन लोगों का है जिनके हाथ में किंचित काल के लिए उसकी व्यवस्था का अधिकार दिया गया है।

मिडिल और हाई स्कूलों की शिक्षा—भारत में प्रचलित मौजूदा मिडिल और हाई स्कूलों की शिक्षा में बड़ी विभिन्नता है। कुछ हाई स्कूलों में कक्षा ३ से १० तक की शिक्षा दी जाती है, कुछ में ७ से १० तक की, कुछ में केवल नवीं और दसवीं कक्षा की और कुछ में ९ से १२ कक्षा तक की। मध्य भारत, मद्रास और उड़ीसा के हाई स्कूलों में ९ वीं से ११ वीं कक्षाओं तक की पढ़ाई होती है और दिल्ली के हायर सेकंडरी स्कूलों में भी ११ वीं कक्षा तक की। शिक्षण-संस्थाओं में कुछ तो पूर्णतया सरकारी हैं और कुछ प्राइवेट। प्राइवेट संस्थाओं में अधिकांश को सरकारी सहायता मिलती है और सरकारी निरीक्षकों द्वारा उनका आवश्यकतानुकूल निरीक्षण होता है। हाई स्कूल के पश्चात् सार्वजनिक परीक्षा होती है। इसका संचालन या तो विश्व-विद्यालय करते हैं या हाई स्कूल और इंटरमीजियेट बोर्ड इलाहाबाद की भांति विशेष रूप से संगठित संस्थाएँ। इन स्कूलों के पाठ्य-क्रमों में किताबी ज्ञान की प्रधानता है और सारी शिक्षा इस उद्देश्य से दी जाती है कि विद्यार्थी हाई स्कूल पास करके विश्व-विद्यालयों में भरती हों। औद्योगिक शिक्षा का अभाव है और परीक्षाओं की प्रधानता इतनी अधिक है कि विद्यार्थी शिक्षित होने की अपेक्षा परीक्षा पास करने की ओर अधिक झुक जाते हैं। अनेक शिक्षालय धन की कमी के कारण व्यापारिक आधार पर चलाये जाते हैं। कुछ में अध्यापकों को पर्याप्त वेतन नहीं मिलता। शिक्षण-संस्थाओं में नैतिक वातावरण का अभाव है। प्रायः प्रत्येक स्कूल में ड्रिल की व्यवस्था है पर उसका, विद्यार्थियों के शरीर-गठन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। फल-स्वरूप इन स्कूलों में शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थियों का न तो पर्याप्त मात्रा में बौद्धिक विकास होता है और न नैतिक और शारीरिक विकास ही। अध्यापकों की भी अवस्था अच्छी नहीं है। उनको पर्याप्त वेतन नहीं

मिलता और न उनके साथ आदर का बर्ताव ही किया जाता है। कई प्रांतों में हाई स्कूलों की पढ़ाई अंगरेजी के माध्यम द्वारा होती है और वैकल्पिक विषय इतने अधिक है कि विद्यार्थियों को विषय-निर्धारण में अनावश्यक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

सन् १९३५ में सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड आफ इज्यूकेशन की पुनर्स्थापना के के पश्चात, इस विषय पर भी ध्यान दिया गया था और सरकार द्वारा नियुक्त विभिन्न कमेटियों ने इसके संबंध में महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की थीं। एबट-वुड कमेटी की सिफारिश थी कि हाई स्कूलों की शिक्षा मातृ-भाषा के माध्यम द्वारा हो, पर प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अंगरेजी का ज्ञान अनिवार्य समझा जाय। कार्यात्मक शिक्षा पर अधिक ध्यान देना चाहिये और तत्संबंधी अध्यापकों की प्राप्ति की विशेष व्यवस्था होनी चाहिये। सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड द्वारा नियुक्त कमेटी ने हाई स्कूलों की शिक्षा के संबंध में निम्नलिखित सिफारिशें कीं—(१) हाई स्कूलों की शिक्षा का काल छः बरस होना चाहिये। (२) हाई स्कूलों की भरती चुनाव के आधार पर होनी चाहिये। (३) जहाँ तक हो सके, हाई स्कूल अवस्था के विद्यार्थियों में से २० प्रतिशत को इन स्कूलों में स्थान मिलना चाहिये। (४) हाई स्कूल दो प्रकार के हों, एक शैक्षिक (Academic) और दूसरे टेकनिकल। दोनों में सर्वांगीण शिक्षा के साथ, विद्यार्थियों के भविष्य की भी तैयारी होनी चाहिये। (५) पाठ्य-क्रम में आवश्यकतानुकूल विभिन्नता होनी चाहिये। (६) निर्धन पर अच्छे विद्यार्थियों की सहायता के लिए छात्रवृत्तियों की व्यवस्था होनी चाहिये। (७) योग्य अध्यापकों की प्राप्ति के लिए उन्हें कम से कम वह वेतन मिलना चाहिये जिसे सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड ने निर्धारित किया है। महासमर के पश्चात् शिक्षा के पुनर्संगठन के संबंध में सारजेंट रिपोर्ट में (जिसे भारत-सरकार ने स्वीकार कर लिया है) हाई स्कूल और सेकंडरी शिक्षा के संबंध में निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया है—(१) सेकंडरी शिक्षा का उद्देश्य एक ओर बुनियादी और दूसरी ओर कार्यात्मक और विश्वविद्यालयों की शिक्षा में संबंध स्थापित करना है। (२) कॉलेजों में भरती होने के पूर्व विद्यार्थियों को आठ बरस तक बुनियादी और चार बरस तक सेकंडरी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। (३) जूनियर बेसिक शिक्षा के पश्चात् संघीय भाषा की शिक्षा आरंभ हो जानी चाहिये। जब तक विश्व-विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंगरेजी रहे, तब तक सेकंडरी स्टेज में अंगरेजी की शिक्षा अनिवार्य रूप से होनी चाहिये। (४) अध्यापकों का वेतन और उनकी नौकरी की शर्तें संशोधनों सहित सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड की सिफारिशों के अनुसार होनी चाहिये। (५)

स्कूलों में नवयुवक आंदोलन, स्काउट आंदोलन आदि पाठ्य-क्रम से बाहर की बातों को प्रोत्साहन मिलना चाहिये। सेकंडरी शिक्षा की उपरिवर्णित सिफारिशें, शिक्षा-विशारदों को संतोषप्रद न थीं। अतएव सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड ने सरकार से एक ऐसे कमीशन की नियुक्ति की सिफारिश की जो सेकंडरी शिक्षा के उद्देश्य और ध्येय तथा बुनियादी और विश्व-विद्यालयों की शिक्षा के साथ उसके संबंध पर विचार एवं सिफारिशें करे। डा० ए० लक्ष्मण-स्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में इस प्रकार के कमीशन की नियुक्ति कर दी गयी है। उसका काम अभी तक पूरा नहीं हुआ है।

उपर्युक्त कमेटियों की सिफारिशों के आधार पर हम सेकंडरी शिक्षा के संबंध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं—(१) पाँच बरस तक जूनियर बेसिक और तीन बरस तक सीनियर बेसिक शिक्षा के पश्चात् विद्यार्थियों को चार बरस सेकंडरी शिक्षा मिलनी चाहिये। (२) शिक्षा मातृ-भाषा के माध्यम द्वारा होनी चाहिये। (३) सेकंडरी स्टेज में प्रत्येक विद्यार्थी को अंगरेजी की शिक्षा मिलनी चाहिये। यह व्यवस्था तब तक रहेगी जब तक विश्व-विद्यालयों की शिक्षा अंगरेजी के माध्यम द्वारा हो। (४) सेकंडरी स्टेज में कार्यात्मक शिक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिये। कुछ सेकंडरी स्कूलों में विश्व-विद्यालयों के लिए उपयुक्त शिक्षा का प्रबंध होना चाहिये और कुछ में ऐसी जिसे प्राप्त करके विद्यार्थी विभिन्न प्रकार के कामों में लग जायँ। (५) योग्य अध्यापकों की प्राप्ति के लिए उनके वेतन में वृद्धि और नौकरी की शर्तों में सुधार होना चाहिये।

भारत-सरकार तथा संघांतरित राज्यों की सरकारों ने सेकंडरी शिक्षा संबंधी उक्त सिद्धांतों को स्वीकार कर लिया है और वे उन्हें क्रमशः कार्यरूप में परिणत कर रही हैं। किंतु सुधार की गति बड़ी मंद है। नये हाई स्कूल नित्य-प्रति खोले जा रहे हैं। सरकार उन्हें आर्थिक सहायता देती तथा उनके लिए इमारतों का प्रबंध करती है। पर कार्यात्मक शिक्षा का प्रचार बहुत कम हुआ है। अध्यापकों का वेतन कुछ बढ़ाया तो गया है, पर सर्वतोमुखी महँगाई के कारण वह आज भी पर्याप्त नहीं है। शिक्षा के पाठ्य-क्रम में निश्चयता का अभाव है। आरंभिक शिक्षा की भाँति इसके प्रबंधकर्त्ता भी विद्यार्थियों और अध्यापकों के साथ प्रयोग कर रहे हैं। सेकंडरी शिक्षा में बड़ी विभिन्नता पायी जाती है। इसे दूर करके जहाँ तक संभव हो, समस्त देश में एक ही प्रकार की सेकंडरी शिक्षा होनी चाहिये। संभव है कि सेकेंडरी कमीशन की रिपोर्ट के पश्चात् इस संबंध में आवश्यक सुधार किये जायँ।

विश्वविद्यालय—आरंभिक और सेकंडरी शिक्षण-संस्थाओं के अतिरिक्त हमारे देश में ३० विश्वविद्यालय हैं जिनमें उच्च शिक्षा की व्यवस्था है। कुछ विश्व-विद्यालय, (जैसे आगरा विश्व-विद्यालय) अपने अधीन कॉलेजों में शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थियों की केवल परीक्षा ही लेते हैं। कुछ (जैसे कलकत्ता विश्व-विद्यालय) अपने अधीन कालेजों में शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थियों की परीक्षा लेने के अतिरिक्त उच्चकोटि की शिक्षा तथा अन्वेषण की व्यवस्था करते हैं। कुछ में केवल शिक्षा और अन्वेषण की ही व्यवस्था है। अधीन कॉलेजों के न होने के कारण, वे उन्हीं विद्यार्थियों की परीक्षा लेते हैं जिनकी शिक्षा की व्यवस्था वे स्वयं करते हैं। उत्तर-प्रदेश में लखनऊ इलाहाबाद, अलीगढ़ और बनारस के विश्व-विद्यालय इसी प्रकार के हैं। विश्व-विद्यालय विधान-सभाओ द्वारा स्वीकृत ऐक्टों के अनुसार स्थापित किये गये हैं और उनके अंतर्गत उन्हें आंतरिक बातों में स्वतंत्रता है। वे स्वयं अपना बजट बनाते, अध्यापकों को नियुक्त करते, पाठ्य-क्रम और पाठ्य-ग्रंथ निर्धारित करते तथा परीक्षाओं का संचालन करते हैं। उनके प्रबंध के लिए चांसलर, प्रो० वाइस-चांसलर आदि अधिकारियों के अति-रिक्त कौंसिल, सेनेट, कोर्ट आदि कई संस्थाएँ होती हैं, पर साधारणतया उनके प्रबंध में वाइस-चांसलर की प्रधानता होती है। प्रत्येक विश्व-विद्यालय में कई फैकल्टियां (जैसे कला, विज्ञान, कानून, कृषि की फैकल्टियां) हैं जो अपने संबंधित विषयों की शिक्षा की व्यवस्था करती हैं। हाईस्कूल परीक्षा को पास करके प्रत्येक विद्यार्थी विश्व-विद्यालय में पढ़ना चाहता है, इस लिए नहीं कि उसे अधिक ज्ञानार्जन हो वरन् इस लिए कि उसमें शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वह अधिक धन कमा सके। कुछ विश्व-विद्यालयों की पढ़ाई इंटरमीजियेट क्लास से आरंभ होती है और कुछ की बी० ए० से। उनकी सबसे ऊँची डिग्री डाक्टरी की है। उसका नाम विभिन्न विश्व-विद्यालयों में अलग-अलग है।

भारतीय विश्व-विद्यालयों में अनेक दोष पाये जाते हैं। उनमें से कुछ का संबंध उनके प्रबंध से है और कुछ का शिक्षा की व्यवस्था से। प्रबंध के दोषों में सर्व प्रथम का संबंध वाइस-चांसलरों से है। कुछ विश्व-विद्यालयों के वाइस-चांसलर उनकी कोर्ट द्वारा चुने जाते हैं, कुछ में विश्व-विद्यालयों की संस्थाएँ निर्धारित संख्या में उम्मेदवारों की सिफारिश करती और राज्य के राज्यपाल उनमें से किसी एक को नियुक्त करते हैं और कुछ में उनकी नियुक्ति सरकार द्वारा होती है। प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में दलबंदी का दोष पाया जाता है। इसके कारण अध्यापक लोग भी अपने काम को न कर के, व्यर्थ के संघर्ष में लगे रहते तथा विश्व-विद्यालयों के वातावरण को दूषित कर देते हैं।

सांप्रदायिकता और जाति-भावना के दोषों से भी भारतीय विश्व-विद्यालय मुक्त नहीं हैं। नियुक्तियों के संबंध में प्रायः यह सुना जाता है कि वे योग्यता के आधार पर नहीं, वरन् जाति और संप्रदाय के आधार पर की जाती हैं।

विश्व-विद्यालयों के अध्यापक साधारणतया तीन श्रेणियों—प्रोफेसर, रीडर और लेक्चरार में विभक्त हैं। प्रोफेसरों को सबसे अधिक वेतन मिलता है, रीडरों को उनसे कम और लेक्चरारों को सब से कम। तीनों प्रकार के अध्यापकों से विभिन्न प्रकार के काम की आशा की जाती है। प्रोफेसरों और रीडरों से अध्यापन की अपेक्षा अन्वेषण की अधिक आशा की जाती है। फलस्वरूप उन्हें पढ़ाई का काम कम करना पड़ता है। वेतन और काम के समय दोनों की दृष्टि से एक प्रोफेसर नौ लेक्चरारों के बराबर है। यह अवस्था उस समय विशेष रूप से खटकने लगती है जब उच्च श्रेणी के अध्यापक अन्वेषण आदि न करके दलबंदी में फँसे रहते है और अध्यापन का काम भी संतोषपूर्वक नहीं करते। इनके कारण कॉलेजों और विश्व-विद्यालयों का वातावरण कुछ दूषित सा हो गया है। अध्यापक २४ घंटे के नौकर समझे जाते हैं। अधिकारियों की आज्ञा के बिना वे किसी दूसरे काम को नहीं कर सकते। फलस्वरूप वे साधारणतया अव्यावहारिक होते हैं। भारतीय नेता भी उनके विरुद्ध यही आरोप लगाया करते हैं, पर अभी तक उन्होंने उन्हें व्यावहारिक बनाने की कोई योजना नहीं बनायी है।

विश्व-विद्यालयों की शिक्षा में भी कई दोष हैं। शिक्षा के कार्यात्मक आधार के अभाव में, विश्व-विद्यालयों में शिक्षित विद्यार्थी हाथ से काम करना आदर की दृष्टि से नहीं देखते। शिक्षित होने के पश्चात् वे नौकरी की खोज में इधर-उधर घूमने लगते हैं। पर देश में इतनी नौकरियाँ कहाँ? अतएव विश्व-विद्यालयों के कारण देश के सन्मुख शिक्षित लोगों की बेकारी की समस्या है। शिक्षा का ढंग भी ठीक नहीं है। विद्यार्थी केवल परीक्षा पास करने में लगे रहते हैं, ज्ञानार्जन में नहीं। शिक्षा अंगरेजी के माध्यम द्वारा दी जाती है। व्याख्यानों की प्रधानता है और लिखाई का काम बहुत कम लिया जाता है। अतएव विद्यार्थियों के ज्ञान में निश्चयता नहीं आने पाती। इन दोषों के कारण, भारतीय विश्व-विद्यालय, उपयोगी होते हुए भी, उतना अच्छा काम नहीं कर सके हैं जितना वे अन्यथा कर सकते थे।

इंटर युनीवर्सिटी बोर्ड—सब विश्व-विद्यालयों की नीति और कामों में सामंजस्य स्थापित करने तथा अध्यापकों के विनिमय के उद्देश्य से, लगभग २९ बरस हुए, इंटर-युनीवर्सिटी बोर्ड की स्थापना हुई थी। इसका प्रति वर्ष एक

अधिवेशन होता है। साधारणतया विश्व-विद्यालयों के वाइस-चांसलर या प्रो० वाइस-चांसलर ही इसमें अपने-अपने विश्व-विद्यालयों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सन् १९४८ का अधिवेशन ए० लक्ष्मण स्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में मद्रास में हुआ था। उसके द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों का भावार्थ इस प्रकार है—(१) शिक्षा को व्यावहारिक झुकाव देने के लिए विश्व-विद्यालयों को व्यापार, विदेशी संबंध-संचालन आदि की उपयुक्त शिक्षा आरंभ करनी चाहिये और भारत-सरकार और प्रांतीय तथा राज्यों की सरकारों को इसके लिए आवश्यक धन की व्यवस्था करनी चाहिये। (२) प्रत्येक विश्व-विद्यालय के वाइस-चांसलर को पूर्णकालीन अधिकारी होना चाहिये। (३) प्रत्येक विश्व-विद्यालय में एक अर्थ-कमेटी होनी चाहिये। (४) युनिवर्सिटी अनुदान-कमेटी को इंगलैंड और वेल्स की कमेटी के आधार पर पुनर्संगठित करना चाहिये। (५) युनीवर्सिटी की शिक्षा, संगठन और प्रबंध की जाँच और तत्संबंधी रिपोर्ट के लिए एक कमीशन की नियुक्ति होनी जाहिये।

युनीवर्सिटी कमीशन—इंटर-युनीवर्सिटी बोर्ड तथा अन्य संस्थाओं की मांग के कारण भारत-सरकार ने दिसंबर सन् १९४८ में, सर एस० राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में दस सदस्यों का एक कमीशन, विश्व-विद्यालयों की विभिन्न समस्याओं की जांच करने के लिए, नियुक्त किया। कमीशन के कार्य-क्षेत्र की मुख्य बातें इस प्रकार थीं—(१) विश्व-विद्यालयों में शिक्षा और अन्वेषण के उद्देश्य और ध्येय। (२) विश्व-विद्यालयों के संगठन, कार्य और अधिकार-क्षेत्र तथा उनके और प्रांतीय और केंद्रीय सरकारों के संबंध में आवश्यक परिवर्तनों की सिफारिश। (३) विश्व-विद्यालयों की आर्थिक स्थिति। (४) विश्व-विद्यालयों और कॉलेजों में शिक्षा और परीक्षा के उच्चतम स्तर की व्यवस्था। (५) शिक्षा का माध्यम। (६) प्रादेशिक विश्व-विद्यालयों की स्थापना। (७) विश्व-विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था। (८) अध्यापकों की योग्यताएं, नौकरी की शर्तें, वेतन आदि। (९) विद्यार्थियो में अनुशासन, छात्रावास और ट्यूटोरियल शिक्षा की व्यवस्था।

कमीशन ने लगभग छः महीने के परिश्रम के पश्चात अपनी रिपोर्ट भारत-सरकार के सम्मुख उपस्थित की। उसकी मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं—(१) शिक्षा का उद्देश्य विभिन्न विद्याओं का समन्वय करना है। विभिन्नताओं के होते हुए जीवन एक इकाई है। जिन विषयों का हम अध्ययन करें, उनकी शिक्षा सर्व-व्यापक पाठ्य-क्रम के अंग के रूप में होनी चाहिये। (२) १२ बरस प्राइमरी और सेकंडरी शिक्षा प्राप्त

करने के पश्चात् विद्यार्थियों की भरती कॉलेजों और विश्व-विद्यालयों में होनी चाहिये। बी० ए० की पढ़ाई में तीन बरस लगना चाहिये और जो विद्यार्थी आनर्स सहित बी० ए० पास करें, उन्हें एक बरस में एम० ए० की डिग्री लेने का अधिकार होना चाहिये। कमीशन ने विश्व-विद्यालयों और कॉलेजों में कला और विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की अधिकतम संख्या ३००० और १५०० निर्धारित की और विद्यार्थियों को अधिक योग्य बनाने के उद्देश्य से, ट्यूटोरियल और सेमीनार्स तथा अधिक अच्छे पुस्तकालयों की आवश्यकता पर जोर दिया। (३) अन्वेषण के संबंध में कमीशन ने यह सिफारिश की कि डाक्टरी के विद्यार्थियों को अपने विषय का संकीर्ण विशेषज्ञ न हो कर अधिक व्यापक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। विश्व-विद्यालयों का मुख्य काम आधारभूत अन्वेषण का करना है। किंतु यदि वे अपने विषयों में व्यवहारात्मक अन्वेषण करें तो उन पर किसी प्रकार का प्रतिबंध न होना चाहिये। (४) उच्च शिक्षा भारतीय भाषाओं के माध्यम द्वारा होनी चाहिये। साधारणतया शिक्षा प्रादेशिक भाषा के माध्यम द्वारा होनी चाहिये किंतु विश्व-विद्यालयों को संघीय भाषा में कुछ या सब विषयों की शिक्षा के प्रबंध का विकल्प होना चाहिये। कमीशन ने कुछ सुधारों के उपरांत देवनागरी को भारत की लिपि स्वीकार किया और पारिभाषिक शब्दों के निर्धारण के लिए एक बोर्ड की नियुक्ति की सिफारिश की। (५) व्यवसायात्मक शिक्षा के संबंध में कमीशन ने कृषि, व्यापार, शिक्षा, इंजीनियरी, कानून, टेकनालॉजी आदि की शिक्षा की सिफारिश की। तीन बरस में बी० ए० की डिग्री प्राप्त करने के पश्चात्, कमीशन ने कानून की डिग्री के लिए दो बरस की पढ़ाई को आवश्यक बतलाया। (६) कमीशन ने अध्यापकों को पूर्ववत् तीन श्रेणियों में रखा, पर उनके वेतन बढ़ाने की सिफारिश की। विश्व-विद्यालयों, एम० ए० सहित डिग्री कॉलेजों और बिना एम० ए० के डिग्री कॉलेजों के संबंध में अलग-अलग सिफारिशें की गयी हैं। (७) धार्मिक शिक्षा के संबंध में कमीशन ने प्रथम वर्ष के लिए कुछ समय तक चिंतन पर जोर दिया; द्वितीय वर्ष के लिए गौतम बुद्ध, सुकरात, मुहम्मद, ईसा मसीह, कबीर, नानक ऐसे धार्मिक नेताओं के जीवन-चरित्रों के अध्ययन पर और तृतीय वर्ष के लिए धर्म की केंद्रीय समस्याओं के अध्ययन पर (८) विश्व-विद्यालय के वाइस-चांसलर को पूर्णकालीन वैतनिक कर्मचारी होना चाहिये। उसकी नियुक्ति का अधिकार इक्जीक्यूटिव कमेटी की सिफारिश पर चांसलर को होना चाहिये। जो व्यक्ति वाइस-चांसलर बनने के लिए प्रयत्नशील हो उसे उसके लिए अनुपयुक्त समझना चाहिये।

शिक्षा संबंधी प्रमुख समस्याएं—भारतीय शैक्षिक जीवन की निम्नलिखित समस्याएँ विचारणाय हैं—

(१) योग्य अध्यापकों और अध्यापिकाओं की समस्या—भारतीय शैक्षिक जीवन की सर्वप्रथम समस्या योग्य अध्यापकों और अध्यापिकाओं की है। भारत में इनकी संख्या बहुत कम है। कम वेतन के कारण उनका नैतिक आचरण न तो उच्चकोटि का होता और न हो सकता है। कुछ अध्यापकों में अपने काम की योग्यता तक नहीं होती। इस प्रकार की अध्यापिकाओं की संख्या अध्यापकों की अपेक्षा कहीं अधिक है। समाज अब अध्यापकों का उतना आदर भी नहीं करता जितना पहले किया करता था। फलस्वरूप योग्य व्यक्ति इस काम को ओर नहीं झुकते। योग्य अध्यापकों और अध्यापिकाओं की प्राप्ति के लिए उनका वेतन इतना अधिक होना चाहिये कि जीवन की साधारण आवश्यकताओं की प्राप्ति के लिए वे किसी ऐसे काम को न करें जिसे समाज हीन समझता है।

(२) शिक्षण-संस्थाओं में नैतिक आचरण की समस्या—शैक्षिक जीवन की दूसरी समस्या शिक्षण-संस्थाओं में नैतिक आचरण की समस्या है। विद्यार्थी के नैतिक जीवन का श्रीगणेश उसके कुटुंब में होता है। स्कूलों और कॉलेजों में दूसरे विद्यार्थियों के साथ संपर्क के कारण वह कुछ नयी बातें भी सीखता है। साधारणतया देखा जाता है कि हमारे विद्यार्थी नैतिक दृष्टि से उच्च कोटि के नहीं है। वे झूठ बोलते हैं और ठीक अवसर पर स्पष्टवादिता से हां या नहीं तक नहीं कह सकते। ऐसा आचरण उत्तम नागरिक जीवन के अनुकूल नहीं है। हमारी शिक्षण-संस्थाओं का वातावरण तथा उनकी परंपरा इस प्रकार की होनी चाहिये कि अनीति की ओर झुके हुए विद्यार्थी वहां जा कर स्वतः नीतिवान बन जायं और नागरिकता की दृष्टि से हीन किसी काम की ओर न झुकें।

(३) स्त्री-शिक्षा की समस्या—शैक्षिक जीवन की तीसरी समस्या स्त्री-शिक्षा की समस्या है। हमें विदित है कि हमारे देश में स्त्री-शिक्षा का प्रचार बहुत कम है। माता की हैसियत से स्त्रियां बालकों की सर्व प्रथम शिक्षक होती हैं। कभी-कभी वंशानुगत गुणों के साथ वे शिशुकाल में ही बालकों के संस्कार को इतना दूषित कर देती हैं कि उनका भविष्य सदा के लिए बिगड़ जाता है। हमारी सरकार स्त्रियों में शिक्षा-प्रचार का प्रयत्न कर रही है। पर समस्या सरकारी प्रयत्नों से ही हल नहीं हो सकती। निर्धनता के कारण अनेक घरों में बचपन से ही बालिकाओं को घर का काम करना पड़ता है और वे

पढ़ाई के लिए नहीं छोड़ी जा सकतीं। प्रौढ़ स्त्रियों को तो शिक्षा के लिए लेश मात्र भी समय नहीं मिलता। स्त्रियों को शिक्षित बनाने के लिए हमें लोकमत का निर्माण इस प्रकार करना चाहिये कि घर में अशिक्षित बालक और बालिका का होना पाप-तुल्य समझा जाय।

(४) कार्यात्मक शिक्षा की समस्या—शैक्षिक जीवन की चौथी समस्या कार्यात्मक शिक्षा की है। हमारी सरकार इस ओर से भी उदासीन नहीं है। सन् १९३६ से आज तक जितनी जाँच-कमेटियाँ नियुक्त हुई हैं उन सबने शिक्षा को अधिक कार्यात्मक बनाने की सिफारिश की है। बुनियादी शिक्षा, जिसके अनुसार क्रमशः प्राइमरी और लोअर सेकंडरी शिक्षा का पुनर्संगठन हो रहा है, की मुख्य विशेषता कार्यात्मक शिक्षा की व्यवस्था है। किंतु सुधार की गति बड़ी मंद है। मौजूदा शिक्षा की अपेक्षा कार्यात्मक शिक्षा के लिए अधिक धन की आवश्यकता है। हमारी सरकार विभाजन-जनित कठिनाइयों तथा सर्वतो-मुखी सुधारों की व्यवस्था के कारण, शिक्षा के लिए उतना धन नहीं दे रही है जितने की आवश्यकता है। शिक्षा के लिए अधिक धन दिये बिना भारत संसार के राष्ट्रों में वह स्थान नहीं प्राप्त कर सकता जिसका वह अन्यथा अधिकारी है।

(५) शिक्षा में सांप्रदायिकता और जाति-भावना—शैक्षिक जीवन की पाँचवीं समस्या शिक्षा में सांप्रदायिकता और जाति-भावना की समस्या है। सांप्रदायिकता और जाति-भावना ने हमारे देश को बड़ी हानि पहुँचायी है। शिक्षण-संस्थाओं में, उनके प्रवेश के कारण, इन दुर्गुणों का कुप्रभाव बचपन से ही बालकों पर पड़ जाता है और अपनी बातचीत में वे कभी-कभी उनकी प्रशंसा, अच्छी व्यवस्था के कारण नहीं, वरन् सांप्रदायिकता एवं जाति-भावना के कारण करते हैं। शिक्षण-संस्थाओं के नाम ही जाति और संप्रदाय पर रखे गये हैं। कहीं हिंदू कॉलेज है, कहीं इस्लामियां स्कूल, कहीं क्षत्रिय कालेज और कहीं कान्य-कुब्ज या खत्री स्कूल। इनकी नियुक्तियां भी प्रायः इसी आधार पर की जाती हैं। कुछेक में जाति विशेष के विद्यार्थियों को सहायता तक दी जाती हैं। धर्म-निरपेक्ष राज्य की शिक्षण-संस्थाओं में इस प्रकार की सांप्रदायिकता एवं जाति-भावना का अस्तित्व अनुपयुक्त है। सरकार को इस विषय की जाँच करके, जहाँ तक संभव हो, शिक्षण-संस्थाओं से सांप्रदायिकता और जाति-भावना के विष को, शीघ्रातिशीघ्र दूर करना चाहिये।

(६) सह-शिक्षा की समस्या—शिक्षण-संस्थाओं की छठी समस्या सह-शिक्षा की समस्या है। इसका तात्पर्य बालक और बालिकाओं तथा स्त्रियों

और पुरुषों की साथ-साथ शिक्षा की व्यवस्था है। पाश्चात्य देशों में इस संबंध में विशेष प्रतिबंध नहीं हैं, किंतु हमारे देश में जीवन के उच्च नैतिक आदर्श तथा पर्दा-प्रथा के कारण, बालकों और बालिकाओं तथा स्त्रियों और पुरुषों की शिक्षा की अलग-अलग संस्थाएँ स्थापित की गयी तथा की जा रही हैं। इसकी आवश्यकता के विषय में मतभेद है।

कुछ अंश में भारत में सह-शिक्षा का प्रचार आरंभ हो गया है। आरंभिक शिक्षा, जहाँ तक संभव हो, सह-शिक्षा के आधार पर होनी चाहिये। सेकंडरी शिक्षा में सह-शिक्षा का सर्वथा अभाव है। जहाँ तक संभव हो, इसमें सह-शिक्षा आरंभ न होनी चाहिये। सेकंडरी स्कूलों में बालकों और बालिकाओं की शिक्षा उनकी भावी आवश्यकताओं के अनुकूल होनी चाहिये। अतएव सह-शिक्षा से दोनों का काम नहीं चल सकता। किंतु कॉलेजों और विश्व-विद्यालयों की शिक्षा सह-शिक्षा के आधार पर होनी चाहिये। यहाँ पर अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती है। उनके लिए योग्य अध्यापकों की आवश्यकता होती है और उनकी प्राप्ति के लिए धन चाहिये। भारत की मौजूदा आर्थिक स्थिति में सह-शिक्षा के बिना उच्च शिक्षा की पर्याप्त व्यवस्था नहीं हो सकती।

(७) शिक्षण-संस्थाओं में मजदूर-संघीय मनोवृत्ति की समस्या— हमारी शिक्षण-संस्थाओं की सातवीं समस्या उनमें मजदूर-संघीय मनोवृत्ति का प्रचार है। भारतीय नेताओं ने राजनीतिक संघर्ष के काल में, राजनीतिक उद्देश्य से, विद्यार्थियों को हड़ताल करने तथा शिक्षण-संस्थाओं को छोड़ने के लिए प्रोत्साहित किया था। यह मनोवृत्ति आज भी विद्यमान है, पर विद्यार्थी उसका प्रयोग राष्ट्रीय उत्थान के लिए नहीं वरन् अपने तथा अपने वर्ग के हित-साधन के लिए करते हैं। उनकी मनोवृति न्यूनाधिक उसी प्रकार की हो गयी है जिस प्रकार की मजदूर-संघों की है। अध्यापकों में भी क्रमशः इसी मनोवृति का उदय हो रहा है। उन्होंने अपने संगठन बनाये हैं और कभी-कभी वे हड़तालों की धमकी देते तथा उन्हें कर भी डालते हैं।

भारतीय शैक्षिक जीवन का उक्त झुकाव शोचनीय है और उसके दूर करने के लिए सरकार, प्रबंध-कर्ताओं, अध्यापकों और विद्यार्थियों सबको प्रयत्नशील होना चाहिये। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि लोकतंत्रात्मक आदर्श को अपनाने के पश्चात, हम लोगों के मुँह और उनकी क्रियाशीलता को दमन द्वारा रोक नहीं सकते। अतएव यदि विद्यार्थियों को किसी बात की शिकायत हो, तो अध्यापकों तथा शिक्षण-संस्थाओं के प्रबंधकों को उन्हें दबाने की अपेक्षा, शिकायतों को दूर करने के लिए अधिक प्रयत्नशील होना चाहिये। इसी प्रकार यदि अध्यापकों

को किसी बात की शिकायत हो, तो शिक्षण-संस्थाओं के प्रबंधकों और सरकार को उन्हें दबाने की अपेक्षा उनके साथ सहानुभूति का बर्ताव करना चाहिये।

अभ्यास

१. हिंदू और मुस्लिम शिक्षा की मुख्य विशेषताओं को समझाकर लिखिये।
२. भारत में आधुनिक शिक्षा का श्रीगणेश कब हुआ ? सन् १८३५ के निर्णय का विवरण लिखिये तथा उसकी आलोचना कीजिये।
३. चार्ल्स-वुड के खरीते का सारांश लिखिये। उसे भारतीय शिक्षा का मैगना कार्टा क्यों कहा जाता है ?
४. सन् १९३५ से १९५० तक शिक्षा की जाँच के लिए जो कमीशन और कमेटियाँ नियुक्त हुई थीं, उनके नाम लिखिये।
५. भारत में प्रचलित मौजूदा आरंभिक शिक्षा का विवरण लिखिये और उसके दोषों पर प्रकाश डालिये।
६. बुनियादी शिक्षा की विशेषताओं को समझाकर लिखिये।
७. "भारत की मौजूदा स्थिति में बुनियादी-शिक्षा ही उसके लिए उपयुक्त है", इसकी आलोचना कीजिये।
८. भारत में प्रचलित मिडिल और सेकंडरी शिक्षा के दोषों को समझा कर लिखिये।
९. सेकंडरी शिक्षा के संबंध में वुड-एबट और सारजेंट कमेटी की सिफारिशों को समझा कर लिखिये।
१०. विश्व-विद्यालयों और कॉलेजों की मौजूदा शिक्षा में कौन-कौन सी बुराइयाँ हैं ?
११. युनीवर्सिटी (राधाकृष्णन्) कमीशन किन बातों की जाँच के लिए नियुक्त किया गया था ? उसकी मुख्य सिफारिशों को समझा कर लिखिये।
१२. सह-शिक्षा के विषय में अपने विचारों को समझा कर लिखिये।
१३. योग्य अध्यापकों की प्राप्ति के लिए सरकार और जनता को क्या करना चाहिये ?
१४. शिक्षण-संस्थाओं में प्रचलित मजदूर-संघीय मनोवृत्ति को किस प्रकार दूर किया जा सकता है ?
१५. भारत में कार्यात्मक, धार्मिक और नैतिक शिक्षा की आवश्यकता के विषय में अपने विचार प्रगट कीजिये।
१६. स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता और उसकी प्रकृति पर एक निबंध लिखिये।

८

हमारा सांस्कृतिक जीवन

संस्कृति की परिभाषा—मनुष्य केवल शरीर ही नहीं, आत्मा भी है। जब शरीर द्वारा किये गये उसके कामों की अभिव्यक्ति एक प्रकार से होती है, बहुत संभव है कि उसकी आत्मा अपनी अभिव्यक्ति दूसरे प्रकार से करना चाहती हो। जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य की आत्मा होती है, उसी प्रकार प्रत्येक जन-समूह की भी आत्मा होती है और वह अपनी अभिव्यक्ति विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार से करती है। परिस्थिति के अनुकूल उसकी अभिव्यक्ति में परिवर्तन हो जाते हैं। प्राचीन यूनान और रोम में यह अभिव्यक्ति एक प्रकार से हुई थी, प्राचीन भारत में दूसरे प्रकार से और आधुनिक युरोपीय राज्यों में एक नये प्रकार से हो रही है। किसी जनसमूह की आत्मा की अभिव्यक्ति को उसकी संस्कृति कहा जाता है।

सभ्यता और संस्कृति में निकट का संबंध है, पर दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। सभ्यता का संबंध विशेषतया मनुष्य के बाह्य आचरण से होता है। यदि किसी सभा में एक नग्न पुरुष आवे, तो प्रायः सभी लोग उसे असभ्य समझेंगे। उसका बाह्य आचरण समाज द्वारा स्वीकृत आचरण से भिन्न होने के कारण उसे असभ्य मनुष्यों की श्रेणी में उतार देता है। पर बहुत संभव है कि नग्न होते हुए भी वह संस्कृति-संपन्न हो। संस्कृति का संबंध मनुष्य के आंतरिक जीवन, नीतिमत्ता और सौंदर्योपासना से होता है। बहुत संभव है कि सभा में प्रविष्ट नग्न पुरुष में ये सब गुण हों।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएं—भारतीय संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएं उल्लेखनीय हैं—(१) प्रथम विशेषता उसका आध्यात्मिक आधार है। भौतिक बातों का सर्वथा अभाव नहीं है, पर भौतिक और आध्यात्मिक बातों का इतना सुंदर समन्वय हुआ है कि भौतिक आध्यात्मिक पर निर्भर हो गया है। भारतीय बौद्धिक विकास, नैतिक आचरण और कला में भी आध्यात्मिक प्रधानता का अस्तित्व है। (२) दूसरी विशेषता उसका समन्वयात्मक आधार है। देश में विभिन्न जातियों के लोग आये और बसे। भारत ने उन सबको तथा उनकी संस्कृति को अपने में विलीन करके उनका समन्वय कर डाला। रेमसे मेकडाल्ड के मतानुकूल यदि कोई व्यक्ति ऐसे दर्शन या विचार-

धारा की खोज में निकले जो विभिन्न जातियों और उनके मतभेदपूर्ण विचारों के समन्वय पर आधारित हो तो उसे भारत के दर्शनों की ओर झुकना पड़ेगा। ये संसार को केवल भावात्मक दृष्टि से न देखकर उसे मतभेद का स्थान समझते हैं और सबको विचार और क्रियाशीलता की एकता में न बाँधकर, उनके मतभेद में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। (३) तीसरी विशेषता वैदिक संस्कृति की प्रधानता है। भारत में विभिन्न संस्कृतियों का समावेश हुआ। किंतु भारतीय संस्कृति के आधारभूत सिद्धांत सदा वैदिक बने रहे। उसने नयी बातों को ग्रहण किया, इस लिए नहीं कि वह उनमें अपने पृथक् अस्तित्व को मिटा दे वरन् इस लिए कि वह उनको अपने में विलीन कर ले। (४) अनेकता में एकता का आभास—भारतीय संस्कृति की चौथी विशेषता अनेकता में एकता और असत् में सत् का आभास है। "सब मनुष्यों की आध्यात्मिक उत्पत्ति है और उनका लक्ष्य भी आध्यात्मिक है।" आरंभ में समस्त मानव-समाज का एक ही वर्ग था। "हम सबकी उत्पत्ति एक ही निकास से हुई है।" "संसार के व्यक्ति संख्या में चाहे कितने ही अधिक और विचारों में एक दूसरे से चाहे कितने ही भिन्न क्यों न हों, पर उन सबमें एक परम आत्मा का प्रकाश है।" हिंदू संस्कृति के ये विचार अनेकता में एकता तथा असत् में सत् के आभास के परिचायक हैं। (५) मानवता का आधार—भारतीय संस्कृति की पांचवीं विशेषता मानवता की पुकार है। आधुनिक युरोपीय सभ्यता की भांति भौतिकतावाद से पूर्णरूपेण एक न होकर, वह मानवता को सांसारिक सुखों की अपेक्षा श्रेष्ठतर समझती है। उससे प्रेम, दया, सहिष्णुता, त्याग आदि की जो मानवी ध्वनि निकल रही है, यदि उसे संसार की विभिन्न जातियाँ आज भी अपना लें, तो उनका नागरिक जीवन कलह और संघर्षयुक्त न रह कर आनंदमय और मैत्रीपूर्ण हो जायगा।

भारतीय सांस्कृतिक जीवन का क्षेत्र—भारतीय सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन में हमें उसके नैतिक, शैक्षिक तथा सौंदर्यात्मक जीवन का अध्ययन करना चाहिये। सामाजिक और धार्मिक जीवन के परिच्छेदों में हम भारत के नैतिक जीवन पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाल चुके हैं और शैक्षिक जीवन के परिच्छेद में उसके बौद्धिक विकास पर। यहां पर उन बातों के दोहराने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। अतएव भारत के सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन में, इस स्थान पर हम प्रधानतया उसकी कला और साहित्य पर प्रकाश डालेंगे।

भारतीय कला—मनुष्य स्वभावतः स्वयं आनंद प्राप्त करना तथा दूसरों को आनंद देना चाहता है। इस उद्देश्य से वह अपने विचारों और मनोभावों

को इस प्रकार प्रगट करता है कि उसे स्वयं आनंद मिले और दूसरों को भी। कभी वह चित्रों और मूर्तियों को बनाकर इस उद्देश्य की पूर्ति करता है, कभी नृत्य, गान और वाद्य द्वारा, कभी वास्तुकला द्वारा और कभी साहित्य, दर्शन और विज्ञान द्वारा। इन सबका सामूहिक नाम कला है। किसी सुंदर, उपयोगी या तर्कयुक्त वस्तु के निर्माण में सृजन-शक्ति और प्रतिभा या कौशल की जो अभिव्यक्ति होती है, उसे कला कहते हैं। कलाएं ललित और सामान्य दो प्रकार की होती हैं। प्रथम में संगीत, वाद्य, नृत्य, चित्र-कला, मूर्ति-कला, वास्तु-कला आदि की गणना होती है और द्वितीय में साहित्य, दर्शन और विज्ञान की। प्रथम में प्रधानतया सौंदर्य की अभिव्यक्ति होती है और द्वितीय में प्रतिभा और कौशल की। कलाकार अपने मनोवेगों को व्यक्त करने में, कुछ सामान्य नियमों का पालन करता है, पर वह उनसे जकड़ा हुआ नहीं होता। उसकी स्वतंत्रता में ही उसकी अनुभूतियां भली भांति प्रकट हो सकती हैं।

प्राचीन हिंदू ललित कलाएं—हिंदू-काल में भारतीय ललित कलाएँ उन्नत अवस्था में थीं। वास्तुकला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत, वाद्य, नृत्य आदि सभी की सर्वतोमुखी उन्नति हुई थी। उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) **कलाओं का धार्मिक आधार**—प्रथम विशेषता उनका धार्मिक आधार है। मूर्ति-कला, चित्र-कला, वास्तु-कला में धार्मिक तथ्यों का निरूपण तथा धार्मिक विषयों का चित्रण किया गया है। संगीत, नृत्य और वाद्य के विषय में भी वही बात कही जा सकती है। हिंदू नर्त्तक और नर्त्तकी राधा और कृष्ण, शिव और पार्वती की लीलाओं के नृत्य करते तथा इन्हीं विषयों के गीत गाते हैं। पाश्चात्य कला की भांति वे प्रकृति का अनुकरण-मात्र न करके उसमें अंतर्निहित ईश्वरीय सत्ता को देखते और अपनी ललित कलाओं में उसी की अभिव्यक्ति करते हैं।

(२) **आध्यात्मवाद की ओर झुकाव**—दूसरी विशेषता उनका आध्यात्म-वाद की ओर झुकाव है। पाश्चात्य ललित कलाओं की भांति वे यथार्थवादिनी नहीं हैं। पाश्चात्य कलाएं भौतिक सौंदर्य, मानवी रुचि तथा प्राकृतिक दृश्यों का यथावत् चित्रण करती हैं। वे उनके अंतस्तल में किसी सर्वकालीन सत्य का दर्शन नहीं करतीं। हिंदू-ललित कलाओं में बाह्य सौंदर्य में अंतर्निहित रहस्यवाद का चित्रण है। उसका उद्देश्य मानवी आत्मा और सांसारिक आकांक्षाओं को ईश्वरीय आत्मा और आकांक्षाओं में समर्पित कर देना है।

(३) स्वतंत्र विकास—हिंदू ललित कलाओं का स्वतंत्र विकास हुआ है। अन्य जातियों के आने के कारण उनमें कुछ विदेशी अंश अवश्य आये, पर इनके कारण, उनके स्वतंत्र विकास में किसी प्रकार की रुकावट नहीं आयी। उनमें देश के स्वभाव तथा उसकी ही परिस्थितियों की अभिव्यक्ति हुई है।

(४) प्राचीन हिंदू ललित कलाएं प्रधानतया धार्मिक और आध्यात्मिक हैं, पर उनमें अन्य विषयों का सर्वथा अभाव नहीं है। उनमें श्रृंगारिक, प्राकृतिक, सामाजिक और वीर रस-पूर्ण विषयों का भी चित्रण है। हिंदू ललित कलाओं के ये अपवाद उसकी व्यापकता के परिचायक है, आधारभूत विशेषता के नहीं।

प्राचीन हिंदू साहित्य—साहित्य, कला का दूसरा अंग है। इसे साधारणतया सामान्य कला कहते हैं। ललित कलाओं की भांति इसमें भी किसी जन-समूह की आत्मा की अभिव्यक्ति होती है। साहित्य में जीवन का विश्लेषण और उसका चित्रण इस प्रकार किया जाता है कि पाठक साहित्यकार के साथ-साथ एक उच्चतर स्तर में पहुँच जाता है। [उत्तम साहित्य किसी को नीचे नहीं गिराता। वह भाषा का श्रेष्ठतम स्वरूप तथा महान् भावुक व्यक्तियों द्वारा समाज की अंतरात्मा का चित्रण करता है।

प्राचीन हिंदू-साहित्य के कई अंग हैं। उनमें वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, काव्य, जीवन-चरित्र और नाटक मुख्य हैं। हिंदुओं ने इन सब विषयों के महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रंथ लिखे हैं और उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनकी गणना संसार के श्रेष्ठतम ग्रंथों में की जाती है। ललित कलाओं की भांति हिंदू-साहित्य भी प्रधानतया धार्मिक और आध्यात्मिक है। पर उसमें अन्य विषयों का सर्वथा अभाव नहीं है।

हिंदू भारत की सांस्कृतिक एकता—हिंदू काल में भारत में सांस्कृतिक एकता का अस्तित्व था। धार्मिक जीवन में वेदों की प्रामाणिकता थी और मतभेद के होते हुए भी अनेक नैतिक सिद्धांत समस्त देश को समानरूप से मान्य थे। समस्त देश की सामाजिक रचना भी न्यूनाधिक एक ही प्रकार की थी और विभिन्नताओं के होते हुए समस्त देश का रहन-सहन, खान-पान, आमोद-प्रमोद, उत्सव, मेले आदि एक ही प्रकार के थे। समस्त देश में साहित्य और कला का उद्गम समानरूप से धार्मिक और नैतिक था और प्रांतीय विशेषताओं के होते हुए भी संगीत, मूर्तिकला, चित्रकला, नाट्यकला, सभी में एक ही परिपाटी की झलक थी। संस्कृत सभ्य समाज की भाषा थी। इन बातों से प्राचीन हिंदू भारत की सांस्कृतिक एकता भलीभांति सिद्ध हो जाती है।

मध्यकाल में भारतीय कलाएं—मुसलमानों के आगमन के कारण प्राचीन हिंदू साहित्य और कला को गहरी ठेस लगी। महमूद गजनवी, मोहम्मद गोरी तथा कुछ अफगान और मुगल बादशाहों ने कट्टरपन का सहारा लेकर हिंदू ललित कलाओं की अनेक इमारतों और वस्तुओं तथा हिंदू साहित्य के अनेक ग्रंथों को नष्ट कर डाला। पर इसके कारण कला का विकास सदा के लिए नहीं रुका। अनेक मुसलमान बादशाह कला से प्रेम करते तथा उसकी उन्नति के लिए प्रयत्नशील थे। दिल्ली के सुल्तानों को इमारतें बनवाने का बड़ा शौक था। इस विषय के उनके अपने विचार थे। वे तो पूर्णरूपेण कार्यान्वित न किये जा सके, पर उनके शासनकाल में एक नयी शैली का जन्म हुआ जिसमें हिंदू और मुसलमान शैलियों का सम्मिश्रण था और जिसे इस विशेषता के कारण 'हिंदू-मुसलमानी कला' कहा जाता है। मुगलों के शासन-काल में यह सम्मिश्रण इसी प्रकार होता रहा। उन्हें भी इमारतें बनवाने का बड़ा शौक था। उन्होंने वास्तुकला संबंधी अपने आदर्श फारस से लिये थे। फलस्वरूप उनके शासन-काल मे भारतीय और फारसी शैलियों का सम्मिश्रण हुआ। हिंदूकाल के पतले स्तंभ, मेहराब, खिड़कियों की जालियाँ, गुंबज आदि फारसी कला के रंगीन खपरैल, चित्रकारी, सादगी, संगमर-मर के प्रयोग तथा बाग-बगीचों से मिश्रित किये गये और इस प्रकार दोनों के समन्वय द्वारा हिंदी-फारसी शैली का जन्म हुआ।

मुगलों के शासन-काल में चित्रकला और संगीत की बड़ी उन्नति हुई। इस्लाम द्वारा मनुष्य की आकृति के चित्रण के विरोध के कारण, कुछ मुसलमान बादशाह चित्रकारी के विरुद्ध थे। परंतु अकबर को चित्रकला से बड़ा प्रेम था। वह उसे ईश्वर की महिमा समझने का एक साधन समझता था। अतएव उसके दरबार में अनेक हिंदू और मुसलमान चित्रकार रहते थे। इनकी रचनाओं द्वारा अनेक ग्रंथ चित्रांकित किये गये। इनमें से मुख्य महाभारत, बाबर-नामा और अकबर-नामा थे। ये इतने सुंदर थे कि अनेक कट्टरपंथी मुसलमान भी चित्रकारी की ओर आकृष्ट हुए। अब्बुल फजल के मतानुकूल "धर्म ग्रंथों के शब्दों का अक्षरशः अर्थ लगाने वाले व्यक्ति, जो अब तक कला के शत्रु थे, अपनी आंखों से सचाई को देखने लगे हैं।"

औरंगजेब के अतिरिक्त प्रायः सभी मुगल बादशाहों को संगीत से प्रेम था। हमायूं संगीत को ईश्वर की प्रार्थना का एक अंग समझता था। अकबर के दरबार में संगीत के अनेक विशारद थे जो रागों के अनुसार सात भागों में

विभक्त थे और प्रति सप्ताह एक दिन, प्रत्येक भाग के संगीतज्ञों को दरबार में गाने का अवसर मिलता था। उनमें से तानसेन सब से प्रसिद्ध था।

मुसलमानों के शासन-काल में साहित्य की भी अच्छी उन्नति हुई। अनेक मुसलमान विद्वानों ने संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया और अनेक हिंदू विद्वानों ने फारसी के ग्रंथों का। इस सम्मिश्रण के कारण राज्य से हिंदुओं की प्राचीन विद्याओं को बड़ा प्रोत्साहन मिला। उनके अनेक ग्रंथों का फारसी में अनुवाद किया गया। इस प्रकार फारसी साहित्य की वृद्धि हुई। मुगलों के शासन-काल में ब्रज भाषा तथा हिंदी की कविता की भी उन्नति हुई। तुलसीदास; सूरदास, महाकवि सुंदर (सुंदर-श्रृंगार के रचयिता) केशव दास, भूषण, लाल, बिहारी, देव आदि मुगल काल के प्रसिद्ध कवि हैं। मुगलों के काल में अनेक इतिहास के ग्रंथ तथा आत्म-कथाएँ लिखी गयीं। इतिहासों में महत्त्वपूर्ण स्थान अब्बुल फजल कृत 'आइने अकबरी' और 'अकबर-नामा' का है। इनमें अकबर के राज्य तथा शासन का पूरा विवरण है। मुगलों के ही शासनकाल में भारत में उर्दू भाषा की उत्पत्ति हुई। कालांतर में वह कुछ भारतीयों के बोलचाल की भाषा बन गयी।

हिंदुओं और मुसलमानों का उक्त सम्मिश्रण ललित कलाओं और साहित्य तक ही सीमित न रह कर, धार्मिक क्षेत्र में भी उतरा और कुछ लोग हिंदू और मुसलमानों की धार्मिक एकता के उद्देश्य से सूफी मत का प्रचार करने लगे। उन्हें विशेष सफलता तो न मिली, पर उनके प्रयत्नों द्वारा दोनों का परस्पर वैमनस्य कुछ अंश में कम अवश्य हो गया।

मध्यकाल में भारत की सांस्कृतिक एकता—मध्य काल में भारत की सांस्कृतिक एकता एक प्रकार से लुप्त सी हो गयी और उसके स्थान पर विभिन्नता ने प्रवेश किया। इसमें संदेह नहीं कि प्रायः सभी मुसलमान, हिंदुओं की बौद्धिक श्रेष्ठता को मानते तथा उनकी कलाओं, दर्शन, विज्ञान आदि का अध्ययन करते थे। पर वे अपने को ईश्वर का विशेष प्रिय समझकर, धार्मिक बातों में अपने को हिंदुओं से श्रेष्ठतर समझते थे। उनका विचार था कि दो बातों अर्थात एक ईश्वर और मनुष्य की समानता में विश्वास के कारण, इस्लाम हिंदू धर्म से कहीं अच्छा था। पर ये दोनों विचार हिंदुओं में पहले से ही विद्यमान थे। मुसलमानों ने इनके प्रचार के लिए हिंदुओं के साथ जैसा बर्ताव किया उसके कारण मध्यकालीन भारत की सांस्कृतिक एकता उस प्रकार की न हो सकी जैसी अकबर जैसे बादशाहों के शासन में हो सकी थी।

आधुनिक काल में भारतीय संस्कृति—आधुनिक काल में पाश्चात्य सभ्यता के आक्रमण के कारण, भारतीय संस्कृति में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गये हैं। जीवन के भौतिक आधार तथा यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण साहित्य और दर्शन, विज्ञान और कला, नृत्य और गान, चित्रकला, मूर्ति-कला, वास्तु-कला, शिक्षा-पद्धति और नैतिक आदर्शों में इतने परिवर्तन हो गये हैं कि भारतीय जीवन की सांस्कृतिक एकता एक प्रकार से विलुप्त सी हो गयी है। पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार के कारण आज भारत में अनेक ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जिन्हें हिंदू और इस्लामिक संस्कृति का लेशमात्र भी ज्ञान न होगा और बहुत से ऐसे भी जिनका रहन-सहन पूर्णतया पाश्चात्य ढंग का होगा। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव दृष्टि-गोचर हो रहा है। धर्म का स्थान राजनीति ने ले लिया है और प्राचीन और नवीन में ऐसा संघर्ष मचा हुआ है कि उनका समन्वय कठिन प्रतीत हो रहा है। इतना होने पर भी अपने त्याग, कष्ट-सहन तथा गांधीजी के नेतृत्व के कारण हम स्वतंत्र हो गये हैं। फलस्वरूप हमारे सांस्कृतिक उत्तरदायित्व पहले की अपेक्षा कहीं अधिक हो गये हैं।

स्वतंत्र भारत की सांस्कृतिक समस्याएं—(१) स्वतंत्र भारत की सर्व-प्रथम सांस्कृतिक समस्या सांस्कृतिक समन्वय की है। देश में इस समय कई संस्कृतियां हैं और प्रत्येक के अनुयाइयों को अपनी-अपनी संस्कृति की रक्षा का अधिकार है। पाकिस्तान के निर्माण के कारण यह समस्या और भी कठिन हो गयी है। उसके इस्लामिक आधार की प्रतिक्रिया भारत पर भी पड़ती है। भारत के कुछ लोग इसी के कारण प्राचीन हिंदू संस्कृति को पुनर्जाग्रत करने का प्रयत्न कर रहे हैं। वे भारत को विशुद्ध हिंदू राज्य बनाना चाहते हैं। नये संविधान की एक आलोचना यह है कि उसमें भारतीयता का अभाव है। किंतु उसके अनुसार संगठित सरकार भारत की प्राचीन संस्कृति की पूर्ण-रूपेण अवहेलना नहीं कर सकती। देश में हिंदुओं की प्रधानता तथा सरकार के लोकतंत्रात्मक आधार के कारण, यह असंभव नहीं कि कभी ऐसे दलों की प्रधानता हो जाय, जो प्राचीन हिंदू संस्कृति के संकीर्ण समर्थक हों। ऐसी स्थिति, अंतर्राष्ट्रीय शांति में बाधक हो सकती है। इससे बचने के लिए यह आवश्यक है कि अभी से सांस्कृतिक समन्वय का प्रयत्न किया जाय। हिंदू, मुस्लिम और पाश्चात्य संस्कृतियों का इस प्रकार सम्मिश्रण होना चाहिये कि किसी को यह शिकायत न रहे कि उसकी अवहेलना की गयी अथवा की जा रही है।

भारतीय संस्कृति के समन्वय में संकीर्णता के बचने का प्रयत्न होना चाहिये। उसका धार्मिक, आध्यात्मिक एवं मानवीय आधार होना चाहिये। भारत की मौजूदा सरकार अंतर्राष्ट्रीयता के पक्ष में है। राष्ट्र-पिता गांधी जी मानवता के पुजारी थे। समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति का मानवीय रूप होना चाहिये और शिक्षण-संस्थाओं तथा नैतिक आचरण के नियमों को इस प्रकार संशोधित करना चाहिये कि अंतर्राष्ट्रीयता एवं मानवता की ओर झुकी हुई संस्कृति को प्रोत्साहन मिले।

(२) भारत की दूसरी सांस्कृतिक समस्या राष्ट्र-भाषा की समस्या है। देश में लगभग २१५ विभिन्न भाषाएं बोली जाती हैं। इनमें से कुछ उच्च कोटि की हैं और कुछ का सुसंपन्न साहित्य भी है। भाषाओं की विभिन्नता के कारण एक राज्य के निवासी दूसरे के निवासियों की बातचीत समझने में असमर्थ है। शिक्षित समाज में अंगरेजी का प्रचार है और लगभग १०० बरस तक वह सरकारी भाषा के पद पर रही है।

स्वतंत्रता के पूर्व भी भारतीय नेताओं के सम्मुख राष्ट्र-भाषा की समस्या थी। कुछ लोग अंगरेजी के पक्ष में थे, कुछ हिंदी के, कुछ उर्दू के और कुछ हिंदुस्तानी के। अंगरेजी इतने कम लोगों द्वारा बोली जाती थी कि उसे राष्ट्रभाषा बनाना असंभव था। उर्दू का समर्थन भारतीय मुसलमान करते थे। किंतु उसमें साहित्य का अभाव था और भाषा-विषयी इतने दोष थे कि वह राष्ट्र-भाषा के पद पर न बैठायी जा सकती थी। हिंदी, भारत के अधिकांश लोगों की भाषा थी। पर उसका साहित्य बँगला, मराठी, गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं की अपेक्षा कम विकसित था। उसकी सर्वश्रेष्ठ अच्छाई यह थी कि उसका व्याकरण अन्य भाषाओं के व्याकरण से सरल था और वह आसानी से सीखी जा सकती थी। कुछ लोग हिंदी और उर्दू को संस्कृत और फारसी के आधिपत्य से मुक्त तथा दोनों का समन्वय करके हिंदुस्तानी नाम की एक नयी भाषा को भारत की राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते थे। पाकिस्तान के निर्माण के कारण हिंदुस्तानी के समर्थकों की संख्या बहुत कम हो गयी है।

भारतीय संविधान-सभा ने इस विषय पर विचार करके देवनागरी लिपि में हिंदी को भारत की राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लिया है। उसने यह भी निर्धारित किया है कि सरकारी कामों के लिए प्रयोग होने वाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप (रोमन अंक) हो। इस सामान्य व्यवस्था के होते हुए भी १५ बरस तक सरकारी कामों में अंगरेजी का प्रयोग पूर्ववत् होता रहेगा। इस निर्णय से यह स्पष्ट है कि संविधान-सभा को राष्ट्र-भाषा का निर्धारण,

निश्चित सिद्धांत के अनुसार नहीं, वरन् समझौते के आधार पर करना पड़ा है। भारत के विभिन्न भागों को, जहाँ तक हो सके, इस निर्णय को शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करना चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि इससे कुछ लोग असंतुष्ट हैं। पर राष्ट्रीय एकता के लिए भारत के प्रत्येक भाग को कुछ न कुछ बलिदान करना पड़ेगा। इसी के सहारे हम ब्रिटिश सरकार-जनित अनेकता का अंत कर सकते हैं।

राष्ट्र-भाषा के संबंध में भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप कुछ अनुचित सा प्रतीत होता है। देवनागरी अंकों से हिंदी का साहित्य संबंधित है। बहुत सी कविताएं उन्हीं अंकों के रूप पर की गयी हैं। अतएव हम उन अंकों का परित्याग नहीं कर सकते। भारत के नये संविधान में भावी संशोधन की व्यवस्था की गयी है। पंद्रह बरस के पश्चात् राष्ट्र-पति एक भाषा-कमीशन नियुक्त करेंगे और वह इस बात की सिफारिश करेगा कि किन कामों में अंगरेजी भाषा और रोमन अंकों के स्थान पर हिंदी भाषा और देवनागरी अंकों का प्रयोग किया जाय।

(३) भारत की तीसरी सांस्कृतिक समस्या भाषाओं के ज्ञान की समस्या है। राष्ट्रभाषा का ज्ञान तो सब लोगों को होना चाहिये, पर उसके साथ-साथ, यदि सब लोगों को नहीं, तो कम से कम कुछ लोगों को अंगरेजी का भी ज्ञान होना चाहिये। वह एक विकसित भाषा है और उसका साहित्य इतना व्यापक एवं उच्च कोटि का है कि उसके ज्ञान के बिना भारत के साहित्यक एवं वैज्ञानिक विकास को गहरी ठेस लगेगी। अंतर्राष्ट्रीय एवं व्यापारिक संबंधों के संचालन के लिए भी अंगरेजी के ज्ञान के विषय में दो मतों का होना असंभव है। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रादेशिक भाषा का भी ज्ञान होना चाहिये। इस प्रकार भारतीय नागरिकों को अंतराष्ट्रीय भाषा के रूप में अंगरेजी, राष्ट्र-भाषा के रूप में हिंदी और प्रादेशिक भाषा के रूप में अपने प्रदेश की भाषा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जिन लोगों की मातृभाषा और राष्ट्रभाषा एक ही हो, उन्हें भारत की किसी अन्य प्रादेशिक भाषा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। ऐसा करने से भारत की सांस्कृतिक एकता की स्थापना में सहायता मिलेगी।

(४) भारत की चौथी सांस्कृतिक समस्या नैतिक आचरण की समस्या है। पाश्चात्य सभ्यता के आक्रमण के कारण भारत के प्राचीन नैतिक बंधन कुछ शिथिल से हो चले हैं। भारत के लिए इससे अधिक अहितकर दूसरी बात नहीं हो सकती। अपनी नीति के ही कारण उसका मस्तक संसार में ऊंचा है। आध्यात्मिक उन्नति के लिए सांसारिक सुखों का परित्याग उसका आदर्श है।

बुरे आचरण की अपेक्षा भूखों मरना उसकी दृष्टि में श्रेयस्कर है। यदि हम नीति के इन सिद्धांतों का परित्याग करके पाश्चात्य सभ्यता के खोखले सिद्धांतों की ओर झुकेंगे, तो हम अपना सब कुछ खो बैठेंगे। नीति-विहीन भारत रंक हो जायगा। अतएव हम सबको अपने प्राचीन नैतिक आचरणों की रक्षा करनी चाहिये। उन्हीं में भारतीय संस्कृति की अंतरात्मा निहित है।

अभ्यास

१. संस्कृति का क्या अर्थ है? भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को समझाकर लिखिये।

२. संस्कृति के अंतर्गत् किन-किन बातों का समावेश होता है? संस्कृति और सभ्यता में क्या अंतर है?

३. ललित और सामान्य कलाओं का क्या अर्थ है? हिंदू भारत की ललित कलाओं और साहित्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।

४. भारत की सांस्कृतिक एकता का क्या अर्थ है? मध्यकाल में यह एकता कहां तक विद्यमान थी?

५. स्वतंत्र भारत में सांस्कृतिक समन्वय की समस्या कैसे हल की जा सकती है? क्या उसमें भारत के प्राचीन नैतिक आदर्शों की रक्षा अनिवार्य रूप से करनी चाहिये?

६. राष्ट्र-भाषा का क्या अर्थ है? भारत की राष्ट्र-भाषा के संबंध के अपने विचारों को समझाकर लिखिये।

९

हमारा स्वास्थ्य

स्वास्थ्य और उत्तम नागरिक जीवन—उत्तम स्वास्थ्य और उत्तम नागरिक जीवन में घनिष्ठ संबंध है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है। अतएव जिस राष्ट्र का स्वास्थ्य अच्छा नहीं होता, वह अपनी मानसिक उन्नति नहीं कर सकता। जनता के खराब स्वास्थ्य के कारण राष्ट्र की शक्ति कम हो जाती तथा उसका नैतिक आचरण गिर जाता है। अच्छे स्वास्थ्य के बिना न तो मनुष्य आत्म-संयमी हो सकता है, न सदाचारी। खराब स्वास्थ्य में मनुष्य किसी प्रकार के उत्पादन का काम नहीं कर सकता। वह निस्तेज तथा पराक्रमहीन रहता है। फल-स्वरूप किसी राष्ट्र का बुरा स्वास्थ्य उसकी दरिद्रता का परिचायक होता है। सारांश यह कि अच्छे स्वास्थ्य के बिना उत्तम नागरिक जीवन असंभव है।

भारत के स्वास्थ्य की कुछ महत्त्वपूर्ण बातें—संसार के अन्य देशों की अपेक्षा भारतीयों का स्वास्थ्य गिरा हुआ है। उसके संबंध की निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—(१) सन् १९४८ में भारत में प्रति सहस्र २५·४ पैदाइशें हुई थीं और १७.१ मृत्युएं। ये संख्याएं संसार के अन्य देशों की अपेक्षा कहीं अधिक हैं। सन् १९४० में युनाइटेड किंगडम के लिए ये संख्याएं क्रमानुगत १५ और १३.९ थीं और संयुक्त-राज्य-अमरीका के लिए १७.९ और १०.८। उच्च पैदाइश तथा मौत की दर देश के खराब स्वास्थ्य की परिचायक है। (२) प्रति सहस्र जीवित नवजात शिशुओं में भारत में लगभग १३०.९ (सन् १९४८ में) मौत के घाट उतर जाते हैं। न्यूजीलैंड, ऑस्ट्रेलिया, संयुक्त राज्य अमरीका तथा इंगलैंड और वेल्स के लिए इस प्रकार की संख्याएं क्रमशः ३१, ३८, ५४ और ५८ थीं। ये संख्याएं भी देश के गिरे हुए स्वास्थ्य की परिचायक हैं। (३) भारतीयों की औसत् अवस्था अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। स्वीडन की औसत् अवस्था ६० बरस, जर्मनी की ५६ बरस, इंगलैंड की ५५ बरस, फ्रांस की ५२ बरस, जापान की ४२ बरस और भारत की केवल २७ बरस है। राष्ट्र के गिरे हुए स्वास्थ्य का इससे अधिक अकाट्य प्रमाण मिलना कठिन है। (४) गर्भाधान और शिशु-जन्म के कारण

प्रतिवर्ष लगभग २,००,०० स्त्रियों की मृत्यु होती है। प्रति सहस्र यह संख्या लगभग २० है। अन्य देशों में यह संख्या बहुत कम होती है। इंगलैंड में इस प्रकार की स्त्रियों की संख्या प्रति सहस्र लगभग ४ है। (५) भारत में अन्य देशों की अपेक्षा रोगों का अधिक प्रकोप रहता है। प्रतिवर्ष लगभग ६२,००,००० व्यक्ति विभिन्न बीमारियों के कारण मौत के घाट उतरते हैं। लगभग ३६,००,००० मौतें बुखारों के कारण होती हैं, ५ लाख थाइसिज के कारण, ३ लाख आँव और दस्त के कारण, ५० हजार हैजे के कारण, और १० लाख मलेरिया के कारण। भारत में अंधों की संख्या लगभग बीस लाख हैं, कोढ़ियों की १० लाख, और पागलों एवं अर्द्ध-पागलों की लगभग २ प्रति हजार। (६) भारत की, प्रति वर्ष ६२,००,००० मृत्युओं में से, ३१ लाख ऐसे बालकों की होती हैं जिनकी अवस्था दस बरस से कम है। इनमें से १५½ लाख एक बरस से कम शिशुओं की होती हैं।

भारतीयों के खराब स्वास्थ्य के कारण—भारतीयों के खराब स्वास्थ्य के कारणों में से निम्नलिखित विचारणीय हैं—

(१) कम तथा अपौष्टिक भोजन—भारत के लगभग ३० प्रतिशत् निवासियों को पर्याप्त भोजन नहीं मिलता। इनके अतिरिक्त लगभग ३० प्रतिशत् व्यक्तियों को ऐसा भोजन मिलता है जिनमें पौष्टिक पदार्थों की कमी होती है। इंडियन रिसर्च फंड एसोसियेशन (Indian Research Fund Association) की न्यूट्रीशन एडवाइजरी कमेटी (Nutrition Advisory Committee) की सिफारिशों के अनुसार प्रति व्यक्ति को निम्नलिखित दर से भोजन मिलना चाहिये—

अनाज	प्रतिदिन	१४ औंस	चीनी	प्रतिदिन	२	औंस
दाल	,,	३ औंस	चर्बी	,,	२	औंस
तरकारी	,,	१० औंस	मछलीऔरगोश्त	,,	३	औंस
फल	,,	३ औंस	अंडा	,,	१	
दूध	,,	१० औंस				

शाकाहारियों को अंडे और गोश्त के स्थान पर प्रति दिन चार औंस अतिरिक्त दूध मिलना चाहिये। भारतीयों में से बहुत कम को इतना भोजन मिलता है।

(२) स्वास्थ्य के अनुकूल वातावरण का अभाव—दूसरा कारण स्वास्थ्य के अनुकूल वातावरण का अभाव है। अनेक भारतीय ऐसे घरों में रहते हैं

जो स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं होते। आबादी घनी होती है। देहातों की अपेक्षा शहरों में घनी आबादी को समस्या अधिक जटिल है। वहां पर छोटे-छोटे घरों में इतने अधिक आदमी रहते हैं कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। घरों के भीतर स्वच्छता का भी अभाव होता है। पाखानों, नालियों आदि के कारण बीमारी के कीटाणु शरीर में आसानी से प्रवेश करके, मनुष्यों को रोगी बना देते हैं।

(३) स्वास्थ्य-प्रद आदतों का अभाव—भारत की अधिकांश जनता में स्वास्थ्य-प्रद आदतों का अभाव है। अनेक भारतीय न तो स्वास्थ्य के नियमों को जानते और न जानना चाहते हैं। जो जानते हैं वे भी उन्हें कार्य-रूप में परिणत नहीं करते। भारत के कुछ शिक्षित लोग भी जहां चाहते हैं वहां थूक देते हैं। देहातों में स्वास्थ्य-प्रद आदतों का अभाव और भी अधिक है।

(४) बीमारियों की अधिकता—खराब स्वास्थ्य का चौथा कारण बीमारियों की अधिकता है। भूमध्य-रेखा के निकट, उष्ण कटिबद्ध में स्थित होने के कारण, हमारे देश में बीमारी के कीटाणु बड़ी शीघ्रता से उत्पन्न होते तथा फैल जाते हैं। संक्रामक बीमारियां अत्यधिक सख्या में पायी जाती हैं। इन बीमारियों के दिनों में भी लोग स्वास्थ्य के नियमों का पालन नहीं करते।

(५) सामाजिक कुप्रथाएं—हमारे देश में अनेक सामाजिक कुप्रथाएं हैं उनका भी स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ता है। पर्दे की कुप्रथा के कारण, अनेक स्त्रियों को स्वच्छ वायु तक नहीं मिलती। बाल-विवाहों के कारण अनेक स्त्रियों को प्रौढ़ हुए बिना मातृत्व के उत्तरदायित्व को उठाना पड़ता है।

(६) मानसिक बोझ—खराब स्वास्थ्य का छठा कारण मानसिक बोझ का अस्तित्व है। यों तो संसार में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसे किसी प्रकार की चिंता न हो, पर भारतीय अन्य देशों की अपेक्षा अधिक चिता-ग्रस्त रहते हैं। इसका प्रधान कारण उनकी निर्धनता है। अधिकांश व्यक्तियों को भोजन और वस्त्र की ही चिंता सताया करती है। कुछ लोग सामाजिक चलनों के के कारण लड़के और लड़कियों के विवाह की समस्या के कारण चिंतित रहते हैं। मध्यम श्रेणी के व्यक्ति कम आय के साथ समाज में सम्मानपूर्वक रहने की इच्छा के कारण अपने जीवन को चिंता में व्यतीत करते हैं। बीमारियों के कारण भी अनेक व्यक्ति चिंता-ग्रस्त रहते हैं। चिंता-जनित मानसिक बोझ के कारण मनुष्य की अवरोधक शक्ति क्षीण हो जाती है और कालांतर में उसका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है।

(७) अस्पतालों और औषधालयों की कमी—अच्छे स्वास्थ्य के लिए रोगों के आने पर, रोगियों की चिकित्सा की समुचित व्यवस्था होना चाहिये। भारत में अस्पतालों की संख्या भी पर्याप्त नहीं है। इनमें प्रति सहस्र निवासियों के पीछे '२४ बिस्तरों की व्यवस्था है। संतोषप्रद प्रबंध के लिए ७ बिस्तर होना चाहिये। अस्पतालों में रोगियों के साथ सहानुभूति का बर्ताव नहीं होता। प्रायः सभी अस्पतालों में औषधियों और सामग्री की कमी होती है। प्राइवेट डाक्टरों और वैद्यों की संख्या भी पर्याप्त नहीं है और उनका वितरण दोषपूर्ण है। भारत में प्रति ६००० व्यक्तियों के पीछे और इंगलैंड में १००० व्यक्ति के पीछे एक डाक्टर है। भारत के ९० प्रतिशत् निवासी देहातों में रहते हैं, और ९० प्रतिशत् डाक्टर और वैद्य शहरों में। स्वास्थ्य की दृष्टि से अस्पतालों और डाक्टरों की उक्त व्यवस्था संतोषप्रद नहीं है।

स्वास्थ्य संबंधी सरकारी व्यवस्था—भारत में स्वास्थ्य-संबंधी सरकारी व्यवस्था का सर्व प्रथम उल्लेख सन् १८५९ में मिलता है, जब सैनिकों के स्वास्थ्य की जाँच के लिए एक शाही कमीशन नियुक्त हुआ था और उसने अपनी सिफारिशें, सैनिकों के स्वास्थ्य के साथ-साथ, सार्वजनिक स्वास्थ्य के संबंध में भी की थीं। अतएव बंबई, मद्रास और बंगाल के प्रांतों के लिए स्वास्थ्य कमीशन नियुक्त हुए और १८६४ में केंद्र और प्रांतों में कुछ सरकारी अधिकारी, जिन्हें सैनीटैरी कमिश्नर (Sanitary Commissioners) कहा जाता था। सन् १९०४ में प्लेग कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में यह सिफारिश की कि सार्वजनिक स्वास्थ्य के कामों को परिवर्द्धित करना तथा स्वास्थ्य संबंधी अन्वेषण के लिए प्रयोगशालाओं की स्थापना करनी चाहिये। फलस्वरूप केंद्रीय सरकार के अधीन स्वास्थ्य-अन्वेषण विभाग (Medical Research Department) खोला गया, इंडियन रिसर्च फंड एसोसियेशन (Indian Research Fund Asoociation) की स्थापना हुई और प्रांतों को प्रतिवर्ष स्वास्थ्य संबंधी सरकारी अनुदान दिया जाने लगा। इसके पूर्व सन् १८८८ में भारत-सरकार, अपने एक प्रस्ताव द्वारा, स्थानीय संस्थाओं का ध्यान सार्वजनिक स्वास्थ्य संबंधी उनके कर्तव्यों की ओर आकृष्ट कर चुकी थी।

भारतीय शासन संबंधी सन् १९१९ के ऐक्ट द्वारा, द्वैध शासन-प्रणाली की व्यवस्था के कारण, सार्वजनिक स्वास्थ्य, उत्तरदायी मंत्रियों के हाथ में आ गया। उन्होंने इस संबंध में कुछ काम भी किये, किंतु द्वैध शासन-प्रणाली के दोषों के कारण, उन्हें विशेष सफलता न मिली। सन् १९३५ के संविधान के अंतर्गत प्रांतीय स्वराज्य की व्यवस्था के कारण, प्रांतीय सरकारों को स्वास्थ्य संबंधी कामों

में अधिक सफलता मिली। हेल्थ सर्वे एंड डेवलपमेंट कमेटी (Health Survey and Development Committee) के मतानुकूल "सुधारों के पश्चात् सार्वजनिक स्वास्थ्य के कामों में जितनी दिलचस्पी ली गयी, उतनी पहले कभी न ली गयी थी।" भारत के नये संविधान में सार्वजनिक स्वास्थ्य पहले की भांति राज्यों की सूची में सम्मिलित किया गया है और वे इस संबंध में महत्त्वपूर्ण काम कर रहे हैं। उनके काम दो प्रकार के हैं, पहले वे जो रोगों को आने ही न दें और दूसरे वे जिनकी चिकित्सा की वे व्यवस्था करें। पहले के सर्वोच्च अधिकारी को डाइरेक्टर आफ हेल्थ (Director of Health) कहते हैं और दूसरे के सर्वोच्च अधिकारी को मद्रास, बंबई और बंगाल में सरजन जनरल और अन्य राज्यों में इंस्पेक्टर जनरल आफ सिविल हॉस्पिटल्स।

यद्यपि भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के अनुसार, सार्वजनिक स्वास्थ्य का विषय प्रांतीय विषय निर्धारित हुआ था तो भी सार्वजनिक स्वास्थ्य संबंधी अन्वेषण केंद्रीय सरकार के अधीन थे। सन् १९४७ तक समस्त भारत के लिए एक डाइरेक्टर जनरल आफ हेल्थ था, जो भारत-सरकार को औषधियों आदि के विषय में परामर्श देता था। इसी प्रकार संघीय सार्वजनिक स्वास्थ्य कमिश्नर (Public Health Commissioner) भारत-सरकार को स्वास्थ्य संबंधी बातों में परामर्श देता था। सन् १९४७ में भोर (Bhore) कमेटी की सिफारिश के अनुसार ये दोनों पद मिला दिये गये। सन् १९३७ में सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड आफ हेल्थ की स्थापना हुई। सार्वजनिक स्वास्थ्य कमिश्नर इसके मंत्री की भाँति काम करते थे। बोर्ड का उद्देश्य केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों तथा विभिन्न प्रांतीय सरकारों में स्वास्थ्य संबंधी बातों में सहयोग स्थापित करना है। वह अपना काम कमेटियों के द्वारा करता है। भोर कमेटी ने सिफारिश की है कि सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड आफ हेल्थ के स्थान पर एक केंद्रीय बोर्ड आफ हेल्थ स्थापित किया जाय।

सन् १९४७ में, स्वतंत्रता के साथ साथ, केंद्रीय सरकार के स्वास्थ्य-विभाग की स्थापना हुई। वह एक उत्तरदायी मंत्री के अधीन है। विभाग केंद्रीय शासित प्रदेशों के स्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त वह संघांतरित राज्यों को स्वास्थ्य संबंधी बातों में परामर्श देता, स्वास्थ्य संबंधी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का संचालन करता, बंदरगाहों में बाहर से आने वालों के स्वास्थ्य का निरीक्षण करता तथा बाहर से आने वाली दवाइयों के प्रकार को निर्धारित करता है। केंद्राय सरकार का यह विभाग अन्वेषण की कुछ संस्थाओं की भी देखभाल

करता तथा इस बात की व्यवस्था करता है कि एक राज्य की बीमारी दूसरे राज्य में न फैल जाय।

भोर कमेटी की सिफारिशें—अक्टूबर सन् १९४३ में, भारत-सरकार ने स्वास्थ्य संबंधी बातों की जांच तथा उसके विकास के लिए, सर जोसेफ भोर की अध्यक्षता में एक कमेटी की नियुक्ति की। उसने दिसंबर सन् १९४५ में अपनी रिपोर्ट पेश की जिसमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की गयी थीं—

(१) प्रत्येक गाँव में पांच बिस्तरों के सहित एक औषधालय की व्यवस्था होनी चाहिये। गाँवों के प्रत्येक समूह के लिए जिसकी जनसंख्या २०,००० हो, एक पुरुष-डाक्टर, एक स्त्री-डाक्टर तथा ३४ कर्मचारियों की व्यवस्था होनी चाहिये। तीन आरंभिक इकाइयों के प्रत्येक समूह के लिए ३० बिस्तरों का एक अस्पताल होना चाहिये। प्रत्येक गाँव के स्वास्थ्य का प्रबंध एक स्वास्थ्य-कमेटी के अधीन होना चाहिये।

(२) ५०,००० से ६०,००० तक जनसंख्या के क्षेत्रों के लिए विशेष योग्यतायुक्त डाक्टरों के सहित एक अस्पताल तथा प्रयोगशाला होनी चाहिये। इनका काम गांवों की अपेक्षा उच्चतर श्रेणी का होगा। ये गांवों के स्वास्थ्य संबंधी कामों का निरीक्षण भी करेंगे।

(३) प्रत्येक जिले में २०० बिस्तरों वाले एक अस्पताल तथा श्रेष्ठतर स्वास्थ्य-संगठन की व्यवस्था होनी चाहिये। उनमें चीड़-फाड़ एवं चिकित्सा का प्रबंध इतनी उच्चकोटि का होना चाहिये कि कोई भी रोगी चिकित्सा के के लिए जिले के बाहर न जाय।

(४) राज्यों के स्वास्थ्य-विभागों को स्वास्थ्य संबंधी निरीक्षण के कामों में आरंभिक और माध्यमिक इकाइयों के साथ कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिये, ताकि उन्हें स्वतंत्र रूप से अपने पैरों पर खड़े होने तथा मौलिकता से काम करने की क्षमता आ जाय।

इन सिफारिशों में तीन आधारभूत सिद्धांत निहित हैं—(१) प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वास्थ्य संबंधी बातों की पूरी व्यवस्था, चाहे वह इनके लिए रुपया खर्च कर सके अथवा न खर्च कर सके (२) देहाती क्षेत्रों के लिए स्वास्थ्य संबंधी बातों की पूर्ण-रूपेण व्यवस्था। (३) स्वास्थ्य संबंधी योजनाओं में सर्व-साधारण का सहयोग।

कमेटी की सिफारिशों में से कुछ कार्यान्वित कर दी गयी हैं। भारत-सरकार छात्रवृत्तियाँ देकर डाक्टरी के ज्ञान को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील है। स्वास्थ्य के अन्वेषणों के संबंध में, उसने मद्रास विश्वविद्यालय के वाइस-चांसेलर श्री

२. भारतीयों के खराब स्वास्थ्य के कारणों को समझा कर लिखिये ।

३. सन् १८५९ से १९४० तक स्वास्थ्य-संबंधी सरकारी व्यवस्था का विवरण लिखिये ।

४. भोर कमेटी क्यों नियुक्त हुई थी ? उसकी महत्त्वपूर्ण सिफारिशों का सारांश लिखिये ।

५. भारतीय स्वास्थ्य के भविष्य के संबंध में आपके क्या विचार हैं ?

१०

हमारा राष्ट्रीय उत्थान (१)

१८८५—१९३५

स्वतंत्र भारत—१५ अगस्त सन् १९४७ से हम स्वतंत्र हैं। उसके पूर्व हमारे देश पर इंगलैंड का आधिपत्य था और उसका शासन-संचालन अंगरेजों के हित के लिए किया जाता था। प्रायः सभी उच्च सरकारी पदों पर अंगरेज विराजमान थे। विदेशों की कौन कहे, अपने देश में भी हमारे साथ सम्मान का बर्ताव न किया जाता था। अंतर्राष्ट्रीय जगत में हमारा कुछ स्थान ही न था। देश की उक्त राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति से भारतीय नेता असंतुष्ट थे। अतएव उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन चलाये। इन्होंने कालांतर में जनता में इतनी जागृति पैदा की कि दूसरे महासमर के पश्चात् अंगरेजों को हमारे देश का शासन हमारे हाथ में सौंपना पड़ा। इस ध्येय की प्राप्ति में भारत की अनेक राजनीतिक संस्थाओं ने अपना सहयोग प्रदान किया है। इनमें कांग्रेस का स्थान सर्वप्रथम है।

कांग्रेस का जन्म—यदि हम कांग्रेस के जन्म के कारणों पर विचार करें, तो हमें दूरवर्ती और निकटवर्ती दो प्रकार के कारण मिलेंगे। दूरवर्ती कारणों ने राष्ट्रीय जागृति के लिए भूमि को इस प्रकार तैयार किया कि उसमें कांग्रेस का बीज सुगमता से बोया तथा कांग्रेस का पौधा तेजी से बढ़ सका। इन कारणों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) कंपनी का राजनीतिक आचरण—१८ वीं शताब्दी के आरंभ में जब अंगरेजों ने भारत में अपना राज्य स्थापित करना आरंभ किया, देश में शांति और व्यवस्था का अभाव था। अतएव कुछ दिनों तक भारतीय नेता कंपनी के राजनीतिक आचरण को समझने तथा उसकी आलोचना करने में असमर्थ रहे। किंतु शांति और व्यवस्था की स्थापना के पश्चात्, जब उन्होंने इस काल के इतिहास का पर्यायलोचन किया तो उन्हें कंपनी का शासन अनैतिक तथा निंदनीय प्रतीत हुआ। लाला लाजपत राय के मतानुसार, "कंपनी के शासन-काल में हिंदू मुसलमानों के प्रतिकूल, मुसलमान हिंदुओं के प्रतिकूल, जाट राजपूतों के प्रतिकूल और मराठे सबके प्रतिकूल भड़काये गये। संधियां की

गयीं और बिना संकोच तोड़ी गयीं। मान और विश्वास का विचार किये बिना, पक्ष लिये और बदले गये। राजगद्दियां मोल ली गयीं और सबसे अधिक मूल्य देने वाले के हाथ बेची गयीं। सैनिक सहायता खरीदी गयी और माल के समान बेची गयी। कार्य की नैतिकता पर बिना विचार किये नौकरों को मालिक के प्रतिकूल विश्वासघात करने और सैनिकों को झंडा त्यागने का प्रोत्साहन दिया गया। ऐसे बहाने निकाले और अवसर खोजे गये जिनसे भारतीय राजा अथवा नवाब युद्ध एवं संकट में फंस जायं। कंपनी का एकमात्र उद्देश्य लूटना, नोच-खसोट करना और साम्राज्य की स्थापना करना था।" "......ब्रिटेन द्वारा भारत की विजय का इतिहास राजनीतिक छल, विश्वास-घात और अनैतिकता का इतिहास था। यह ब्रिटिश कूटनीतिज्ञता की विजय थी।" कंपनी के उक्त नैतिक आचारण के साथ यदि हम उसकी आर्थिक नीति को मिला दें, तो हमारे हृदय में उसके प्रति असंतोष की सृष्टि कुछ स्वाभाविक सी हो जाती है। इन्हीं कारणों से सन् १८५७ का सिपाही-विद्रोह हुआ था।

(२) विद्रोह-दमन की भयंकरता—विद्रोह के दिनों में, भारतीयों ने जिस भयंकरता और निष्ठुरता का परिचय दिया था उससे भी कहीं अधिक भयंकरता और निष्ठुरता अँगरेजी सैनिकों और सेना-नायकों द्वारा उसके दमन में दिखलायी गयी थी। अंगरेजी सैनिकों और उनके अधिकारयों ने अपने बंदियों का, बिना न्याय, जिस ढंग से वध किया वह भारतवासियों की दृष्टि में बर्बरता की चरम सीमा को पहुँच गया था। उन्होंने मुसलमानों को सुअर की खाल में सिलाया, फाँसी के पूर्व उनके शरीर पर सुअर की चर्बी मलवायी, उनकी लाशों को जलाया और हिंदुओं को जबरदस्ती अशुद्ध किया। सहस्रों मनुष्य केवल दिल्ली में ही नहीं, वरन देहातों में भी मारे गये। लंदन टाइम्स के संवाददाता रसेल के कथानुसार जनरल हैवलक के पहले जाने वाली सेना का अफसर, नील की समता करना चाहता था। "दो दिन में ४२ आदमियों को सड़क पर फाँसी दी गयी और १२ आदमी इस लिए सूली पर चढ़ा दिये गये कि सेना के आगमन के समय उनका मुँह विपरीत दिशा में था।" निष्ठुरता का यह नग्न-प्रदर्शन कानपूर के निंदनीय नर-संहार के पूर्व किया गया था। इसके कारण भारतीयों और अंगरेजों के जातीय भेद-भाव को प्रोत्साहन मिला और यद्यपि विक्टोरिया की घोषणा के कारण शांति सुलभता से स्थापित हो सकी, तो भी अंगरेजी सेना और सेनापतियों द्वारा किये गये निंदनीय कामों की दुखद स्मृतियाँ बहुत दिनों तक भारतीयों के हृदय में खटकती रहीं।

(३) भारतीयों का अविश्वास और उनके दमन की नीति—

सिपाही विद्रोह के पश्चात् भारत के शासन की बागडोर इंगलैंड के राजा (महारानी विक्टोरिया) के हाथ में आ गयी। अपनी १८५८ की घोषणा में उन्होंने यह बचन दिया था कि सरकारी पद, धर्म तथा जाति का विचार न करके, प्रत्येक योग्य व्यक्ति को दिये जायँगे, सरकार किसी के धर्म में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करेगी और भविष्य में भारत के राजा तथा नवाब किसी रोक-टोक के बिना बालकों को गोद ले सकेंगे।

इस घोषणा के होते हुए भी सन् १८६१ में सेना का पुनस्संगठन इस प्रकार किया गया कि अंगरेजी सैनिकों की संख्या बढ़ी, तोपखाना अंगरेजों के हाथ में आ गया और भारतीय सिपाहियों का संतुलन अंगरेज सिपाहियों द्वारा नहीं, वरन् भारतीय सैनिकों द्वारा किया गया। भारतीय निःशस्त्र कर दिये गये और प्रेस ऐक्टों द्वारा भारतीय लोकमत का गला घोंटा गया। वे उच्च सरकारी पदों से विभिन्न बहाने वंचित रखे गये। भारतीयों के प्रति अविश्वास के उक्त कामों के कारण यह स्वाभाविक था कि उनमें अंगरेज शासकों के प्रति असंतोष की भावना बढ़े और वे सामूहिक अथवा व्यक्तिगत रूप से अपनी स्थिति के सुधारने के लिए प्रयत्नशील हों।

(४) **उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलन**—उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आंदोलनों (ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज, राम-कृष्ण सेवाश्रम तथा थियोसोफिकल सोसाइटी) के कारण भारत के निवासी अपने सामाजिक दोषों और कुरीतियों को पहचानने लगे और उनके दूर करने के लिए प्रयत्नशील हुए। शिक्षा-प्रचार, स्त्रियों की हीनावस्था का सुधार, बाल-विवाह की रुकावट, विधवा-विवाह की माँग, जातियों की कड़ाई का ढीलापन आदि सामाजिक सुधार इन्हीं आंदोलनों के परिणाम थे। इनमें से कुछ आंदोलनों ने धार्मिक सहिष्णुता का भी पाठ पढ़ाया और कुछ ने सब धर्मों की सत्यता को स्वीकार करके, मानवता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। कुछ ने भारतीय अंध विश्वास को मिटाने के लिए, पाश्चात्य विवेकात्मक अध्ययन-प्रणाली का अनुसरण किया, कुछ ने पाश्चात्य-कारण का विरोध करके भारत की प्राचीन सभ्यता को उच्चतम ठहराया और "हिंदुस्तान हिंदुस्तानियों के लिए है," इस राजनीतिक तत्त्व का राग उठाया। एक ऐसी जाति में, जो शताब्दियों से अंध-विश्वास से शृंखला-बद्ध रही हो, ऐसी जागृति का हो जाना, नवजीवन-संचार का द्योतक था।

(५) **अंगरेजी सरकार की आर्थिक नीति**—कंपनी के शासन-काल की भाँति, सन् १८५८ के पश्चात् भी भारत-सरकार की आर्थिक नीति भारत के हित में न होकर इंगलैंड के हित में होती थी। जनवरी सन् १८७४

को भारत के कुछ व्यापारियों ने मिस्र और अमरीका की रूई मँगाकर भारत में बढ़िया सूत और कपड़ा बनाने का विचार प्रकट किया। यह बात लंकाशायर के सौदागरों को नापसंद थी। अतएव उन्होंने भारत-मंत्री से इस बात का अनुरोध किया कि आयात-कर का पुनर्विचार, उठा देने की दृष्टि से किया जाय। १८७५ के टैरिफ ऐक्ट के अनुसार, गवर्नर जनरल ने आयात-कर में कमी तो कर दी किंतु उसके उठा देने पर सहमत न हुए। यह ऐक्ट लॉर्ड सैलिसबेरी को, जो उन दिनों भारत-मंत्री थे, असह्य था। अतएव उन्होंने गवर्नर जनरल को संरक्षण संबंधी उक्त आयात-कर के उठाने के लिए कई बार लिखा किंतु लॉर्ड नॉर्थब्रुक ने, जो इन दिनों गवर्नर जनरल थे, भारत-मंत्री के परामर्श के अनुसार, काम करने में असमर्थता प्रकट की, जिसके कारण उन्हें अपने पद से हटना पड़ा और उनके स्थान पर लॉर्ड लिटन भारत के गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। सन् १८७९ तक अपनी कौंसिल के बहुमत के विरोध पर भी, उन्होंने रूई के सब सामान से (जो बढ़िया था) आयात-कर को हटा दिया। भारतीय नेताओं ने गवर्नर जनरल के इस काम की निंदा की। सन् १८९२ में सब आयात-कर उठा दिये गये। आर्थिक स्वार्थ-परायणता की उक्त घटनाओं से भी भारत के लोग ब्रिटिश शासन से असंतुष्ट रहने लगे।

(६) जातीय भेद-भाव के सम्मुख नतमस्तक; इल्बर्ट बिल— सन् १८५८ से १८८५ तक भारत-सरकार ने कुछ ऐसे काम किये जिनसे यह विदित होता है कि वह जातीय भेद-भाव को मिटाने में असमर्थ थी। इल्बर्ट बिल इस विषय का प्रत्यक्ष प्रमाण था। यह सन् १८८३ में भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में पेश हुआ था। इसका उद्देश्य यह था कि कॉवेनेंटेड सिविल सर्विस (Covenanted Civil Service) के अधिकारियों में जो जातिगत् भेद-भाव था, वह दूर कर दिया जाय। सन् १८८२ तक, प्रेसीडेंसी नगरों के बाहर रहने वाले, युरोपियनों के मुकद्में केवल अंगरेज मजिस्ट्रेट या न्यायाधीश ही कर सकते थे। भारतीय पदाधिकारियों को यह भेद-भाव अरुचिकर था। अतएव प्रांतीय सरकारों, स-कौंसिल भारत-मंत्री और अनुभवी शासकों के परामर्श से, बंगाल की सरकार के कहने पर सर कोर्टनी इल्बर्ट ने, भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में एक बिल पेश किया जिसका उद्देश्य उपर्युक्त भेद-भाव का दूर किया जाना था। इस बिल के कारण, भारत-निवासी युरोपियनों ने एक देश-व्यापी हलचल खड़ी कर दी। विरोध के कारण मूल बिल की कुछ धाराएं संशोधित की गयीं और यह निश्चित हुआ कि केवल डिस्ट्रिक्ट और सेशन जजों और डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेटों को ही मूल बिल के

अधिकार दिये जायंगे और हाईकोर्ट को, किसी समय किसी मुकद्मे को एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में भेजने का अधिकार होगा। लेकिन विरोध की मात्रा कम न हुई। अंत में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार डिस्ट्रिक्ट और सेशन जजों और डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेटों को युरोपीय अभियुक्तों के मुकदमों के निर्णय करने का अधिकार इस शर्त पर मिला कि अभियुक्त छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी जूरी (Jury) मांगने का अधिकारी होगा और जूरी के कम से कम आधे सदस्य युरोपियन या अमरीकन होंगे। इल्बर्ट बिल के विरोध और उसकी सफलता के कारण भारतीयों को यह स्पष्ट हो गया कि न्याय में भी जातिगत भेद-भाव को मिटाकर, समानता का स्थापित करना असंभव था।

(७) **पाश्चात्य सभ्यता का प्रचार**—पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रचार के कारण, भारतीयों का उक्त असंतोष और भी बढ़ा। अंगरेजी के प्रचार के कारण अनेक भारतीय पाश्चात्य राजनीति का अध्ययन करने तथा उसके अनुकूल शासन-सुधार के लिए प्रयत्नशील हुए। यातायात के नये साधनों के कारण, भारत के विभिन्न भागों के निवासी एक दूसरे के संपर्क में आये और पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार के कारण, जीवन की सभी समस्याओं को विवेकात्मक दृष्टिकोण से हल करने के लिए प्रयत्नशील हुए। देश में शांति और व्यवस्था तथा राजनीतिक एकता की स्थापना का प्रभाव भी इसी दिशा में हुआ। समाचार-पत्रों ने राष्ट्रीय असंतोष को और भी अधिक बढ़ाया। इस संबंध में भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्र विशेषतया उल्लेखनीय हैं। उन्होंने जातीय भेद-भाव, तोड़े गये वादों तथा दमन के कामों की तीव्र आलोचना की और प्रेस की स्वतंत्रता के अपहरण का विरोध किया। दंड की चिंता न करके ये अपने विचारों को निर्भीकता से प्रगट करते थे। राष्ट्रीय उत्थान और निर्भीकता का घनिष्ठ संबंध है। इस प्रकार समाचार-पत्रों और पत्रकारों ने राष्ट्रीय उत्थान के लिए प्रयत्नशील महापुरुषों को केवल सहायता ही नहीं दी, वरन् स्वयं पथ-प्रदर्शक की हैसियत से काम करने लगे।

(८) **पूर्वकालीन संस्थाएं**—कांग्रेस के जन्म के पूर्व भारत के विभिन्न भागों में कई ऐसी संस्थाएं थीं जो वर्ग विशेष के हितों की रक्षा के लिए बनायी गयीं थीं और जिनमें राजनीतिक बातों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की समस्याओं पर विचार किया जाता था। इन संस्थाओं में 'जमींदारी एसोसियेशन' 'बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसाइटी', 'ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन' और 'इंडियन एसोसियेशन', बंगाल में काम कर रहे थे, 'ईस्ट इंडिया एसोसियेशन' और 'बंबई प्रेसीडेंसी एसोसियेशन' बंबई में, 'मद्रास नेटिव एसोसियेशन' और

'मद्रास महाजन-सभा' मद्रास में और 'पूना सार्वजनिक सभा' पूना में। इन संस्थाओं ने वर्ग विशेष के हित के लिए वह मार्ग दिखलाया जिसका अनुसरण कर के राष्ट्रीय हित के लिए, कुछ दिनों के पश्चात् भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ।

ये थे कांग्रेस के जन्म के दूरवर्ती कारण। निकटवर्ती कारणों में सर्वप्रथम सिविल सर्विस के परीक्षार्थियों की अवस्था का घटाना था। भारत-सरकार ने १८७९ में यह सिफारिश की थी कि गवर्नर जनरल, गवर्नरों की सिफारिश पर, भारत-मंत्री द्वारा भरे गये स्थानों के २० प्रतिशत स्थान, उच्च घरानों के लड़कों को मनोनीत करके भर सकेंगे। होम गवर्मेंट ने इस अनुपात को घटाकर १६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत् और इंगलैंड में होनेवाली प्रतियोगी परीक्षाओं की अवस्था को २१ बरस से घटाकर १९ बरस कर दिया। सर सुरेंद्र नाथ बैनर्जी द्वारा संस्थापित 'इंडियन एसोसियेशन' ने इस प्रश्न के संबंध में एक देशव्यापी आंदोलन खड़ा कर दिया। उसने श्री लालमोहन घोष के हाथ, पार्लमेंट के पास तत्संबंधी आवेदन-पत्र भेजा और सर सुरेंद्र नाथ बैनर्जी से समस्त भारत का दौरा लगवाकर सिविल सर्विस के संबंध में लोकमत को जानने तथा उसके निर्माण का प्रयत्न किया। एसोसियेशन को अपूर्व सफलता मिली। सभी स्थानों पर सर सुरेंद्र नाथ बैनर्जी का शानदार स्वागत हुआ। ऐसा विदित होता था कि इस प्रश्न पर समस्त भारत एकमत था। ऐसी अवस्था में यह अनिवार्य था कि एक अखिल भारतीय संस्था की चर्चा आरंभ होती और कालांतर में वह स्थापित भी की जाती। परिणाम-स्वरूप सन् १८८३ में, श्री आनंद मोहन घोष की अध्यक्षता में, प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। इस प्रकार का दूसरा सम्मेलन, कांग्रेस के अधिवेशन के तीन दिन पहले, दिसंबर सन् १८८५ में हुआ था।

कांग्रेस का जन्म—जिन दिनों कलकत्ते के सार्वजनिक नेता अखिल भारतीय संस्था के निर्माण की बातचीत कर रहे थे, बंबई और पूना के नेता चुपचाप न थे। उन्होंने 'इंडियन नैशनल यूनियन', के रूप में एक अखिल भारतीय संस्था की कल्पना की और कलकत्ते के नेताओं का परामर्श लेकर, इसके संबंध में एक गश्ती चिट्ठी घुमायी, जिसके महत्त्वपूर्ण अंशों का भावार्थ निम्नलिखित है—

२५ दिसंबर से ३१ दिसंबर सन् १८८५ तक, पूना में इंडियन नेशनल युनियन का एक सम्मेलन होगा। इसमें बंगाल, मद्रास और बंबई प्रेसीडेंसियों के ऐसे डेलीगेट या राजनीतिज्ञ सम्मिलित हो सकेंगे जिन्हें अंगरेजी भाषा का समुचित ज्ञान हो। सम्मेलन का उद्देश्य उन सब कार्य-कर्ताओं का मेल एवं परस्पर

परिचय कराना है जो राष्ट्रीय उन्नति के कामों में लगे हुए हैं। परोक्ष रीति से सम्मेलन भारतीय पार्लमेंट का श्रीगणेश करेगा। यदि उसका काम ठीक-ठीक ढंग से होता रहा, तो कुछ दिनों के पश्चात् यह उन लोगों को मुँहतोड़ जवाब देगा जो यह कह रहे हैं कि इस समय भारत प्रतिनिधि-संस्थाओं के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है।

युनियन के सदस्यों को यह अश्वासन दिया गया कि सम्राट् के प्रति राजभक्ति, सम्मेलन का मूलमंत्र रहेगा और आवश्यकता पड़ने पर, वह संवैधानिक तरीकों से, उन सब उँचे या नीचे, विलायती या भारतीय पदाधिकारियों का विरोध करेगी जिनकी भूलें या काम भारतीय शासन के उन सिद्धातों के विरोधी होंगे जिनको समय समय पर, पार्लमेंट, सम्राट् की सम्मति से, निर्धारित करेगी।

आमंत्रित सम्मेलन के संगठन एवं प्रबंध का काम, मिस्टर ह्यूम को सौंपा गया। उन्होंने भारतीय गवर्नर जनरल, लॉर्ड डफरिन से भेंट की। लॉर्ड डफरिन ने सामाजिक सुधारों की अपेक्षा राजनीतिक सुधारों को अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया और इस बात पर जोर दिया कि भारत में कोई ऐसी संस्था न थी जो इंगलैंड के विरोधी दल के समान काम करती हो और जिससे सरकार को जनता के विचारों का ठीक ठीक पता चल सके। अतएव उन्होंने आमंत्रित सम्मेलन के साथ इस शर्त पर सहानुभूति प्रकट की कि कांग्रेस-योजना के संबंध में उनका नाम उस समय तक गुप्त रखा जाय जब तक वे इस देश में रहें। भारत-सरकार से निश्चिंत होकर मिस्टर ह्यूम मित्रों से परामर्श लेने के लिए इंगलैंड गये। इस यात्रा का मुख्य उद्देश्य यह था कि इंगलैंड का लोकमत सम्मेलन-संबंधी उन झूठी कल्पनाओं से बचा रहे जिसका होना तत्कालीन परिस्थिति में स्वाभाविक था। वे लार्ड डलहौजी आदि भारत से सहानुभूति रखने वाले सज्जनों और लगभग १५० ब्रिटिश पार्लमेंट के सदस्यों से मिले और उनसे यह कहलाने में सफल हुए कि वे भारतीय समस्याओं में कुछ दिलचस्पी लेंगे।

नवंबर सन् १८८५ में मिस्टर ह्यूम इंगलैंड से भारत को लौटे। उनकी अनुपस्थिति में नये सम्मेलन के नामकरण के विषय में कुछ चर्चा हो रही थी। बहुमत के आधार पर उसका नाम इंडियन नेशनल कांग्रेस रखा गया। हैजे के प्रकोप के कारण उसका प्रथम अधिवेशन पूना में न होकर बंबई में हुआ। इसमें भारत के विभिन्न भागों के ७२ डेलीगेट सम्मिलित हुए थे। श्री. डब्ल्यू. सी. बोनर्जी प्रथम सभापति निर्वाचित हुए। अपने भाषण में उन्होंने कांग्रेस का उद्देश्य इस प्रकार बतलाया—

(१) साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में देश के हित के लिए लगन से काम करने वालों की आपस में घनिष्ठता और मित्रता बढ़ाना।

(२) समस्त देश-प्रेमियों के अंदर प्रत्यक्ष-मैत्री व्यवहार द्वारा वंश, धर्म और प्रांत संबंधी तमाम पूर्व-दूषित संस्कारों को मिटाना और राष्ट्रीय ऐक्य की उन तमाम भावनाओं का जो लॉर्ड रिपन के चिरस्मरणीय शासनकाल में उद्भूत हुई थीं, पोषण और परिवर्द्धन करना।

(३) महत्त्वपूर्ण और आवश्यक सामाजिक प्रश्नों पर भारत के शिक्षित लोगों में अच्छी तरह चर्चा होने के बाद जो परिपक्व सम्मतियाँ प्राप्त हों उनका प्रामाणिक संग्रह करना।

(४) उन तरीकों और दिशाओं का निर्णय करना जिनके द्वारा भारत के राजनीतिज्ञ देश-हित के कार्य करें।

इस प्रकार सरकारी कर्मचारियों और सार्वजनिक नेताओं के सहयोग से उस महान संस्था का जन्म हुआ जो कालांतर में ब्रिटिश सरकार से अहिंसात्मक युद्ध करके, भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील होने को थी।

राष्ट्रीय सम्मेलन का भविष्यत्—इन्हीं दिनों कलकत्ते में, दूसरा राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसके संगठन और प्रबंध का उत्तरदायित्व श्री सुरेंद्रनाथ बैनर्जी को था। पूना में होने वाले सम्मेलन की सूचना ठीक समय पर न मिलने के कारण यह सम्मेलन २५, २६ और २७ दिसंबर को बड़े समारोह के साथ हुआ था और आखिरी दिन यह सूचना मिलने पर कि २८ तारीख (अर्थात् दूसरे दिन) को भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन बंबई में होगा, डेलीगेटों की प्रसन्नता का वारापार न रहा था। उन्होंने चिरवांछित राष्ट्रीय सभा के जन्म के अवसर पर, उसका स्वागत करने के लिए, सम्मेलन की ओर से एक संदेश भेजा। कालांतर में उद्देश्यों की समानता के कारण, यह सम्मेलन भारतीय कांग्रेस में विलीन हो गया और भारतीय कांग्रेस समस्त भारत की एक-मात्र राष्ट्रीय सभा की हैसियत से काम करने लगी।

सन् १८८५ से १९०५ तक—कांग्रेस का जन्म तो प्रधानतया सामाजिक संस्था के रूप में हुआ था, पर दूसरे ही वर्ष श्री दादाभाई नौरोजी ने उसे "विशुद्ध राजनीतिक संस्था" घोषित किया जिसका मतभेद-पूर्ण सामाजिक प्रश्नों से कोई संबंध न था। तत्पश्चात् उसने सैनिक व्यय, नमक-कर, मुद्रा-नीति, होम चार्जेज, आयात-कर, औद्योगिक शिक्षा, मालगुजारी की नीति, किसानों की कर्जदारी आदि के विषय में सारगर्भित प्रस्तावों को पास करके सरकारी

अधिकारियों और ब्रिटिश लोकमत का ध्यान इन प्रश्नों की ओर आकृष्ट किया। १९ वीं शताब्दी के अंत तक, वह शासन-सुधार द्वारा, देश के शासन में भारतीयों का हाथ बढ़ा कर, औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति के लिए, प्रतिनिधि-संस्थाओं की स्थापना के पक्ष में थी। इन महत्त्वपूर्ण सुधारों के लिए उसके पास केवल एक ही साधन था और वह था संवैधानिक आंदोलन। शिष्ट-मंडलों, प्रस्तावों, व्याख्यानों और प्रचार-कार्यों के द्वारा वह सरकारी मनोवृत्ति के परिवर्त्तन में विश्वास करती थी, ब्रिटिश संबंध को भारत के लिए ईश्वरीय देन समझती थी और उपयुक्त साधनों द्वारा ब्रिटिश लोकमत को शिक्षित करके, राजनीतिक सुधारों की प्राप्ति में विश्वास करती थी। उसे इंगलैंड के उदार दल और ब्रिटिश जनता की न्याय-प्रियता और स्वतंत्रता के प्रति अनुराग में अटूट विश्वास था।

उग्र राजनीतिज्ञों का उदय—कांग्रेस के कुछ लोगों का उक्त कार्य-प्रणाली में विश्वास न था। भारत-सरकार अपने कामों द्वारा भारतीयों को नित्य-प्रति हानि पहुँचा रही थी। उसकी आर्थिक नीति भारत के हित में न होकर, इंगलैंड के हित में थी। शासक जाति के लोग भारतीयों के साथ अमानुषिक बर्ताव करते थे। आंग्ल-भारतीयपत्र और पत्रकार भारतीय भाषाओं के पत्रों को निरादर की दृष्टि से देखते और शिक्षित भारतीयों के लिए अपमान-सूचक विशेषणों का प्रयोग करते थे। ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार हो रहा था, किंतु भारत-सरकार इन सब बातों की ओर से उदासीन थी। देश में अकाल पर अकाल पड़ रहे थे, किंतु सरकार को उनकी लेशमात्र भी चिंता न थी। वह दिल्ली-दरबारों को भूखी जनता के प्राण बचाने से अधिक-महत्त्व का समझती थी। ऐसी परिस्थिति में लॉर्ड कर्जन भारत के गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। वे हृदय के साफ, वचन में कटु तथा नृशंस साम्राजवादी थे। अपने शासन-काल में उन्होंने सरकारी नियंत्रण को असीम रूप से बढ़ाया और समस्त भारतीयों का यह कह कर निरादर किया कि "पाश्चात्य देशों के नैतिक आचरण में सत्य का विशेष स्थान था और पौर्वात्य देशों के आचरण में सत्य के स्थान पर मक्कारी और कूटनीतिज्ञता का प्राबल्य था।" उनका सबसे अधिक अप्रिय काम बंगाल का विच्छेद था। इसके द्वारा उन्होंने बंगाल का विभाजन करके लेफ्टिनेंट गवर्नर के अधीन पूर्वी बंगाल का नया प्रांत बनाया था। बंग-विच्छेद का अर्थ यह लगाया गया कि गवर्नर जनरल बंगाली राष्ट्र को दो हिस्सों में विभाजित करके राष्ट्रीय एकता को मिटाना चाहते थे। कुछ की धारणा थी कि वे भारतीय मुसलमानों के लिए, एक ऐसे प्रांत का निर्माण

करना चाहते थे जहां पर उनका बहुमत हो। सरकारी पक्ष से यह बतलाया गया कि बंगाल का प्रांत बहुत बड़ा हो गया था और सुशासन के लिए, उसका दो प्रांतों में बांटा जाना आवश्यक था। इस कथन में कुछ सत्यता अवश्य थी। किंतु लॉर्ड कर्जन की नीति और कामों के अंतस्तल में भारतीयों का अविश्वास था। फलस्वरूप उनका यह काम संदेह दृष्टि से देखा गया और सारे देश में इसकी निंदा की गयी।

सरकार की उक्त नीति तथा जापान द्वारा रूस और अबीसीनिया द्वारा इटली की पराजय के कारण, भारत के कुछ लोग, कांग्रेस से सहमत न होकर, उग्र राजनीति तथा क्रांति के मार्ग की ओर बढ़े। इनके मुख्य नेता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, श्री बिपिनचंद्र पाल और श्री अरविंद घोष थे।

भारत के उग्र नेता कांग्रेस के अन्य नेताओं की भांति देश के प्रति किये गये अन्यायों तथा अहितकर कानूनों का विरोध करते थे और उनके प्रतिकार के लिए सक्रिय आंदोलन पर जोर देते थे। ब्रिटिश शासन के शांति, व्यवस्था, पाश्चात्य संस्कृति आदि के कुछ लाभों को स्वीकार करते हुए भी, इस वर्ग के लोग, भारत के राष्ट्रीय चरित्र और सभ्यता पर पड़ने वाले उसके कुप्रभावों पर अधिक जोर देते थे और अपने अतीत गौरव का स्मरण करके जनता के नैसर्गिक अधिकारों की मांग प्रस्तुत करते थे। उदारदल वाले ब्रिटिश नागरिकता के अधिकारों को माँगते थे और उग्रदल वाले मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों को। उदार दल वाले ब्रिटिश शासन और संबंध को ईश्वर की देन समझते थे किंतु उग्रदल वाले उसे अस्वाभाविक बतलाते थे। उदारवादी औपनिवेशिक स्वराज्य और ब्रिटिश कॉमन-वेल्थ के समभागी होने से संतुष्ट थे और उग्र नेता पूर्ण स्वतंत्रता के पक्षपाती थे। लोकमान्य तिलक के मतानुकूल "अपने उद्देश्य के कारण नहीं, वरन् उसके प्राप्त करने के मार्गों के कारण हमें उग्र-वादियों की उपाधि मिली है।" "हमारे सम्मुख सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि हम उस विदेशी नौकरशाही पर किस प्रकार दबाव डालें, जिसमें हमारा प्रभावशाली प्रतिनिधित्व नहीं है और जिसमें हमें केवल निम्न श्रेणी के स्थान मिले हुए हैं। नरम राजनीतिज्ञों की राय में इंगलैंड में शिष्ट-मंडलों को भेज कर, पत्रों में हलचल मचाकर या अपने पक्ष के न्याय की दलील पेश करके यह काम किया जा सकता है।······पूर्वकालीन निराशाओं के कारण हमारा इन मार्गों से विश्वास उठ गया है। हमारा मूल मंत्र स्वावलंबन है, दान-याचना नहीं"। उग्र राजनीतिज्ञों की इस मनोवृति के कारण, सूरत की कांग्रेस

में बड़ा झगड़ा हुआ, जिसके कारण सन् १९०७ में कांग्रेस में विच्छेद हुआ और उग्रवादी कांग्रेस से अलग हो गये।

मुसलमानों में जागृति, मुस्लिम लीग का जन्म—अंगरेजों के आगमन के पूर्व देश के शासन में मुसलमानों का महत्त्वपूर्ण हाथ था। किंतु ब्रिटिश शासन के आरंभ में उनका स्थान क्रमशः गिरने लगा। हिंदुओं की भांति उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा को जल्दी से नहीं अपनाया। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकारी पदों पर अंगरेजी पढ़े-लिखे हिंदू ही नियुक्त किये जाने लगे। अंगरेजों की दृष्टि में सिपाही-विद्रोह प्रधानतया एक मुस्लिम आंदोलन था। वाहाबी आंदोलन में भाग लेकर कुछ मुसलमानों ने खुल्लमखुल्ला विद्रोह की बातचीत की थी। फलस्वरूप, भारत के अंगरेजी शासक, मुसलमानों को राजद्रोही तथा ऐसा संप्रदाय समझने लगे जिसका मिलाना कठिन था। किंतु क्रमशः यह परिस्थिति बदलने लगी। इस परिवर्तन का अधिकांश श्रेय अलीगढ़ निवासी, मुसलमानों के प्रसिद्ध नेता, सर सैयद अहमद खाँ को है। उन्होंने पहले अपने पत्र दि लॉयल मोहेम्मेडेंस आफ इंडिया (The Loyal Mohammedans of India) के द्वारा, मुसलमानों के मस्तक से राजद्रोह-संबंधी कलंक का टीका मिटाना चाहा और तत्पश्चात् इस बात के लिए प्रयत्नशील हुए कि मुसलमानों और ईसाइयों में मेल हो जाय जिससे देश के ईसाई शासकों में मुसलमानों के प्रति सद्भावना और मुसलमानों में ईसाई शासकों के प्रति राजभक्ति बढ़े। सन् १८८४ तक सर सैयद अहमद खाँ, इसी प्रकार के कामों में लगे तथा उन सब संस्थाओं का साथ देते रहे जो भारत के उत्थान के लिए बनायी गयी थीं। इस संबंध में चलाये गये आंदोलनों को भी उनका सहयोग प्राप्त था किंतु सन् १८८५ में जब कांग्रेस की स्थापना हुई, सर सैयद अहमद खाँ ने अपने को उससे अलग रखा, यद्यपि कांग्रेस, आरंभ से ही एक राष्ट्रीय संस्था थी और उसे भारत के अनेक प्रमुख मुसलमानों का सहयोग प्राप्त था।

इस ओर कांग्रेस शासन-सुधार की माँग में लगी हुई थी और उस ओर सर सैयद अहमद खाँ अपने सहधर्मियों को राजनीतिक हलचल से अलग रखने की कोशिश में लगे हुए थे। इस लक्ष्य से उन्होंने मुस्लिम-शिक्षा-सम्मेलन (Mohammedan Educational Conference) नाम की एक संस्था सन् १८८६ में स्थापित की। आरंभ में इसके अधिवेशन उसी स्थान पर होते थे जहाँ पर कांग्रेस के। फलस्वरूप शिक्षित मुसलमानों का एक वर्ग कांग्रेस तथा राजनीतिक आंदोलन से अलग रहा। राजनीतिक दृष्टि से मुस्लिम-शिक्षा-सम्मेलन, ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग तथा उसकी सहायता के पक्ष में

था। वह इंगलैंड के सम्राट् के प्रति राजभक्ति का प्रदर्शन करना चाहता था और उन सब कामों की, राजद्रोहात्मक होने के बहाने, निंदा करता था जो सरकार की आलोचना के रूप में थे। किंतु सर सैयद अहमद खाँ राजनीतिक हलचल को रोक न सके। सन् १८९३ में मुसलमान-रक्षा-परिषद (Mohammedan Defence Association) नाम की एक संस्था बनी। इसका उद्देश्य प्रार्थना-पत्रों द्वारा, राजनीतिक आंदोलनों और प्रचार-कार्य द्वारा नहीं, मुसलमानों के हितों की रक्षा और वृद्धि करना था। देश के विभिन्न स्थानों में भी, इसी उद्देश्य से अंजुमने इस्लामियां और मुस्लिम युवक संस्थाएँ बनायी गयीं। सन् १९०१ से मुस्लिम लीग की चर्चा होने लगी और सन् १९०६ में ढाका के सम्मेलन के निश्चयानुसार अखिल भारतीय मुस्लिम लीग (All India Muslim League) की स्थापना भी हो गयी।

मुस्लिम लीग के उद्देश्य, सन् १९०६ से १९१४ तक—ढाका सम्मेलन के प्रथम प्रस्ताव द्वारा यह स्वीकृत हुआ कि अखिल भारतीय मुस्लिम लीग नाम की एक संस्था निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति एवं वृद्धि के लिए बनायी जाय—

(अ) भारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति की भावना का बढ़ाना और उन भ्रमात्मक विचारों को दूर करना जो सरकार के किसी काम की मंशा के बारे में उत्पन्न हों।

(ब) भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों और हितों की रक्षा एवं वृद्धि करना और आदरपूर्वक उनकी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को सरकार के सम्मुख उपस्थित करना।

(स) उपर्युक्त उद्देश्यों पर कुप्रभाव डाले बिना, भारतीय मुसलमानों में उन भावनाओं का रोकना, जिनके कारण उनमें और दूसरे संप्रदायों में विरोधात्मक विचारों की वृद्धि का भय हो।

सन् १९१२ तक, मुस्लिम लीग राजनीतिक संस्था होते हुए भी, प्रधानतया एक धार्मिक और सामाजिक संस्था की भांति काम करती रही। किंतु सन् १९१३ में वह प्रधानतया एक राजनीतिक संस्था बन गयी। तुर्की के प्रति ग्रेट ब्रिटेन के व्यवहार को देख कर, भारतीय मुसलमानों को यह विदित हो गया कि उनके सच्चे दोस्त भारतवासी ही हैं। बंग-विच्छेद के रद किये जाने तथा तुर्की और फारस के राष्ट्रीय आंदोलनों का भी प्रभाव इसी दिशा में था। अतएव सन् १९१३ में, नव-जाग्रत मुसलमानों के कारण, मुस्लिम लीग के उद्देश्य इस प्रकार संशोधित किये गये कि वह एक उन्नतिशील एवं देशभक्त संस्था बन गयी। इन संशोधित उद्देश्यों का भावार्थ इस प्रकार है—(अ) सम्राट् के प्रति

भारतीयों की राजभक्ति का कायम रखना और उसका बढ़ाना। (ब) मुसलमानों के राजनीतिक और अन्य अधिकारों की रक्षा तथा वृद्धि करना; (स) भारत की अन्य जातियों और संस्थाओं में मेल-जोल और मित्रता स्थापित करना; (द) उपर्युक्त उद्देश्यों को खंडित किये बिना सम्राट् के अधीन, वैध आंदोलन द्वारा शासन-सुधार, राष्ट्रीय ऐक्य का परिवर्द्धन, लोकमत की जागृति और सांप्रदायिक सहयोग करा कर, भारत के लिए उपयुक्त स्वराज्य प्राप्त करना।

सन् १९१४ से १९१९ तक—सन् १९१४ में युरोपीय महासमर आरंभ हुआ और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों की भांति, भारत ने भी युद्ध में भाग लेकर मित्र-राष्ट्रों की सहायता की। युद्ध का उद्देश्य संसार को लोकतंत्र के लिए सुरक्षित करना था। भारत के अधिकांश राजनीतिज्ञों को अभी तक ब्रिटिश सरकार की घोषणाओं में विश्वास था। अतएव महात्मा गांधी, पं० मदनमोहन मालवीय, श्री गोपालकृष्ण गोखले आदि प्रमुख नेताओं और कांग्रेस, मुस्लिम लीग आदि देश की प्रमुख संस्थाओं ने, एक स्वर से, युद्धकालीन प्रयत्नों में मित्र-राष्ट्रों का साथ दिया। इंगलैंड के राजनीतिज्ञों ने स्वतंत्रता, समता, न्याय, अंतर्राष्ट्रीय अधिकार, स्वशासन, लोकतंत्र आदि राजनीतिक आदर्शों का गुण-गान किया और भारत की सहायता की प्रेम-पूर्वक प्रशंसा की। फलस्वरूप भारतीयों में नयी आशाएं जाग्रत हुईं और वे अपने देश के लिए उन सुधारों को निकट समझने लगे जिनके आदर्शों की घोषणा इंगलैंड के राजनीतिज्ञ एक स्वर से कह रहे थे।

युद्धकाल में भारत की राष्ट्रीय जागृति संबंधी कई महत्त्वपूर्ण बातें हुईं जिनमें से निम्नलिखित विशेषतया उल्लेखनीय हैं—

(अ) गरम और नरम दलों का मेल—सूरत के विच्छेद के पश्चात्, गरमदल के राजनीतिज्ञ कांग्रेस से अलग हो गये थे, किंतु उनकी पृथक् संस्था न बनी थी। उसके नेता लोकमान्य तिलक जेल में बंद कर दिये गये थे। सन् १९१४ में जेल में छूटने के पश्चात् उन्होंने अपने दल को संगठित करने का कार्यक्रम बनाया। इसी साल श्रीमती एनी बेसेंट भी राजनीतिक क्षेत्र में आयीं। उन्होंने कांग्रेस के दोनों दलों के मिलाने के गुरुतर काम को अपने हाथ में लिया। जब तक सर फ़ीरोज शाह मेहता और श्री गोपालकृष्ण गोखले जीवित थे, उन्हें अपने काम में सफलता न मिली; किंतु इन दोनों के निधन के पश्चात्, कांग्रेस के सन् १९१५ के अधिवेशन में, वे उसके संविधान में ऐसे संशोधन कराने में सफल हुईं जिनके कारण लोकमान्य तिलक और उनके अनुयायी कांग्रेस में पुनः सम्मिलित हो गये।

(ब) कांग्रेस और मुस्लिम लीग का मेल—कांग्रेस और मुस्लिम लीग का मेल इस काल की दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना थी। सन् १९१३ में मुस्लिम लीग के उद्देश्यों में परिवर्तन के कारण, उसके और कांग्रेस के ध्येय में विशेष अंतर न रह गया था। फलस्वरूप दोनों संस्थाएं एक दूसरे के निकट आने लगीं। सन् १९१६ में लखनऊ-पैक्ट के द्वारा कांग्रेस ने मुसलमानों के लिए सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व तथा भार के सिद्धांत को स्वीकार किया और दोनों ने मिलकर कांग्रेस-लीग नाम की शासन-सुधार की एक योजना तैयार की। कांग्रेस ने अपने चिर-संस्थापित संयुक्त प्रतिनिधित्व के सिद्धांत का बलिदान संभवतः इस आशा से किया था कि स्वराज्य प्राप्त करने के पश्चात् दोनों संस्थाओं का परस्पर संदेह दूर हो जायगा और हिंदू और मुसलमान एक महान् राष्ट्र के सदस्य हो कर भारत को एक महान राष्ट्र बना सकेंगे। कालांतर में उसका अनुमान गलत निकला।

(स) होमरूल लीगें और स्वशासन आंदोलन—राष्ट्रीय जागृति संबंधी इस काल की तीसरी महत्त्वपूर्ण बात होमरूल लीगों द्वारा स्वशासन का आंदोलन था। लोकमान्य तिलक ने सन् १९१५ में राष्ट्रवादियों का एक सम्मेलन आमंत्रित किया और उसमें यह निश्चित किया कि 'होमरूल' भारतीयों का ध्येय तथा राष्ट्रीय नारा होना चाहिये। १३ अप्रैल सन् १९१६ को उन्होंने प्रथम होमरूल लीग की स्थापना की। नौकरशाही उनसे नाराज रहती ही थी; अतएव पांच महीने के भीतर ही, उन्हें एक बरस तक अच्छे आचरण के लिए, जमानतें देने की आज्ञा हुई। इससे लोकमान्य की ख्याति और भी बढ़ गयी। श्रीमती बेसेंट भी होमरूल आंदोलन की समर्थक थीं। १२ जून सन् १९१६ को उन्होंने लंदन में ऑक्जिलियरी (Auxiliary) होमरूल लीग नाम की एक संस्था संगठित की और १ सितंबर सन् १९१६ को मद्रास में भी उनकी होमरूल लीग स्थापित हुई। 'मरहठा' और 'केसरी' द्वारा लोकमान्य तिलक और 'कामनवील'-और 'न्यू इंडिया' पत्रों द्वारा श्रीमती बेसेंट ने होमरूल की मांग का इतना अधिक प्रचार किया कि तत्कालीन भारत-सरकार, युद्धकालीन परिस्थिति के कारण, उन्हें राजद्रोहात्मक समझने लगी। फलस्वरूप 'न्यू इंडिया'' से जमानत माँगी गयी और श्रीमता बेसेंट मद्रास-सरकार द्वारा नजरबंद कर ली गयीं। कुछ दिनों के पश्चात् वे इस शर्त पर छोड़ दी गयीं कि युद्ध के शेष काल के लिए वे अपने को हिंसात्मक तथा अवैध आंदोलनों से अलग रखेंगी। होमरूल लीग तथा होमरूल संबंधी आंदोलनों के समर्थकों की यह धारणा थी कि "इंगलैंड का संकट भारत का अवसर है।" अतएव युद्धकालीन प्रयत्नों में सरकार की सहायता करते हुए, वे इस बात की

कोशिश करते थे कि भारतीयों को भारतीय शासन का एक बड़ा अंश मिल जाय।

(द) क्रांतिवादियों के काम—इस काल की चौथी उल्लेखनीय बात क्रांतिकारियों का जोर था। अपनी जान हथेली पर रखकर, वे सरकारी अधिकारियों और मुखबिरों की हत्या तथा डकैतियों के द्वारा भारत के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। युद्ध के काल में वे अपने कामों को उसी प्रकार करते रहे जिस प्रकार युद्ध के पूर्व करते थे। सन् १९१३ से सन् १९१६ तक, बंगाल और पंजाब में उनका जोर सबसे अधिक था। सन् १९१३ में दस और सन् १९१४ में उन्नीस क्रांतिवादी दुर्घटनाएं हुईं और सन् १९१५ से अमरीकन ढंग की डकैतियां डाली जाने लगीं। इसी साल 'जर्मन-बंगाली' षड्यंत्र रचा गया। बर्लिन में एक भारतीय राष्ट्रीय दल (Indian National Party) संगठित हुआ और उसने इस बात की कोशिश की कि बंगाल और पंजाब में एक साथ विद्रोह किया जाय। किंतु बंगाल के क्रांतिवादियों के सभी प्रयत्न असफल सिद्ध हुए। पंजाब का भी यही हाल हुआ। यहां के क्रांतिवादी दल की वास्तविक स्थापना का श्रेय लाला हरदयाल को था। सन् १९११ में वे अमरीका चले गये और वहाँ उन्होंने 'गदर पार्टी' स्थापित की और 'गदर' नामी पत्र के द्वारा क्रांतिवादी विचारों का प्रचार किया। अमरीका निवासी सिक्खों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। उधर कैनाडा के अन्यायपूर्ण इमीग्रेशन (Immigration) के नियमों के कारण 'कोमागाटा मारु' जहाज द्वारा गये हुए सिक्खों को कैनाडा में उतरने न दिया गया। ये लोग केवल कैनाडा की सरकार से ही नहीं, वरन् भारत-सरकार से भी असंतुष्ट थे, जो उनके अधिकारों की रक्षा करने में असमर्थ थी। भारत में आने के पश्चात् इन लोगों ने कुछ प्रदर्शन करना चाहा जिसकी आज्ञा, युद्ध-कालीन परिस्थिति के कारण न मिल सकी और जिसके कारण दंगा हुआ और लगभग १८ आदमी मारे गये। लगभग इसी समय अमरीका निवासी दूसरे सिक्ख भारत में आने लगे। ६ मार्च सन् १९१५ तक, ३१२५ आदमी पंजाब में आये। सरकार को यह विदित था कि उनमें से कुछ 'गदर पार्टी' के प्रभाव में थे। अतएव उनमें से प्रत्येक की व्यक्तिगत जाँच की गयी। बंगाल की तरह पंजाब में भी कई बार विप्लव कराने के प्रयत्न हुए किंतु क्रांतिवादियों को विशेष सफलता न मिली।

(य) अन्य बातें—सन् १९०५ से १९१८ तक भारत के राजनीतिज्ञ जिस मार्ग पर जा रहे थे उससे यह स्पष्ट था कि सरकार को शीघ्र ही अपनी नीति और कामों में परिवर्तन करना पड़ेगा। थोड़ा-बहुत काम इस दिशा में

किया भी गया। दक्षिणी अफ्रीका में 'गांधी-स्मट्स' समझौते के आधार पर इंडियन रिलीफ ऐक्ट (Indian Relief Act) पास हुआ। युद्धकालीन साम्राज्य-सम्मेलन (Imperial War Conference) के सन् १९१८ के अधिवेशन में एक ऐसा प्रस्ताव पास हुआ जिसके कारण साम्राज्य के देशों में भारतीयों की स्थिति सुधर सकती थी। अगस्त सन् १९१७ को कॉमन सभा में ब्रिटिश सरकार की भारतीय नीति की घोषणा की गयी। इसके आधार पर भारतीय शासन संबंधी सन् १९१९ का ऐक्ट बना। युद्ध के पश्चात् संधि-चर्चा के सम्मेलनों में भारत के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए और इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय जगत में भी भारत का स्थान पहले की अपेक्षा उच्चतर हो गया।

युद्ध के पश्चात्—युद्ध के पश्चात् भारतीय परिस्थिति इतनी आशातीत न रह गयी, जितनी युद्ध के काल में थी। इसके निम्नलिखित कारण थे—(१) मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड विधेयक ने भारतीयों की आशाओं पर पानी फेर दिया। उग्र राजनीतिज्ञ उससे विशेष रूप से असंतुष्ट थे। उसमें द्वैध शासन-प्रणाली, मनोनीत सदस्यों की उपस्थिति, सर्टीफिकेशन और वीटो के अधिकार, अध्यादेश जारी करने की सत्ता आदि ऐसी धाराएं थीं जो आत्म-निर्णय के सिद्धांत के प्रतिकूल थीं और भारत की राजनीतिक प्रगति में बाधा डाल सकती थीं। (२) भारत के आंतरिक शासन में रौलट विधेयकों द्वारा, क्रांतिकारियों को दबाने के बहाने, ऐसे नियम बनाने का प्रयत्न किया गया, जो जनता को अधिक स्वतंत्रता देने के बदले, उसकी यथास्थित स्वतंत्रता को भी कम करते थे। (३) पंजाब में भीषण दुर्घटनाएं हुईं। अमृतसर के जलियाँवाला बाग में निहत्थी जनता पर गोलियां चलायी गयीं। (४) खिलाफत का प्रश्न भी देश के सम्मुख था। भारतीय मुसलमानों को दिये गये वचन के प्रतिकूल, युद्ध के पश्चात तुर्की के अधिकांश प्रदेशों पर, यूनान, फ्रांस और इंगलैंड के अधिकार की बात-चीत होने लगी। अतएव गांधी जी ने खिलाफत के प्रश्न को अपनाया और यह घोषित किया कि यदि तुर्की के साथ संधि की शर्तें भारत के मुसलमानों के भावों के अनुकूल न होंगी, तो वे सहयोग अंदोलन आरंभ कर देंगे। हिंदुओं और मुसलमानों में अब एक प्रकार की असाधारण मैत्री हो गयी और दोनों मिलकर देश के उत्थान में लग गये।

असहयोग आंदोलन—उक्त कारणों तथा सरकार की सहानुभूति के अभाव में असहयोग आंदोलन का जन्म हुआ। उसका कार्य-क्रम इस प्रकार था—(१) सरकारी उपाधियां और अवैतनिक पद छोड़ दिये जायँ और स्थानीय संस्थाओं के मनोनीत सदस्य अपना स्थान खाली कर दें। (२) न तो

सरकारी उत्सवों या दरबारों में शामिल हुआ जाय और न सरकार द्वारा या सरकार के सम्मान में किये गये सरकारी या गैर-सरकारी उत्सवों में। (३) सरकारी, सरकारी सहायता-प्राप्त या सरकार के अधीन स्कूलों और कॉलेजों का धीरे-धीरे बहिष्कार किया जाय और इन स्कूलों और कॉलेजों के स्थान पर राष्ट्रीय स्कूल और कॉलेज स्थापित किये जायँ। (४) धीरे-धीरे सरकारी अदालतों का बहिष्कार किया जाय और झगड़ों के निबटाने के लिए, पंचायती अदालतें स्थापित की जायँ। (५) सैनिक, क्लर्की और मजदूरी पेशेवाले लोग मेसोपोटामियां में काम करने के लिए भर्ती न हों। (६) सुधार-योजना के अनुसार बननेवाली विधान-सभाओं के अभ्यर्थी उम्मीदवारी वापस ले लें और कांग्रेस के निर्णय के प्रतिकूल खड़े होनेवाले अभ्यर्थियों को कोई वोटर वोट न दे। (७) विदेशी माल का बहिष्कार किया जाय। प्रत्येक घर में हाथ की कताई और बुनाई पुनर्जाग्रत की जाय। असहयोग का उक्त प्रस्ताव पहले तो कलकत्ते के विशेष अधिवेशन में स्वीकृत हुआ और तत्पश्चात् नागपुर के अधिवेशन में दोहराया गया। कांग्रेस का ध्येय अब शांतिमय और न्यायपूर्ण उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना घोषित हुआ। भारतीय उदारवादी इस बात को नापसंद करते थे। अतएव वे कांग्रेस से अलग हो गये और उन्होंने अखिल भारतीय उदारवादी सम्मेलन के नाम की एक नयी संस्था का निर्माण किया।

दो बरस तक असहयोग आंदोलन बड़े वेग से चलता रहा। गांधीजी ने यह आशा दिलायी कि यदि उनका कार्य-क्रम पूरा किया जायगा, तो स्वराज्य एक ही बरस में मिल जायगा। व्यक्तिगत सत्याग्रह के कारण अनेक असहयोगी जेल में बंद हो गये। सामूहिक सत्याग्रह की भी बातचीत होने लगी और बारदोली में उसका भी श्रीगणेश हुआ। किंतु एक दो स्थानों को छोड़कर अहिंसात्मक आंदोलन प्रायः हिंसात्मक हो गया। इसके कारण गांधी जी को बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने उसके बंद करने का इरादा प्रकट किया। फरवरी सन् १९२२ को सामूहिक सत्याग्रह बंद कर दिया गया किंतु व्यक्तिगत् सत्याग्रह का अधिकार पूर्ववत् बना रहा। १० मार्च सन् १९२२ को गांधी जी गिरफ्तार कर लिये गये और १८ मार्च को उन्हें छः साल की सजा मिली।

स्वराज्य पार्टी का जन्म—गांधीजी के जेल जाने के तीन महीने पश्चात् तक कांग्रेस अपना कामकाज पूर्ववत् चलाती रही। तत्पश्चात् उसने तत्कालीन स्थिति की जांच करने और रिपोर्ट देने के लिए एक कमेटी नियुक्त की। इसको साधारणतया सत्याग्रह कमेटी कहते हैं। कमेटी ने देश भर का दौरा करके निम्नलिखित सिफारिशें कीं—(अ) देश सामूहिक सत्याग्रह के लिए तैयार

नहीं है किंतु प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों को अपनी जिम्मेदारी पर छोटे पैमाने पर सत्याग्रह करने का अधिकार दिया जाय। (ब) स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार पूर्ववत् जारी रहे। (स) पंचायती आदालतें स्थापित की जायँ और वकीलों के खिलाफ लगे हुए प्रतिबंध हटा लिये जायँ। (द) मजदूर-संगठन पर जोर दिया जाय और कानून के भीतर सबको आत्म-रक्षा की स्वतंत्रता दी जाय। (य) कौंसिलों के कष्टदायिनी साबित होने के कारण, कौंसिल-प्रवेश के पक्ष में निम्नलिखित बातें की जायँ—(१) असहयोगी, उम्मेदवारी के लिए पंजाब और खिलाफत की ज्यादतियों की दादरसी और तत्काल स्वराज्य-प्राप्ति के उद्देश्य से खड़े हों और अधिक से अधिक संख्या में पहुँचने की कोशिश करें। (२) यदि असहयोगी इतनी अधिक संख्या में पहुँच जायँ कि उनके बगैर कोरम पूरा न हो, तो वे कौंसिल-भवन में जाकर बैठने के बजाय एक साथ वहाँ से चले आयें और फिर किसी बैठक में शरीक न हों। बीच बीच में वे कौंसिलों में केवल इस लिए जायँ कि उनके रिक्त स्थान भरे न जा सकें। (३) यदि असहयोगी इतनी संख्या में पहुँचें कि अधिक होने पर भी उनके बिना कोरम पूरा हो सकता हो, तो वे प्रत्येक सरकारी कार्रवाई का जिसमें बजट भी शामिल है, विरोध करें और केवल पंजाब और स्वराज्य-संबंधी प्रस्ताव पेश करें। (४) यदि असहयोगी अल्प संख्या में पहुँचे तो वही करें, जो ऊपर (३) में बताया गया है और इस प्रकार कौंसिल के बल को घटावें।

उक्त सिफारिशों के कारण असहयोगी दो भागों में विभक्त हो गये। पहले भाग में वे थे जो गांधी जी के कार्यक्रम में किसी प्रकार का परिवर्तन न करना चाहते थे और दूसरे भाग में वे जो कौंसिल-प्रवेश को देश-हित के लिए आवश्यक समझते थे। गया कांग्रेस में अपरिवर्तनवादी ही जीते। इस पर परिवर्तनवादियों ने स्वराज्य पार्टी की स्थापना का निश्चय किया। फलस्वरूप दिल्ली के विशेष अधिवेशन में निम्नलिखित अनुमतिसूचक प्रस्ताव पास हुआ—"जिन कांग्रेसवादियों को कौंसिल-प्रवेश के विरुद्ध धार्मिक या किसी प्रकार की आपत्ति न हो, उन्हें अगले निर्वाचन में खड़े होने और अपनी राय देने के अधिकार का उपयोग करने की आजादी है। इस लिए कौंसिल-प्रवेश के विरुद्ध सारा प्रचार बंद किया जाता है।" कोकनडा के साधारण अधिवेशन में यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि इस परिवर्तन के कारण कांग्रेस की नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। "...यह कांग्रेस स्पष्ट रूप से प्रगट करती है कि बहिष्कार के सिद्धांत और उसकी नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है।" इस प्रकार स्वराज्य पार्टी, कांग्रेस के अंतर्गत चुनाव लड़ सकी

जिसके कारण ५० स्वराजी भारतीय विधान-सभा में पहुँचे और मध्य-प्रदेश में उनकी संख्या इतनी अधिक हो गयी कि वहां पर कुछ दिनों के लिए द्वैध शासन-प्रणाली का अंत करना पड़ा।

क्रमशः पद-ग्रहण की भी बातचीत आरंभ हुई। पं० मोतीलाल नेहरू जो स्वराज्य पार्टी के नेता थे, पद-ग्रहण के पूर्व निम्नलिखित तीन शर्तों की पूर्ति आवश्यक समझते थे—(१) मंत्री कौंसिल के प्रति पूर्णरूप से उत्तरदायी समझे जायँ और उन पर सरकार का कोई शासन न रहे। (२) आय का उचित भाग राष्ट्र-निर्माण-विभागों के लिए नियत कर दिया जाय और (३) मंत्रियों का हस्तांतरित विभागो की नौकरियों पर पूरा अधिकार हो।

गोहाटी कांग्रेस में पद-ग्रहण करने के विषय में इसी प्रकार का प्रस्ताव पास किया गया। चार बरस के अंदर कांग्रेस की नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये और ऐसा विदित होने लगा कि क्रमशः वह असहयोग के बजाय सहयोग के पथ पर अग्रसर होती जाती है। साइमन कमीशन की नियुक्ति के कारण इस नीति में पुनः परिवर्तन हुआ।

स्वराज्य पार्टी के काम—जन्म के पश्चात् ही स्वराज्य पार्टी ने अपना संगठन-कार्य आरंभ कर दिया। पार्टी की सफलता के लिए समाचार-पत्र निकाले गये, प्रचार-कार्य किया गया और धन एकत्रित किया गया। निर्वाचन के पूर्व स्वराज्य पार्टी ने निम्न-लिखित शब्दों में अपने कार्य-क्रम की घोषणा की।

(१) सरकार द्वारा कौंसिलों के इस प्रकार के प्रयोग का रोकना जिससे राष्ट्रीयता के विरुद्ध आंदोलनों तथा कामों को सहायता मिले।

(२) सरकार को राष्ट्रीय मांग की सूचना देना और यह स्पष्ट कर देना कि यदि राष्ट्रीय मांग स्वीकृत न हुई तो स्वराज्य पार्टी सतत और एक समान अड़ंगा-नीति का अवलंबन करेगी, यहाँ तक कि कौंसिलों के तोड़ने की नौबत आ जायगी।

चुनाव में स्वराज्य पार्टी के उम्मीदवार प्रायः सभी स्थानों में जीते और बंगाल और मध्य-प्रांत की विधान-सभाओं में उनका बहुमत स्थापित हो गया। केंद्रीय असेंबली में उसके ५० सदस्य पहुँचे, किंतु पार्टी के नेताओं की पार्लमेंटरी कुशलता के कारण, स्वराज्य पार्टी और स्वतंत्र दल (Independent Party) में मेल हो गया और सरकार को कई बार महत्त्वपूर्ण प्रस्तावों में भी हार खानी पड़ी। फलस्वरूप गवर्नर-जनरल को सर्टीफिकेट के विशेषाधिकार का प्रयोग करना पड़ा और स्वराज्य पार्टी ने संसार को यह दिखला दिया कि भारत-सरकार किस सीमा तक निरंकुश तथा उत्तरदायित्व से परे थी। बंगाल और

मध्य-प्रांत में, स्वराज्य पार्टी के प्रभाव के कारण हस्तांतरित और संरक्षित विषयों का भेद मिटा कर गवर्नरों को प्रांत का समस्त शासन अपने हाथ में लेना पड़ा और इस प्रकार किंचित काल के लिए सन् १९१९ का संविधान स्थगित सा हो गया। सन् १९२४ और १९२५ में, जब कि देश में एक प्रकार से शांति थी, विधान-सभाओं में, स्वराज्य पार्टी के सदस्यों के कारण, अनुपम चहल-पहल थी।

अन्य संस्थाओं के काम—सन् १९२० से १९२७ तक कांग्रेस के अतिरिक्त देश की अन्य संस्थाएं भी अपने कार्यक्रम के अनुसार उसके उत्थान में लगी हुई थीं। जिन दिनों असहयोग और खिलाफत आंदोलनों का जोर था, मुस्लिम लीग न्यूनाधिक सुप्तावस्था में थी। किंतु असहयोग आंदोलन के बंद तथा खिलाफत के प्रश्न के हल हो जाने कारण, मुस्लिम लीग ने पुनः अपना सिर उठा कर सांप्रदायिकता का प्रचार आरंभ किया। फलस्वरूप कई स्थानों पर सांप्रदायिक दंगे हुए। उधर हिंदू-सभा भी अधिक क्रियाशील हो रही थी। इसका जन्म सन् १९१२ में हुआ था; किंतु सन् १९१८ तक वह सुप्तावस्था में थी। सन् १९१८ के दिल्ली के अधिवेशन में, उसने लखनऊ-पैक्ट और उसके द्वारा हिंदुओं के साथ किये गये अन्याय की कड़ी आलोचना की। सन् १९२३ में मलकाना राजपूतों की शुद्धि के कारण साम्प्रदायिक समस्या और भी जटिल हो गयी। मुसलमान नेता हिंदुओं द्वारा की गयी इन शुद्धियों की तीव्र आलोचना करने लगे। ऐसी परिस्थिति में बंगाल-पैक्ट द्वारा देशबंधु चितरंजन दास ने म्युनिसिपल नौकरियों के ६० प्रतिशत स्थान मुसलमानों के लिए सुरक्षित कर दिये। कांग्रेस द्वारा मुसलमानों का उक्त तोषण हिंदू महासभा के नेताओं को असह्य था। अतएव कांग्रेस की सांप्रदायिक नीति में विश्वास न करके, हिंदू महासभा ने सन् १९२५–२६ के दिल्ली के अधिवेशन में विधान-सभाओं के आगामी चुनाव में उन उम्मीदवारों के विरोध में अपने उम्मीदवार खड़े करने का निश्चय किया जो उसके विचार में हिंदू-हितों के विरोधी थे। उदारवादी दल स्वराज्य पार्टी के उद्भव के कारण सन् १९२७ तक न्यूनाधिक सुप्तावस्था में था। इसका कारण योग्यता का नहीं, वरन् त्याग और कष्ट-सहन का अभाव था, जिसके सहारे कांग्रेस वाले जनता को अपनी ओर आकर्षित कर सके और उदारवादी उससे वंचित रहे थे।

साइमन कमीशन की नियुक्ति और बहिष्कार—भारत की पूर्वोक्त परिस्थिति में, ८ नवंबर सन् १९२७ को लॉर्ड अर्विन ने साइमन कमीशन के नियुक्त किये जाने की घोषणा की। कमीशन का उद्देश्य था, भारतीय

संविधान की जाँच करना और भविष्य संविधान के संबंध में सिफारिशें करना। कमीशन के सात सदस्य थे और सातो अंगरेज थे। भारत का भविष्य संविधान निर्मित करने के लिए, एक भी भारतीय कमीशन में बैठने के योग्य न समझा गया था। भारत के प्रायः सभी दल ब्रिटिश सरकार की इस नीति के कारण, कमीशन के विरोधी बन गये और सबने मिलकर गोरे कमीशन के बहिष्कार का निश्चय किया। यही नहीं, यह भी निश्चित किया गया कि कमीशन-संबंधी सभी सामाजिक जलसों का बहिष्कार किया जाय, कोई मनुष्य कमीशन के सम्मुख गवाही न दे और कमीशन संबंधी खबरें तक अखबारों में न छापी जायँ। ऐसा मालूम होने लगा कि भारत पुनः एकता के सूत्र में बँध गया है। किंतु वास्तविक परिस्थिति ऐसी न थी। मुसलमानों, हरिजनों, जमींदारों और तालुकेदारों ने साइमन कमीशन के साथ सहयोग किया, जिसके कारण उसकी असफलता उतनी न हो सकी जितनी अन्यथा हो सकती और होनी चाहिये थी।

पूर्ण स्वतंत्रता की ओर—कमीशन को, नेहरू कमेटी की योजना द्वारा, कांग्रेस के दृष्टिकोण का भी पता था। पूर्ण स्वतंत्रता के ध्येय को स्वीकार करके उसने उसे इस शर्त पर अपना लिया था कि ३१ दिसंबर सन् १९२९ तक ब्रिटिश सरकार उसे कानून का रूप दे दे। इसके पहले ही लॉर्ड अर्विन इंगलैंड से लौटे और ३१ अक्टूबर सन् १९२९ को उन्होंने शासन-सुधार के लिए गोलमेज परिषद् में विचार की घोषणा की। इस संबंध में उन्होने देश के विभिन्न वर्गों के नेताओं से बातचीत भी की। कांग्रेस की ओर से गांधी जी और पं० मोतीलाल नेहरू आमंत्रित किये गये थे। गांधी जी यह आश्वासन चाहते थे कि गोलमेज परिषद की कार्रवाई डोमीनियन स्वराज्य को आधार मान कर होगी। पर वाइसराय यह आश्वासन देने को तैयार न थे। वे अपने उत्तर में केवल इतना ही कहते थे कि सरकार ने अपने विचार अपने वक्तव्य में स्पष्ट कर दिये हैं। "इसके आगे मैं कोई वचन नहीं दे सकता। मेरी ऐसी स्थिति नहीं है कि औपनिवेशिक (डोमीनियन) स्वराज्य का वादा करके गोलमेज परिषद में आप लोगों को बुला सकूँ"। वाइसराय के इस उत्तर से कांग्रेस का भ्रम दूर हो गया। सरकार और कांग्रेस का समझौता न हो सका और लाहौर की कांग्रेस में नेहरू-योजना समाप्त समझी गयी। कांग्रेस का ध्येय पुनर्वार पूर्ण स्वाधीनता हो गया। २६ जनवरी सन् १९३० को देश भर में स्वतंत्रता दिवस मनाया गया और स्वाधीनता का घोषणापत्र प्रायः सभी स्थानों में पढ़ा गया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन—फरवरी सन् १९३० को कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक साबरमती में हुई। उसने गांधीजी और अहिंसा में विश्वास

रखनेवाले उनके साथियों को, जब, जहाँ तक और जिस प्रकार उचित समझें, सविनय अवज्ञा करने की आज्ञा दे दी। कुछ दिनों के पश्चात् गांधी जी को आंदोलन चलाने की भी सत्ता दे दी गयी। गांधीजी ने नमक-कानून भंग करके सविनय अवज्ञा करने का निश्चय किया। आंदोलन चलाने के पूर्व २ मार्च, सन् १९३० को उन्होंने लॉर्ड अर्विन के पास एक पत्र भेजा, जिसमें इंगलैंड और अंगरेज जाति के मित्र होते हुए भी उन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन की बुराइयों पर प्रकाश डाला और वाइसराय से आदरपूर्वक उन बुराइयों के दूर करने का अनुरोध किया। पत्र के अंत में उन्होंने वाइसराय को यह चेतावनी दी कि यदि इन बुराइयों को दूर करने के उपाय आप नहीं कर सकेंगे और मेरे पत्र का आप के हृदय पर असर नहीं होगा तो इस मास की ११ तारीख को मैं आश्रम से उपलब्ध साथियों को लेकर नमक-कानून तोड़ने के लिए चल पड़ूँगा। वाइसराय ने अपने उत्तर में गांधी जी के उपर्युक्त विचारों पर खेद प्रगट किया और कहा कि ऐसा करने से सार्वजनिक शांति के भंग होने की आशंका थी।

फलस्वरूप १२ मार्च को गांधी जी अपने ७९ साथियों के साथ नमक-कानून तोड़ने के लिए चल पड़े। २४ दिन पैदल चलकर और लगभग २०० मील की यात्रा समाप्त करके, ५ अप्रैल को प्रातःकाल सब लोग डांडी पहुँचे और प्रार्थना के पश्चात् वहीं पर, समुद्र तट से नमक बीन कर नमक-कानून तोड़ने के लिए निकल पड़े। आखिरकार नमक-कानून भंग हो गया। तत्पश्चात् गांधी जी ने उन सब लोगों को नमक बनाने का अधिकार प्रदान किया जो कारावास भोगने के लिए तैयार थे। अपने इस समय के वक्तव्य में उन्होने यह सलाह दी कि कांग्रेस कार्यकर्त्ता सर्वत्र नमक बनावें और जहाँ शुद्ध नमक बन सके वहाँ उसका प्रयोग भी करें। वे ग्रामवासियों को भी नमक बनाना सिखा दें और उन्हें यह भी बता दें कि नमक बनाने में कारावास मिलने का भय था। ५ मई की रात को गांधी जी गिरफ्तार कर लिये गये। सरदार वल्लभ भाई पटेल को इसके पहले ही चार महीने की सजा मिल चुकी थी। पं० जवाहरलाल नेहरू, पं० मोतीलाल नेहरू आदि अन्य नेता भी गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद गिरफ्तार कर लिये गये। सारे देश में सविनय अवज्ञा की लहर फैल गयी। जगह-जगह नमक बनाया जाने लगा, नमक के गोदामों पर आक्रमण होने लगे, ताडी के वृक्ष काटे जाने लगे, जंगलात कानून तोड़ने के लिए जनता को प्रोत्साहित किया गया, गुजरात के बारदोली और बोरसद परगनों में कर-बंदी आंदोलन चलाया गया, विदेशी वस्तुओं और वस्त्रों का बहिष्कार किया गया

और विशेषकर अंगरेजी बीमा कंपनियों, बंकों और जहाजों के बहिष्कार पर जोर दिया गया। जनता का उत्साह सराहनीय था। स्वयंसेवकों ने भी अद्भुत अनुशासन का परिचय दिया। मालूम होता था कि कोई गुप्त आध्यात्मिक शक्ति कष्टों के होते हुए भी उन्हें अपने निर्दिष्ट ध्येय की ओर बढ़ाये लिये जा रही थी।

आंदोलन के उत्तर में सरकार ने दमन का चक्र चलाया। सार्वजनिक सभाएं गैर-कानूनी करार दी गयीं और सरकारी आज्ञा न माननेवालों पर लाठियां बरसायी गयीं। कहीं-कहीं गोलियाँ भी चलीं। कांग्रेसी नेता और उनके अनुयायी हजारों की संख्या में जेल में बंद कर दिये गये। कहीं-कहीं सैनिक शासन भी स्थापित हुआ। अपूर्व परिस्थिति का सामना करने के लिए गवर्नर जनरल ने ऑर्डीनेंसें जारी कीं। अखबारों से जमानतें मांगी गयीं, अभियुक्तों पर लंबे-लंबे जुर्माने किये गये और कांग्रेस गैर-कानूनी संस्था घोषित की गयी। सुलह के सब प्रयत्न निष्फल गये। फलस्वरूप प्रथम गोलमेज परिषद्, कांग्रेस के सहयोग के बिना हुई। उसके अंत में जो घोषणा की गयी वह कुछ हृदयग्राही थी। ऐसा विदित होता था कि गोलमेज परिषद् के विचार भारत को स्वतंत्रता का सार दिला सकेंगे। घोषणा में सविनय अवज्ञा में लगे हुए लोगों के सहयोग की ओर भी संकेत था। "यदि इस बीच में वाइसराय की अपील का जवाब उन लोगों की ओर से भी मिलेगा जो इस समय सविनय अवज्ञा आंदोलन में लगे हुए हैं तो उनकी सेवाएं स्वीकार करने की कार्रवाई की जायगी। २५ जनवरी सन् १९३१ को वाइसराय ने अपने वक्तव्य में कांग्रेस की कार्य-समिति के सदस्यों को आपस में और उन लोगों के साथ, जो १ जनवरी १९३० से, समिति के सदस्य की तौर पर काम कर रहे थे, बातचीत करने के लिए छोड़ने का वचन दिया। तत्पश्चात् सुलह की बातचीत पुनः आरंभ हुई, जिसके परिणामस्वरूप अर्विन-गांधी समझौता हुआ।

अर्विन-गांधी समझौता—जेल से छूटने के पश्चात् गांधीजी ने १४ फरवरी को वाइसराय के नाम एक पत्र भेजा जिसमें उन्होंने उनसे मुलाकात करने की आज्ञा मांगी। १६ फरवरी को तार द्वारा वाइसराय का उत्तर आ गया और दूसरे दिन वाइसराय और गांधी जी की चार घंटे की मुलाकात हुई। इस प्रकार कई और मुलाकातें भी हुई। आखिरकार ५ मार्च को सरकार और कांग्रेस में समझौता हो ही गया। उनकी निम्नलिखित शर्तें ध्यान देने योग्य हैं—(अ) सविनय-अवज्ञा-आंदोलन बंद किया जाय। (ब) संघ-राज्य भारतीय-संविधान का अनिवार्य अंग हो। पर देश के हित और उत्तरदायित्व की

दृष्टि से देश-रक्षा, पर-राष्ट्र-संबंध, अल्पसंख्यक जातियों की स्थिति, भारत की आर्थिक स्थिरता और जिम्मेदारियों की अदायगी आदि विषयों के संरक्षण भी उसके आवश्यक अंग हों। (स) कांग्रेस के प्रतिनिधि, शासन-सुधार की योजना पर, जो आगे विचार हो, उसमें भाग लेंगे। (द) विदेशी वस्तुओं और नशीली चीजों का बहिष्कार जारी रहेगा, पर इस संबंध में कोई ऐसे उपाय काम में न लाये जायँगे जिनसे कानून की मर्यादा भंग हो। (ब) सविनय अवज्ञा आंदोलन सबंधी बनायी गयी ऑर्डीनेंसें वापस ली जायँगी और अहिंसात्मक राजनीतिक कैदी छोड़ दिये जायँगे, (क) आंदोलन-संबंधी जो मुकदमें चल रहे हैं, वापस लिये जायँगे, जो जुर्माने वसूल नहीं हुए हैं माफ कर दिये जायँगे, और जब्त की गयी अचल संपत्ति जो सरकार के कब्जे में है वापस कर दी जायगी। (ग) जिन लोगों ने सरकारी नौकरियों से त्याग-पत्र दे दिया है उनकी पुनर्नियुक्ति के विषय में सरकार उदार नीति से काम लेगी। (ह) यदि कांग्रेस इस समझौते की शर्तों का पालन न कर सकेगी तो सर्वसाधारण की रक्षा, और कानून और व्यवस्था के उपयुक्त प्रतिपालन के लिए, सरकार जो कार्रवाई आवश्यक समझेगी, कर सकेगी।

अर्विन-गांधी समझौते के कारण कांग्रेस का स्थान भारतीय राजनीतिक संस्थाओं में बड़े महत्त्व का हो गया। सरकार ने यह स्वीकार कर लिया कि कांग्रेस देश की प्रमुख राजनीतिक संस्था थी और भावी संविधान के निर्माण में समझौता करके भी उसका सहयोग प्राप्त करना आवश्यक था। लॉर्ड अर्विन ने पहले तो कांग्रेस को दबाने का प्रयत्न किया और उसमें कुछ सफल भी हुए। पर अंत में उन्होंने उसके साथ उदार नीति बर्ती जिसके कारण कांग्रेस का एकमात्र प्रतिनिधि निराशा के लक्षण होते हुए भी, आशावादी बनकर, दूसरी गोलमेज परिषद में सम्मिलित हो सका। कांग्रेस कमेटियाँ पुनः अपने काम में लग गयीं। स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय झंडे फहराने लगे। पर यह आजादी केवल थोड़े ही दिनों के लिए थी। १८ अप्रैल को लॉर्ड अर्विन अपना कार्य-काल समाप्त करके भारत से बिदा हुए और लॉर्ड वेलिंगडन भारत के नये गवर्नर जनरल और वाइसराय नियुक्त हुए। इसके कुछ दिनों पश्चात् दोनों ओर से समझौते के भंग की शिकायतें होने लगीं और भारतीय राजनीतिक गगनमंडल में निराशा के बादल पुनः दृष्टिगोचर होने लगे। पर परिस्थिति बिगड़ने के पूर्व ही संभाल ली गयी और २९ अगस्त सन् १९३० को गांधी जी द्वितीय गोलमेज परिषद में सम्मिलित होने के लिए लंदन को रवाना हो गये। परिणाम वही हुआ जिसकी आशा थी। गांधी जी परिषद से कांग्रेस की माँग

स्वीकार कराने में असमर्थ रहे। अतएव उनका विपरीत दिशा में जाना अनिवार्य सा हो गया। परिषद् की समाप्ति पर सभापति को धन्यवाद देने के प्रस्ताव में उन्होंने इस बात का संकेत किया था। "अब हमें अलग-अलग रास्तों पर जाना होगा। मैं नहीं जानता कि मेरा रास्ता किस दिशा में है। लेकिन इसकी मुझे चिंता नहीं है। यदि मुझे बिल्कुल ही विभिन्न दिशा में जाना पड़े, तो भी आप मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र तो हैं ही।"

भारत में भयानक परिस्थिति—गांधी जी की अनुपस्थिति में भारतीय परिस्थिति ने भयानक रूप धारण कर लिया। सरकार और कांग्रेस दोनो एक दूसरे पर, समझौते के भंग करने का दोष मढ़ते थे। सरकार का कहना था कि विराम-संधि के बहाने, कांग्रेस अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने में लगी थी, धरना धरने का ढंग समझौते के प्रतिकूल था और सविनय अवज्ञा आंदोलन पूर्ण रूप से बंद नहीं किया गया था। कांग्रेसवादियों का कहना था कि बारडोली के मामलों की जाँच एकतरफा हो रही थी, संयुक्त-प्रांत (उत्तर प्रदेश) में लगान बड़ी सख्ती से वसूल किया जा रहा था, बंगाल और पश्चिमोत्तर प्रदेश में दमन का जोर था और सरकार समझौते के प्रतिकूल, आंदोलन दबाने की तैयारियाँ कर रही थी। दोनों में बराबर पत्र-व्यवहार होता रहा पर उसका कुछ परिणाम न निकला। आखिरकार संयुक्त-प्रांतीय कांग्रेस कमेटी ने किसानों को यह सलाह दी कि वे लगान और मालगुजारी का चुकाना, संधि-चर्चा के समय तक के लिए स्थगित कर दें। सरकार ने इससे यह समझा कि आंदोलन पुनः आरंभ किया जा रहा है। अतएव २४ दिसंबर सन् १९३१ तक तक वाइसराय ने पाँच नयी ऑर्डीनेंसें जारी कीं और सरकार ने पं० जवाहरलाल जी नेहरू, श्री अब्दुल गफ्फार खां, श्री शेरवानी आदि प्रमुख कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया।

२८ दिसंबर को गांधी जी विलायत से लौटे। २९ दिसंबर को उन्होंने वाइसराय के नाम एक तार भेजा जिसमें उन्होंने वाइसराय का ध्यान ऑर्डीनेंसों और गिरफ्तारियों की ओर आकर्षित किया और उनसे पूछा कि "आया मैं इनसे यह समझूँ कि हमारी परस्पर मित्रता का खात्मा हो चुका है या आप मुझसे अब भी यह उम्मीद करते हैं कि मैं आपसे मिलूँ और इस परिस्थिति में मैं कांग्रेस को क्या सलाह दूँ, इस विषय में आप से परामर्श और रहनुमाई चाहूँ"। ३१ तारीख को वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी का उत्तर आया जिसमें उन्होंने संयुक्त-प्रांत और सीमा-प्रांत की हलचलों को मित्रता के भाव के प्रतिकूल बतलाया और यह स्पष्ट कर दिया कि वाइसराय गांधी जी से मिलने के लिए तैयार थे,

पर बंगाल, संयुक्त-प्रांत और सीमा-प्रांत में जारी की गयी ऑर्डीनेंसों पर वाद-विवाद करने के लिए तैयार न थे। गांधी जी ने उत्तर में कांग्रेस-कार्य-समिति का प्रस्ताव वाइसराय के पास भेजा और उनसे प्रार्थना की कि वे बिना शर्त मिलना स्वीकार कर लें। कार्य-समिति के प्रस्ताव में, राष्ट्र को कुछ शर्तों पर सविनय अवज्ञा, जिसमें लगानबंदी भी सम्मिलित थी, आरंभ करने के लिए आवाहित किया गया था। वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी ने, इसके उत्तर में कांग्रेस और गांधी जी के निश्चय पर खेद प्रकट किया और मुलाकात के संबंध में लिखा कि सविनय अवज्ञा की धमकी होते हुए, वाइसराय को मुलाकात से विशेष लाभ की आशा न थी। आखिरकार संग्राम फिर से छिड़ गया और ४ जनवरी, सन् १९३२ को गांधी जी और सरदार वल्लभभाई पटेल गिरफ्तार कर लिये गये।

आंदोलन और दमन—गांधी जी की गिरफ्तारी के पश्चात् कांग्रेस कर्मचारी और स्वयंसेवक हजारों की संख्या में पुनः संग्राम में कूद पड़े। नेताओं की गिरफ्तारी के कारण उनको ठीक-ठीक रहनुमाई तो न मिलती थी, फिर भी वे नाना प्रकार से कानून तोड़ते और गिरफ्तार कर लिये जाते थे। वे ऑर्डीनेंसों को तोडते थे, सरकारी पदाधिकारियों की आज्ञा के प्रतिकूल जलूस निकालते थे, सार्वजनिक सभाएँ करते थे और उनमें जनता को सविनय अवज्ञा के लिए प्रोत्साहित करते थे। कभी-कभी वे चलती रेलों को रोक लेते थे और कहीं पर सविनय अवज्ञा-संबंधी पर्चे बाँटते और तत्संबंधी व्याख्यान भी देते थे। सरकार ने भी आंदोलन के दबाने का बीड़ा उठाया। अनेक ऑर्डीनेंसें जारी की गयीं, लगभग एक लाख स्त्री-पुरुष जेलों में बंद कर दिये गये, निषिद्ध सार्वजनिक सभाओं पर लाठियाँ चलायी गयीं, कांग्रेस-वादियों पर लंबे-लंबे जुर्माने किये गये और कांग्रेस कमेटियों के दफ्तर आदि जब्त कर लिये गये। जो लोग कांग्रेस की किसी प्रकार से भी सहायता करते थे उन पर भी मुकदमे चलाये गये और वे दंडनीय समझे गये। कांग्रेसी अखबारों का प्रकाशन बंद कर दिया गया। जेलों में कैदियों के प्रति कठोर व्यवहार किया गया और 'ए' क्लास बहुत कम लोगों को मिला। सरकार ने सब तरह से आंदोलन के दबाने का प्रयत्न किया और यद्यपि वह उसको पूर्ण रूप से दबा न सकी तो भी उसकी सख्तियों के कारण कांग्रेसवादियों के लिए व्यक्त रूप से काम करने के स्थान पर, गुप्त रूप से काम करना अनिवार्य हो गया। सरकार और कांग्रेस की यह लड़ाई चल ही रही थी कि प्रधान मंत्री का सांप्रदायिक निर्णय प्रकाशित हुआ जिसके कारण भारत के सब नेताओं का ध्यान किंचित काल के लिए आंदोलन की ओर से हट कर गांधी जी की ओर चला गया।

सांप्रदायिक निर्णय और पूना-पैक्ट—भारत के लिए सांप्रदायिक समस्या हमेशा कष्टदायिनी रही है। अनेक सर्वदल-सम्मेलनों के होने पर भी यह समस्या भारत में, गोलमेज परिषदों के पूर्व संतोषपूर्वक हल न की जा सकी थी। नेहरू कमेटी की योजना ही एक ऐसी योजना थी जिससे भारत के सारे दल अधिक से अधिक सहमत थे। पर वह योजना लाहौर कांग्रेस में समाप्त समझी गयी और सांप्रदायिक समस्या ने पुनः विकराल रूप धारण किया। प्रथम और द्वितीय गोलमेज परिषदों में इस समस्या पर काफी विचार हुआ। फिर भी कोई सर्वमान्य समझौता न हो सका। द्वितीय गोलमेज परिषद में इस समस्या पर काफी विचार हुआ। फिर भी कोई सर्वमान्य समझौता न हो सका। आखिरकार परिषद में सम्मिलित सारे प्रतिनिधियों ने प्रधान मंत्री को सांप्रदायिक निर्णय के लिए पंच नियुक्त किया। गांधी जी भी इससे सहमत थे, पर इस शर्त पर, कि प्रधान मंत्री का निर्णय मुसल्मानों और सिक्खों तक ही सीमित रहे। १७ अगस्त सन् १९३२ को प्रधान मंत्री ने निर्णय दिया जिसके अनुसार भारतीय निर्वाचक, बारह प्रकार के पृथक् निर्वाचन-संघों में विभाजित किये गये थे। दलित जातियों को भी साधारण स्थानों से अलग करके पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिया गया था। यह बात गांधी जी को असह्य थी। उनके इस प्रश्न संबंधी विचारों का ज्ञान प्रधान मंत्री को पहले ही से था। द्वितीय गोलमेज परिषद में उन्होंने साफ-साफ कह दिया था कि वे अछूतों के पृथक् निर्वाचन का विरोध अपने प्राणों की भी बाजी लगा कर करेंगे। ११ मार्च को उन्होंने भारत-मंत्री सर सेम्युअल होर के नाम इस आशय का एक पत्र भेजा था। पर उनके विचारों का प्रधान मंत्री के निर्णय पर विशेष प्रभाव न पड़ा। अतएव प्रधान मंत्री के निर्णय देने के दूसरे दिन गांधी जी ने उन्हें यह सूचना दी कि वे २० सितंबर के तीसरे पहर से अपना आमरण उपवास आरंभ करेंगे और उसी दिन से उनका उपवास आरंभ भी हो गया।

गांधी जी के निश्चय के कारण सारा देश चिंता में निमग्न हो गया। तार पर तार आने लगे और उनके उपवास के छुड़ाने के लिए सभी मानवी प्रयत्न किये गये, पर कोई कारगर न हुआ। अतएव हिंदुओं ने आपसी समझौते द्वारा उनके प्राण बचाने का निश्चय किया। बंबई और उसके बाद पूना में सजातीय और हरिजन नेताओं की परिषद बुलायी गयी। कई दिन लगातार वादविवाद के पश्चात् उपवास के पाँचवें दिन, एक ऐसी योजना तैयार हो गयी जिसको दोनों दलों ने स्वीकार किया। दलित जातियों ने पृथक् निर्वाचन के

अधिकार का परित्याग किया और सजातीय हिंदुओं ने उन्हें महत्त्वपूर्ण संरक्षण प्रदान किये। प्रांतीय विधान-सभाओं की साधारण जगहों में से १४८ और केंद्रीय विधान-सभा की १८ जगहें दलित जातियों के लिए सुरक्षित कर दी गयीं। इसकी सूचना प्रधान मंत्री को भी दी गयी और २६ तारीख को एक साथ इंगलैंड और भारत में समझौते के स्वीकार किये जाने की घोषणा की गयी। उसी दिन शाम को गांधी जी ने अपना उपवास तोड़ा। देश की भयंकर चिंता दूर हुई, हरिजनों के उद्धार का समय निकट आया और राजनीतिक नेता पुनः आंदोलन की ओर दृष्टिपात करने लगे।

कांग्रेस की नीति में परिवर्तन—जनवरी सन् १९३२ का चलाया हुआ काग्रेसी आंदोलन सन् १९३३ में भी चलता रहा। कांग्रेस के गैर-कानूनी होने पर भी उसके साधारण अधिवेशन किसी न किसी प्रकार होते रहे। दिल्ली की भांति, सन् १९३३ का साधारण अधिवेशन पुलिस के सतर्क होने पर भी कलकत्ते में हुआ और स्वाधीनता, सत्याग्रह, बहिष्कार, मौलिक अधिकार आदि के प्रस्ताव पास किये गये। ८ मई को संसार का ध्यान पुनः गांधी जी की ओर आकर्षित हुआ। उस दिन उन्होंने आत्म-शुद्धि के निमित्त २१ दिन का उपवास आरंभ किया। उसी दिन सरकार ने भी उपवास के उद्देश्य और उसके द्वारा प्रगट होने वाली मनोवृत्ति के कारण उन्हें छोड़ दिया। गांधी जी की अपील के कारण सत्याग्रह आंदोलन ६ हफ्ते के लिए बंद कर दिया गया। इस अवधि के समाप्त होने पर आंदोलन-बंदी की अवधि ६ सप्ताह के लिए और बढ़ा दी गयी। ८ मई को ही गांधी जी ने सरकार से भी यह अपील की कि आंदोलन-बंदी का लाभ उठाकर वह सत्याग्रही कैदियों को बिना शर्त के छोड़ने की कृपा करे। पर सरकार आंदोलन के किंचित् काल के लिए बंद होने से संतुष्ट न थी। यह चाहती थी कि राजनीतिक कैदियों के छुटकारे के पश्चात् आंदोलन दुबारा आरंभ न किया जाय। अतएव उसने कैदियों के छोड़ने से इनकार कर दिया। ११ जुलाई को पूना में कांग्रेसवादियों की एक परिषद हुई। उसने गांधी जी को यह अधिकार दिया कि वे वाइसराय से मिल कर सरकार और कांग्रेस के समझौता कराने की कोशिश करें। पर यह प्रयत्न भी निष्फल गया। अतएव सत्याग्रह पुनः आरंभ किया गया, पर सामूहिक सत्याग्रह के स्थान पर व्यक्तिगत सत्याग्रह के रूप में। १ अगस्त को गांधी जी पुनः अपनी यात्रा पर निकलने वाले थे पर वे एक दिन पहले गिरफ्तार कर लिये गये और ४ अगस्त को छोड़ दिये गये। उन्हें पूना में रहने की आज्ञा मिली पर उन्होंने इस आज्ञा का उल्लंघन किया। अतएव वे गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें एक साल की सजा का हुक्म हुआ।

जेल में, जाने के पश्चात् १६ अगस्त को, गांधी जी ने एक बार और अनशन आरंभ किया, इस बार सरकार के व्यवहार के प्रतिकूल। उनका कहना था कि अगस्त की गिरफ्तारी के पश्चात् सरकार ने उन्हें वे सुविधाएँ नहीं दीं, जो उन्हें मई की रिहाई के पूर्व दी गयी थीं। सरकार पहले तो अपने निश्चय पर अटल रही, पर गांधी जी की हालत उत्तरोत्तर बिगड़ती गयी और इस लिए २० अगस्त को वे बिना शर्त छोड़ दिये गये। ३० अगस्त को पं० जवाहर लाल जी नेहरू अपनी माता की बीमारी के कारण कारावास से मुक्त कर दिये गये। अपने छुटकारे के पश्चात् गांधी जी ने यह निश्चय किया कि वे ३ अगस्त, सन् १९३४ तक स्वयं सत्याग्रह न करेंगे, पर जो लोग उनसे सलाह माँगेंगे, उनको वे ठीक मार्ग अवश्य दिखलायेंगे। इसके बाद वे हरिजन-उद्धार के काम में लग गये। अनेक कांग्रेस-कार्यकर्त्ता भी उनके साथ-साथ इसी काम की ओर झुक पड़े। जनवरी सन् १९३४ में बिहार का भयानक भूकंप हुआ और अनेक कांग्रेसवादी भूकंप पीड़ित मनुष्यों की सहायता करने में लग गये। कांग्रेस का कार्यक्रम, कार्य-रूप में क्रमशः रचनात्मक होने लगा और सत्याग्रह और सविनय अवज्ञा शिथिल होने लगे।

पूना-परिषद् में कुछ कांग्रेसवादियों ने कौंसिल-प्रवेश के प्रश्न को भी उठाया था। उनका ख्याल था कि ऑर्डीनेंसों के शासन को देखते हुए यह आवश्यक था कि कांग्रेस-वादी कौंसिलों को अपने कब्जे में कर लें। उनकी शक्ति दिन पर दिन बढ़ती गयी और १३ मार्च, सन् १९३४ को, डाक्टर अंसारी की अध्यक्षता में दिल्ली में एक परिषद् बुलायी गयी जिसमें स्वराज्य पार्टी के पुनर्जीवित करने का प्रस्ताव पास हुआ और कांग्रेसवादियों को अगले निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार इस शर्त पर मिला कि वे कौंसिलों में दमनकारी कानूनों और श्वेतपत्र की योजना के रद करने का प्रयत्न करेंगे। ३ मई को राँची परिषद् ने, स्वराज्य पार्टी का कार्यक्रम निश्चित किया और १८ और १९ मई को पटना में कार्यसमिति की बैठक हुई जिसके निर्णय के अनुसार सत्याग्रह बंद कर दिया गया। इसी बैठक में डाक्टर अंसारी और महामना पं० मदनमोहन मालवीय को, अधिक से अधिक २५ कांग्रेसवादियों के एक कांग्रेस पार्लमेंटरी बोर्ड के स्थापित करने का अधिकार मिला। इस प्रस्ताव के पश्चात् कार्यरूप में कांग्रेस के विध्वंशात्मक कार्यक्रम की इतिश्री होती गयी और वह अधिकाधिक रचनात्मक कार्यक्रम के पथ पर अग्रसर होने लगी।

कांग्रेस की उपर्युक्त नीति से बहुतेरे कांग्रेसवादी असंतुष्ट थे। श्री विट्ठल भाई पटेल और श्री सुभाषचंद्र बोस सत्याग्रह स्थगित करने के भी विरोधी थे।

श्री पटेल ने अपने वियाना के वक्तव्य में यहाँ तक कह डाला था कि गांधी जी राजनीतिक नेता की हैसियत में, असफल सिद्ध हुए हैं। कांग्रेस के अंतर्गत समाजवादी भी, क्रमशः अपने को संगठित करते जाते थे। उनका प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन १७ मई, सन् १९३४ को पटना में हुआ। तत्पश्चात् उनकी शाखाओं का जाल समस्त भारत में फैल गया और भारतीय नवयुवकों और मजदूरों में भी उनका प्रभाव बढ़ा।

सत्याग्रह बंद होने के पश्चात् भारत-सरकार की नीति भी क्रमशः उदार होती गयी। कांग्रेस और उसकी सहायक संस्थाओं पर से प्रतिबंध हटा लिये गये और अधिकांश सत्याग्रही कैदी भी क्रमशः छोड़ दिये गये। प्रतिबंध हटते ही देश भर की कांग्रेस कमेटियां पुनः जीवित हो उठीं और अपने रचनात्मक कार्यक्रम में लग गयीं। इस परिवर्तन के कुछ दिनों के पश्चात् कांग्रेस के सांप्रदायिक निर्णय संबंधी विचारों के कारण महामना पं० मदन मोहन मालवीय को कांग्रेस पार्लमेंटरी बोर्ड से और श्री अणे को कांग्रेस-कार्यसमिति से त्यागपत्र देना पड़ा। उन्होंने कांग्रेस के अंतर्गत एक नयी पार्टी बनायी जिसका नाम नैशनलिस्ट पार्टी रखा गया। साप्रदायिक निर्णय को छोड़ कर, इसका कार्यक्रम प्रायः वही था सो स्वराज्य पार्टी का। सन् १९३४ के चुनाव में कांग्रेस ने भारतीय विधान-सभा की ४४ जगहों पर कब्जा कर लिया। इसके अतिरिक्त कांग्रेस नैशनलिस्ट पार्टी के भी सदस्य उसके साथ थे।

सन् १९३५ में कांग्रेस की जयंती समस्त देश में बड़े समारोह के साथ मनायी गयी। पचास वर्ष पूर्व सन् १८८५ में, जब इस संस्था का जन्म हुआ था, उस समय भारत के निवासी सरकार की आलोचना तक करने से डरते थे। सन् १९३५ में इस महान संस्था की बागडोर गांधी जी के हाथ में थी और वह अहिंसा, निष्क्रिय प्रतिरोध, सविनय अवज्ञा तथा सत्याग्रह आदि शस्त्रों द्वारा, एक नये तथा अनुपम मार्ग से देश को स्वाधीन बनाने में लगी हुई थी। ऐसी संस्था के प्रति, उसकी ५० वीं वर्ष गाँठ पर, जयंती मनाकर, अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करना भारतवासियों के लिए स्वाभाविक था।

उधर भारत का संविधान भी पार्लमेंट द्वारा निर्मित हो रहा था। तीसरी गोलमेज परिषद् में विचार के पश्चात्, नये संविधान का श्वेतपत्र प्रकाशित हुआ। भारतीय मांगों को देखते हुए वह भी असंतोषप्रद तथा निराशाजनक था। १८ महीने तक संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी के विचाराधीन होने के पश्चात उसके आधार पर २२ जनवरी सन् १९३४ को भारतीय शासन का नया विधेयक पार्लमेंट में पेश किया गया और २ अगस्त सन् १९३५ को सम्राट की अनुमति

पाकर वह भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के रूप में भारत पर लागू कर दिया गया।

सन् १९२८ से १९३५ तक अन्य संस्थाएं—सन् १९२८ से १९३५ तक भारत की अन्य संस्थाएं भी अपने-अपने ढंग से राष्ट्रीय उत्थान के कामों में लगी हुई थीं। सांप्रदायिक बातों में कांग्रेस से भिन्न मत रखने के कारण मुस्लिम लीग की नीति कांग्रेस से भिन्न थी। सन् १९३५ के अंत तक उसकी वही नीति रही, जो मार्च सन् १९२९ को मिस्टर जिन्ना की १४ शर्तों के रूप में प्रकाशित की गयी थी। इन शर्तों का भावार्थ इस प्रकार है—(१) भारतीय संविधान संघात्मक हो और अवशिष्ट विषय प्रांतों के अधीन हों। (२) सब प्रांतों में समान रूप से प्रांतीय स्वराज्य स्थापित हो। (३) सब अल्प-संख्यकों का विधान-सभा तथा मंडलों में उचित एवं प्रभावशाली प्रतिनिधित्व हों किंतु इस शर्त पर, कि बहु-संख्यक अल्पसंख्यक न बन जायँ। (४) केंद्रीय विधान-सभाओं में मुसलमानों के कम से कम एक तिहाई स्थान हों। (५) सांप्रदायिक निर्वाचन कायम रखा जाय; किंतु यदि कोई संप्रदाय, सांप्रदायिक निर्वाचन को छोड़ कर, संयुक्त निर्वाचन के पक्ष में हो, तो उसे संयुक्त निर्वाचन के स्वीकार करने का अधिकार हो। (६) प्रांतों के निर्माण में कोई ऐसा परिवर्तन न किया जाय जिसका पंजाब, बंगाल और सीमांत प्रदेश की मुस्लिम बहु-संख्या पर कुप्रभाव पड़े। (७) पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता हो। (८) कोई प्रस्ताव या प्रस्ताव का अंश, किसी विधान-सभा में न पेश किया जाय, यदि किसी संप्रदाय के २५% सदस्य, इस आधार पर उसका विरोध करें कि उसका उनके धर्म पर कुप्रभाव पड़ता है। (९) बंबई से अलग करके सिंध का पृथक् प्रांत बनाया जाय। (१०) उत्तरी-पश्चिमी सीमांत-प्रदेश तथा ब्रिटिश बिलोचिस्तान में अन्य प्रांतों के समान शासन-सुधार किये जायँ। (११) शासन की योग्यता को ध्यान में रखते हुए, सरकारी नौकरियों में मुसलमानों को यथेष्ट स्थान दिये जायँ। (१२) मुसलमानों के धर्म, संस्कृति और वैयक्तिक कानून की रक्षा तथा मुस्लिम शिक्षा, भाषा, धर्म, वैयक्तिक कानून और दातव्य संस्थाओं के परिवर्द्धन तथा उनकी सहायता आदि के विषय में संविधान में धाराएं सम्मिलित की जायँ। (१३) किसी मंत्रि-मंडल में चाहे वह केंद्रीय हो या प्रांतीय, कम से कम एक तिहाई मुसलमान सदस्य हों। (१४) संघांतरित राज्यों की अनुमति के बिना, केंद्रीय विधान-मंडल द्वारा, संविधान में किसी प्रकार संशोधन न किया जाय।

मुस्लिम लीग के अतिरिक्त, मुसलमानों की कई अन्य संस्थाएं भी थीं। उनमें राष्ट्रीय मुस्लिम दल, जमीयत-उल-उलमा, अहरार दल, खुदाई खिदमतगार,

मोमिन कांफ्रेंस, खाकसार, शिया राजनीतिक कांफ्रेंस आदि मुख्य थीं। इन संस्थाओं में कुछ का दृष्टिकोण राष्ट्रीय था, कुछ का सांप्रदायिक और कुछ जैसे खाकसार के विषय में निश्चित रूप से यह बतलाना कठिन था कि उनका वास्तविक कार्यक्रम क्या था।

यदि मुस्लिम लीग मुसलमानों के हितों का दावा करती थी, तो हिंदू महासभा हिंदुओं के हित के लिए प्रयत्नशील थी। वह हिंदुओं को एक शक्तिशाली वर्ग बनाना चाहती थी। अतएव उसने हिंदू-संगठन पर जोर दिया, वीरपूजा-दिवस मनाने का प्रस्ताव पास किया, अखाड़ों और व्यायामशालाओं की स्थापना की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया और हिंदू-संगठन के काम को सुचारु रूप से करने तथा स्वराज्य की लड़ाई में पूरा भाग लेने के लिए हिंदू नवयुवक आंदोलन चलाने का निश्चय किया। साथ ही वह हिंदू-हितों को आघात से बचाना चाहती थी। इस काम में एक ओर वह कांग्रेस से सतर्क रहती थी और दूसरी ओर सरकार से। महासभा के विचारानुकूल स्वराज्य प्राप्त करने के लिए, हिंदू-मुस्लिम एकता की आवश्यकता के कारण, कांग्रेस हिंदू-हितों का बलिदान तथा मुसलमानों का तोषण कर रही थी। यह बात उसे नापसंद थी। साथ ही वह इस बात के लिए भी प्रयत्नशील थी कि सरकार अपनी भेद और शासन की नीति के कारण मुसलमानों को बढ़ावा, देकर हिंदू-हितों पर आघात न करे।

इन्हीं दिनों उदारवादी सम्मेलन भी अपने कामों द्वारा राष्ट्रीय उत्थान में लगा हुआ था। उसका उद्देश्य न्यूनाधिक वही था जो कांग्रेस का, पर उसकी कार्य-पद्धति कांग्रेस से भिन्न थी। वह सरकार की आलोचना करता था पर उसके साथ असहयोग करने को तैयार न था। फल-स्वरूप भारतीय उदारवादियों ने गोलमेज परिषद् के विचारों तथा सन् १९३५ के संविधान के निर्माण में प्रभावशाली भाग लिया। पर वे उससे सहमत न थे। उनकी दृष्टि में नया संविधान उतना ही निराशाजनक और अपमान-सूचक था जितना कांग्रेस की दृष्टि में।

उपरिवर्णित आंदोलनों और संस्थाओं के अतिरिक्त इन दिनों देश में और भी अनेक संस्थाएं थीं जो समस्त देश अथवा किसी विशिष्ट समुदाय के हित-साधन में संलग्न थीं। इनमें से मुख्य संस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं—अखिल भारतीय महिला सम्मेलन, अखिल भारतीय पत्रकार-सम्मेलन, अखिल भारतीय हरिजन-सेवक-संघ, राष्ट्रीय सिक्ख आंदोलन और अखिल भारतीय ट्रेड-यूनियन कांग्रेस। ये सब संस्थाएं इस काल में, अधिक महत्त्वपूर्ण न हो पायी थीं। किंतु

उनका प्रभाव नित्य-प्रति बढ़ता जा रहा था। इनमें से अधिकांश सन् १९३५ के भारतीय शासन-संबंधी ऐक्ट की विरोधिनी थीं। फिर भी ब्रिटिश पार्लमेंट ने इस ऐक्ट को पारित करके भारत पर लागू कर ही दिया। जनमत की अवहेलना का इससे अधिक प्रत्यक्ष प्रमाण का मिलना कठिन है।

अभ्यास

१. किन कारणों से सन् १८८५ में भारतीय कांग्रेस का जन्म हुआ था ?

२. सन् १८८५ में कांग्रेस के क्या उद्देश्य थे ? सन् १९२० तक उसके उद्देश्यों में कौन परिवर्तन हुए ?

३. बीसवीं शताब्दी की प्रथम शताब्दी में उग्र राजनीति के उद्भव के कारणों की व्याख्या कीजिये।

४. मुस्लिम लीग का जन्म जिन कारणों से हुआ ? सन् १९१३ तक उसके उद्देश्यों में परिवर्तनों की व्याख्या कीजिये।

५. सन् १९१४ से १९१८ तक भारतीय राजनीति की महत्त्वपूर्ण बातों की व्याख्या कीजिये।

६. स्वराज्य पार्टी का जन्म किन उद्देश्यों से हुआ था ? उसके कार्यक्रम की व्याख्या कीजिये।

७. सन् १९३० के सविनय अवज्ञा के आंदोलन का संक्षिप्त विवरण लिखिये।

८. अर्विन-गांधी समझौते की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

९. 'सांप्रदायिक निर्णय' का क्या तात्पर्य है ? पूना-पैक्ट द्वारा उसमें किये गये परिवर्तनों की व्याख्या कीजिये।

१०. मिस्टर जिन्ना की चौदह शर्तों का भावार्थ लिखिये। उनका भारतीय राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ा ?

११. हिंदू महासभा कब स्थापित हुई थी ? सन् १९३५ तक उसके और कांग्रेस के संबंध की व्याख्या कीजिये।

११

हमारा राष्ट्रीय उत्थान (२)

१९३५–४७

प्राक्कथन—सन् १९३५ से १९५० तक के पंद्रह साल भारत के राजनीतिक इतिहास में अति महत्त्वपूर्ण हैं। इन दिनों सर्वप्रथम कांग्रेस ने सन् १९३५ के संविधान के अंतर्गत किये गये चुनावों में भाग लिया और कई प्रांतों की सरकारें उसके अधीन हो गयीं। इन्हीं दिनों पाकिस्तान की कल्पना ने मूर्तिमान स्वरूप धारण किया और गांधी जी के 'भारत छोड़ो' विचार का भी विकास हुआ। इसी काल में भारतीय नेताओं तथा ब्रिटिश सरकार ने संवैधानिक संकट को दूर करने के कई प्रयत्न किये, जिनके कारण देश का विभाजन हुआ और पुराने भारतवर्ष में पाकिस्तान और भारत नाम की दो डोमीनियनें बनीं। इसी काल में भारतीय संविधान-सभा ने भारत का नया संविधान बनाया और भारतीय रियासतें विलीनीकरण एवं एकत्रीकरण द्वारा या तो भारतीय राज्यों में मिल गयीं या उनके समान बन गयीं। इस परिच्छेद में इन्हीं बातों पर प्रकाश डाला जायगा।

सन् १९३५ के संविधान का कार्यान्वित रूप—भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट से भारतीय लोकमत असंतुष्ट था। कांग्रेस उसका जन्म के पूर्व ही संहार कर देना चाहती थी। फिर भी फैजपूर कांग्रेस ने, कांग्रेसवादियों को, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के आज्ञानुसार, निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए चुनाव लड़ने का अधिकार दिया और पदग्रहण की समस्या का विचार, उस समय तक के लिए स्थगित कर दिया जब तक प्रांतीय निर्वाचनों का फल न मालूम हो जाय। फलस्वरूप फरवरी सन् १९३७ के निर्वाचन में कांग्रेस ने अपने उम्मेदवार (अभ्यर्थी) खड़े किये और उनकी शानदार विजय हुई। छः प्रांतीय असेंबलियों में कांग्रेस का बहुमत था और दो में कांग्रेसी सदस्यों की संख्या सबसे अधिक थी। देश का बहुमत भी कांग्रेस के पक्ष में था।

अब मंत्रिपद-ग्रहण की समस्या कांग्रेस के सामने आयी। उसके दक्षिण-पक्षियों और वाम-पक्षियों में इस संबंध में मतभेद था। अंत में पद-ग्रहण करनेवालों की जीत हुई। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने यह निर्णय किया कि

जिन प्रांतों में कांग्रेस का बहुमत था, वहाँ इस शर्त पर मंत्रिपद ग्रहण किया जाय कि गवर्नर संवैधानिक कार्रवाइयों में मंत्रिमंडल की मंत्रणा को अस्वीकार तथा उनके संबंध में अपने विशेषाधिकारों का उपयोग न करेंगे। प्रांतीय गवर्नर इस प्रकार का आश्वासन न दे सके जिसके कारण कांग्रेस ने मंत्रिमंडल बनाने से इनकार कर दिया। अतएव संवैधानिक स्थिति के स्पष्टीकरण के कई प्रयत्न हुए जिनमें भारत-मंत्री, वाइसराय, गांधीजी, तथा अन्य भारतीय नेताओं ने अपने मत-प्रकाश द्वारा समस्या के हल का प्रयत्न किया। गांधी जी मंत्रि-पद-ग्रहण के पूर्व दो बातें चाहते थे—(१) यह आश्वासन कि संवैधानिक कार्रवाइयों के संबंध में गवर्नर मंत्रिमंडल की मंत्रणा को अस्वीकार और उनके संबंध में अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग न करेंगे। (२) यदि ऐसे कामों के संबंध में गवर्नर और मंत्रिमंडल में मतभेद होगा, तो गवर्नर मंत्रिमंडल से इस्तीफा न माँग कर, उसको बरखास्त करेंगे। वाइसराय ने अपने अंतिम वक्तव्य में यह स्पष्ट किया कि मांगे गये आश्वासनों की आवश्यकता ही न थी। "मंत्रियों के अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत, सभी मामलों में जिनमें अल्प-संख्यकों और नौकरियों की बातें भी सम्मिलित हैं, गवर्नर साधारणतया मंत्रियों की मंत्रणा पर ही चलेंगे।" गांधी-जी की दूसरी शर्त के संबंध में वाइसराय ने कहा, कि "त्यागपत्र, मंत्रिमंडल की प्रतिष्ठा के अधिक उपयुक्त तथा गवर्नर के कार्य के प्रति सार्वजनिक रुख प्रकट करने का अधिक प्रभावशाली साधन है। साथ ही त्यागपत्र मंत्रिमंडल की इच्छा से किया हुआ कार्य है। बरखास्त करने का तरीका संवैधानिक कार्य-पद्धति में प्रचलित नहीं है।" वाइसराय के उपर्युक्त वक्तव्य के कारण देश की स्थिति पुनः आशातीत हो गयी। ५ जुलाई से ८ जुलाई सन् १९३७ तक वर्धा में कांग्रेस कार्य-समिति की अत्यंत महत्त्वपूर्ण बैठक हुई, उसमें मंत्रि-पद ग्रहण का प्रस्ताव पास हुआ। अतएव गवर्नरों ने कांग्रेसी नेताओं को मंत्रिमंडल के निर्माण के लिए पुनः आमंत्रित किया और उन्होंने मंत्रिमंडलों के निर्माण का भार अपने ऊपर लिया।

संवैधानिक शासन—जुलाई सन् १९३७ से सन् १९३९ तक के दो बरसों में, प्रांतीय शासन-संचालन में, संवैधानिक गुत्थियों के कारण राजनीतिक परिस्थिति ने कभी-कभी संदिग्धमय रूप धारण किया। इसका मुख्य कारण यह था कि गवर्नरों की मनोवृत्ति पहले जैसी बनी हुई थी और कांग्रेसी मंत्रिमंडल मर्यादा-पूर्वक शासन करना चाहते थे। सबसे पहले राजनीतिक बंदियों की रिहाई के संबंध में मतभेद उत्पन्न हुआ। कांग्रेस उनकी रिहाई का कार्यक्रम अपना चुकी थी। अतएव बिहार और संयुक्त-प्रांत के मंत्रिमंडलों और गवर्नरों

में मतभेद हुआ जिसके कारण यहाँ के मंत्रिमंडलों ने अपना त्यागपत्र दे दिया। देश का वातावरण पुनः निराशामय हो गया, पर गांधीजी और वाइसराय की दूरदर्शिता के कारण परिस्थिति बिगड़ने के पूर्व ही संभाल ली गयी और कांग्रेसी मंत्रिमंडल पुनः अपने रचनात्मक कार्यक्रम में लग गये। तत्पश्चात् उड़ीसा में मंत्रिमंडल के अधीनस्थ अधिकारी के स्थानापन्न गवर्नर बनाये जाने तथा मध्य-प्रांत में गवर्नर द्वारा तीन मंत्रियों के बरखास्त किये जाने के कारण, संवैधानिक संकटों की आशंका हुई; पर इनमें भी परिस्थिति, बिगड़ने के पूर्व, संभाल ली गयी। राजकोट के संबंध में गांधीजी द्वारा आमरण उपवास के कारण भारत के राजनीतिक आकाश में पुनः काले बादल मंडराने लगे, पर वाइसराय के हस्तक्षेप और आश्वासन से संतुष्ट होकर उन्होंने अपना उपवास तोड़ दिया और इस कारण परिस्थिति पुनः बिगड़ने से बचा ली गयी।

किंतु ३ सितंबर सन् १९३९ को देश के सम्मुख ऐसी परिस्थिति आयी, जिसे संभालने में कांग्रेसी नेता और सरकारी अधिकारी असमर्थ रहे। उस दिन सम्राट की सरकार ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की और वाइसराय ने शिमला रेडियो स्टेशन से "पाशविक बल के प्रतिकूल मानव-स्वतंत्रता की रक्षा के लिए भारत से महान् और प्राचीन संस्कृतियों वाले राष्ट्रों के योग्य, सहायता में विश्वास प्रकट किया।" कांग्रेस की सहानुभूति स्वतंत्रता और लोकतंत्र के साथ थी। पर वह उस लड़ाई में भाग लेने में असमर्थ थी जो लोकतंत्रात्मक स्वतंत्रता के लिए लड़ी जा रही थी, जब उसे स्वयं ऐसी स्वतंत्रता से वंचित रखा गया था। १७ अक्टूबर सन् १९३९ को, सम्राट की सरकार से अधिकार पाकर वाइसराय ने निम्नलिखित आशय का वक्तव्य निकाला—"सम्राट की सरकार ने मुझे यह घोषित करने का अधिकार दिया है कि युद्ध के समाप्त होने पर भारत की विभिन्न जातियों, राजनीतिक दलों, विशेष हितों और भारतीय नरेशों के प्रतिनिधियों के परामर्श से संविधान में आवश्यक संशोधन करने के लिए, उनकी सहायता और सहकारिता प्राप्त करने को सम्राट की सरकार तैयार रहेगी।" इस घोषणा से भारत के राष्ट्र-वादियों को लेशमात्र भी संतोष न हुआ। अतएव २२ अक्टूबर को कांग्रेस कार्य-समिति ने मंत्रिमंडलों को त्यागपत्र देने का आदेश दिया। फलस्वरूप एक के पश्चात दूसरे कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने अपना त्यागपत्र दे दिया और गवर्नरों ने संविधान को निलंबित करके, परामर्शदाताओं की सहायता से शासन का भार अपने ऊपर लिया।

गैर-कांग्रेसी प्रांतों का शासन—जिन दिनों कांग्रेसी बहुमत प्रांतों में, परामर्शदाताओं की सहायता से गवर्नर प्रांतीय शासन कर रहे थे, उन्हीं दिनों

जनता के महत्त्वपूर्ण अंश मानने को तैयार न थे और वह यह भी न चाहती थी कि इन अंशों से जबरदस्ती ऐसी सत्ता स्वीकार करायी जाय ।

(४) युद्ध के पश्चात, सम्राट की सरकार, कम से कम समय में भारतीय राष्ट्रीय जीवन के प्रधान अंगों के प्रतिनिधियों को एक ऐसी सभा बुलाने की अनुमति देगी, जिसका काम भारत के लिए नया संविधान बनाना होगा और यथाशक्ति उसके शीघ्रातिशीघ्र निर्णय करने में सहायता पहुँचावेगी ।

इस योजना में कांग्रेस की मांग ठुकरायी गयी थी । फलस्वरूप उसने इसे अस्वीकार कर दिया ।

युद्ध-कालीन मंत्रि-मंडल या क्रिप्स की योजना—इन दिनों सामरिक परिस्थिति बड़ी भयंकर हो गयी थी । जापान ने युद्ध में प्रविष्ट होकर एक ही बार में बर्मा-स्थित ब्रिटिश सेना को पराजित किया था और ऐसा विदित होने लगा था कि भारत पर भी बहुत ही शीघ्र आक्रमण होगा । अतएव कुछ तो अंतर्राष्ट्रीय दबाव, कुछ भारतीय वातावरण और कुछ अपने हित के कारण, ब्रिटिश युद्ध-कालीन मंत्रि-मंडल ने सर स्टेफर्ड क्रिप्स को 'उचित और अंतिम हल' के साथ भेजा । उन्होंने भारत में आकर २९ मार्च सन् १९४२ को निम्नलिखित वक्तव्य प्रकाशित किया—

इंगलैंड और भारत में, भारत को उसके भविष्यत् संबंधी दिये गये वचनों की पूर्ति की चिंता के कारण, सम्राट की सरकार ने स्पष्ट और निश्चित शब्दों में, वे तरीके निर्धारित किये हैं जिनको वह शीघ्रातिशीघ्र भारत द्वारा स्वशासन प्राप्ति के लिए, अपनाना चाहती है । इनका ध्येय एक नयी भारतीय यूनियन का बनाना है, जो अन्य डोमीनियनों के समान एक नयी डोमीनियन होगी । अतएव सम्राट की सरकार निम्नलिखित घोषणा करती है—(१) युद्ध समाप्त होने के पश्चात् शीघ्रातिशीघ्र एक ऐसी निर्वाचित सभा स्थापित की जायगी जिसका काम भारत के नये संविधान का निर्माण होगा । (२) इस सभा में भारतीय रियासतों के भाग लेने की व्यवस्था की जायगी । (३) निम्नलिखित शर्तों पर सम्राट की सरकार शीघ्रातिशीघ्र नव-निर्मित संविधान को स्वीकार तथा कार्यान्वित करने का वचन देती है—(अ) यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रांत नये संविधान को अपनाने के लिए तैयार न होगा तो उसे अपनी मौजूदा स्थिति बनाये रखने का अधिकार होगा और उसके भविष्य में सम्मिलित करने की व्यवस्था की

जायगी, यदि वह इसके पक्ष में निर्णय करे। सम्मिलित न होनेवाले प्रांतो को, यदि वे चाहें, तो सम्राट की सरकार एक नया संविधान देने के लिए तैयार रहेगी जिसके अनुसार उन्हें भारतीय यूनियन का सा दर्जा मिल जायगा, और उसके प्राप्त करने का वही मार्ग होगा जिसकी व्यवस्था की जाय। (ब) सम्राट की सरकार और संविधान-सभा में एक संधि होगी। इसमें उन सब बातों का उल्लेख होगा जो अंगरेजों से भारतीयों के हाथ में उत्तरदायित्व देने के संबंध में होंगी। सम्राट की सरकार द्वारा दिये गये वचनों के अनुसार इसमें जातीय और धार्मिक अल्प-संख्यकों की रक्षा की व्यवस्था होगी, लेकिन भारतीय यूनियन के उस अधिकार पर कोई प्रतिबंध न लगाया जायगा जिसके आधार पर वह ब्रिटिश-राष्ट्र-समूह के अन्य सदस्यों के साथ अपना भविष्य संबंध निर्धारित कर सके। (४) लड़ाई के अंत के पूर्व जब तक प्रमुख भारतीय वर्गों के नेता कोई दूसरा समझौता न कर लें, संविधान-सभा की रचना निम्नलिखित ढंग से की जायगी—प्रांतीय निर्वाचनों (जिनका किया जाना लड़ाई के अंत के पश्चात् आवश्यक होगा) के नतीजे के मालूम होने के पश्चात् प्रांतीय विधान-मंडलों की छोटी सभा का एक निर्वाचन-संघ बनेगा और यह अनुपातीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार संविधान-सभा को चुनेगा। इसके सदस्यों की संख्या निर्वाचन-संघ की $\frac{1}{10}$ होगी। भारतीय रियासतें अपने प्रतिनिधियों को मनोनीत करने के लिए आमंत्रित की जायँगी। उनके सदस्यों की संख्या का उनकी जनसंख्या के साथ वही अनुपात होगा, जो ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का वहाँ की जन-संख्या के साथ और उनके अधिकार भी ब्रिटिश भारतीय सदस्यों के समान होंगे। (५) वर्तमान संकटमय परिस्थिति में और जब तक नया संविधान तैयार न हो जाय, सम्राट की सरकार को भारत की रक्षा का उत्तरदायित्व तथा उसका नियंत्रण और संचालन अपने हाथ में, तत्संबंधी संसार-व्यापी प्रयत्न के साथ-साथ रखना होगा, किंतु भारतीय सैनिक, नैतिक तथा अन्य साधनों के पूर्ण रूप से संगठित करने का उत्तरदायित्व, भारतीय जनता के सहयोग से, भारत-सरकार का होगा। सम्राट की इच्छा है और वह भारतीय जनता के प्रभावशाली वर्गों के नेताओं को आमंत्रित करती है कि वे अपने देश, राष्ट्र-समूह और संयुक्त राष्ट्रों के विचारों में शीघ्रातिशीघ्र प्रभावशाली भाग लें।

इस घोषणा को चरितार्थ करने के लिए, सर स्ट्रैफर्ड क्रिप्स ने भारतीय जनता के विभिन्न वर्गों के नेताओं से मुलाकात की। ऐसा विदित होता था कि वे अपने उद्देश्य की पूर्ति में अवश्य सफल होंगे, किंतु कुछ ही दिनों के पश्चात्, न जाने किन कारणों से, उनके उत्साह में कमी दिखलायी पड़ने लगी। भारत

की प्रमुख संस्थाओं ने उनकी योजना को अस्वीकार किया। कांग्रेस के अस्वीकार करने के निम्नलिखित कारण थे—(क) घोषणा का संबंध युद्ध के अंत के पश्चात् भविष्यत् से था। (ख) संविधान-सभा में कुछ ऐसे अंशों की व्यवस्था थी जो किसी के प्रतिनिधि न थे। (ग) भारतीय रियासतों की जनता के हित पर बिल्कुल ध्यान न दिया गया था। (घ) न सम्मिलित होने वाले प्रांतों की व्यवस्था भारत को खंडित करने का एक नया तरीका था। (ङ) भारत की रक्षा का काम ब्रिटिश नियंत्रण में था। फलस्वरूप क्रिप्स के नाम से संबंधित ब्रिटिश सरकार की घोषणा वापस कर ली गयी और भारत की राजनीतिक परिस्थिति न्यूनाधिक वही हो गयी जो घोषणा के पूर्व थी।

अगस्त सन् १९४२ की क्रांति—क्रिप्स की विफलता के पश्चात् भारतीय परिस्थिति पुनः भयंकर हो गयी। कई महत्त्वपूर्ण बातें हुईं जिनमें से सर्वप्रथम गांधीजी के 'भारत छोडो' विचार का विकास था। गांधीजी को क्रमशः यह स्पष्ट हो गया था कि भारतीय समस्याओं के जटिल होने का मुख्य कारण देश में अंगरेजों का अस्तित्व था। अतएव उन्हें भारत को छोड़ देना चाहिये। "भारत और ब्रिटेन की रक्षा इसी में है कि अंगरेज ठीक समय में अनुशासित ढंग से भारत से हट जायँ।"

गांधी जी के 'भारत छोड़ो' संबंधी विचार क्रमशः पुष्ट होते गये और जुलाई में वर्धा के अधिवेशन में कांग्रेस कार्य-समिति ने भी उन्हें स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप एक नये अहिंसात्मक आंदोलन की चर्चा होने लगी। भारतीय कांग्रेस कमेटी ने बंबई के अधिवेशन में इस आंदोलन को अपना लिया। सरकार पर इस निर्णय का स्वाभाविक असर पड़ा। उसने दमन के साधनों का प्रयोग आरंभ किया। कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्य गिरफ्तार कर लिये तथा किसी अज्ञात स्थान को भेज दिये गये। कांग्रेसवादी पुनः जेलों में बंद हो गये। जनता नेता-विहीन हो गयी और वह आंदोलन जो अहिंसात्मक रूप में सोचा गया था, इस परिस्थिति के कारण, क्रमशः हिंसात्मक हो गया। कई स्थानों पर समानांतर सरकारी संस्थाएँ तक स्थापित की गयीं। सरकार ने भी अंधाधुंध दमन-चक्र चलाया। किंतु दमन का स्थायी प्रभाव भारत की अंगरेजी सरकार और ब्रिटिश राष्ट्र के पक्ष में न होकर भारतीय राष्ट्र के पक्ष में हुआ। ब्रिटिश सरकार को भारतीय जनता की दृढ़ता का पता चल गया और कालांतर में उसे वही करना पड़ा जो गांधी जी, कांग्रेस कार्य-समिति और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी चाहती थीं।

पाकिस्तान की मांग—भारतीय समस्या की सबसे बड़ी कठिनाई कांग्रेस और मुस्लिम लीग का मतभेद था। कांग्रेस अखंड भारत के पक्ष में थी

और मुस्लिम लीग भारत को खंडित करके पाकिस्तान की स्थापना के पक्ष में। पाकिस्तान के जन्म का श्रेय सर मुहम्मद इकबाल को है। आदर्शवादी होने के कारण वह मनुष्य के व्यवहार को समझने में असमर्थ थे। सन् १९३० में मुस्लिम लीग के इलाहाबाद के अधिवेशन में उन्होंने परोक्ष रीति से पाकिस्तान की नींव डाली। वह चाहते थे कि प्रांतों के पुनर्संगठन के समय मुस्लिम प्रांतों को भारतीय संघ के अंतर्गत स्वायत्त शासन का पूर्ण अधिकार मिले। तीन बरस पश्चात कैंब्रिज विश्वविद्यालय के चार मुसलमान छात्रों ने, जिनके नाम मुहम्मद आलम खाँ, रहमत अली, शेख मुहम्मद सादिक और इनायतउल्ला खाँ थे, "अब या कभी नहीं" नामक चार पृष्ठ की एक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें मुसलमानों की सांस्कृतिक पृथकता पर जोर देते हुए उन्होंने यह सुझाव पेश किया कि भारत का बँटवारा करके मुस्लिम राष्ट्र का एक पृथक् राज्य स्थापित किया जाय। उस समय मुस्लिम लीग के वयोवृद्ध नेता इस बात को काल्पनिक, अव्यावहारिक तथा कुछ लड़कों की योजना कहते थे। किंतु पाँच बरस पश्चात् इस अव्यावहारिक कल्पना ने वैज्ञानिक क्षेत्र में पदार्पण किया। उस्मानियाँ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डाक्टर अब्दुल लतीफ ने यह दलील पेश की कि भारत एक अविभाजनीय राष्ट्र न था। अतएव उसे १५ सांस्कृतिक क्षेत्रों में बाँट देना चाहिये जिनमें से चार मुसलमानों के हों और ग्यारह हिंदुओं के और प्रत्येक क्षेत्र को अपने स्वतंत्र शासन के निर्धारित करने की पूर्ण स्वतंत्रता हो। कालांतर में सर मुहम्मद नवाज खाँ और सर सिकंदर हय्यात खाँ ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये। सन् १९३८ में सिंध के प्रांतीय मुस्लिम सम्मेलन ने, मिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना के सभापतित्व में यह माँग पेश की कि भारत दो संघ-राज्यों में बाँट दिया जाय जिनमें से एक मुस्लिम प्रांतों का संघ हो और दूसरा हिंदू प्रांतों का। कुछ दिनों के पश्चात् अखिल भारतीय मुस्लिम-लीग की कार्य-समिति ने इस विचार को अपना लिया और सन् १९४० में, लाहौर के अधिवेशन में, अखिल भारतीय मुस्लिम-लीग ने भी उसके पक्ष में एक प्रस्ताव पास किया। दूसरे साल मद्रास के अधिवेशन में यह प्रस्ताव पुनः दुहराया गया और मुस्लिम लीग के उद्देश्यों में भी तदनुकूल परिवर्तन किये गये। मुसलमानों की उक्त मांग को ब्रिटिश सरकार स्पष्ट रूप से मानने को तैयार न थी। फलस्वरूप घुमा-फिरा कर इसकी व्यवस्था की जाती थी जिसके कारण संवैधानिक संकट के निवारण की योजनाएँ न तो कांग्रेस को मान्य होती थीं और न मुस्लिम लीग को

सन् १९४२ से १९४४ तक—सन् १९४२ से १९४४ तक एक ओर मिस्टर जिन्ना की अध्यक्षता में मुस्लिम लीग की देश के बँटवारे की मांग जोर

पकड़ रही थी और दूसरी ओर देश भयंकर संकटों का सामना कर रहा था। कारावास में जाने के पश्चात्, अनुचित प्रतिबंधों के कारण, ९ फरवरी सन् १९४३ को गांधी ने तीन सप्ताह का उपवास आरंभ किया। सारा देश इस दुखदायी समाचार के कारण अशुभ आशंकाओं से काँप उठा। गांधीजी के बिना शर्त छोड़े जाने की चर्चा होने लगी। किंतु लॉर्ड लिनलिथगो की सरकार टस से मस न हुई और गांधीजी को अपने उपवास का समस्त काल कारावास में ही व्यतीत करना पड़ा। इन्हीं दिनों बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। संभवतः इस समय तक महायुद्ध में सम्मिलित किसी भी देश के इतने मनुष्य रणक्षेत्र में हताहत न हुए थे जितने इस भयंयर दुर्भिक्ष के कारण केवल बंगाल में मौत के घाट उतरे। बंगाल की सरकार वास्तविक परिस्थिति से अनभिज्ञ थी और उसके जानने की कोशिश तक न कर रही थी। अप्रैल सन् १९४४ में गांधीजी मलेरिया ज्वर से पीड़ित हुए। उनकी अवस्था उत्तरोत्तर इतनी बिगड़ गयी कि प्राण-संकट तक की आशंका हुई। फलस्वरूप लॉर्ड वैवेल ने उन्हें बिना शर्त मुक्त कर दिया। बाहर आकर गांधीजी अच्छे हो गये। उन्होंने लॉर्ड वैवेल से कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्यों से मिलने की आज्ञा माँगी और यदि यह संभव न हो, तो स्वयं उनसे मिलने की। किंतु लॉर्ड वैवेल ने उनकी एक भी बात स्वीकार न की।

इस बीच में गांधीजी ने सांप्रदायिक समस्या को भी सुलझाना चाहा। इस संबंध में श्री राजगोपालाचारी का सुझाव विशेषतया उल्लेखनीय है। (१) स्वतंत्र भारत की संविधान-संबंधी निम्नलिखित शर्तों के अंतर्गत मुस्लिम-लीग भारतीय स्वतंत्रता की माँग को स्वीकार करती है। वह संक्रमण काल के लिए एक अंतःकालीन सरकार के निर्माण में कांग्रेस के साथ सहयोग करेगी। (२) लड़ाई के अंत के पश्चात, भारत के उत्तरी-पश्चिमी तथा पूर्वी भागों के ऐसे समीपस्थित प्रदेशों के निश्चित करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया जायगा जहां मुसलमानों की जनसंख्या समस्त जनसंख्या की आधी से अधिक है। इन प्रदेशों में वयस्क या किसी दूसरे व्यावहारिक मताधिकार पर, हिंदुस्तान से पृथक् होने के विषय में समस्त जन-संख्या का मत-संग्रह किया जायगा। यदि बहुमत भारत से पृथक् एक स्वतंत्र प्रभु-राज्य के पक्ष में होगा तो इस प्रकार का निर्णय कार्यान्वित किया जायगा। (३) प्रत्येक पार्टी को जनमत-संग्रह के पूर्व अपने विचारों के प्रचार का अधिकार होगा। (४) यदि निर्णय पृथक्करण के पक्ष में हुआ तो रक्षा, व्यापार, यातायात के साधनों तथा अन्य आवश्यक विषयों की देख-भाल के लिए परस्पर समझौता होगा। (५)

निवासियों का परिवर्तन केवल उनकी ही स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर होगा। (६) यह समझौता तभी लागू होगा जब ब्रिटेन भारत को स्वशासन संबंधी समस्त उत्तरदायित्व और अधिकारों को हस्तांतरित कर दे। मिस्टर जिन्ना को यह सुझाव मान्य न था। फल-स्वरूप साम्प्रदायिक समस्या सुलझाने का यह प्रयत्न भी विफल रहा।

सांप्रदायिक हल में विफल होने के पश्चात्, गांधीजी ने संवैधानिक संकट के निवारण-हेतु एक दूसरा संकेत किया। ब्रिटिश पत्रकार मिस्टर स्टुअर्ट गिल्डर से उन्होंने यह कहा कि वे स्वयं "यह स्वीकार करने तथा कांग्रेस को यह सलाह देने के लिए तैयार थे कि वह, युद्ध-काल के लिए ब्रिटिश और भारतीय सेनाओं के अतिरिक्त, जिनका पूर्ण नियंत्रण वाइसराय और प्रधान सेनापति के हाथ में होगा, सिविल शासन-संबंधी पूर्ण अधिकारयुक्त राष्ट्रीय सरकार के निर्माण में भाग ले। (ब्रिटिश सरकार से) यह आशा की जायगी कि वह इस प्रकार की सरकार की स्थापना के साथ ही साथ युद्ध के अंत के पश्चात् भारत को स्वतंत्रता की गारंटी दे।" गांधी जी ने श्री राजगोपालाचारी के सांप्रदायिक हल संबंधी सुझाव को स्वीकार किया और यह भी कहा कि उनका इरादा उस समय सविनय अवज्ञा के पक्ष में न था। तत्पश्चात गांधीजी और वाइसराय में संवैधानिक हल के संबंध में पत्र-व्यवहार हुआ। किंतु कुछ परिणाम न निकला। फलस्वरूप गांधीजी पुनः अपने रचनात्मक कार्य में लग गये।

सन् १९४४-४५ में सांप्रदायिक समस्या के सुलझाने का एक और प्रयत्न किया गया। इसे देसाई-लियाकत अली पैक्ट कहते हैं। इसकी मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं—(१) कांग्रेस और लीग दोनों इस बात पर सहमत हैं कि वे मिलकर केंद्रीय अंतःकालीन सरकार का निर्माण करेंगी। इस सरकार की रचना निम्नलिखित प्रकार की होगी—(अ) केंद्रीय कार्यपालिका में कांग्रेस और मुस्लिम लीग द्वारा बराबर सदस्यों का मनोनीत किया जाना। (ब) अल्प-संख्यकों, विशेषतया सिक्खों और परिगणित जातियों, के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था। (स) प्रधान सेनापति। (२) इस सरकार की नियुक्ति और कार्य-संचालन मौजूदा भारतीय शासन संबंधी ऐक्ट (सन् १९३५ का) के अंतर्गत होगा। किंतु यदि मंत्रिमंडल किसी प्रस्ताव को विधान-सभा द्वारा पास कराने में असमर्थ रहेगा, तो वह गवर्नर जनरल के विशेष अधिकारों द्वारा कार्यान्वित न किया जायगा। इस प्रकार विधान-मंडल को गवर्नर जनरल के हस्तक्षेप से मुक्ति मिल जायगी। (३) कांग्रेस और लीग यह स्वीकार करती

हैं कि इस प्रकार की अंतःकालीन सरकार, यदि बनी, तो वह सब से पहले कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्यों की रिहाई के संबंध में कार्रवाई करेगी।

सांप्रदायिक समस्या के हल का यह प्रयत्न भी निष्फल गया। मार्च सन् १९४५ में लॉर्ड वैवेल अनायास लंदन के लिए रवाना हुए। वे वहाँ एक या दो सप्ताह ठहरनेवाले थे किंतु उन्हें लगभग छः सप्ताह ठहरना पड़ा। कई बार उनकी ब्रिटिश प्रधान-मंत्री तथा भारत-मंत्री से गुप्त बातचीत भी हुई। ५ जून सन् १९४५ को वे भारत को लौटे। १४ जून को उन्होंने शिमला रेडियो स्टेशन से भारतीय जनता के सम्मुख अपनी योजना रखी।

लॉर्ड वैवेल की योजना—लॉर्ड वैवेल की योजना का भावार्थ इस प्रकार है—

सम्राट् की सरकार ने मुझे ऐसे सुझाव पेश करने का अधिकार दिया है जिनका उद्देश्य मौजूदा भारतीय राजनीतिक परिस्थिति का सुलझाना तथा भारत को पूर्ण स्वशासन की प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर करना है। इसके द्वारा भारत के साथ संवैधानिक समझौता करने या उस पर संवैधानिक समझौता लादने का प्रयत्न नहीं किया गया है। सम्राट की सरकार को यह आशा थी कि भारतीय पार्टियाँ सांप्रदायिक समस्या को जो एक बहुत बड़ी रुकावट के समान है, स्वयं हल कर सकेंगी। किंतु यह आशा पूरी न हुई······इसलिए सम्राट की सरकार की पूर्ण अनुमति से मैं भारत के केंद्रीय तथा प्रांतीय नेताओं का, एक ऐसी इक्जीक्यूटिव कौंसिल के निर्माण के संबंध में परामर्श लूँगा, जो संगठित राजनीतिक मतों का अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व कर सके। प्रस्तावित नयी कौंसिल में भारत के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि होंगे जिनमें से पाँच सजातीय हिंदू होंगे और पाँच मुसलमान। वाइसराय और प्रधान सेनापति के अतिरिक्त इस कौंसिल के सब सदस्य भारतीय होंगे। प्रधान सेनापति पूर्ववत् युद्ध-सदस्य बने रहेंगे किंतु ब्रिटिश भारत का पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन एक भारतीय सदस्य के हाथ में आ जायगा। भारत के लिए अन्य डोमिनियनों की भाँति एक ब्रिटिश हाई कमिश्नर की नियुक्ति होगी। इक्जीक्यूटिव कौंसिल के सदस्यों का चुनाव राजनीतिक नेताओं के परामर्श से होगा, पर उनकी नियुक्ति सम्राट् की अनुमति पर निर्भर करेगी। कौंसिल अपना काम मौजूदा संविधान के अंतर्गत करेगी। गवर्नर जनरल द्वारा संवैधानिक नियंत्रण के अधिकार के प्रयोग न होने की रजामंदी के प्रश्न का उठाना ठीक नहीं; किंतु इस प्रकार का नियंत्रण अविवेकयुक्त न होगा। इस अंतःकालीन सरकार की स्थापना का अंतिम संविधान के निर्माण पर कोई

कुप्रभाव न पड़ेगा। भारत की नव-निर्मित सरकार के तीन मुख्य काम होंगे— (अ) जापान की पराजय तक उसके प्रतिकूल उत्साहपूर्वक युद्ध करना। (ब) ब्रिटिश भारत का शासन-संचालन, जब तक नया स्थायी संविधान न बन जाय। (स) जब सरकार के सदस्य उपयुक्त समझें तब उन साधनों पर विचार करना, जिनके द्वारा संवैधानिक समझौता हो सके। इस उद्देश्य से मैं भारत के कुछ नेताओं को एक सम्मेलन में आमंत्रित करूँगा। मुझे आशा है कि वे सम्मेलन में भाग लेंगे और मुझे अपनी सहायता प्रदान करेंगे। भारत के भविष्यत् के विषय में इस नये प्रयत्न द्वारा कितनी सफलता मिलेगी, इसका उत्तरदायित्व उन पर और मुझ पर है। मुझे यह भी आशा है कि सम्मेलन अपने काम में सफल होगा और उन प्रांतों मे जिनका शासन आजकल धारा ९३ के अनुसार हो रहा है, प्रांतीय मंत्रिमंडल पुनः अपना शासन-कार्य आरंभ कर देंगे। यदि सम्मेलन असफल रहा तो देश का शासन यथावत् होता रहेगा। मैं विभिन्न दलों के नेताओं को यह विश्वास भी दिलाना चाहता हूँ कि इस सुझाव के अंतस्तल में युनाइटेड किंगडम के सब नेताओं की, भारत द्वारा अपने अभीष्ट की प्राप्ति में सहायता देने की प्रबल इच्छा है। मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस सुझाव का संबंध केवल ब्रिटिश भारत से है और इसके कारण भारतीय नरेशों और सम्राट् के प्रतिनिधि के संबंध में किसी प्रकार का परिवर्तन न होगा। सम्राट् की सरकार की स्वीकृति तथा मेरी कौंसिल के परामर्श से कांग्रेस कार्य-समिति के उन सब सदस्यों की रिहाई के ऑर्डर निकाल दिये गये हैं जो अब तक जेल में हैं। सन् १९४२ के उपद्रव से संबंधित अन्य बंदियों की रिहाई नयी भारत सरकार, यदि वह बन गयी और प्रांतीय सरकारों द्वारा की जायगी। केंद्रीय और प्रांतीय नये निर्वाचनों का समय सम्मेलन में निश्चित किया जायगा।

शिमला सम्मेलन—लॉर्ड वैवेल की योजना के कारण कांग्रेस के नेता कारावस से मुक्त कर दिये गये और लगभग तीन बरस के पश्चात् कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक हुई। भारतीय लोकमत कुछ अंश में इस योजना के अनुकूल था। पूर्वकालीन योजनाओं की अपेक्षा वह श्रेष्ठतर भी थी। उसके द्वारा वास्तविक रूप से अधिकार हस्तांतरित करने की व्यवस्था की गयी थी और प्रामाणिक रूप से यह बतलाया गया था कि गवर्नर जनरल अपने अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार करेंगे। गांधी जी को 'सजातीय हिंदू' इस वाक्य के प्रयोग में कुछ आपत्ति थी, किंतु वाइसराय के स्पष्टीकरण के पश्चात् उनको संतोष हो गया था। शिमला-सम्मेलन की रचना भी अपने ढंग की अनोखी थी। उसमें भाग लेने वाले व्यक्ति सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य न थे, वरन् ऐसे व्यक्ति थे जो निर्भी-

कतापूर्वक अपने विचारों को प्रगट कर सकते थे। अतएव कांग्रेस-कार्य-समिति ने सम्मेलन में भाग लेने का निश्चय किया। मुस्लिम लीग और अन्य संस्थाओं के निर्णय भी इसी प्रकार के थे।

२५ जून सन् १९४५ को शिमला-सम्मेलन आरंभ हुआ। पहले और दूसरे दिन उसका वातावरण बड़ा आशाजनक था। किंतु उसके पश्चात् वह क्रमशः असंदिग्ध और निराशामय होता गया। २९ जून को सम्मेलन १५ दिन के लिए स्थगित कर दिया गया। १४ जुलाई को जब उसका अंतिम अधिवेशन हुआ, लॉर्ड वैवेल ने उसकी असफलता की घोषणा की। "मैं आप लोगों को दी गयी सहायता तथा सहनशीलता और बुद्धिमत्ता के लिए बधाई देता हूँ। इस असफलता के कारण आप लोगो में से किसी को निराश न होना चाहिये। अंत में हम सब कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करेंगे। भारत के भविष्य की उत्कर्षता के विषय में संदेह का स्थान नहीं है।"

सम्मेलन की असफलता का क्या कारण था? मौलाना आजाद के शब्दों में मुस्लिम लीग का रुख सम्मेलन की असफलता का पहला कारण था। मिस्टर जिन्ना शासक-मंडल में केवल 'सजातीय हिंदुओं' के समान स्थानों से ही संतुष्ट न थे। वे समझते थे कि हरिजन और सिक्ख सदस्य सदा हिंदुओं का साथ देंगे और इस प्रकार मुस्लिम सदस्य हमेशा अल्पसंख्या में होंगे। साथ ही वे इस बात पर भी दृढ़ थे कि मुस्लिम लीग ही मुसलमानों की एक-मात्र प्रतिनिधि-संस्था थी और केवल उसे ही इक्जीक्यूटिव कौंसिल के मुसलमान-सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार था। कांग्रेस संपूर्ण भारतीय राष्ट्र की प्रतिनिधि-संस्था होने के कारण, अपनी सूची में मुसलमानों को भी सम्मिलित करना चाहती थी। मिस्टर जिन्ना इसे स्वीकार करने में असमर्थ थे। तिस पर वैवेल-योजना में, मुस्लिम लीग के ध्येय, पाकिस्तान के विषय में कोई निश्चित बात ही न थी। फलस्वरूप मिस्टर जिन्ना ने न तो मुस्लिम उम्मीदवारों की सूची ही भेजी और न उस सूची के संबंध में अपनी अनुमति ही दी जिसे स्वयं लॉर्ड वैवेल ने तैयार किया था। मौलाना आजाद के विचारानुकूल सम्मेलन की सफलता की कुछ जिम्मेवारी लॉर्ड वैवेल की भी थी। २९ जून के पश्चात् लॉर्ड वैवेल ने, आपसी समझौते के अभाव में, स्वयं सम्मेलन का स्थान ग्रहण कर लिया था। किंतु उन्होंने जो सूची तैयार की थी वह ऐसी थी जिसे न तो मुस्लिम लीग स्वीकार कर सकती थी और न कांग्रेस।

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के आने के पूर्व—शिमला-सम्मेलन की विफलता के पश्चात् लार्ड वैवेल ने पहली और दूसरी अगस्त सन् १९४५ को

प्रांतीय गवर्नरों की एक सभा की। ७ मई सन् १९४५ को, जर्मनी के बिना शर्त आत्म-समर्पण के पश्चात्, युरुप में महासमर का अंत हो गया था। इंगलैंड की पार्लमेंट का नया चुनाव भी हो चुका था और राष्ट्रीय सरकार के स्थान पर मजदूर-सरकार, बिना किसी दूसरे दल की सहायता से, पदारूढ़ थी। इस परिवर्तित परिस्थिति का प्रभाव भारत पर भो पड़ा और गवर्नरों की सभा में विशेषतया नये चुनाव, धारा ९३ के स्थान पर प्रांतीय स्वराज्य, राजनीतिक बंदियों की रिहाई तथा कांग्रेस-संस्थाओं से प्रतिबंध हटाने की बातचीत हुई। फलस्वरूप कांग्रेसी संस्थाओं से प्रतिबंध हटा लिये गये। २५ अगस्त को केंद्रीय और प्रांतीय विधान-मंडलों और सभाओं के चुनाव की घोषणा की गयी और उसी दिन ब्रिटेन की मजदूर-सरकार ने भारतीय समस्या के संबंध में, वाइसराय को पुनः लंदन आने के लिए आमंत्रित किया।

लंदन से लौटने के पश्चात्, १९ सितंबर सन् १९४५ को, लॉर्ड वैवेल ने, सम्राट् की सरकार से अधिकार पाकर, दिल्ली रेडियो स्टेशन से एक दूसरी घोषणा की जिसका भावार्थ इस प्रकार है—

"सम्राट् ने पार्लमेंट में दिये गये अपने भाषण में यह स्पष्ट कर दिया है कि उनकी सरकार, भारतीय लोकमत के नेताओं के सहयोग से, भारत द्वारा शीघ्रातिशीघ्र स्वशासन प्राप्त करने में सहायता पहुँचायगी। मेरी लंदन-यात्रा में सम्राट् की सरकार ने मेरे साथ तत्संबंधी साधनों पर विचार किया है। प्रांतीय चुनावों के संबंध की घोषणा पहले ही की जा चुकी है। सम्राट् की सरकार को आशा है कि सब प्रांतों के राजनीतिक नेता मंत्रि-पद के उत्तरदायित्व को स्वीकार करेंगे। सम्राट् की सरकार की इच्छा है कि जितनी जल्दी संभव हो, एक संविधान-सभा स्थापित की जाय। अतएव चुनाव के पश्चात् उन्होंने मुझे प्रांतीय असेंबलियों के प्रतिनिधियों से यह जानने का अधिकार दिया है कि क्या वे इस संबंध में क्रिप्स-योजना या उसके संशोधित रूप को स्वीकार करना चाहते हैं या किसी दूसरी बिल्कुल नयी योजना को। सम्राट् की सरकार एक ऐसी संधि पर भी विचार कर रही है, जो भारत और इंगलैंड के बीच में होगी। उसने मुझे यह अधिकार भी दिया है कि प्रांतीय निर्वाचनों के पश्चात्, मैं अपनी इक्जीक्यूटिव कौंसिल को इस प्रकार निर्मित करूँ कि उसे भारत के सब दलों का सहयोग प्राप्त हो जाय।"

इस घोषणा का कांग्रेस पर विशेष प्रभाव न पड़ा। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के तत्संबंधी प्रस्ताव में, जिसे सरदार पटेल ने पेश किया था, निर्वाचन के लिए उम्मीदवार खड़े करने का निश्चय तो किया गया किंतु उसमें यह भी

स्पष्ट कर दिया गया कि युद्ध के समाप्त होने और ब्रिटिश सरकार के बदलने के कारण, ब्रिटेन की भारतीय नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। यह ध्यान देने की बात है कि रेडियो स्टेशन से दिये गये भाषण में भारतीय स्वतंत्रता की चर्चा तक नहीं है। मुस्लिम लीग नये चुनाव की आवश्यकता पर सन् १९४३ से ही जोर दे रही थी। फलस्वरूप निर्वाचन की तैयारियाँ बड़े वेग से होने लगीं। निर्वाचन के नतीजे से स्पष्ट था कि गैर-मुस्लिम जनता पर कांग्रेस का इस समय भी उतना ही प्रभाव था जितना सन् १९३७ में। किंतु मुस्लिम जनता पर उसका प्रभाव बहुत ज्यादा न था। हिंदू बहु-संख्यक प्रांतों में कांग्रेस के मुसलमान-उम्मीदवार प्रायः सभी जगह पराजित हुए। सीमांत प्रांत में कांग्रेस का बहुमत अवश्य था, किंतु समस्त मुस्लिम बहु-संख्यक प्रांतों में मुस्लिम लीग का प्रभाव निश्चित रूप से बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था।

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के भेजे जाने की घोषणा—१९ फरवरी सन् १९४६ को यह घोषित किया गया कि ब्रिटिश कैबीनेट के तीन सदस्य (लॉर्ड पैथिक लॉरेंस, सर स्टेफर्ड क्रिप्स और अल्बर्ट एलेक्जेंडर) भारतीय नेताओं से, भारतीय-संविधान के निर्माण के संबंध में, विचार-विनिमय के हेतु भारत के लिए रवाना होंगे। "यह प्रतिनिधि-मंडल कैबीनेट का प्रतिनिधि स्वरूप होगा और उसे कैबीनेट के अधिकार प्राप्त होंगे।" भारत द्वारा पूर्ण शासनाधिकार प्राप्त करने के लिए यह निम्नलिखित तीन दिशाओं में काम करेगा—(१) संविधान के निर्माण के ढंग पर अधिक से अधिक सहमति प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों तथा भारतीय रियासतों से आरंभिक विचार-विनिमय। (२) संविधान-सभा की स्थापना। (३) ऐसी इक्जीक्यूटिव कौंसिल का निर्माण जिसका भारत के प्रमुख राजनीतिक दल समर्थन करें।

१५ मार्च सन् १९४६ को प्रधान मंत्री एटली ने भी इसी संबंध में कॉमन सभा में एक घोषणा की। अन्य सब बातों को दुहराने के पश्चात् उन्होंने अल्प-संख्यकों के बारे में निम्नलिखित बातें कहीं—"हम अल्प-संख्यकों के अधिकारों को भूल नहीं गये हैं। अल्प-संख्यकों को भय से मुक्त होकर स्वतंत्रतापूर्वक रहने का अधिकार होना चाहिये। किंतु हम यह भी नहीं देख सकते कि एक अल्प-संख्यक जन-समुदाय किसी बहु-संख्यक जन-समुदाय की उन्नति के मार्ग में रुकावटें डाले। पूर्ण स्वतंत्रता और डोमीनियन स्टेटस के संबंध में प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा, "हमें आशा है कि भारत ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के अंदर रहने का प्रयत्न करेगा किंतु यदि वह पूर्णरूप से स्वतंत्र होना पसंद करे और हमारे विचार में उसे ऐसा करने का अधिकार

है, तो हमें इस परिवर्तन को शांतिपूर्वक और सरलता से कराने के लिए प्रयत्न-शील होना चाहिये।"

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का आगमन और कार्यारंभ—२३ मार्च को कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ने भारत-भूमि पर कराँची में पदार्पण किया। तुरंत ही भारत-मंत्री (लॉर्ड पैथिकलॉरेंस) ने ब्रिटिश सरकार और जनता की ओर से भारत के निवासियों के लिए मैत्री और सद्भावना का संदेश सुनाने के पश्चात् प्रतिनिधि-मंडल के आगमन के विषय में निम्नलिखित बातें कहीं—

"हम केवल एक ही उद्देश्य से आये हैं। वह यह है कि लॉर्ड वैवेल के सहयोग से हम भारत के नेताओं तथा इस देश के निर्वाचित प्रतिनिधियों के साथ इस विषय पर विचार करें कि देश के शासन-सूत्र को अपने हाथ में लेने की उनकी आकांक्षाओं को किस प्रकार शीघ्रता के साथ पूरा किया जा सकता है, जिससे कि हम उत्तरदायित्व के हस्तांतरण के कार्य को गौरव और प्रतिष्ठा के साथ संपन्न कर सकें।"

"ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश जनता अपनी प्रतिज्ञाओं और वचनों को पूर्ण रूप से पालन करने के लिए उत्सुक है। हम आपको आश्वासन देना चाहते हैं कि हम अपनी नीति के सिलसिले में किसी भी ऐसी व्यवस्था को स्थान देने का यत्न नहीं करेंगे जो भारत की पूर्ण स्वतंत्रतात्मक प्रतिष्ठा के अनुकूल न हो। इस प्रकार हमारा और हमारे भारतीय सहयोगियों का एक ही उद्देश्य है, जिसकी पूर्ति के लिए आगामी सप्ताह में हम अपनी समस्त शक्ति लगायेंगे। मुझे निश्चय है कि हम विश्वास के साथ तथा सफलता-प्राप्ति का दृढ़ निश्चय करके, एक साथ मिलकर अपना काम पूरा करने का यत्न करेंगे।"

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल अपने साथ ब्रिटिश सरकार की ओर से किसी नयी योजना का मसविदा नहीं लाया था। उसका उद्देश्य भारत के सरकारी और गैर-सरकारी सहयोग से इस प्रकार का मसविदा तैयार करना था। फलस्वरूप प्रतिनिधि-मंडल सरकारी पदाधिकारियों तथा राजनीतिक और सांप्रदायिक नेताओं से संपर्क स्थापित करने तथा उनके मनोभावों के जानने के काम में लग गया। कुछ ही दिनों में उसे यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय नेताओं का मतभेद आधार-भूत था। अतएव ईस्टर में अवकाश ग्रहण करने के लिए काश्मीर को जाने के पूर्व, उसने भारतीय नेताओं से परस्पर सद्भावना से काम करने की अपील की और यह आशा प्रकट की कि वापस आने पर, नेताओं के परस्पर परामर्श के कारण उसे अनेक बातों में, समझौते की पर्याप्त गुंजाइश मिलेगी।

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना—१६ मई सन् १९४६ को

कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल और वाइसराय ने अपनी योजना प्रकाशित की। ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि के पश्चात् उन्होंने कहा कि चूंकि परस्पर समझौता नहीं हो सका है, इसलिए "हम यह अपना कर्तव्य समझते हैं कि भारत में शीघ्रता से नये संविधान की स्थापना के लिए हम जिस व्यवस्था को श्रेष्ठतर समझते हैं उसे प्रस्तुत करें।" इस योजना में सम्राट की सरकार की पूर्ण अनुमति थी। इसके दो अंग थे—एक अंतःकालीन और दूसरा दीर्घ-कालीन। अंतःकालीन का संबंध केंद्रीय इक्जीक्यूटिव कौंसिल के निर्माण से था और दीर्घ-कालीन का भावी संविधान के निर्माण से। प्रतिनिधि-मंडल के विचार में अखंड भारत और पाकिस्तान दोनों असंभव थे। पर दोनों विचार-धाराओं का समन्वय भी परमावश्यक था। भारतीय रियासतों की भावी व्यवस्था भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी। ब्रिटिश भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात्, रियासतों और सम्राट् के बीच में उस संबंध का रहना असंभव था जो उस समय तक प्रचलित था। सार्वभौम सत्ता न तो सम्राट के हाथ में रखी जा सकती थी और न नयी सरकार को सौंपी जा सकती थी। इन बातों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् इस योजना में संविधान के मूल रूप के संबंध में निम्नलिखित सिफारिशें की गयी थीं—(१) "एक अखिल भारतीय संघ (Indian Union) होना चाहिये, जिसमें ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतें दोनों सम्मिलित हों और जिसके अधीन पर-राष्ट्र-संबंध, रक्षा और यातायात के विषय हों। संघ को अपने व्यय के लिए आवश्यक धन उगाहने का भी अधिकार होना चाहिये। (२) भारतीय संघ में एक कार्यपालिका और एक विधान-मंडल होना चाहिये, जिसमें ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि रहें। विधान-मंडल में कोई महत्त्वपूर्ण सांप्रदायिक मामला प्रस्तुत होने पर उसके निर्णय के लिए दोनों प्रमुख वर्गों के जो प्रतिनिधि उपस्थित हों उनका पृथक्-पृथक् तथा समस्त उपस्थित सदस्यों का बहुमत आवश्यक होगा। (३) केंद्रीय संगठन के लिए निर्धारित विषयों को छोड़कर अन्य समस्त विषय तथा अवशिष्ट अधिकार प्रांतों को प्राप्त होंगे। (४) भारतीय रियासतें उन सब विषयों और अधिकारों को अपने अधीन रखेंगी जिन्हें वे केंद्र को समर्पित न करेंगी। (५) प्रांतों को अपने पृथक समूह बनाने का अधिकार होना चाहिये, जिनकी अपनी कार्यपालिकाएँ और विधान-मंडल हों। प्रत्येक प्रांत-समूह यह निश्चित करेगा कि कौन से विषय समानरूप से सामूहिक शासन में रहें। (६) भारतीय संघ तथा प्रांत-समूहों के संविधानों में इस प्रकार की धारा होनी चाहिये जिसके द्वारा कोई भी प्रांत अपनी विधान-सभा के बहुमत से प्रथम दस बरस पश्चात् और फिर प्रति दस बरस पश्चात् संविधान की शर्तों पर पुनर्विचार करने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर सके।"

तत्पश्चात् प्रतिनिधि-मंडल की योजना में संविधान-सभा के निर्माण का उल्लेख था। इस हेतु भारतीय प्रांत तीन समूहों—क, ख, ग में विभक्त किये गये थे। क समूह में मद्रास, बंबई, संयुक्त-प्रांत, बिहार, मध्यप्रांत और उड़ीसा के प्रांत शामिल थे। ख में पंजाब, उत्तरी-पश्चिमी प्रांत और सिंध के प्रांत और ग में बंगाल और आसाम के प्रांत। निर्वाचन के सिद्धांत इस प्रकार थे—

(अ) प्रत्येक प्रांत के लिए जन-संख्या के अनुपातानुसार अधिक से अधिक स्थान निश्चित कर दिये जायँ। स्थूल रूप से प्रत्येक १० लाख व्यक्तियों के पीछे एक स्थान दिया जाय। यह वयस्क मताधिकार के प्रतिनिधित्व का श्रेष्ठतम विकल्प है।

(ब) इस प्रकार के निश्चित स्थानों को प्रत्येक प्रांत के प्रमुख संप्रदायों के बीच में उनकी जन-संख्या के अनुपातानुसार बाँट दिया जाय।

(स) यह व्यवस्था की जाय कि प्रत्येक समुदाय के लिए निश्चित स्थानों के प्रतिनिधि प्रांतीय विधान-मंडल के उसी संप्रदाय के सदस्यों द्वारा चुने जायँ। प्रतिनिधित्व की व्यवस्था निम्नलिखित तालिका के अनुसार थी—

क समूह

प्रांत	साधारण	मुस्लिम	योग
मद्रास	४५	४	४९
बंबई	१९	२	२१
संयुक्त-प्रांत	४७	८	५५
बिहार	३१	५	३६
मध्यप्रांत	१६	१	१७
उड़ीसा	९	०	९
योग	१६७	२०	१८७

ख समूह

प्रांत	साधारण	मुस्लिम	सिक्ख	योग
पंजाब	८	१६	४	२८
सीमाप्रांत	०	३	०	३
सिंध	१	३	०	४
योग	९	२२	४	३५

ग समूह

प्रांत	साधारण	मुस्लिम	योग
बंगाल	२७	३३	६०
आसाम	७	३	१०
योग	३४	३६	७०

ब्रिटिश भारत का योग	२९२
भारतीय रियासतों के अधिकतम प्रतिनिधि	९३
योग	३८५

इनके अतिरिक्त दिल्ली और अजमेर की ओर से केंद्रीय विधान-सभा के निर्वाचित सदस्य तथा कुर्ग की विधान-सभा द्वारा निर्वाचित एक प्रतिनिधि क समूह में बढ़ाये जाने को थे और ब्रिटिश बिलोचिस्तान का एक प्रतिनिधि ख समूह में। भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों के निर्वाचन की प्रणाली विचार-विनिमय द्वारा निर्धारित की जाने को थी। किंतु आरंभिक काल में एक पारस्परिक-चर्चा-कमेटी (Negotiating Committee) की व्यवस्था थी जो रियासतोंके प्रतिनिधि के रूप में काम करने को थी। इस प्रकार निर्वाचित संविधान-सभा शीघ्राति-शीघ्र दिल्ली में एकत्रित होकर अपना काम निम्नलिखित ढंग से करने को थी—

आरंभिक बैठक में कार्य का सामान्य क्रम निश्चित करने के पश्चात् अध्यक्ष और अन्य अफसरों के निर्वाचन की व्यवस्था थी। तत्पश्चात् नागरिकों, अल्प-संख्यकों, कबाइली और असम्मिलित क्षेत्रों की एक परामर्शदात्री समिति नियुक्त की जाने को थी। इसके बाद प्रांतीय प्रतिनिधि क, ख और ग समूहों में विभक्त होकर अपने-अपने समूह के प्रांतों का संविधान तैयार करने को थे और यह भी तय करने को थे कि क्या उन प्रांतों के लिए कोई सामूहिक संविधान तैयार करना चाहिये और इसके अनुकूल निर्णय होने पर कौन कौन से विषयों को सामूहिक संविधान के अंतर्गत होना चाहिये। इसके पश्चात् इन समूहों और भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि एकत्रित होकर संयुक्त-भारत का संविधान तैयार करने को थे। नयी व्यवस्था के कार्यान्वित होने पर किसी भी प्रांत को यह अधिकार था कि नये प्रांतीय विधान-मंडल के निर्णयानुसार वह उस समूह से निकल जाय जिसमें सम्मिलित किया गया है।"

यह थी कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की दीर्घकालीन योजना। किंतु भारत का शासन चलाने तथा युद्ध के पश्चात् उन्नति से संबद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण मामलों के

निर्णय के लिए यह भी आवश्यक था कि एक ऐसी अंतःकालीन सरकार स्थापित की जाय जिसे जनता का समर्थन प्राप्त हो। "इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वाइसराय ने विचार-विनिमय आरंभ कर दिया है और उन्हें आशा है कि वे शीघ्र ही एक ऐसी अंतःकालीन सरकार की स्थापना कर सकेंगे जिसमें युद्ध-सदस्य के विभाग के सहित समस्त विभाग जनता के पूर्ण रूप से विश्वासपात्र भारतीय नेताओं के हाथ में होंगे"।

अंत में कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ने भारतीय नेताओं का ध्यान परस्पर सद्भावना और आदान-प्रदान की ओर आकर्षित करते हुए, अधिकार-हस्तांतरण के कारण ब्रिटेन और संविधान-सभा के बीच में संधि की चर्चा की और यह आशा प्रगट की कि "नया स्वतंत्र भारत ब्रिटिश-राष्ट्र-समूह का सदस्य बना रहना स्वीकार करेगा।"

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना पर भारतीय लोकमत—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना भारतीय राष्ट्रीय उत्थान की एक महत्त्वपूर्ण योजना थी। महात्मा गांधी के शब्दों में "प्रतिनिधि-मंडल की योजना ऐसी थी जिसका हमको गौरव होना चाहिये।········इसमें ऐसा बीजारोपण किया गया है जिसके द्वारा यह दुखी देश दुःख तथा कष्टविहीन हो सकता है।" कांग्रेस कार्य-समिति ने उसकी कुछ बातों के स्पष्टीकरण की मांग पेश की। मिस्टर जिन्ना ने योजना की आलोचना यह कह कर की कि उसमें पाकिस्तान के प्रभु-राज्य की व्यवस्था न थी, पाकिस्तानी प्रांत दो पृथक् भागों में विभाजित किये गये थे और दो के स्थान पर एक ही संविधान-सभा की व्यवस्था थी। अतएव २५ मई को कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ने एक दूसरा वक्तव्य प्रकाशित किया। "कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की संपूर्ण योजना एक इकाई के समान है और वह उसी अवस्था में सफल हो सकती है जब कि स्वीकार करके उस पर सहयोग की भावना से अमल किया जाय। संविधान-सभा के कार्य समाप्त कर चुकने पर सम्राट की सरकार पार्लमेंट में ऐसी कार्रवाई करने की सिफारिश करेगी जो भारतीय जनता को पूर्ण सत्ता देने के लिए आवश्यक समझी जायगी।······ प्रांतों के समूह जिन कारणों से बनाये गये हैं उन्हें सभी जानते हैं। यह योजना का एक आवश्यक अंग है। इसमें यदि कोई संशोधन हो सकता है, तो वह दलों के बीच में समझौता होने पर ही हो सकता है। संविधान-निर्माण का कार्य समाप्त हो जाने पर, समूहों से अलग होने का अधिकार स्वयं जनता द्वारा अमल में लाया जायगा। क्योंकि नये प्रांतीय संविधान के अंतर्गत पहले चुनाव में समूह से अलग होने की बात एक प्रधान समस्या बन जायगी

और नये मताधिकार के अनुसार जिन भी लोगों को वोट देने का अधिकार होगा वे वास्तविक लोकतांत्रिक ढंग से निर्णय में भाग ले सकेंगे।··· नये संविधान के बनने पर स्वतंत्र भारत की इच्छा के विरुद्ध भारत में ब्रिटिश सेना के रखने का कोई इरादा नहीं है, किंतु अंतःकाल में जो, आशा है छोटा होगा, वर्तमान संविधान के अनुसार भारत की सुरक्षा कायम रखने के लिए ब्रिटिश पार्लमेंट ही उत्तरदायी रहेगी और इस लिए वहाँ (उस समय तक) ब्रिटिश सेना का रखना आवश्यक है।"

६ जून सन् १९४६ को मुस्लिम लीग की कार्य-समिति ने, असंदिग्ध रूप से कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना को स्वीकार कर लिया। किंतु कांग्रेस उस समय तक इक्जीक्यूटिव कौंसिल में समान प्रतिनिधित्व और प्रांतों के समूहीकरण के विषय में स्पष्टीकरण करने और आश्वासन लेने में संलग्न थी। १६ जून सन् १९४६ को प्रतिनिधि-मंडल का तीसरा वक्तव्य प्रकाशित हुआ। इसमें विशेषतया अंतःकालीन सरकार के निर्माण की चर्चा थी। परस्पर समझौता न हो सकने और सुदृढ़ अंतःकालीन सरकार की आवश्यकता के कारण वाइसराय महोदय ने १४ प्रमुख व्यक्तियों के पास इस सरकार में सम्मिलित होने के लिए निमंत्रण भेजे हैं। "उनकी सूची में पाँच कांग्रेसवादी, पाँच मुस्लिम लीगी और चार अल्प-संख्यकों के प्रतिनिधि सम्मिलित किये गये हैं।" वक्तव्य में यह भी कहा गया कि "दोनों प्रमुख दलों अथवा उनमें से किसी एक के द्वारा अंतःकालीन सरकार में सम्मिलित होने की अनिच्छा प्रगट करने पर वाइसराय का इरादा है कि वे अंतःकालीन संयुक्त-दलीय सरकार के निर्माण-कार्य में अग्रसर रहें। जो लोग १६ मई सन् १९४६ के वक्तव्य को स्वीकार करते हैं, यह सरकार उनका अधिक से अधिक प्रतिनिधित्त्व करेगी।" आमंत्रित व्यक्तियों ने अपने-अपने नेताओं का परामर्श लिया। मुस्लिम लीग ने निमंत्रण को स्वीकार करने की अनुमति दे दी किंतु कांग्रेस ने वाइसराय से समूहीकरण के संबंध में कुछ आश्वासन मिलने पर, दीर्घकालीन योजना को तो स्वीकार कर लिया, किंतु अंतःकालीन सरकार में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया। फल-स्वरूप अंतःकालीन सरकार के निर्माण का यह प्रयत्न भी असफल रहा और वाइसराय को सरकारी अधिकारियों की एक काम-चलाऊ सरकार स्थापित करनी पड़ी। मिस्टर जिन्ना को इसके कारण बड़ा दुख हुआ। उनको आशा थी कि कांग्रेस की अस्वीकृति पर मुस्लिम लीग को भारत पर शासन करने का अवसर मिलेगा। किंतु उनकी यह आशा विफल हुई। फल-स्वरूप उन्होंने कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना के एक इकाई होने के कारण यह सुझाव पेश किया कि

संविधान-सभा के चुनाव भी स्थगित कर दिये जायँ। किंतु तैयारियों के हो जाने के कारण, चुनाव स्थगित न किये जा सके। चुनाव का नतीजा भी वही हुआ जिसकी आशा थी। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों की स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन न हुआ।

अंतःकालीन सरकार का निर्माण—२२ जुलाई सन् १९४६ को लॉर्ड वैवेल ने अंतःकालीन सरकार के निर्माण के प्रश्न को पुनः उठाया। उन्होंने कांग्रेस के नये सभापति पं० जवाहरलाल नेहरू और मिस्टर जिन्ना के पास अंतःकालीन सरकार के निर्माण के लिए क्रमशः ६ और ५ व्यक्तियों की सूचियाँ भेजने के लिए पत्र लिखे और यह आश्वासन भी दिया कि अल्प-संख्यकों के तीन सदस्य दोनों बड़े दलों के परामर्श से नियुक्त किये जायँगे। मिस्टर जिन्ना ने पत्रोत्तर में मुस्लिम लीग की कार्य-समिति के बंबई के अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव को भेजा, जिसमें कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल की दीर्घ-कालीन और अंतःकालीन दोनों योजनाएँ अस्वीकृत कर दी गयी थीं और सक्रिय आंदोलन द्वारा पाकिस्तान की प्राप्ति की धमकी दी गयी थी। फलस्वरूप लॉर्ड वैवेल ने पं० जवाहरलाल नेहरू को अंतःकालीन सरकार के निर्माण के लिए आमंत्रित किया। उन्होंने मुस्लिम लीग का सहयोग प्राप्त करने के लिए बंबई में मिस्टर जिन्ना से भेंट की। किंतु कुछ परिणाम न निकला। फलस्वरूप लीग के सहयोग के बिना अंतःकालीन सरकार बनायी गयी। इसके निर्माण में वाइसराय का लेशमात्र भी हस्तक्षेप न था। नयी सरकार २ सितंबर से अपना काम आरंभ करने को थी और वह मुस्लिम लीग के सक्रिय आंदोलन का सामना करने को तैयार थी। इधर मुस्लिम लीग अपने निर्धारित कार्य-क्रम को कार्यान्वित कर रही थी। कलकत्ते में भीषण हत्याएँ और अग्निकाड हो रहे थे। तत्पश्चात् नोआखाली की बारी आयी और कांग्रेस द्वारा शासित बिहार का प्रांत भी अल्पसंख्यकों की हत्या में लग गया। कांग्रेसी प्रांतों की स्थिति तो किसी न किसी प्रकार काबू में रही किंतु लीगी प्रांतों में हिंदू अल्प-संख्यकों पर अमानुषिक अत्याचार होते रहे। ऐसी परिस्थिति में २ सितंबर सन् १९४६ को नेहरू-सरकार का जन्म हुआ।

मुस्लिम लीग का अंतःकालीन सरकार में सम्मिलित होना—अंतः-कालीन राष्ट्रीय सरकार बन तो गयी किंतु लीग के अलग होने के कारण उससे न तो कांग्रेस को संतोष था और न वाइसराय को। अतएव सितंबर के अंत में इस संबंध में पुनः बातचीत आरंभ हुई और इस बार भोपाल के नवाब ने मध्यस्थ का काम किया। कांग्रेस यह चाहती थी कि मुस्लिम लीग अंतःकालीन सरकार और संविधान सभा दोनों में सम्मिलित हो किंतु सहयोग करने के लिए।

इस संबंध में लॉर्ड वैवेल ने पं० जवाहरलाल नेहरू को आश्वासन दिया था—"मिस्टर जिन्ना ने मुझे यह वचन दिया है कि मुस्लिम लीग अंतःकालीन सरकार और संविधान-सभा में सहयोग के इरादे से सम्मिलित होगी।" फलस्वरूप मुस्लिम लीग के पाँच सदस्य, मुस्लिम लीग की कार्य-समिति के जुलाई में स्वीकृत प्रस्ताव को रद्द किये बिना, अंतःकालीन सरकार में आ गये। उनकी हार्दिक इच्छा सहयोग की न थी; किंतु वे सब कुछ कांग्रेस के हाथ में छोड़ना नापसंद करते थे। अंतःकालीन सरकार में आते ही उन्होंने अडंगा-नीति आरंभ की। उनके मतानुकूल पं० जवाहरलाल नेहरू उनके नेता न थे। उनकी धारणा थी कि अंतःकालीन सरकार सन् १९१९ के संविधान के अंतर्गत स्थापित हुई थी। अतएव प्रत्येक सदस्य का गवर्नर-जनरल के साथ प्रत्यक्ष संबंध था। फलस्वरूप संयुक्त उत्तरदायित्व की सब आशाएँ विफल होने लगीं। एक ही सरकार के सदस्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर एक दूसरे के प्रतिकूल अपने व्यक्तिगत् विचार प्रगट करने लगे। सांप्रदायिक तनातनी के कारण मुस्लिम लीग ने यह सुझाव पेश किया कि संविधान-सभा की कार्रवाई निर्धारित तारीख (९ दिसंबर) को आरंभ न हो। कांग्रेस ने इसका विरोध किया। फलस्वरूप मिस्टर जिन्ना ने यह घोषणा की कि मुस्लिम लीग संविधान-सभा में सम्मिलित न होगी। इस पर कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के अंतःकालीन सरकार से अलग होने की बात छेड़ी; क्योंकि मुस्लिम लीग अंतःकालीन सरकार में संविधान-सभा के साथ सहयोग की शर्त पर ही सम्मिलित की गयी थी। मिस्टर जिन्ना ने यह बात भी न मानी और वाइसराय निर्णय करने में असमर्थ रहे।

लंदन का सम्मेलन—लीग के निर्णय के कुछ ही दिनों पश्चात् वाइसराय ने सम्राट की सरकार से पुनः बातचीत आरंभ की। फलस्वरूप लंदन में एक और सम्मेलन आयोजित किया गया। यह सम्मेलन भी अभीष्ट की पूर्ति में असफल रहा। सम्मेलन के पश्चात् सम्राट की सरकार ने एक घोषणा प्रकाशित की जिसके महत्त्वपूर्ण अंशों का भावार्थ इस प्रकार है—

"संविधान-सभा में सब दलों का सहयोग प्राप्त करना इस सम्मेलन का उद्देश्य था।......जो कुछ कठिनाई उपस्थित हुई है वह केबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना के १९ वें[1] पैरे के (५) तथा (८) उपधाराओं की व्याख्या के संबंध

---

1. These sub-clauses read as follows—

19. (v) These sections shall proceed to settle the Provincial constitutions for the Provinces included in each section and shall also decide whether any group constitution

में है।''''''कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का निरंतर यही मत रहा है कि समूहों (Sections) के निर्णय, किसी समझौते के अभाव में, समूहों के प्रतिनिधियों के साधारण बहुसंख्यक मतों द्वारा किये जायँ। मुस्लिम लीग ने यह मत स्वीकार कर लिया है किंतु कांग्रेस ने एक दूसरा मत प्रस्तुत किया है। उसका कहना है कि सारे वक्तव्य के पढ़ने पर वास्तविक अर्थ यह निकलता है कि प्रांतो को समूह-निर्माण और अपने निजी संविधान दोनों के बारे में निर्णय करने का अधिकार है।[२]''''''संविधान-सभा की सफलता केवल स्वीकृत कार्य-पद्धति द्वारा ही संभव है। यदि कोई संविधान किसी ऐसी संविधान-सभा द्वारा तैयार किया गया हो जिसमें भारतीय जनता के किसी बड़े भाग का प्रतिनिधित्व न हो तो सम्राट की सरकार कभी यह इरादा नहीं रखती और कांग्रेस भी कह चुकी है कि वह भी ऐसा इरादा नहीं करेगी—कि ऐसा संविधान देश के किसी अनिच्छुक भाग पर जबरदस्ती लाद दिया जाय।"

संविधान-सभा और २० फरवरी की घोषणा—सम्राट की सरकार की उक्त घोषणा के कारण मुस्लिम लीग का रुख और भी तन गया। इधर कांग्रेस भी अपने निश्चय पर दृढ़ रही। निर्धारित तिथि को संविधान-सभा के अधिवेशन आरंभ हुए। आरंभिक कार्य-प्रणाली सफलतापूर्वक समाप्त हो गयी। संविधान-निर्माण का काम भी आरंभ हो गया। पर सभा कुछ अधूरी सी थी। मुस्लिम लीग की अनुपस्थिति एक चिंताजनक बात थी। ऐसा विदित होने लगा कि

---

shall be set up for those provinces and, if so, with what provincial subjects the group shall deal. Provinces shall have the power to opt out of the groups in accordance with the provisions of the sub-clause (viii) below.

19. (viii) As soon as the new constitutional arrangements have come into operation, it shall be open to any province to elect to come out of any Group in which it has been placed. Such a decision shall de taken up by the new legislature of the province after the first general election under the new constitution.

२. **कांग्रेस का उक्त मत १५ वें पैरे की ५ वीं उप-धारा पर अवलंबित था। वह इस प्रकार है—**

"Provinces should be free to form Groups with Executives and Legialatures and each Group could determine the Provincial subjects to be taken in common."

लॉर्ड वैवेल मुस्लिम लीग और कांग्रेस का समझौता न करा सकेंगे। उनकी नियुक्ति भी युद्ध-कालीन परिस्थिति के कारण हुई थी। युद्ध के अंत के पश्चात् उनके पदाधिकारी बने रहने की विशेष आवश्यकता न थी। अतएव २० फरवरी सन् १९४७ को, पार्लमेंट में भाषण देते हुए ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने वाइसराय के बदलने की घोषणा की और राजकीय सत्ता के हस्तांतरण की भी तिथि निर्धारित की। "सम्राट की सरकार स्पष्ट रूप से अपने इस निश्चय की सूचना देती है कि वह जून सन् १९४८ तक, उत्तरदायी भारतीयों के हाथ में अधिकार सौंपने के कार्य को संपन्न कर देगी।" तत्पश्चात् लॉर्ड वैवेल की सेवाओं की प्रशंसा करते हुए उन्होंने मार्च के महीने से एडमिरल माउंटबैटन के वाइसराय के पद पर नियुक्त किये जाने की घोषणा की। इस घोषणा के कारण भारत का राजनीतिक वातावरण पुनः स्फूर्तिमय हो गया। पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "घोषणा कई स्थानों में अस्पष्ट है। अतएव उस पर ध्यानपूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। किंतु उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ब्रिटिश सरकार ने जून सन् १९४८ तक भारतीयों के हाथ में राजनीतिक सत्ता के हस्तांतरण का निश्चय कर लिया है।" किंतु मुस्लिम लीग की नीति और कामों पर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। वह अपनी सांप्रदायिकता में संलग्न रही और उसके सक्रिय आंदोलन के कारण समस्त भारत, विशेषतया पंजाब में, निरपराध रक्तपात होता रहा।

लॉर्ड माउंटबैटन का आगमन—२३ मार्च सन् १९४७ को लॉर्ड माउंटबैटन भारत में पहुँचे। कहा जाता था कि वे अधिकार-हस्तांतरण संबंधी अनेक अधिकारों से युक्त थे। पद की शपथ लेने के पश्चात्, अन्य बातों का उल्लेख करते हुए उन्होंने परस्पर सद्भावना की अपील की। "·········इस बीच में हममें से हर एक को चाहिये कि हम कोई ऐसी बात न कहें और ऐसा काम न करें जिससे कटुता और बढ़ जाय और निर्दोष हताहतों की संख्या में वृद्धि हो।······ मेरा काम कितना कठिन है इसके संबंध में मुझे कोई भ्रम नहीं है। मुझे अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक सद्भावना की आवश्यकता होगी और आज मैं भारत से उसी सद्भावना की याचना करता हूँ।" इसके पश्चात् उन्होंने भारतीय नेताओं से मिलना आरंभ किया। एक नये गोलमेज-सम्मेलन की चर्चा होने लगी। भारत में शांति और व्यवस्था की स्थापना के लिए उन्होंने गांधीजी और मिस्टर जिन्ना दोनों से एक संयुक्त अपील निकलवायी; किंतु उसका विशेष प्रभाव न पड़ा। सांप्रदायिक वैमनस्य के कारण बंगाल और पंजाब के विभाजन की चर्चा उन्हीं कारणों से जोर पकड़ने लगी जिन

कारणों से देश के विभाजन पर जोर दिया जा रहा था। ऐसा विदित होता था कि यदि मुस्लिम लीग की पाकिस्तान-सबंधी माँग स्वीकृत होगी तो जिस पाकिस्तान का निर्माण होगा वह मूल पाकिस्तान का अंशमात्र रह जायगा। ३ मई सन् १९४७ तक लॉर्ड माउंटबैटन भारतीय परिस्थिति संबंधी कुछ निश्चित निर्णयों पर पहुँचे और उन्होंने उन्हें सम्राट की सरकार के पास लिख भेजा। १८ मई को वे लंदन के लिए रवाना हुए। विचार-विनिमय के पश्चात् सम्राट की सरकार ने ३ जून सन् १९४७ को भारतीय शासन-संबंधी एक नयी घोषणा की।

३ जून सन् १९४७ की घोषणा—३ जून सन् १९४७ की घोषणा भारत के राष्ट्रीय उत्थान में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उसके द्वारा सम्राट की सरकार ने भारतीय संविधान सभा तथा उसके काम को स्वीकार किया। किंतु साथ ही नयी संविधान-सभा की स्थापना का भी संकेत किया। "सम्राट की सरकार मौजूदा संविधान-सभा के काम में किसी प्रकार की रुकावट नहीं डालना चाहती।"""यह भी स्पष्ट है कि इस सभा द्वारा निर्मित संविधान देश के उन प्रदेशों पर लागू नहीं हो सकता जो इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। सम्राट की सरकार को विश्वास है कि जो कार्य-प्रणाली नीचे दी जा रही है वही इस विषय में इन प्रदेशों के लोगों के मत जानने का सर्वोत्तम व्यावहारिक साधन है कि वे अपना संविधान मौजूदा संविधान-सभा में बैठकर बनाना चाहते हैं अथवा एक नयी संविधान-सभा में जिसमें उन प्रदेशों के प्रतिनिधि शामिल हों जो मौजूदा सभा से पृथक् रहना चाहते हैं। जब इस बात का फैसला हो चुकेगा तब यह निश्चय करना संभव होगा कि शासनाधिकार किस सत्ता अथवा किन सत्ताओं को सौंपा जाना चाहिये।" सांकेतिक कार्य-प्रणाली में बंगाल और पंजाब की विधान-सभाओं के सदस्यों को, (युरोपियन सदस्यों को छोड़कर) मुस्लिम और गैर-मुस्लिम भागों में विभक्त करके, प्रत्येक भाग द्वारा बहुमत के आधार पर यह निश्चित करने की व्यवस्था थी कि वे प्रांत के बँटवारे के पक्ष में वे अथवा नहीं। विभाजन के पक्ष में निर्णय होने पर, गवर्नर जनरल द्वारा एक सीमा-निर्धारण कमीशन नियुक्त किया जाने को था जिसका काम मुस्लिम और गैर-मुस्लिम प्रदेशों का निर्धारित करना था। विभाजित प्रांतों के प्रत्येक भाग को यह निश्चित करने का अधिकार था कि वह मौजूदा संविधान-सभा में सम्मिलित होगा अथवा एक नयी संविधान-सभा में। सिंध की विधान-सभा को बहुमत के आधार पर और सीमाप्रांत की विधान-सभा के निर्वाचकों को बहु-संख्यक जन-मत द्वारा इसी प्रकार का निर्णय

करने का अधिकार दिया गया था। बंगाल के बँटवारे के पक्ष में निर्णय होने पर, आसाम के सिलहट जिले को जन-मत-संग्रह द्वारा यह निश्चित करने का अधिकार था कि वह पूर्वी बंगाल में सम्मिलित होगा अथवा आसाम का भाग बना रहेगा। बँटवारे के पक्ष में निर्णय होने पर यथाशीघ्र विभाजन-संबंधी परिणामों के बारे में परस्पर वार्ता की व्यवस्था थी और यह स्पष्ट कर दिया गया था कि उपर्युक्त निर्णयों का संबंध केवल ब्रिटिश भारत से था और रियासतों के संबंध में ब्रिटिश सरकार की नीति वही बनी हुई थी जो कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की १६ मई सन् १९४६ के वक्तव्य में प्रकाशित की गयी थी। अंत में ब्रिटिश सरकार की घोषणा में शीघ्रता से कार्य संपन्न करने पर जोर दिया गया और यह स्पष्ट कर दिया गया कि "प्रमुख राजनीतिक दलों (इंगलैंड के) ने बार-बार यह इच्छा प्रगट की है और इस बात पर जोर दिया है कि भारत में शीघ्र से शीघ्र सत्ता भारतीयों को सौंप दी जाय। सम्राट की सरकार इस इच्छा से पूर्ण सहानुभूति रखती है और वह स्वतंत्र भारत की सरकार या सरकारों की स्थापना द्वारा जून सन् १९४८ के पहले ही सत्ता हस्तांतरण के लिए तैयार है। अतएव इस इच्छा को यथाशीघ्र और व्यावहारिक रूप में पूरा करने के लिए सम्राट की सरकार का इरादा है कि पार्लमेंट के हाल के अधिवेशन में ही एक या दो उत्तराधिकारिणी सत्ताओं को, जैसा कि इस घोषणा के परिणाम-स्वरूप फैसला हो, सत्ता सौंपने के लिए, औपनिवेशिक पद के आधार पर व्यवस्था पेश की जाय। इस कार्रवाई का, भारतीय संविधान-सभाओं द्वारा, कालांतर में यह फैसला करने के अधिकार पर कि वह प्रदेश जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल में रहेगा अथवा नहीं, कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।"

३ जून की घोषणा और भारतीय लोकमत—३ जून की घोषणा के कारण भारतीय वातावरण पुनः आशातीत हो गया। भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू के तत्संबंधी विचार इस प्रकार थे—"हमने इन प्रस्तावों को स्वीकार कर लेने का तथा अपनी बड़ी समितियों से यह सिफारिश करने का निर्णय किया है कि उन्हें भी प्रस्तावों को मान लेना चाहिये।......आपके आगे इन प्रस्तावों की सिफारिश करते हुए मुझे खुशी नहीं हो रही है। हाँ, मुझे इसमें कोई संदेह नहीं कि इस समय यही रास्ता ठीक है।......दूर दृष्टि से भी मौजूदा फैसला ठीक है।" मिस्टर जिन्ना ने मुस्लिम लीग की कौंसिल के निर्णय पर अंतिम फैसला छोड़ते हुए, अपने व्यक्तिगत् विचारों को इस प्रकार प्रगट किया, "मुझे यह अवश्य कहना चाहिये कि वाइसराय को

विभिन्न शक्तियों के विरुद्ध बड़ी वीरता के लड़ना पड़ा है और मेरे मस्तिष्क पर यह प्रभाव अंकित हुआ है कि उन्होंने न्यायोचित और पक्षपातहीन उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य किया है और अब उनके कार्य को हल्का बनाना तथा अपने सामर्थ्य के अनुसार उनकी सहायता करना हमारा काम है ताकि वे शांतिपूर्वक और व्यवस्थित ढंग से भारत के लोगों को सत्ता हस्तांतरित कर सकें"[१]। गांधीजी ३ जून की योजना से पूर्ण रूप से संतुष्ट न थे। ४ जून के प्रार्थना-भाषण में उन्होंने इस संबंध में अपने विचारों को इस प्रकार प्रगट किया था, "जनता को यह विस्मरित न कर देना चाहिये कि कांग्रेस को इस स्थिति में आने के लिए बाध्य किया गया है। मैं आप लोगों के हृदय की कसक को यह कह कर कम कर देना चाहता हूँ कि हिंदुओं, मुसलमानों और सिक्खों का अब तक कुछ भी नुकसान नहीं हुआ है। जो कुछ वाइसराय ने किया है उसे वे परस्पर समझौते द्वारा रद्द कर सकते हैं।"[२] हिंदू महासभा के सभापति श्री एल० बी० भोपटकर के विचारानुकूल नयी योजना से यह स्पष्ट था कि "ब्रिटिश सरकार सत्ता-हस्तांतरण के लिए उत्सुक थी और मुस्लिम लीग का परिपक्व नेतृत्व (virile leadership) कांग्रेस हाई कमांड के कच्चे नेतृत्व (puerile leadership) के सम्मुख विजय प्राप्त कर रहा था।"[3]

अंतिम निर्णय—कालांतर में ३ जून की घोषणा एक प्रकार से समस्त भारत द्वारा स्वीकृत समझी गयी और ब्रिटिश सरकार ने भी घोषणा के अनुसार उस पर कानूनी कार्रवाई आरंभ कर दी। बंगाल और पंजाब ने अपना निर्णय विभाजन के पक्ष में किया, सिलहट ने पूर्वी बंगाल से मिलने के पक्ष में और उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रांत और सिंध ने नयी संविधान-सभा के पक्ष में। फलस्वरूप पाकिस्तान का बनाना अनिवार्य सा हो गया। ४ जुलाई सन् १९४७ को ब्रिटिश पार्लमेंट में भारतीय स्वतंत्रता का बिल पेश हुआ। इसमें १५ अगस्त सन् १९४७ तक सत्ता-हस्तांतरण की व्यवस्था थी। १८ जुलाई सन् १९४७ को पार्लमेंट ने इस बिल को पास करके इसे ऐक्ट का रूप दे दिया और इसी साल की १५ अगस्त को यह ऐक्ट भारत पर लागू कर दिया गया।

भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट सन् १९४७—भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट की पहली धारा में दो स्वतंत्र डोमीनियनों के निर्माण की व्यवस्था थी। "१५ अगस्त

१. भारतीय समाचार जून १५, १९४७, पृष्ठ ४६२।
२. The Leader, June 6, 1947.
३. The Leader, June 7, 1947.

सन् १९४७ से भारत में दो स्वतंत्र डोमीनियनें ब ंगी जिनके नाम क्रमानुगत् भारत और पाकिस्तान होंगे।" स्वतंत्र शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट कर दिया गया था कि दोनों डोमीनियनें एक दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र होंगी। ऐक्ट की दूसरी, तीसरी और चौथी धाराओं में दोनो डोमीनियनों के प्रादेशिक क्षेत्र की व्यवस्था थी। पाकिस्तान के प्रदेश निर्धारित कर दिये गये थे और ब्रिटिश भारत के अवशिष्ट प्रदेशों को भारत का नाम दिया गया था। प्रदेश निर्धारण का आधार निवासियों का सांप्रदायिक बहुमत था, पर अंतिम निर्णय सीमा-निर्धारण कमीशनों पर छोड़ दिया गया था। अंतिम निर्णय देते समय, सांप्रदायिक बहुमत के अतिरिक्त वे कुछ अन्य बातों पर भी विचार करने को थे। पांचवीं धारा में नव-निर्मित डोमीनियनों के गवर्नर जनरलों की व्यवस्था थी। "प्रत्येक डोमीनियन के लिए सम्राट द्वारा नियुक्त एक गवर्नर जनरल होगा, पर इस शर्त पर कि जब तक किसी डोमीनियन की संविधान-सभा विरोधात्मक नियम न बनावे, तब तक एक ही व्यक्ति दोनों डोमिनियनों का गवर्नर जनरल नियुक्त किया जा सकेगा।" स्वतंत्रता ऐक्ट की छठी धारा में डोमीनियनों की विधान-सभाओं की प्रभु-सत्ता की व्यवस्था थी। प्रभु-सत्ता से तात्पर्य उस अधिकार से है जिसके कारण वे किसी विषय के कानून बना तथा उनको रद्द कर सकती थीं और किसी बाह्य सत्ता द्वारा निर्मित नियम न तो उनके नियमों से श्रेष्ठतर समझे जाने को थे और न उन्हें रद्द ही कर सकते थे। "प्रत्येक डोमीनियन के लेजिस्लेचर को, डोमीनियन संबंधी सब नियमों के, जिनमें डोमीनियन के बाहर लागू होने वाले नियमों की भी गणना है, बनाने का पूर्ण अधिकार होगा।" स्वतंत्रता ऐक्ट की सातवीं धारा में भारतीय रियासतों और कबाइली जातियों के संबंध की व्यवस्था थी। "निर्धारित तिथि से भारतीय रियासतों के संबंध में सम्राट की सार्वभौम सत्ता की इतिश्री हो जायगी।.........वे संधियां और समझौते जो ऐक्ट के पास होने के समय सम्राट और भारतीय रियासतों के संबंध के विषय में प्रचलित थे, वे कार्य जो सम्राट भारतीय रियासतों के लिए करते थे, वे बंधन जो सम्राट पर भारतीय रियासतों तथा उनके नरेशों के संबंध में लागू थे और वे सब अधिकार जो उस दिन तक संधियों, प्रथाओं, स्वीकृतियों तथा अन्य कारणों से भारतीय रियासतों के संबंध में, सम्राट के थे, निर्धारित दिन से समाप्त समझे जायंगे।" यही व्यवस्था कबाइली जातियों तथा क्षेत्रों के विषय में भी की गयी थी। ऐक्ट की आठवीं और नवीं धाराओं में संक्रमण कालीन शासन-व्यवस्था का उल्लेख था। प्रत्येक डोमीनियन की संविधान-सभा को, विधान-सभा की हैसियत से, डोमीनियन के संविधान के निर्माण का अधिकार दिया गया था और यह स्पष्ट

कर दिया गया था कि जब तक कोई नयी व्यवस्था न की जाय, नयी डोमीनियनों और उनके प्रांतों का शासन, भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट, स-कौंसिल सम्राट के ऑर्डरों और उनके अंतर्गत बनाये गये नियमों के अंतर्गत होता रहेगा, जहां तक वे लागू होंगे और गवर्नर जनरल के ऑर्डर द्वारा उनमें बढ़ाव, घटाव, परिवर्तन और संशोधन न किये जायंगे। ऐक्ट की दसवीं धारा का संबंध भारत-मंत्री की नौकरियों से था। ऐक्ट द्वारा उनकी इतिश्री कर दी गयी, पर उनके सदस्यों के यथेष्ट संरक्षण की भी व्यवस्था की गयी। उक्त नौकर "परिवर्तित परिस्थिति के अनुकूल, डोमीनियन तथा प्रांतीय सरकारों से, जिनके अधीन वे काम करते हैं, वेतन, छुट्टी, पेंशन, अनुशासन और कार्य-संबंधी उन्हीं स्वत्वों के अधिकारी होंगे, जिनके निर्धारित दिन के ठीक पूर्व, वे अधिकारी थे।" ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं धाराओं में भारतीय सेना के विभाजन, ब्रिटिश सैनिकों के भारत से हटाये जाने तथा ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों के अधिकारों की रक्षा की व्यवस्था थी। "गवर्नर जनरल अपने ऑर्डर द्वारा दोनों डोमीनियनों में भारतीय सेना के विभाजन की व्यवस्था करेंगे।" "गवर्नर जनरल अपने ऑर्डर द्वारा क्रमशः भारत से ब्रिटिश सेना के हटाने की व्यवस्था करेंगे।" जब तक ब्रिटिश सेनाएं भारत या पाकिस्तान में रहें, तब तक वे ब्रिटिश अधिकारियों के अधीन रहेंगी।" ऐक्ट की चौदहवीं और पंद्रहवीं धाराओं का संबंध भारत-मंत्री के आर्थिक अधिकारों तथा उनके परामर्शदाताओं से था। सोलहवीं धारा में एडेन के शासन की व्यवस्था की गयी थी, सत्रहवीं में विवाह-विच्छेद के अधिकार-क्षेत्र की और अठारहवीं में मौजूदा कानूनों की। "जब तक ऐक्ट में दूसरी व्यवस्था न गयी हो, निर्धारित तिथि को, ब्रिटिश भारत और उसके विभिन्न भागों पर लागू अथवा आवश्यकतानुकूल संशोधित नियम दोनों डोमीनियनों और उनके भागों पर लागू बने रहेंगे, जब तक डोमीनियन के लेजिस्लेचरों तथा अन्य लेजिस्लेचरों या किसी अन्य अधिकार-प्राप्त संस्था अथवा अधिकारी द्वारा दूसरी व्यवस्था न की जाय।" उन्नीसवीं धारा में कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या थी और बीसवीं में ऐक्ट के संक्षिप्त शीर्षक का उल्लेख था।

भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट १९४७, ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा पास किया गया एक महान ऐक्ट था। उनके द्वारा भारत और ब्रिटेन के संबंध का एक अध्याय समाप्त हुआ और परस्पर सहयोग के आधार पर एक नये अध्याय के आरंभ की चर्चा होने लगी। भारतीय लोकमत उससे साधारणतया संतुष्ट था। सरदार वल्लभ भाई पटेल के मतानुकूल भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट का उद्देश्य शीघ्रातिशीघ्र सत्ता का हस्तांतरण था। "यह भारत की सबसे बड़ी सफलता है और किसी देश

द्वारा किया गया इतिहास का महानतम कार्य है ।" किंतु ऐक्ट द्वारा किया गया देश का विभाजन भारत के अनेक नेताओं को असह्य तथा गांधी जी को नापसंद था। पं० जवाहरलाल नेहरू ने तीन जून १९४६ की योजना को भारी हृदय से स्वीकार किया था। स्वतंत्रता ऐक्ट के संबंध में भी उनके विचार न्यूनाधिक इसी प्रकार के थे। गांधी जी परस्पर समझौते द्वारा देश के विभाजन को मिटाना चाहते थे। किंतु मुस्लिम लीग और उसके नेता पाकिस्तान की स्थापना पर तुले हुए थे। फलस्वरूप देश का विभाजन रोका न जा सका। १५ अगस्त सन् १९४७ को आधी रात को सत्ता का हस्तांतरण भी हो गया। २०० बरस का दासत्व मिटा और भारत की स्वतंत्र डोमीनियन का नव-प्रभात हुआ। दूसरे दिन से भारत का शासन डोमीनियन संविधान के अनुसार होने लगा।

भारत का डोमीनियन संविधान—भारत का डोमीनियन संविधान ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा निर्मित नया संविधान न था। इसका मूल आधार भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ का ऐक्ट था, जो भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट के अंतर्गत् घटाया, बढ़ाया, संशोधित एवं परिवर्तित किया गया था। इनके कारण मूल ऐक्ट की लगभग १०५ धाराएं निकाल दी गयी थीं कि शेष धाराएं इस प्रकार बदल दी गयी थीं कि भारतीय डोमीनियन का संविधान न्यूनाधिक ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल की अन्य डोमीनियनों के समान हो गया था। वह केवल भारतीय डोमीनियन का संविधान था और केवल उसी समय तक लागू होने को था जब तक भारतीय डोमीनियन के नये संविधान का निर्माण न हो जाय। २६ जनवरी सन् १९५० को, संविधान-सभा द्वारा निर्मित संविधान के लागू होने के कारण वह स्वतः समाप्त हो गया।

दो महत्त्वपूर्ण बातें—जिन दिनों भारत के राष्ट्रीय उत्थान से संबद्ध उपरिवर्णित बातें हो रही थीं उन्हीं दिनों दो ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटीं जिनका भारत के राष्ट्रीय उत्थान पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पहली घटना आजाद हिंद फौज (Indian National Army or I. N. A.) के अभियुक्तों की रिहाई थी। दूसरे महासमर में जब जापान ने इंगलैंड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके बरमा, मलाया और सिंगापूर पर अपना अधिकार जमाया था, उस समय अंगरेज सैनिकों तथा निवासियों को तो निकलने की सुविधा दी गयी थी, पर भारतीय जहाँ के तहाँ छोड़ दिये गये थे। इसके कारण उनका खिन्न होना स्वाभाविक था। अतएव कई सम्मेलनों के पश्चात् यह निश्चित हुआ कि श्री रासविहारी बोस की अध्यक्षता में आजाद-हिंद-संघ की

स्थापना की जाय। अप्रैल सन् १९४३ में श्री सुभाषचंद्र बोस वहाँ पर पहुँचे। यह भारत-सरकार द्वारा कलकत्ते में नजरबंद थे। पर किसी न किसी तरह वहाँ से भागकर पेशावर, काबुल, मास्को, बर्लिन और रोम होते हुए सिंगापूर पहुँचे थे। वहाँ ये आजाद-हिंद-संघ और सरकार के अध्यक्ष चुने गये। लगभग दो महीने के पश्चात् उन्होंने आजाद हिन्द फौज के संगठन की घोषणा की, जिसका उद्देश्य भारत की स्वतंत्रता के लिए लड़ना था। उन्हें जापान की सरकार का सहयोग प्राप्त था, पर वे जापानियों के हाथ में कठपुतली न थे।

- दूसरे महायुद्ध में, जापान द्वारा आत्म-समर्पण के पश्चात्, बर्मा, मलाया आदि के प्रदेश पुनः इंगलैंड के अधीन हो गये और उनके साथ-साथ आजाद हिंद फौज के सैनिक और अधिकारी भी उसके हाथ आये। उन पर ५ नवंबर सन् १९४५ को सम्राट् के विरुद्ध युद्ध तथा पाशविकता के कार्य करने का मुकद्दमा चला। भारत के प्रमुख वकीलों ने, जिनमें पं० जवाहर लाल नेहरू, श्री भूलाभाई देसाई, सर तेजबहादुर सप्रू तथा हाईकोर्ट के अवकाशग्रहीत न्यायाधीश सम्मिलित थे, अभियुक्तों की पैरवी की और यद्यपि फौजी न्यायालय ने उन्हें सम्राट् के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के अपराध में देश-निष्कासन के दंड की सिफारिश की, पर प्रधान सेनापति ने उनके दंड को माफ कर दिया। इस निर्णय का प्रत्यक्ष निष्कर्ष यह था कि देश की स्वतंत्रता के लिए सेना को अपनी विदेशी सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके, स्वतंत्र सरकार स्थापित करने का अधिकार निषिद्ध न था

दूसरी घटना का संबंध सैनिकों और पुलिस में असंतोष से था। सैनिकों को भारत सरकार की वह नीति, जिसके आधार पर वह भारतीय और अंगरेज सैनिकों के साथ भेद-भाव करती थी, नापसंद थी। अतएव युद्ध के पश्चात् कई स्थानों पर सेना ने विद्रोहात्मक मनोवृत्ति का परिचय दिया। यही अवस्था पुलिस की भी थी। सेना और पुलिस की विद्रोहात्मक मनोवृत्ति में, विदेशी सरकार की कौन कहे, राष्ट्रीय सरकार तक स्थायी नहीं रह सकती। भारत को अपने अधीन रखने के लिए अब इंगलैंड के सामने एक ही मार्ग था और वह था एक विशाल अंगरेजी सेना का भारत में रखना। पर महासमर के कुप्रभावों के कारण वह ऐसा करने में असमर्थ था। सभ्य संसार का मत भी इसका विरोधी था। अतएव अंगरेजों के लिए अब यही श्रेयस्कर था कि गांधी जी के परामर्श के अनुसार वे अनुशासित ढंग से देश से हट जायँ। १५ अगस्त सन् १९४७ को भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट के अनुसार, पहले तो भारतीय सत्ता का हस्तांतरण भारतीयों के हाथ में हुआ और तत्पश्चात् अंगरेज अधिकारी और सैनिक क्रमशः भारत से हट गये।

कांग्रेस का भविष्य—स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस के उद्देश्य की पूर्ति हो गयी। अतएव कुछ लोगों का विचार था कि कांग्रेस को विघटित कर दिया जाय। गांधी जी उसे लोक-सेवक-मंडल में परिवर्तित करना चाहते थे। कांग्रेस के अंतर्गत गांधीवादी आज भी उसे इसी रूप में देखना चाहते हैं। किंतु दूसरे लोगों के मतानुकूल अपने रचनात्मक कार्य-क्रम की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि कांग्रेस बनी रहे और एक सुदृढ़ संस्था के रूप में उन उत्तर-दायित्वों का निर्वहन करे जो देश की स्वतंत्रता के पश्चात् उस पर आ पड़े हैं। अंत में दूसरे वर्गवालों का प्राधान्य रहा। उन्होंने कांग्रेस के संविधान को इस प्रकार संशोधित किया कि वह एक ठोस राजनीतिक दल बन जाय। इस संशोधन के कारण कांग्रेस समाजवादी दल को जो गत् बीस साल से कांग्रेस के अंतर्गत अपने विचारों का प्रचार कर रहा था, उससे अलग होना पड़ा। कांग्रेस की प्रकृति में भी आधारभूत परिवर्तन हो गये। अब वह समस्त देश की प्रतिनिधि संस्था नहीं, वरन केवल एक दल की प्रतिनिधि संस्था बन गयी है। उसके सदस्य अब वीर नहीं, साधारण मनुष्य समझे जाते हैं। अतः वे अब सार्वजनिक आलोचनाओं से मुक्त नहीं समझे जाते।

अभ्यास

१—कांग्रेसी और गैर-कांग्रेसी प्रांतों में भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के कार्यान्वित रूप के विषय में आप क्या जानते हैं?

२—अगस्त सन् १९४२ की क्रांति तथा उसके प्रभावों का संक्षिप्त विवरण लिखिये।

३—पाकिस्तान की माँग के विकास पर एक निबंध लिखिये।

४—क्रिप्स-योजना की महत्वपूर्ण बातों का सारांश लिखिये। भारतीय लोकमत द्वारा वह क्योंकर अस्वीकृत हुई?

५—लार्ड वैवेल की योजनाओं का संक्षिप्त विवरण तथा उनकी असफलता के कारणों को लिखिये।

६—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की अंतःकालीन और दीर्घकालीन योजनाओं की व्याख्या कीजिये।

७—अंतःकालीन सरकार का क्या अर्थ है? क्या वह अपने काम में सफल रही?

८—भारत की संविधान-सभा की रचना का संक्षिप्त विवरण लिखिये। पाकिस्तान बनने के पश्चात् उसमें कौन-कौन से परिवर्तन हुए?

९—सांप्रदायिक समस्या के हल संबंधी राजगोपालाचारी-सुझाव और देसाई-लियाकतअली पैक्ट की महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डालिये।

१०—भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट सन् १९४७ की महत्त्वपूर्ण धाराओं का सारांश लिखिये।

११—भारत के डोमीनियन संविधान का क्या अर्थ है? वह किस प्रकार बनाया गया था?

१२—सन् १९३५ के और डोमीनियन संबिधान में गवर्नर जनरल, गवर्नरों और मंत्रिमंडल की स्थितियों में क्या अंतर था?

१३—भारत के संवैधानिक संकट दूर करने के जो प्रयत्न सन् १९४० तक हुए, उनके नाम लिखिये। वे क्योंकर असफल रहे?

१२

भारतीय शासन-विकास

१७७३–१९४७

सन् १७७३ से १८५८ तक—भारतीय शासन-विकास सन् १७७३ के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट से आरंभ होता है। इसके पश्चात् सन् १७८४ का पिट्स इंडिया ऐक्ट तथा सन् १७९३, १८१३, १८३३ और १८५३ के चार्टर ऐक्ट पास हुए। इनके द्वारा भारतीय संविधान की रूपरेखा निर्धारित हुई। इस काल की मुख्य बात भारत में कंपनी के राज्य का प्रसार था। इसके संपादन के लिए सब नैतिक बंधनों को तिलांजलि दे दी गयी थी। लाला लाजपत राय के शब्दों में ब्रिटेन द्वारा भारत की विजय का इतिहास राजनीतिक छल, विश्वासघात और अनैतिकता का इतिहास था। वह ब्रिटिश कूटनीतिज्ञता की विजय थी। सन् १७५७ में धर्म में हस्तक्षेप के बहाने सिपाही-विद्रोह हुआ। सन् १८५८ में ब्रिटिश पार्लमेंट ने भारतीय शासन संबंधी एक नया ऐक्ट पास किया। इसके अनुसार भारतीय शासन की बागडोर महारानी विक्टोरिया के हाथ में आ गयी, और सन् १७८४ में संस्थापित नियंत्रण-संघ के स्थान पर, भारतीय शासन की देखभाल के लिए, भारत-मंत्री और उनकी कौंसिल का जन्म हुआ।

सन् १८५८ से १९१४ तक—सिपाही-विद्रोह के कारण कुछ अंगरेज राजनीतिज्ञों को यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि शासन-कार्य में भारतीयों का सहयोग प्राप्त किया जाय। फलस्वरूप सन् १८६१, १८९२ और १९०९ के कौंसिल ऐक्टों में भारतीयों के सहयोग प्राप्त करने की धाराएँ सम्मिलित की गयीं। इस प्रकार विधान-मंडलों का विकास आरंभ हुआ। कालांतर में उनके सदस्यों की संख्या बढ़ी और कुछ सदस्यों का निर्वाचन होने लगा। सन् १९०९ के मॉर्ले-मिंटो ऐक्ट द्वारा सांप्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था की गयी और प्रांतीय विधान-सभाओं में गैर-सरकारी सदस्यों का आधिक्य हो गया। इन्हीं सुधारों के आस-पास, भारतीय, भारत-मंत्री और गवर्नर जनरल की कौंसिलों के सदस्य नियुक्त किये जाने लगे। विधान-सभाओं के अधिकारों में भी वृद्धि की गयी।

युरोपीय महासमर और भारत-मंत्री की घोषणा—सन् १९१४ में प्रथम युरोपीय महासमर आरंभ हुआ। ब्रिटिश साम्राज्य के सदस्य होने के नाते भारत ने मित्र-राष्ट्रों (Allies) का पक्ष ग्रहण किया और धन-जन दोनों से

उनकी सहायता की। इन्हीं दिनों भारत में स्वराज्य (Home Rule) आंदोलन ने जोर पकड़ा। भारत-सरकार ने उसे दबाने के लिए दमन-नीति बरती। फिर भी राष्ट्रीय आंदोलन दिन पर दिन अधिकाधिक प्रबल होता गया। अतएव भारतीयों को शांत करने के लिए भारत-मंत्री ने अगस्त सन् १९१७ में ब्रिटिश सरकार की भारतीय नीति की निम्नलिखित घोषणा की—

सम्राट् की सरकार की यही नीति है और भारत-सरकार भी इससे पूर्णरूप से सहमत है कि शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयो का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करके, साम्राज्य के अंतर्गत भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के लिए स्वशासन-संबंधी संस्थाएँ क्रमशः उन्नतिशील बन जायँ। यह नीति, जहाँ तक संभव हो, शीघ्र ही विचार-विनिमय द्वारा कार्यरूप में परिणत की जाय और मै (भारत-मंत्री) वाइसराय के निमंत्रण पर भारत में जाकर वाइसराय और भारत-सरकार के सहयोग से प्रांतीय सरकारों, प्रतिनिधि-संस्थाओं और अन्य मनुष्यों और संस्थाओं का परामर्श लूँ और उन पर विचार करूँ। मैं (भारत-मंत्री) यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस नीति की प्रगति धीरे-धीरे होगी और ब्रिटिश सरकार और भारत-सरकार ही, जो भारतीयों के हित और उन्नति के लिए जिम्मेदार हैं, यह निश्चित करेगी कि कब और कितना कदम आगे बढ़ाना चाहिये।"

मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार—उक्त घोषणा के आधार पर, ब्रिटिश पार्लमेंट ने सन् १९१९ का भारतीय शासन-संबंधी ऐक्ट पास किया। इसे मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार भी कहा जाता है। उसके अनुसार भारतीय शासन में निम्न-लिखित परिवर्तन किये गये थे—(१) भारत-मंत्री की कौंसिल के सदस्यों की संख्या कम से कम आठ और अधिक से अधिक बारह निर्धारित की गयी। सदस्यों का कार्यकाल पॉच बरस कर दिया गया और इस बात पर जोर दिया गया कि अधिक भारतीय कौंसिल के सदस्य बनाये जायँ। भारत-मंत्री और उनके कार्यालय का वेतन इंगलैंड के कोष से दिया जाने लगा। (२) सुधारों के अनुसार गवर्नर जनरल केंद्रीय कार्यपालिका के अध्यक्ष थे और उनको वाइसराय की उपाधि और अधिकार प्राप्त थे। उनकी सहायता के लिए एक कार्य-कारिणी समिति थी, जिसके सदस्यों की संख्या आवश्यकतानुसार बढ़ायी-घटायी जा सकती थी। अब तक केंद्रीय विधान-मंडल में केवल एक ही सभा थी। सुधारों द्वारा उसकी दो सभाएँ कर दी गयीं। एक का नाम कौंसिल-आफ्-स्टेट था और दूसरी का लेजिस्लेटिव असेंबली। कौंसिल ऑफ-स्टेट के कुल ६० सदस्य थे, ३३ निर्वाचित और २७ गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत। असेंबली

के कुल सदस्यों की संख्या १४४ थी, १०३ निर्वाचित और ४१ मनोनीत। चुनाव सांप्रदायिक आधार पर किया जाता था। कौंसिल-आफ्-स्टेट का कार्य-काल पाँच बरस था और असेंबली का तीन बरस। आर्थिक बातों को छोड़कर दोनों सभाओं के अधिकार समान थे। मताधिकार की योग्यताएँ विभिन्न प्रांतों में अलग-अलग थीं, पर वे इतनी अधिक थीं कि बहुत कम व्यक्तियों को मताधिकार मिला था। (३) सन् १९१९ के सुधारों द्वारा प्रांतों में उत्तरदायी शासन का श्रीगणेश हुआ था। प्रांतीय विषय दो भागों में विभक्त थे—(अ) संरक्षित विषय और (ब) हस्तांतरित विषय। हस्तांतरित विषयों में ही उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की गयी थी। प्रांतीय कार्यपालिका के सर्वोच्च अधिकारी को गवर्नर कहते थे। संरक्षित विषयों का शासन वे कौंसिल के परामर्श से करते थे। उसके अधिक से अधिक चार सदस्य होते थे। गवर्नर कौंसिल के सभापति थे। उसके सब निर्णय बहुमत के आधार पर होते थे। प्रांत की शांति और सुव्यवस्था की रक्षा के लिए गवर्नर को कौंसिल के बहुमत के विरुद्ध भी काम करने का अधिकार था। संरक्षित विषयों के शासन के लिए वे गवर्नर जनरल और भारत-मंत्री के प्रति उत्तरदायी थे। हस्तांतरित विषयों का शासन, वे मंत्रियों के परामर्श और मंत्रणा से करते थे। वे ही मंत्रियों को साधारणतः विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यों में से नियुक्त करते थे। मंत्री लोग अपनी नीति और कामों के लिए विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी थे। गवर्नरों का साथ देना भी उनके लिए अनिवार्य था। वे मंत्रियों की मंत्रणा के प्रतिकूल भी आवश्यकतानुसार काम कर सकते थे। इसके कारण मंत्रियों की अवस्था एक प्रकार से शोचनीय थी। इस शासन-प्रणाली का नाम द्वैध शासन-प्रणाली था। कार्यरूप में यह अनेक दोषों से परिपूर्ण पायी गयी। अतएव सन् १९३५ के ऐक्ट के अनुसार प्रांतीय शासन में इसका अंत कर दिया। (४) सन् १९१९ के सुधारों द्वारा प्रत्येक प्रांत में एक विधान-सभा स्थापित की गयी थी जिसमें गैर-सरकारी निर्वाचित सदस्यों का आधिक्य था। वे तीन प्रकार के निर्वाचन-क्षेत्रों से चुने जाते थे—साधारण सांप्रदायिक और विशेष। निर्वाचन तीन बरस के लिए होता था। निर्वाचकों की योग्यताएँ भिन्न-भिन्न प्रांतों में अलग अलग थीं। विधान-सभाओं के अधिकार भी बढ़ाये गये थे। वे समस्त प्रांतीय विषयों के कानून बना सकती थीं। प्रत्येक स्वीकृत विधेयक के कानून बनने के लिए गवर्नर की अनुमति आवश्यक थी। शासन निरीक्षण के अधिकारों में विशेष वृद्धि हुई थी। अब विधान-सभाएँ अविश्वास के प्रस्ताव पास करके मंत्रियों को अपदस्थ कर सकती थीं। उनके आर्थिक अधिकार भी बढ़ाये गये थे। वे ही

प्रांतीय बजट पास करती थीं। (५) सन् १९१९ के सुधारों का स्थानीय स्वशासन पर विशेष प्रभाव पड़ा। हस्तांतरित विषय होने के कारण, उसकी संस्थाएं सर्वथा गैर-सरकारी व्यक्तियों के अधीन हो गयीं और उनके कर्त्तव्य और बंधन बढ़े। (६) मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड आवेदन-पत्र में भारतीय नरेशों के एक नरेंद्र-मंडल के स्थापित करने पर जोर दिया गया था। कालांतर में सन् १९२१ में नरेंद्र-मंडल की स्थापना की गयी। उक्त शासन-सुधार भारतीय माँग को देखते हुए बहुत कम थे। किंतु ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में वे ही महत्त्वपूर्ण और पर्याप्त थे। कार्यरूप में ये सुधार अनेक दोषों से परिपूर्ण सिद्ध हुए। इधर राष्ट्रीय माँगे भी बढ़ती गयीं। इनके कारण साइमन कमीशन द्वारा सुधारों के कार्यान्वित रूप की जाँच की गयी और गोलमेज परिषदों में शासन-सुधार की दूसरी योजना बनी। उसी योजना को कुछ परिवर्तनों के पश्चात् पार्लमेंट ने, भारतीय शासन-सुधार ऐक्ट सन् १९३५ के रूप में पास किया।

भारतीय रियासतों की स्थिति—सन् १९३५ के संविधान का सारांश देने के पूर्व यह आवश्यक है कि भारतीय रियासतों की थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त कर ली जाय। उनकी संख्या ५६३ थी। राजनीतिक उत्थान की दृष्टि से वे बहुत पीछे थीं, किंतु भारत की अंगरेजी सरकार द्वारा रक्षित होने के कारण उनके नरेश अपनी प्रजा पर निरंकुशता से शासन करते थे। सन् १९१७ की घोषणा के पश्चात्, उन्होंने अपनी संवैधानिक स्थिति की जाँच करने का आग्रह किया। अतएव १६ दिसंबर सन् १९२८ को सर हारकोर्ट बटलर की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त हुई। कमेटी के मतानुकूल भारतीय नरेशों का संबंध सीधे इंगलैंड के राजा के साथ था, पर इंगलैंड के राजा जो सर्वदा भारत-मंत्री और स-कौंसिल गवर्नर जनरल की मंत्रणा से काम करते थे। कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि भारतीय रियासतें अपनी अनुमति के बिना उत्तरदायी भारत-सरकार के अधीन न की जायँ।

सन् १९३५ के संविधान की विशेषताएँ—सन् १९३५ के संविधान का आकार बहुत बड़ा था। वह समस्त भारत का संघात्मक संविधान था। उसके द्वारा ब्रिटिश भारतीय प्रांतों और भारतीय रियासतों को, एक राजनीतिक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया गया था। प्रांतीय स्वराज्य तथा द्वैध-प्रणाली के अनुसार केंद्र में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था थी। पर उत्तरदायित्व पूर्णरूपेण न था। गवर्नर जनरल और गवर्नरों के कई विशेषाधिकार थे। अतएव संरक्षणों सहित उत्तरदायी शासन की व्यवस्था थी। संविधान में राष्ट्रीय आधार तथा प्रस्तावना का अभाव था।

संघ-राज्य की स्थापना—संघ-राज्य की स्थापना के लिए यह आवश्यक था कि इतने भारतीय नरेश संघ-राज्य में प्रविष्ट होने के लिए तैयार होते, जो संघीय विधान-मंडल की दूसरी सभा में कम से कम ५२ सदस्य भेज सकते थे और जिनकी रियासतों की जनसंख्या समस्त भारतीय रियासतों की जनसंख्या की कम से कम आधी थी। इस शर्त की पूर्ति के पश्चात्, ब्रिटिश पार्लमेंट की दोनों सभाओं की प्रार्थना पर सम्राट् यह घोषणा करने को थे कि अमुक दिन से साम्राज्य के अंतर्गत भारतीय संघ-राज्य स्थापित किया जाय। भारतीय रियासतें प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों (Instrument of Accession) द्वारा संघ-राज्य में सम्मिलित होने को थीं।

संघीय कार्यपालिका—सन् १९३५ के ऐक्ट के अनुसार गवर्नर जनरल संघ-राज्य के सर्वोच्च शासकीय अधिकारी थे। वाइसराय का पद इनके पद से अलग था, पर दोनों के लिए एक ही व्यक्ति के नियुक्त किये जाने की व्यवस्था थी। नियुक्ति का अधिकार प्रधानमंत्री की मंत्रणा से सम्राट् को था। द्वैध शासन-प्रणाली के आधार पर केंद्र में आंशिक उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की गयी थी। देश-रक्षा, पर-राष्ट्र-संबंध, कबाइली प्रदेशों की देखभाल संरक्षित विषय थे। इनका शासन गर्वनर जनरल अपने विवेक के अनुसार तीन परामर्शदाताओं की सहायता से करने को थे। गवर्नर जनरल अपने अन्य कर्तव्यों का पालन मंत्रि-मंडल की सहायता और मंत्रणा से करने को थे। मंत्रि-मंडल के अधिक से अधिक दस सदस्य हो सकते थे। उनकी नियुक्ति का अधिकार गवर्नर जनरल को था।

गवर्नर जनरल को महत्त्वपूर्ण, साधारण और असाधारण अधिकार प्राप्त थे। ये अधिकार शासन-संबंधी, नियम-निर्माण संबंधी और आर्थिक थे। गवर्नर जनरल को मंत्रियों, परामर्शदाताओं तथा अनेक अन्य अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार था। संघ-सरकार के सारे काम उनके नाम पर किये जाते थे। संविधानयुक्त शासन के असफल होने पर उन्हें संघ-सरकार के सारे या आवश्यकतानुकूल विषय अपने अधीन करने का अधिकार था। संघीय विधान-मंडल द्वारा स्वीकृत कोई भी प्रस्ताव उनकी अनुमति के बिना ऐक्ट न बन सकता था। उन्हें ऑर्डीनेंसें जारी करने तथा अपने ऐक्ट बनाने का भी अधिकार था। संघ-सरकार की सारी वित्तीय मांगें गवर्नर जनरल की सिफारिश पर संघीय असेंबली में पेश की जाती थीं। उसकी आर्थिक स्थिरता का कायम रखना गवर्नर जनरल का एक विशेष उत्तरदायित्व था। अन्य विशेष उत्तरदायित्व इस प्रकार थे—भारत या उसके किसी भाग में शांति-भंग करने वाले खतरों का निवारण, अल्पसंख्यकों

के उचित हितों की रक्षा, सार्वजनिक नौकरियों के सदस्यों और उनके आश्रितों के उचित हितों की रक्षा, भारतीय रियासतों के अधिकारों और उनके नरेशों के अधिकारों तथा मर्यादा की रक्षा। इन विषयों का शासन गवर्नर जनरल व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार करने को थे। इसके अतिरिक्त कुछ विषयों का शासन वे अपने विवेक के अनुसार करने को थे। व्यक्तिगत निर्णय के कामों में मंत्रियों का परामर्श लेना आवश्यक था, किंतु विवेक के कामों में नहीं। दोनों में अंतिम निर्णय का अधिकार गवर्नर जनरल को था। वाइसराय की हैसियत से वे उन रियासतों में, जो संघ-राज्य में प्रविष्ट न होतीं, सम्राट् के अधिकारों की रक्षा और उनके कर्तव्यों का पालन करने को थे।

संघीय विधान-मंडल—सन् १९३५ के ऐक्ट में दो सभाओं के संघीय विधान-मंडल की व्यवस्था थी। एक सभा का नाम कौंसिल-आफ्-स्टेट था और दूसरी का लेजिस्लेटिव असेंबली। कौंसिल-आफ्-स्टेट के सदस्यों की संख्या २६० थी, जिनमें से १५६ ब्रिटिश भारत के होते और १०४ भारतीय रियासतों के। असेंबली के सदस्यों की संख्या ३७५ थी, जिनमें से २५० ब्रिटिश भारत के होते और १२५ भारतीय रियासतों के। दोनों सभाओं के सदस्य जनसंख्या के अनुपातानुसार विभिन्न प्रांतों और रियासतों या उनके समूहों में विभक्त कर दिये गये थे। चुनाव का आधार सांप्रदायिक था। कौंसिल-आफ्-स्टेट के सदस्यों का कार्य-काल ९ साल था, पर प्रत्येक तीसरे साल उसके एक-तिहाई सदस्यों का नया चुनाव होने को था। असेंबली का कार्य-काल पाँच साल था। कौंसिल-आफ् स्टेट के सदस्य संकुचित मताधिकार पर जनता द्वारा चुने जाने को थे और असेंबली के अधिकांश सदस्य प्रांतीय विधान-मंडलों या सभाओं द्वारा। भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि उनके नरेशों द्वारा मनोनीत होते। संघीय विधान-मंडल के तीन प्रकार के अधिकार थे—शासन-निरीक्षण का अधिकार, नियम-निर्माण का अधिकार तथा आर्थिक अधिकार। गवर्नर जनरल के विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के अधिकारों को छोड़कर, संघीय मंत्रि-मंडल, संघीय असेंबली के प्रति उत्तरदायी था। संघीय विधान-मंडल सभी संघीय विषयों के कानून बना सकता था। ऐक्ट की व्यवस्था के अंतर्गत, उसके बजट संबंधी निर्णय अंतिम होने को था। किंतु उसके अधिकार असीम न थे। संरक्षित विषयों के शासन पर उसका कोई अधिकार न था। व्यय का लगभग ८० प्रतिशत भाग उसके अधिकार से परे था। उसका कानून बनाने का अधिकार गवर्नर जनरल की अनुमति तथा उनके ऑर्डीनेंसें जारी करने और अपने ऐक्टों के बनाने के अधिकार के कारण सीमित था।

जिस रूप में भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट द्वारा संघ-राज्य की व्यवस्था की गयी थी, उससे भारत के राष्ट्रवादी संतुष्ट न थे। भारतीय रियासतें भी संघ-राज्य में सम्मिलित होने के पूर्व अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने में लगी थीं। भारतीय कांग्रेस संघ-सरकार का जन्म के पहले ही संहार करना चाहती थी। युरोपीय महासमर के कारण सरकार ने भी महासमर के काल तक के लिए संघ-सरकार की योजना को स्थगित कर दिया। फल-स्वरूप संघ-राज्य स्थापित न हो सका और सन् १९४७ तक भारत की केंद्रीय कार्यपालिका और विधान-मंडल का वही संगठन बना रहा जो भारतीय शासन-संबंधी सन् १९१९ के ऐक्ट द्वारा निर्धारित किया गया था।

प्रांतीय कार्यपालिका—भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट की दूसरी विशेषता थी प्रांतीय स्वराज्य की स्थापना। प्रांतीय कार्यपालिका के सर्वोच्च अधिकारी को गवर्नर कहते थे। उनकी नियुक्ति सम्राट द्वारा पाँच साल के लिए की जाती थी। शासन-कार्य में उनकी सहायता और मंत्रणा के लिए मंत्रि-मंडलों की व्यवस्था थी। उनके सदस्यों की संख्या प्रत्येक प्रांत के लिए अलग-अलग थी। साधारणतया गवर्नर विधान-सभा के बहुसंख्यक दल के नेता को प्रधान मंत्री और प्रधान मंत्री की सिफारिश पर अन्य मंत्रियों को नियुक्त करते थे। मंत्रियों को प्रांतीय विधान-सभाओं द्वारा निर्धारित वेतन मिलता था। मंत्रि-मंडल अपनी नीति और कामों के लिए प्रांतीय विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी था।

गवर्नरों को अनेक साधारण और असाधारण अधिकार दिये गये थे। ये अधिकार तीन प्रकार के थे—शासन-संबंधी, नियम-निर्माण संबंधी और आर्थिक। गवर्नर मंत्रियों को नियुक्त करते थे। प्रांत के सारे काम उनके ही नाम पर किये जाते थे। संविधानयुक्त शासन के असफल होने पर घोषणा द्वारा वे घोषणांतर्गत विषयों का शासन अपने अधीन कर सकते थे। विधान-मंडल द्वारा स्वीकृत विधेयक उनकी अनुमति के बिना कानून न बन सकते थे। उन्हें ऑर्डीनेंसें जारी करने तथा अपने ऐक्ट बनाने का भी अधिकार था। प्रांतीय व्यय की सारी माँगें गवर्नर की सिफारिश पर प्रांतीय विधान-सभा में पेश की जाती थीं। उनके निम्नलिखित विशेष उत्तरदायित्व भी थे—प्रांत या उसके किसी भाग में शांति को भंग करने वाले खतरों का निवारण; अल्पसंख्यकों के उचित हितों की रक्षा; प्रांत के अपवर्जित (Excluded) प्रदेशों की शांति और शासन की व्यवस्था; भारतीय रियासतों के अधिकारों और उनके नरेशों के अधिकारों और मान-मर्यादा की रक्षा; गवर्नर-जनरल के उन आदेशों पर अमल, जिन्हें वे अपने

द्वारा चुने जाते थे। निर्वाचकों की योग्यताएँ भिन्न-भिन्न प्रांतों में अलग अलग थीं। साधारणतः वे छः भागों में विभक्त की जा सकती थीं—निवास संबंधी, टैक्स संबंधी, संपत्ति संबंधी, शिक्षा संबंधी, सरकारी नौकरी संबंधी और स्त्रियों संबंधी। किसी निर्वाचन-क्षेत्र में वे ही मनुष्य वोट दे सकते थे जिनका नाम निर्वाचकों की सूची में था। निम्नलिखित मनुष्य किसी भी सभा की सदस्यता से वंचित थे—(१) वैतनिक सरकारी कर्मचारी, (२) वे मनुष्य जिनको उपयुक्त न्यायालय ने विकृत-मस्तिष्क ठहराया था, (३) अमोचित दिवालिये, (४) निर्वाचन संबंधी अपराधों के अपराधी निर्धारित काल तक सदस्य न चुने जा सकते थे। (५) फौजदारी अपराध के कारण दो बरस या अधिक कालेपानी की सजा पाये हुए लोग, सजा समाप्त होने के पाँच बरस पश्चात् तक सदस्य न चुने जा सकते थे। गवर्नर अपने विवेक के अनुसार इस अवधि को घटा सकते थे। (६) निर्धारित काल तक निर्वाचन संबंधी व्यय का ब्यौरा न भेजनेवाले व्यक्ति पाँच बरस तक उम्मेदवार न हो सकते थे।

संघीय विधान-मंडल की भाँति प्रांतीय विधान-मंडल के तीन प्रकार के अधिकार थे—(१) शासन निरीक्षण का अधिकार; गवर्नर के विवेक और व्यक्तिगत। निर्णय के कामों के अतिरिक्त, मंत्रि-मंडल विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायी था अविश्वास के प्रस्ताव के पास होने पर मंत्रि-मंडल के पदत्याग की व्यवस्था थी। (२) नियम-निर्माण का अधिकार; प्रांतीय विधान-मंडल को प्रांतीय विषयों के नियम बनाने का अधिकार था। वह समवर्ती विषयों के भी कानून बना सकता था। इन विषयों के संघीय कानून प्रांतीय कानूनों से उच्चतर और विरोधात्मक अंश तक प्रांतीय कानून साधारणतया रद्द समझे जाने को थे। (३) आर्थिक अधिकार; प्रांतीय विधान-मंडल के सम्मुख प्रति वर्ष बजट पेश किया जाता था। व्यय-संबंधी ब्यौरे के दो भाग होते थे। प्रथम भाग का व्यय विधान-मंडल के अधीन न था। पर वह उस पर तर्क-वितर्क कर सकता था। दूसरे भाग का व्यय साधारणतया असेंबली के मतानुकूल किया जाता था। संघीय विधान-मंडल का भाँति, प्रांतीय विधान-मंडल के अधिकार परिमित थे। गवर्नर के विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के कामों पर उसका कोई अधिकार न था। प्रांतीय आय का बहुत बड़ा भाग उसकी अनुमति के बिना ही खर्च किया जाता था। उसका कानून बनाने का अधिकार भी परिमित था। गवर्नरों को ऑर्डीनेंसें जारी करने तथा गवर्नरों के ऐक्ट बनाने का भी अधिकार था।

संघीय न्यायालय—सन् १९३५ के ऐक्ट द्वारा भारत के लिए एक संघीय न्यायालय की व्यवस्था थी जिसमें प्रधान न्यायाधीश के अतिरिक्त अधिक से

अधिक छः न्यायाधीश हो सकते थे। प्रधान न्यायाधीश और न्यायधीशों की नियुक्ति का अधिकार सम्राट् को था। ६५ बरस की अवस्था प्राप्त करने पर कोई व्यक्ति न्यायाधीश अथवा प्रधान न्यायाधीश न रह सकता था। इसके पूर्व भी वह त्यागपत्र देकर न्यायालय से अलग हो सकता था। न्यायाधीश बनने के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ आवश्यक थीं—(१) ब्रिटिश भारत या संघातरित रियासतों के हाईकोर्ट का पाँच साल का अनुभवी न्यायाधीश। (२) इंगलैंड या उत्तरी आयरलैंड का दस बरस का अनुभवी बैरिस्टर। (३) स्कॉटलैंड का दस बरस का अनुभवी एडवोकेट। (४) ब्रिटिश भारत अथवा भारतीय रियासतों में वकालत करनेवाला दस बरस का अनुभवी वकील। प्रधान न्यायाधीश के लिए उपर्युक्त प्रथम योग्यता में कोई अंतर न था; किंतु दूसरी, तीसरी और चौथी योग्यताओं में दस बरस के स्थान में पंद्रह बरस का अनुभव आवश्यक था। न्यायाधीशों को ५,५०० रुपये मासिक वेतन मिलता था और प्रधान न्यायाधीश को ७,००० रुपये मासिक। किसी न्यायाधीश अथवा प्रधान न्यायाधीश के कार्यकाल में उसका वेतन घटाया नहीं जा सकता था।

संघीय न्यायालय के दो प्रकार के अधिकार थे। (१) कुछ मुकदमे संघीय न्यायालय में ही आरंभ हो सकते थे और (२) कुछ की वह अपील सुनता था। ऐसे मुकदमे जो संघ-सरकार और प्रांतीय सरकारों के बीच में या संघ-सरकार और भारतीय रितासतों के बीच में किसी कानूनी अधिकार के कारण होते थे, संघीय न्यायालय में ही आरंभ हो सकते थे। यदि किसी मुकदमे के विषय में हाईकोर्ट यह प्रमाणित करता था कि उसका संबंध संविधान या सकौंसिल सम्राट् के किसी ऑर्डर के अर्थ से था, तो हाईकोर्ट के निर्णय के प्रतिकूल ऐसे मुकदमों की अपील संघीय न्यायालय में हो सकती थी। गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार संघीय न्यायालय से किसी कानूनी प्रश्न के विषय में सलाह लेने का अधिकार था।

हाईकोर्ट—संघीय न्यायालय के अतिरिक्त बंबई, कलकत्ता, मद्रास, इलाहाबाद, पटना और लाहौर में हाईकोर्ट थे। प्रत्येक हाईकोर्ट में एक प्रधान न्यायाधीश और कई न्यायाधीश होते थे। उनको सम्राट् नियुक्त करते थे। किसी न्यायाधीश की अवस्था ६० बरस से अधिक न हो सकती थी। इसके पूर्व भी वह त्यागपत्र द्वारा हाईकोर्ट से अलग हो सकता था। हाईकोर्ट के न्यायाधीश बनने के लिए निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक था—(१) इंगलैंड या उत्तरी आयरलैंड का दस बरस का अनुभवी बैरिस्टर। (२) स्कॉटलैंड का दस बरस का अनुभवी एडवोकेट। (३) दस बरस

पुराना भारतीय सिविल सर्विस का सदस्य जो कम से कम तीन बरस तक जिला जज रहा हो और (४) हाईकोर्ट या दूसरे न्यायालयों का दस बरस का अनुभवी वकील।

कलकत्ता, बंबई और मद्रास के हाईकोर्टों में कुछ मुकदमे आरंभ हो सकते थे, परंतु साधारणतः हाईकोर्टों में अपीलें ही सुनी जाती थीं। ये अपीलें फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार के मुकदमों की होती थीं। हाईकोर्ट के निर्णय के प्रतिकूल संघीय न्यायालय और प्रिवी कौंसिल में अपील की जा सकती थी।

भारत-मंत्री और उनकी कौंसिल—सन् १९१९ के ऐक्ट की भाँति सन् १९३५ के ऐक्ट के अनुसार भी, इंगलैंड से भारतीय शासन की देखभाल के लिए, भारत-मंत्री की व्यवस्था थी। वे पूर्ववत्, मंत्रि-मंडल और पार्लमेंट के सदस्य थे। भारतीय शासन के संबंध में मंत्रि-मंडल साधारणतया उन्हीं की मंत्रणा के अनुसार, अपनी नीति को निर्धारित करता था। वे विषय, जिनमें उत्तरदायी शासन की व्यवस्था न थी, अब भी उनके अधीन थे। उनके सुशासन के लिए, वे ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायी थे। सन् १९३५ के ऐक्ट द्वारा उनकी कौंसिल का अंत कर दिया गया था। पर उन्हें, अपने काम में सहायता के लिए, कम से कम तीन और अधिक से अधिक छः परामर्शदाताओं को नियुक्त करने अधिकार था। परामर्शदाताओं का कार्यकाल पाँच बरस था और उन्हें १३५० पौंड सालाना वेतन मिलता था।

सरकारी नौकरियाँ—सन् १९३५ के ऐक्ट के अनुसार सरकारी नौकरियाँ दो भागों में विभक्त थीं—सैनिक नौकरियाँ और असैनिक नौकरियाँ। प्रधान सेनापति सैनिक नौकरियों के सर्वोच्च अधिकारी थे। इनकी नियुक्ति का अधिकार सम्राट् को था। ये रक्षा के संबंध में गवर्नर जनरल के परामर्शदाता की हैसियत से काम करते थे। असैनिक नौकरियाँ तीन भागों में विभक्त थीं—(१) भारत-मंत्री की नौकरियाँ—इनमें इंडियन सिविल सर्विस, इंडियन पुलिस सर्विस और इंडियन मेडिकल सर्विस की गणना थी। इन नौकरियों के सदस्य केंद्रीय और प्रांतीय दोनों प्रकार की सरकारों के अधीन काम करते थे। ये भारत-मंत्री द्वारा नियुक्त होते थे और अंत में भारत-मंत्री ही इनके हितों की देखभाल करते थे। (२) संघीय नौकरियाँ—संघीय नौकरियाँ पूर्णतया संघ-सरकार के अधीन रखी गयी थीं। सन् १९४७ तक वे भारत-सरकार के अधीन थीं। इनमें रेलवे सर्विस, इंडियन पोस्ट एंड टेलीग्राफ सर्विस, संघीय कार्यालय के कर्मचारी आदि

सम्मिलित थे। इनकी नियुक्ति का अधिकार संघ-सरकार को था। इनकी भर्ती प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर होती थी। (३) प्रांतीय नौकरियाँ—ये नौकरियाँ प्रांतीय सरकारों के अधीन थीं। इनकी नियुक्ति का अधिकार प्रांतीय सरकारों को था। अधिकांश स्थान प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर भरे जाते थे।

भारत-मंत्री की नौकरियों की भाँति, संघीय और प्रांतीय नौकरियाँ भी समाट् की नौकरियाँ थीं और गवर्नर जेनरल और गवर्नर सम्राट् के प्रतिनिधि की हैसियत से उनके हितों की रक्षा करते थे। सिविल सर्विसों के सदस्यों का उस समय तक न तो वेतन घटाया और न दर्जा गिराया जा सकता था जब तक उन्हें सफाई का अवसर न दिया गया हो। नौकरियों में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था थी। अल्प-संख्यकों के हितों की देखभाल गवर्नर जनरल और गवर्नरों का विशेष उत्तरदायित्व था। नौकरियों की भर्ती के लिए संघीय और प्रांतीय पब्लिक सर्विस कमीशनों की व्यवस्था थी।

सन् १९३५ से १९४७ तक—सन् १९३५ से १९४७ तक भारत के राष्ट्रीय आंदोलन और शासन-विकास में विशेष अंतर न था। इसका ब्यौरेवार विवरण ११ वें परिच्छेद में दिया जा चुका है। उन घटनाओं के परिणाम-स्वरूप, देश के संवैधानिक परिवर्त्तन इतने वेग से हुए कि १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत स्वतंत्र कर दिया गया, पर खंडित करके। महामना मालवीयजी के शब्दों में उस दिन अपने देश में अपना राज स्थापित हुआ। भारत का शासन अब डोमीनियन संविधान के अनुसार होने लगा। यह भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट को इस प्रकार बदल कर बनाया गया था कि भारत की स्थिति अन्य डोमीनियनों की सी हो गयी थी।

भारतीय रियासतों की स्थिति में परिवर्तन—भारतीय रियासतों की स्थिति भारतीय राजनीति की एक कठिन समस्या थी। ११ वें परिच्छेद में बटलर कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर उनकी संवैधानिक स्थिति पर कुछ प्रकाश डाला गया है। कमेटी की सिफारिश थी कि रियासतें अपनी अनुमति के बिना भारत की उत्तरदायी सरकार के अधीन न की जायँ। गोलमेज परिषदों में भारतीय नरेशों और उनके प्रतिनिधियों ने भारतीय संघ-राज्य में सम्मिलित होने के पक्ष में अपने विचार प्रकट किये। फलस्वरूप सन् १९३५ के भारतीय शासन-संबंधी ऐक्ट में ब्रिटिश भारतीय प्रांतों और भारतीय रियासतों के संघ की व्यवस्था की गयी। संघ बनाने की तैयारियाँ भी होने लगीं। पर दूसरे महासमर के कारण

१२ सितंबर सन् १९३९ को वे विषम अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के कारण स्थगित कर दी गयीं। अतएव रियासतों की स्थिति कैबीनेट प्रतिनिधिमंडल की घोषणा तक वही बनी रही जो पहले थी।

१६ मई सन् १९४६ को कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ने भारतीय रियासतों के संबंध में निम्नलिखित विचार प्रगट किये—ब्रिटिश भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् भारतीय रियासतों और सम्राट् के बीच में उस संबंध का रहना असंभव था जो उस समय तक प्रचलित था। सार्वभौम सत्ता (Paramountcy) न तो सम्राट् के हाथ में रखा जा सकती थी और न नयी सरकार को सौंपी जा सकती थी। "भारतीय रियासतों की ओर से हमने जिनसे भेंट की है उन्होंने इस बात को स्वीकार कर लिया है। साथ ही उन्होंने यह आश्वासन दिया है कि रियासतें देश के नवीन विकास में सहयोग प्रदान करने की इच्छुक हैं। उनके सहयोग का वास्तविक रूप क्या होगा, यह नये संविधान का ढाँचा तैयार करते समय परस्पर विचार-विनिमय द्वारा तय हो सकेगा।" कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना के अनुसार भारतीय रियासतें, कम से कम पर-राष्ट्र-संबंध, रक्षा और यातायात के विषयों को संघ-सरकार के अधीन करने को थीं। संविधान-सभा में उनके ९३ प्रतिनिधियों की व्यवस्था थी। ३ जून सन् १९४७ की घोषणा में भारतीय रियासतों की उक्त स्थिति दोहरायी गयी थी।

भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट सन् १९४७ में भारतीय रियासतों के संबंध में निम्नलिखित विचार प्रकट किये गये थे—"भारतीय रियासतों को एक या दूसरी डोमीनियन में सम्मिलित होने की स्वतंत्रता थी। किंतु वे स्वतंत्र न हो सकती थीं।" व्यवहार में एक या दूसरी डोमीनियन से मिलने का कानूनी अधिकार बहुत कुछ सीमित था। स्वतंत्रता ऐक्ट के पास होने के पूर्व भी भौगोलिक स्थिति की महत्ता को स्वीकार कर लिया गया था। वाइसराय के विचारानुकूल 'कुछ भौगोलिक अनिवार्यताएं ऐसी थीं जिनसे बचना असंभव था।'

२६ जून सन् १९४७ को, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं के परामर्श के पश्चात्, भारत-सरकार का रियासती विभाग स्थापित हुआ। सरदार वल्लभभाई पटेल उसके अध्यक्ष बनाये गये। अपने ५ जुलाई सन् १९४७ के वक्तव्य में उन्होंने रियासतों के संबंध में सरकार की नीति बतलाते हुए यह स्पष्ट किया कि रियासतों से यह आशा की जाती थी कि वे पर-राष्ट्र-संबंध, रक्षा और यातायात के विषयों में संघ में सम्मिलित होंगी। उन्होंने उनकी स्वतंत्रता की रक्षा का भी आश्वासन दिया। अतएव रियासतों के साथ यथास्थित समझौते (Stand-

still Agreements) हुए और वे प्रवेश-पत्रों द्वारा, भारतीय संघ में मिल गयीं।

संविधान-सभा की रचना में परिवर्तन—भारत के विभाजन तथा रियासतों की स्थिति में परिवर्तन के कारण संविधान-सभा की रचना में कुछ परिवर्तनों का होना स्वाभाविक था। बंगाल और पंजाब के प्रतिनिधियों की संख्या विभाजन के कारण घटायी गयी और भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि सम्मिलित किये गये। २६ जनवरी सन् १९५० को, इसके सदस्यों की संख्या ३०८ थी। इनके अतिरिक्त १६ सदस्य हैदराबाद के लिए निर्धारित हुए थे। संविधान-सभा के कुछ सदस्य प्रांतीय विधान-मंडलों और सभाओं के भी सदस्य थे। संविधान बन जाने के पश्चात्, वे उसकी सदस्यता से अलग हो गये और उनके स्थान पर नये सदस्य चुने गये। इस प्रकार परिवर्तित संविधान-सभा २६ जनवरी सन् १९५० से भारतीय संसद की तरह काम करती रही। गत निर्वाचन के पश्चात् उसकी इतिश्री हो गयी है।

नये संविधान का निर्माण—भारत के नवीन संविधान के निर्मित होने में लगभग ३ बरस लगे। संविधान-सभा का प्रथम अधिवेशन ९ दिसंबर सन् १९४६ को हुआ था। २६ नवंबर १९४९ तक, इसके ग्यारह अधिवेशन हुए, जिसमें प्रथम छः में ध्येय संबंधी प्रस्ताव तथा विभिन्न कमेटियों की रिपोर्ट पर विचार हुआ और शेष पाँच में संविधान के प्रारूप पर। प्रारूप (Draft) कमेटी ने, जिसकी नियुक्ति २९ अगस्त सन् १९४७ को हुई थी, १४१ दिन में संविधान के प्रारूप को निश्चित किया और संविधान-सभा ने ११४ दिन तक विचार के पश्चात् उसे स्वीकार किया। लगभग ७६३५ संशोधनों की सूचना दी गयी और इनमें से २४७३ पर विचार भी हुआ। संविधान के निर्माण में लगभग ६४,००,००० रुपये खर्च हुए और लगभग ५३,००० व्यक्तियों ने दर्शक की हैसियत से संविधान-सभा की कार्यवाही को देखा। यह संविधान २६ जनवरी सन् १९५० से देश पर लागू कर दिया गया है।

अभ्यास

१. अगस्त सन् १९१७ की घोषणा की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

२. मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों द्वारा भारतीय शासन में कौन-कौन से परिवर्तन किये गये थे ?

३. भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट की विशेषताओं को समझा कर लिखिये।

४. भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के अनुसार गवर्नर जनरल के कौन-कौन अधिकार थे ? व्यक्तिगत् निर्णय और विवेक के अधिकारों का अंतर समझाइये।

५. भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के अनुसार संघीय विधान-मंडल के संगठन और अधिकारों का संक्षिप्त विवरण लिखिये।

६. सन् १९१९ से १९४७ तक भारतीय रियासतों की संवैधानिक स्थिति पर एक लेख लिखिये।

७. टिप्पणियां लिखिये—

आदेशपत्र, समवर्ती विषय, प्रवेशप्रार्थनापत्र, द्वैध शासन-प्रणाली और होम रूल लीग।

१३

भारत के गणतंत्रात्मक संविधान की विशेषताएँ

प्राक्कथन—भारत के नवीन संविधान की आलोचना विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है। कुछ उसे संवैधानिक प्रयोगों में एक नया पग समझते हैं जिसके व्यावहारिक रूप से संसार बहुत कुछ सीख सकेगा। उसमें इंगलैंड और संयुक्त-राज्य-अमरीका में प्रचलित विरोधात्मक सिद्धांतों के समन्वय का प्रयत्न किया गया है। यह प्रयोग सफल होगा अथवा नहीं, यह बतलाना इस समय संभव नहीं। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसके निर्माताओं में मौलिकता का सर्वथा अभाव न था। दूसरे लोग उसे भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट का अनुकरण-मात्र समझते हैं जिसके निर्माण में समय और धन व्यर्थ ही नष्ट किया गया है। यदि किंचित काल के लिए हम अपने को इस मतभेद से अलग रखें और संपूर्ण संविधान पर विचार करें तो हमें कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलेंगी जो उसे संसार के अन्य संविधानों से अलग कर देती हैं। उनमें से निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) प्रभुता संपन्न लोकतंत्रात्मक गण-राज्य—नये संविधान द्वारा भारत के लिए प्रभुतासंपन्न लोकतंत्रात्मक गण-राज्य की व्यवस्था की गयी है। यह उसकी प्रस्तावना से हो स्पष्ट है। प्रस्तावना इस प्रकार है—"हम भारत के निवासी, भारत को प्रभुतासंपन्न लोकतंत्रात्मक गण-राज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त निवासियों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुरक्षित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए, दृढ़-संकल्प होकर, अपनी इस संविधान-सभा में आज (२६ नवंबर १९४९ को) एतद्वारा निर्मित संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।" यदि हम इस प्रस्तावना का विश्लेषण करें तो हमें नये संविधान की तीन आधारभूत बातें मिलती हैं—(अ) लोकतंत्रात्मक गणतंत्र की व्यवस्था (ब) राज्य की प्रभु-सत्ता का जनता के हाथ में होना, और (स) संविधान का न्याय, स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की आधार-शिलाओं पर अवलंबित होना। संविधान द्वारा

इस प्रकार केवल राजनीतिक लोकतंत्र की ही नहीं वरन् सामाजिक लोकतंत्र की भी व्यवस्था की गयी है। प्रस्तावना के संबंध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वह ध्येय संबंधी उस प्रस्ताव का अंतिम रूप है जिसे पं० जवाहर लाल नेहरू ने संविधान-सभा के प्रथम अधिवेशन में पेश किया था। प्रस्ताव के महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं—(४) यह संविधान-सभा स्वाधीन प्रभुत्व-संपन्न लोकतंत्रात्मक गणतंत्र के रूप में भारत के भावी शासन-प्रबंध के लिए, संविधान बनाने के हेतु अपना पुनीत संकल्प घोषित करती है। (५) संविधान में भारत की समस्त जनता के लिए न्याय, स्थिति की समानता, अवसर की समानता, कानून के समक्ष समानता, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना, व्यवसाय, सभा तथा कार्य की स्वाधीनता की व्यवस्था, कानून तथा नीति के अंतर्गत करेगी।"

(२) **भारतीयों द्वारा निर्मित**—नये संविधान के निर्माण का श्रेय भारतीयों को है। इसके पूर्व आधुनिक काल में भारत के लिए जितने संविधान बने थे, वे ब्रिटिश सरकार तथा ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा निर्मित होकर भारत पर एक प्रकार लादे से गये थे। किंतु नवीन संविधान उनसे सर्वथा भिन्न है। इसे स्वयं भारतीयों ने स्वतंत्र भारत में बनाया है। इसमें संदेह नहीं कि संविधान-सभा का निर्वाचन प्रौढ़ मतानुसार न हुआ था। फलस्वरूप उसे समस्त भारत की प्रतिनिधि-संस्था कहने में कुछ लोगों को आपत्ति हो सकती है। फिर भी यह बात निर्विवाद है कि नया संविधान भारतीयों द्वारा निर्मित हुआ है। उसके निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से विदेशियों के हाथ तथा प्रभाव का सर्वथा अभाव रहा है।

(३) **बड़ा आकार**—सन् १९३५ के संविधान की भांति भारत के नये संविधान का आकार बहुत बड़ा है। उसमें कुल मिलाकर २२ भाग, ३९५ अनुच्छेद (Articles) और ८ अनुसूचियाँ (Schedules) हैं। संविधान में अनेक ऐसी बातों को स्थान मिला है, जो वास्तव में ब्यौरे की हैं और जिनका संविधान में होना अनिवार्य नहीं है। निर्माताओं ने उसे यथाशक्ति इस प्रकार का बनाना चाहा है कि वह समस्त परिस्थितियों का सामना कर सके। डा० कैलाशनाथ काटजू के मतानुकूल "ऐसा करना मनुष्य की बुद्धि के परे है"। संविधान के बड़े आकार के कारण यह भी संभव है कि उसके कार्यान्वित रूप में कुछ कठिनाइयाँ आ उपस्थित हों। अधिक ब्यौरेवार संविधान साधारणतः दोषपूर्ण सिद्ध होते हैं। जर्मनी का वाइमर (Weimar)

संविधान युद्धोपरांत युरुप का सबसे बड़ा संविधान था। कुछ आलोचकों के मतानुकूल वह लोकतंत्र का सर्वश्रेष्ठ पाठ्य-ग्रंथ था। पर उसी के अंतर्गत जर्मनी में हिटलरशाही स्थापित हुई। भारतीय शासन-संबंधी सन् १९१९ और १९३५ के ऐक्ट भी, अधिक ब्यौरेवार होने के कारण संवैधानिक संकटों के जन्मदाता तथा व्यवहार में असफल सिद्ध हुए। भारत के नये संविधान के व्यावहारिक रूप में संवैधानिक संकटों की आशंका सर्वथा निर्मूल नहीं है। श्री बी० दास के मतानुकूल "भारत का नया संविधान संवैधानिक इतिहास के महाभारत के समान है। जिस प्रकार नशे में चूर सिपाही इधर-उधर भटकता है, उसी प्रकार प्रारूप-कमेटी का मस्तिष्क इधर-उधर भटकता फिरा है।" नजीरुद्दीन अहमद के विचार में नया संविधान "वकीलों का स्वर्ग है"।

(४) केंद्रीकरण की ओर झुका हुआ संघात्मक संविधान—भारत का नया संविधान संघात्मक है। उसके द्वारा भारत संघांतरित राज्यों का संघ घोषित किया गया है। संघांतरित राज्य इस प्रकार हैं—

अ वर्ग	ब-वर्ग	स-वर्ग	द-वर्ग
१. आसाम	१. हैदराबाद	१. अजमेर	अंडमान और नीकोबार टापू
२. बिहार	२. जम्मू और काश्मीर	२. भूपाल	
३. बंबई	३. मध्य भारत	३. बिलासपुर	
४. मध्य-प्रदेश	४. मैसूर	४. कूच-बिहार	
५. मद्रास	५. पटियाला और पूर्वी पंजाब का रियासती संघ	५. कुर्ग	
६. उड़ीसा	६. राजस्थान	६. दिल्ली	
७. पंजाब	७. सौराष्ट्र	७. हिमाचल प्रदेश	
८. उत्तर-प्रदेश	८. ट्रावनकोर-कोचीन	८. कच	
९. पश्चिमी बंगाल	९. विंध्य प्रदेश	९. मनीपुर	
		१०. त्रिपुरा	

अ वर्ग में वे राज्य सम्मिलित हैं जो ब्रिटिश भारत के प्रांत थे और ब वर्ग में वे जो पहले भारतीय रियासतों के रूप में थे और जो इस समय या तो स्वतंत्र

इकाइयों के रूप हैं या जिन्हें मिलाकर रियासती संघ स्थापित किये गये हैं। स वर्ग में वे राज्य सम्मिलित हैं जो केंद्रीय शासन के अधीन हैं। इनमें से कुछ तो पहले ही से केंद्रीय शासन के अधीन थे और कुछ स्वतंत्रता के पश्चात् केंद्रीय शासन के अधीन किये गये हैं। आजकल ब वर्ग का विंध्य-प्रदेश चीफ कमिश्नर के अधीन है और स वर्ग का कूच-विहार का राज्य पश्चिमी बंगाल में मिला दिया गया है।

संघात्मक संविधान के नाते, भारत के नये संविधान में सरकारी कामों का बँटवारा किया गया है और उनकी शासन-व्यवस्था के लिए पृथक् समानांतर संस्थाएँ स्थापित की गयी हैं। पर उक्त व्यवस्था शांतिकालीन है। संकट के दिनों तथा असाधारण परिस्थितियों में, अपने अनुच्छेदों के अंतर्गत संविधान सरलता से एकात्मक बनाया जा सकता है।[1] संविधान की इस व्यवस्था से बहुत से लोग असंतुष्ट हैं। इस संबंध में राष्ट्रपति के असाधारण अधिकारों की आलोचना विशेष रूप से की जाती है। श्री संपूर्णानंद के विचारानुकूल, "संविधान द्वारा संघांतरित राज्य केंद्र के कठोर आधिपत्य में रखे गये हैं और ऐसी एकरूपता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है जो अंत में अहितकर सिद्ध हो सकती है।" संपूर्ण व्यवस्था का परिणाम यह है कि संघांतरित राज्यों के अधिकार संघीय राष्ट्रपति के अधिनायकत्व में कर दिये गये हैं और उनके ऊपर अपनी आत्मा तथा प्रधान मंत्री की सत्ता के अतिरिक्त कोई दूसरी रुकावट नहीं है।

(५) उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था—नये संविधान द्वारा भारत के लिए उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था की गयी है। इसके पूर्व ब्रिटिश राष्ट्र-समूह की कुछ डोमीनियनों में संघात्मक आधार पर उत्तरदायी सरकार स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था। उनकी सफलता के विषय में मतैक्य का अभाव है। आस्ट्रेलिया के विषय में यह कहा जाता है कि वहाँ संघात्मक सरकार के साथ उत्तरदायी सरकार का समन्वय अपने अभीष्ट की पूर्ति में असफल रहा है। इसके विपरीत संयुक्त-राज्य-अमरीका का संविधान अधिकार-विभाजन (Separation of Powers) और शक्ति-संतुलन (Balance of Powers) के सिद्धांतों पर अवलंबित है। अमरीका में दृढ़ शासन अधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया है और ब्रिटिश डोमीनियनों में उत्तरदायी शासन। भारत के नये संविधान में उत्तरदायी

---

१ डाक्टर अंबेडकर के विचानुकूल "नये संविधान में युद्ध और शांति दोनों समयों में देश के एक बनाये रखने की सामर्थ्य है।" संविधान-सभा में भाषण लीडर ५ नवंबर १९४८।

सरकार का सिद्धांत अधिक ग्राह्य समझा गया है। पर दृढ़ शासन का आदर्श भी सम्मुख रखा गया है। इन दोनों का समन्वय हो सकेगा या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर संविधान के कार्यान्वित रूप पर निर्भर करेगा। श्री संपूर्णानंद के मतानुकूल भारत के नये संविधान में संघात्मक रचना के साथ, भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के समन्वय का प्रयत्न किया गया है। यह ऐक्ट ब्रिटिश संविधान पर अवलंबित था। "हमें यह देखना है कि इस सम्मिश्रण का व्यावहारिक रूप क्या होगा।" बहुत संभव है कि भारत इस समन्वय में सफल हो जाय। भारत का नया संविधान केवल कहने को ही संघात्मक है। एकात्मक दिशा की ओर उसका झुकाव इतना अधिक है कि उक्त समन्वय के सफलता की आशा बिल्कुल निराधार नहीं है।

(६) **विदेशी संविधानों का प्रभाव**—भारत के नये संविधान में विदेशी संविधानों का प्रभाव स्पष्ट है। संयुक्त-राज्य अमरीका; इंगलैंड, ऑस्ट्रेलिया, कैनाडा, आयरलैंड, जापान आदि देशों के संविधानों के गुण-दोष के अध्ययन के पश्चात् संविधान-निर्माताओं ने इस बात का प्रयत्न किया है कि भारतीय संविधान में विभिन्न संविधानों के गुणों का समावेश हो जाय। भारतीय शासन-सबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट की कुछ धाराएं ज्यों की त्यों उतार ली गयी हैं। उक्त प्रभावों के कारण कुछ आलोचकों के मतानुकूल, संविधान में मौलिकता का अभाव है। उसमें भारतीयता की कमी है। संविधान में उन लोगों की इच्छाओं और अकांक्षाओं की पूर्ति का प्रयत्न नहीं किया गया है जिन्होंने गांधीजी के नेतृत्व में तीस साल तक स्वतंत्रता की लड़ाई में भाग लिया था। श्री ठाकुर दास भार्गव के विचारानुकूल "प्रारूप कमेटी में गांधी जी का मस्तिष्क न था। अतएव संविधान-निर्माण द्वारा वह उस काम को करने में असफल रही, जिसे गांधी जी चाहते थे।" इस आलोचना में कुछ तथ्य है किंतु आधुनिक लोकतंत्रात्मक संविधानों में किस सीमा तक मौलिकता का अस्तित्व तथा विदेशी प्रभावों से बचाव हो सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। लोकतंत्र की समस्याएं प्रायः सभी देशों में एक समान हैं। फल-स्वरूप उनके संवैधानिक ढांचे में समानता का होना कुछ अनिवार्य सा है। आवश्यक परिवर्तन विशेष परिस्थितियों के कारण किये जाते हैं। भारत के नये संविधान में इस प्रकार के कई परिवर्तन हैं; जैसे ग्राम-शासन, अस्पृश्यता की व्यवस्था आदि। अतएव संविधान में मौलिकता है। पर उसमें गांधीवादी और समाजवादी दोनों प्रकार की विचार-धाराओं का अभाव है।

(७) **अल्प-सख्यकों की रक्षा**—भारत के नये संविधान में अल्प-संख्यकों की रक्षा की व्यवस्था की गयी है। भारत की अंगरेजी सरकार ने भी इस दिशा में कुछ काम किया था, पर स्वार्थवश उसकी व्यवस्था इस प्रकार की थी कि उसके कारण भारतीय राष्ट्रीयता के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया था। उसने मुसलमानों को हिंदुओं से सर्वथा अलग करके, उन्हें पृथक् निर्वाचनाधिकार दिया और दलित जातियों के साथ भी वह यही कर डालती, यदि गांधी जी अपने प्राणों की बाजी लगाकर उसे रोकने के लिए प्रयत्नशील न होते। आधुनिक संसार में अल्पसंख्यकों का संरक्षण आवश्यक है। डा० अंबेडकर के विचारानुकूल "अल्पसंख्यकों की शक्ति का विस्फोट राज्य के समस्त तंत्र का विनाश कर सकता है।" पर संरक्षण इस प्रकार का होना चाहिये कि राष्ट्रीयता के विकास पर उसका कुप्रभाव न पड़े। भारत के नये संविधान में अल्प-संख्यकों के संरक्षण की व्यवस्था न्यूनाधिक इसी प्रकार की है। निर्वाचन संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली के अनुसार होंगे। पर दलित जातियों के लिए विधान-सभाओं और स्थानीय संस्थाओं में स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। यह व्यवस्था दस बरस तक चलेगी। तत्पश्चात् इस प्रश्न पर पुनः विचार करके, आवश्यक कार्यवाही की जायगी।

(८) **क्रांतिकारी परिवर्तनों की व्यवस्था**—भारत के नये संविधान द्वारा निम्नलिखित क्रांतिकारी परिवर्तनों की व्यवस्था की गयी है—पृथक् निर्वाचन के स्थान पर संयुक्त निर्वाचन-पद्धति, सांप्रदायिकता का विरोध और राष्ट्रीय भावना का प्रतिपोषण; मूल अधिकारों का घोषित किया जाना और संविधान द्वारा उनकी गारंटी; धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना; अस्पृश्यता का अंत; देवनागरी लिपि में हिंदी को देश की राज-भाषा बनाना; प्रौढ़ मताधिकार; ग्राम स्वायत्त शासन की व्यवस्था। उक्त समस्याएं भारतीय जनता और नेताओं के सम्मुख बहुत दिनों से थीं। उनका हल कुछ असंभव सा प्रतीत होता था। नवीन संविधान द्वारा वे सुगमता से हल की गयी हैं।

(९) **नमनीय संविधान**—भारत का नया संविधान नमनीय संविधान है। जिन लोगों ने इसे बनाया है वे किसी वर्ग अथवा दल से सीमित न होकर अपने को समस्त भारत का प्रतिनिधि समझते थे। अतएव उनका संविधान सार्वजनिक आधार पर अवलंबित है। यदि कालांतर में राजनीतिक दलों के शासन और उनके उद्देश्य की पूर्ति के लिए संविधान में संशोधन करना आवश्यक प्रतीत हो, तो यह कार्रवाई आसानी से की जा सकेगी। इस संबंध में भारतीय

संविधान-निर्माताओं की मनोवृत्ति संयुक्त-राज्य-अमरीका के संविधान-निर्माताओं की मनोवृत्ति से भिन्न थी। संयुक्त-राज्य-अमरीका के संविधान निर्माता अपनी सीमाओं से परिचित थे। किंतु वे यह भी समझते थे कि उनका संविधान इतना अच्छा है कि उस पर कुछ समय तक अमल होना चाहिये। भारत के संविधान-निर्माताओं में इस प्रकार की मनोवृत्ति का सर्वथा अभाव था। पर नमनीयता सदा गुण के ही रूप में नहीं होती। अतएव संविधान के कुछ भागों को अनमनीय होना चाहिये। श्री संतानम् के मतानुकूल "संविधान हमारी स्वतंत्रता की हड्डियों के समान है और हड्डियों को नमनीय न होकर अनमनीय होना चाहिये।" भारतीय संविधान के कुछ अंश इस प्रकार के भी हैं। उनमें संशोधन करने के लिए विशेष पद्धति का अनुसरण आवश्यक समझा गया है।

भारतीय संविधान के विविध अंग—जिन नियमों, उपनियमों आदि के अनुसार किसी देश का शासन होता है उन्हें सामूहिक रूप में उसका संविधान कहते हैं। भारतीय संविधान के निम्न-लिखित अंग उल्लेखनीय हैं—

(१) भारत का नया संविधान। इसे संविधान-सभा ने बनाया है और यह २६ जनवरी सन् १९५० से देश पर लागू कर दिया गया है।

(२) भारतीय शासन-संबंधी पूर्वकालीन ऐक्ट—नये संविधान के कार्यान्वित होने के कारण भारतीय शासन संबंधी अनेक पूर्वकालीन ऐक्ट रद्द हो गये हैं। फिर भी कुछ ऐसे ऐक्ट हैं जो अब तक प्रचलित हैं और जिनके अनुसार देश के शासन का संचालन हो रहा है। इस संबंध में हमें यह न विस्मरित करना चाहिये कि नवीन संविधान के अनुसार संगठित भारतीय संसद् प्रभुता-संपन्न है और संविधान के अंतर्गत वह किसी भी पूर्वकालीन नियम को रद्द कर सकती, तथा नवीन नियम को बना सकती है।

(३) भारतीय संसद् द्वारा निर्मित ऐक्ट—भारतीय संसद् अपने प्रत्येक अधिवेशन में अनेक कानून (विधियाँ) स्वीकार करती है। देश के शासन में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। वे भी भारतीय संविधान के अंग हैं।

(४) कार्यपालिका द्वारा जारी किये गये अध्यादेश—भारतीय कार्य-पालिकाओं के सर्वोच्च अधिकारियों को शीघ्र कार्य-संपादन के लिए अध्यादेश जारी करने का अधिकार है। अपने कार्य-काल में वे भी भारतीय संविधान के अंग होते हैं।

(५) न्यायालयों के निर्णय—भारत का नया संविधान संघात्मक है। उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व कार्यपालिका के अतिरिक्त न्यायपालिका को है। उच्चतम और उच्च न्यायालयों को संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों की व्याख्या करके उनके वास्तविक अर्थ बतलाने का अधिकार है। उनका अर्थ सर्वमान्य होता है। यदि सविधान पर किसी प्रकार का अतिक्रमण होता है तो उच्चतम न्यायालय ऐसे कामों को असंवैधानिक ठहराकर उन्हें रद्द कर देता है। न्यायालय के उक्त प्रकार के निर्णयों की गणना संविधान के अंगों में की जाती है।

(६) संविधान संबंधी प्रथाएं—भारत के नये संविधान के संबंध में अभी तक अपनी ही प्रथाओं का अभाव है। फिर भी संविधान द्वारा जिस प्रकार के शासन की व्यवस्था की गयी है उसके संबंध में अन्य देशों में कुछ प्रथाएं प्रचलित हैं। सन् १९३५ के भारतीय शासन संबंधी ऐक्ट के कुछ वाक्यांश ज्यों के त्यों नवीन संविधान में उतार लिये गये हैं। उनका प्रयोग, उन दिनों शब्दार्थ के अतिरिक्त एक निश्चित अर्थ में किया जाता था। नवीन संविधान में भी उनका वही अर्थ समझा जायगा। उदाहरण के लिए राष्ट्रपति और उनकी मंत्रि-परिषद् के संबंध का उल्लेख किया जा सकता है। "राष्ट्रपति को अपने कार्य-संपादन में, मंत्रणा और सहायता देने के लिए, प्रधान मंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्रिपरिषद होगी।" इस भाषा का तात्पर्य अब तक यही समझा जाता था कि सर्वोच्च शासकीय अधिकारी अपने सब कामों को मंत्रि-परिषद की मंत्रणा के अनुसार करेगा। नये संविधान में भी इसका यही अर्थ होना चाहिये।

(७) संविधान में संशोधन—कोई भी संविधान सदा के लिए संतोषप्रद नहीं हो सकता। समयानुकूल उसमें संशोधन एवं परिवर्तन होते रहते हैं। इन संशोधनों की गणना संविधान के अंगों में की जाती है।

संविधान में संशोधन की व्यवस्था—नये संविधान में संशोधन करने के लिए दो प्रकार की व्यवस्थाएं हैं। पहली के अनुसार संशोधनों को संसद् की दोनों सभाओं में अलग-अलग कुल सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से स्वीकृत होना चाहिये। तत्पश्चात् वे राष्ट्रपति की अनुमति के लिए उनके समक्ष उपस्थित किये जायंगे और यदि राष्ट्रपति अपनी अनुमति दे देंगे तो संविधान में तदनुकूल परिर्तन हो जायंगे। संविधान का अधिकांश इस प्रकार संशोधित किया जा सकता है। किंतु उसमें कुछ ऐसे अनुच्छेद भी

निर्धारित किये गये हैं जिनके संशोधन के लिए उक्त व्यवस्था के अतिरिक्ति कुछ अन्य बातों की पूर्ति आवश्यक समझी गयी है। इन अनुच्छेदों का संबंध निम्न-लिखित बातों से है—

(१) राष्ट्र-पति के चुनाव का आधार तथा ढंग। (२) संघ-सरकार की कार्य-पालिका शक्ति। (३) सघांतरित राज्यों की कार्य-पालिका शक्ति। (४) पृष्ठ २६५ पर दी गयी तालिका के स-वर्ग के राज्यों में उच्च न्यायालय स्थापित या किसी मौजूदा न्यायालय को उच्च न्यायालय घोषित करने वाले संसद् के अधि-कार। (५) संघीय न्यायपालिका का संगठन और अधिकार-क्षेत्र। (६) उच्च न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र और संगठन। (७) संघ और संघांतरित राज्यों का संबंध। (८) संघीय, राजकीय और समवर्ती सूचियो के विषय। (९) संघीय संसद् में राज्यों के प्रतिनिधित्व। (१०) संविधान में संशोधन की व्यवस्था। इनके संबंध में संशोधन करने के लिए उपरिवर्णित व्यवस्था के के अतिरिक्त यह भी आवश्यक समझा गया है कि पृष्ठ २६५ पर की गयी तालिका के अ और ब वर्ग के राज्यों में से कम से कम आधे के विधान-मंडल उनके पक्ष में हों।

संक्रमण-कालीन व्यवस्था—नये संविधान के अनुसार समस्त सरकारी संस्थाओं का संगठन तुरंत ही नहीं किया जा सकता था। निरंकुश नौकरशाही को उच्च कोटि के लोकतंत्र में बदलने का काम सरल न था। अतएव नये संविधान के कार्यान्वित करने के लिए संक्रमण-कालीन व्यवस्था की गयी है। उसका विवरण संविधान के २१ वें भाग में दिया गया है। उसकी निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) संविधान के लागू होने की तिथि से पाँच बरस तक संघीय संसद्, सूती और ऊनी वस्त्रों, कच्ची रूई, बिनौले, कागज, खाद्य-पदार्थ, कोयले, लोहे, ईस्पात और अभ्रक का किसी राज्य के अंदर व्यापार और वाणिज्य, तथा उनके उत्पादन और वितरण के संबंध में समवर्ती विषयों की भाँति विधि (कानून) बना सकेगी।

(२) संविधान के आरंभ से दस बरस की कालावधि या संसद् द्वारा निर्धा-रित अल्पतर या दीर्घतर कालावधि के भीतर, पृष्ठ २६५ पर दी गयी तालिका के ब वर्ग में उल्लिखित प्रत्येक संघांतरित राज्य की सरकार, राष्ट्रपति के नियंत्रण में रहेगी तथा उनके ऐसे विशिष्ट निदेशों का अनुवर्त्तन करेगी जिन्हें वे समय समय पर दें।

(३) संविधान द्वारा रद्द किये गये ऐक्टों के अतिरिक्त, संविधान के प्रारंभ में प्रवृत्त विधियाँ (कानून) तब तक प्रवृत्त बनी रहेंगी जब तक वे उपयुक्त विधान-मंडल या अधिकारी द्वारा बदली या संशोधित न की जायँ।

(४) संविधान के आरंभ से ठीक पहले संघीय न्यायालय के न्यायाधीश, यदि वे अन्यथा कुछ और निर्णय न कर चुके हों, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश हो जायँगे और तत्पश्चात् संविधान के अंतर्गत निर्धारित वेतन, भत्ते, छुट्टी आदि के अधिकारी होंगे। यही व्यवस्था उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों, महालेखा परीक्षक (Auditor General) लोक-सेवा-आयोगों (Public Service Commissions) के सदस्यों के विषय में भी की गयी है।

(५) जब तक नये संविधान के अंतर्गत संसद की दोनों सभाएं सम्यक् रूप से गठित न हो जायँ तब तक संविधान-सभा अतःकालीन संसद् का काम करेगी। वह संविधान द्वारा प्रदत्त सब शक्तियों का प्रयोग तथा कर्तव्यों का पालन करेगी।

(६) जब तक संविधान द्वारा निर्धारित व्यवस्था के अनुसार राष्ट्र-पति का निर्वाचन न हो, तब तक संविधान-सभा द्वारा निर्वाचित व्यक्ति राष्ट्र-पति की भाँति काम करेगा। यदि मृत्यु, पद-त्याग या हटाये जाने के कारण ऐसे राष्ट्र-पति का स्थान रिक्त होगा, तो अंतःकालीन संसद् दूसरे राष्ट्रपति का निर्वाचन करेगी और जब तक ऐसा न हो, उच्चतम न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश राष्ट्रपति की भाँति काम करेगा।

(७) जब तक नये संविधान के अंतर्गत संघांतरित राज्यों के विधान-मंडल अथवा सभाएं सम्यक् रूप से गठित न हो जायँ, तब तक संविधान के आरंभ में मौजूदा प्रांतों के विधान-मंडल और सभाएं संघांतरित राज्यों के विधान-मंडल और सभाओं की भाँति काम करेंगी। वे उन शक्तियों का प्रयोग तथा कर्तव्यों का पालन भी करेंगी जो उन्हें संविधान के अंतर्गत प्राप्त हैं।

अभ्यास

१. भारत के नये संविधान की विशेषताओं को समझाकर लिखिये।

२. भारत के नये संविधान के विविध अंगों पर प्रकाश डालिये।

३. नये संविधान की संशोधन की व्यवस्था को समझा कर लिखिये।

४. "नमनीयता सदा गुण ही नहीं होती।" इस वाक्यांश के आधार पर नये संविधान का मूल्यांकन कीजिये।

५. "भारत का नया संविधान केंद्रीकरण की ओर झुका हुआ संघात्मक संविधान है।" इस वाक्यांश की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

६. नये संविधान की संक्रमण-कालीन व्यवस्था के विषय में आप क्या जानते हैं?

७. उत्तरदायी सरकार किस अंश तक संघात्मक हो सकती है?

८. "भारत के नये संविधान में भारतीयता और मौलिकता का अभाव है।" इस वाक्यांश की व्याख्या कीजिये।

१४

मूल अधिकार और निर्देशक तत्त्व

प्राक्कथन—नये संविधान में नागरिकों के मूल अधिकार तथा राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों का उल्लेख है। दोनों में महत्त्वपूर्ण अंतर है। मूल अधिकार नागरिकता के अनिवार्य अंग हैं। संविधान द्वारा उनकी गारंटी की गयी है। निर्धारित परिस्थितियों के अतिरिक्त राज्य भी उनका अपहरण नहीं कर सकता। प्रचलित विधियों (कानूनों) में जो उनसे असंगत हैं, संविधान के प्रारंभ के दिन से रद्द हो गयी हैं। उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों को उनके संरक्षण का अधिकार दिया गया है। अतएव इन अधिकारों की रक्षा तथा इन्हें किसी प्रकार के अतिक्रमण से बचाने की समुचित व्यवस्था कर दी गयी है। राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व इनसे सर्वथा भिन्न हैं। उनकी प्रकृति न्यूनाधिक उन आदेश-पत्रों की सी है जो भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के अंतर्गत गवर्नर जनरल और गवर्नरों को दिये जाते थे। इन अधिकारियों से आशा की जाती थी कि वे उनके अनुसार शासन करेंगे, किंतु यदि वे ऐसा न करते थे, तो आदेश-पत्रों के आधार पर उनके द्वारा किये गये काम असंवैधानिक न ठहराये जा सकते थे। न्यूनाधिक यही व्यवस्था नये संविधान द्वारा निर्धारित राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों के संबंध में की गयी है। वे ऐसे सिद्धांत हैं जिनके अनुसार शासन-संचालन राज्य का कर्त्तव्य निर्धारित हुआ है। किंतु अनिवार्य रूप से उनके माने जाने की गारंटी नहीं की गयी है। यदि राज्य उनकी अवहेलना करे, तो संविधान के आधार पर उसके काम को गलत न ठहराया जा सकेगा।

भारतीय नागरिकता—मूल अधिकारों के उपभोग के लिए देश की नागरिकता का प्राप्त करना आवश्यक होता है। अतएव नये संविधान द्वारा निर्धारित नागरिकों के मूल अधिकारों की व्यवस्था के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि उसके द्वारा की गयी भारतीय नागरिकता की व्यवस्था का कुछ ज्ञान हो जाय। संविधान में उन शर्तों का उल्लेख नहीं है जिनकी पूर्ति से नागरिकता प्राप्त और जिनके उल्लंघन से वह खोई जा सकती है। यह शक्ति संसद को दी गयी है। अपनी विधियों द्वारा वह यह निश्चित करेगी कि कोई व्यक्ति किस प्रकार भारतीय नागरिकता प्राप्त कर तथा उसे खो सकेगा। इस प्रकार समस्त भारतीय संघ के लिए नागरिकता प्राप्त करने तथा उसे खोने के

समान नियम होंगे। कुछ आलोचकों के मतानुकूल नागरिकता की यह व्यवस्था संविधान के केंद्रीकरण की ओर झुकाव की परिचायक है।

नये संविधान में केवल इस बात की व्यवस्था की गयी है कि उसके आरंभ के दिन कौन-कौन से व्यक्ति भारतीय नागरिक समझे जायँ। ऐसे व्यक्ति तीन वर्गों में विभाजित किये गये हैं—(१) वे व्यक्ति भारत के नागरिक निर्धारित हुए हैं जिनका अधिवास संविधान के आरंभ के दिन भारत में था और जो या तो भारत में जन्मे थे, या जिनके जनकों में से दोनों या कोई एक भारत में जन्मा था, या जो नये संविधान के आरंभ के पूर्व पांच बरस तक सामान्यतः भारत के निवासी थे। (२) वे व्यक्ति जो १९ जुलाई सन् १९४८ के पूर्व या पश्चात् पाकिस्तान के राज्य-क्षेत्र से भारत के राज्य-क्षेत्र में आये थे। पहले प्रकार के व्यक्ति संविधान के आरंभ के दिन दो शर्तों पर भारतीय नागरिक समझे गये हैं, पहली यदि वे स्वयं या उनके जनकों या महाजनकों (Grand Parents) में से कोई अखंड भारत में जन्मा हो और दूसरी यदि प्रव्रजन (Migration) के दिन से वे सामान्यतः भारत के राज्य-क्षेत्र में रहे हों। (३) पाकिस्तान से आये हुए दूसरे प्रकार के व्यक्ति भी दो शर्तों पर भारतीय नागरिक समझे गये हैं; पहली यदि वे स्वयं या उनके जनकों या महाजनकों में से कोई अखंड भारत में जन्मा हो और दूसरी यदि संविधान के पूर्व, वे निर्धारित अधिकारी द्वारा, बतौर भारतीय नागरिक रजिस्टर कर लिये गये हों। रजिस्टर होने के लिए छः महीने पूर्व भारत के राज्य-क्षेत्र में निवास आवश्यक समझा गया है। वे व्यक्ति जो भारत के राज्य-क्षेत्र को छोड़कर पाकिस्तान के राज्य-क्षेत्र में चले गये हैं, भारतीय नागरिकता को खो बैठे हैं। पर जो वहाँ जाकर लौट आये हैं वे भारतीय नागरिकता उन्ही शर्तों पर प्राप्त कर सके हैं जिन शर्तों पर १९ जुलाई सन् १९४८ के पश्चात् पाकिस्तान से आये हुए व्यक्ति। पाकिस्तान से लौटे हुए व्यक्तियों के संबंध में उक्त विस्तृत व्यवस्था इस कारण की गयी है कि स्वतंत्रता के पूर्व भारत एक ही देश था और पाकिस्तान राज्य-क्षेत्र के निवासी लाखों व्यक्ति भारतीय नागरिकता प्राप्त करने के इच्छुक थे। (४) विदेशों में रहने वाले भारतीय दो शर्तों पर भारतीय नागरिक समझे गये हैं, पहली यदि वे स्वयं या उनके जनकों या महाजनकों में से कोई अखंड भारत में जन्मा हो और दूसरी यदि उन्होंने विदेशों में स्थित भारतीय प्रतिनिधियों के कार्यालय में, निर्धारित पद्धति के अनुसार, बतौर भारतीय नागरिक अपनी रजिस्ट्री करा ली हो।

विभिन्न देशों में नागरिकता-निर्धारण के तीन मुख्य सिद्धांतों का प्रचलन है। पहला सिद्धांत रक्त-वंशाधिकार (Jus Sanguinis) का सिद्धांत है।

इसके अनुसार बच्चों की नागरिकता माता-पिता की नागरिकता द्वारा निर्धारित होती है। नागरिकता का संबंध जन्म-स्थान से न होकर केवल रक्त से होता है। दूसरा सिद्धांत भूमि सीमाधिकार (Jus S(li) का सिद्धांत है। इसके अनुसार नागरिकता जन्म-स्थान पर निर्भर करती है। तीसरा सिद्धांत इन दोनों सिद्धांतों का सम्मिश्रण है। यह इंगलैंड और संयुक्त-राज्य अमरीका में प्रचलित है। अपने नागरिकों के बच्चों की नागरिकता वे जन्म द्वारा निर्धारित करते हैं और विदेशियों के बच्चों की जन्म स्थान द्वारा। नये संविधान द्वारा जिस सिद्धांत के अनुसार भारतीय नागरिकता दी गयी है, वह भी उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों का सम्मिश्रण है।

मूल अधिकारों के सिद्धांत का उदय—प्रायः सभी आधुनिक लोकतंत्रात्मक संविधानों में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख पाया जाता है। इन अधिकारों के सिद्धांत का उदय युरुप के अनियंत्रित राजतंत्र के युग में हुआ था। मध्यकाल में प्रधानतया सामंततंत्र का प्रचार था। विभिन्न सामंत परस्पर लड़ा करते थे और इस प्रकार जनता के जीवन में न तो स्थायित्व था और न स्थिरता फलस्वरूप उसने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से राजाओं के अधिकारों की वृद्धि करके, सामंत तंत्र के विरुद्ध राजतंत्र को सहायता पहुँचायी। बदले में राजाओं ने भी शांति और व्यवस्था की स्थापना की। कालांतर में जनता को यह विदित होने लगा कि उसने शांति और व्यवस्था के लिए अत्यधिक मूल्य चुकाया है। जनता के हित का ध्यान न करके राजा लोग, अनियंत्रित रूप से अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगे। अपने अधिकारों की रक्षा के लिए उन्होंने राजाओं की ईश्वरीय उत्पत्ति के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। फलस्वरूप जनता को अपने हित के लिए मूल अधिकारों के सिद्धांत का सहारा पकड़ना पड़ा। कालांतर में मूल अधिकारों का सिद्धांत परिमित शासनाधिकार के सिद्धांत में परिवर्तित हो गया। सरकार चाहे राजतंत्रात्मक हो या लोकतंत्रात्मक, उसके अधिकारों को असीमित न होना चाहिये। अतएव प्रायः सभी आधुनिक संविधानों मे नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख पाया जाता है।

भारत में मूल अधिकारों की मांग—भारत में अंगरेजों का शासन अपनी निरंकुशता में अद्वितीय था। जनता को न तो विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता थी, न सभा करने की और न शरीर की। राष्ट्र-भावना के उदय तथा पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार के कारण, उक्त बंधन क्रमशः असह्य होते गये, यहाँ तक कि असहयोग आंदोलन के परिणामस्वरूप, जब जनता में निर्भीकता आयी, उसने प्रभावशाली ढंग से अपने मूल अधिकारों की मांग प्रस्तुत की।

नेहरू कमेटी की रिपोर्ट (सन् १९२८) में इनका सर्वप्रथम प्रामाणिक उल्लेख मिलता है। "हमारा सर्वप्रथम प्रयत्न मूल अधिकारों की ऐसी गारंटी के लिए होना चाहिये कि वे किसी भी परिस्थिति में वापस न लिये जा सकें।" कमेटी के मतानुकूल भारत के लिए ऐसे अधिकारों की आवश्यकता अन्य देशों की अपेक्षा अधिक थी। क्रमश: भारत के सभी वर्ग इन अधिकारो की आवश्यकता पर जोर देने लगे। मजदूर-संघों ने आर्थिक अधिकारों की मांग उपस्थित की और स्त्रियो के संगठनों ने स्त्रियों और पुरुषों की समानता की। भारतीय कांग्रेस ने अपने सन् १९३२ के अधिवेशन में इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया। भारतीय रियासती-प्रजा-सम्मेलन भी पीछे न रहा। रियासती प्रजा अपने नरेशो की निरंकुशता से उतनी ही व्यथित थी जितनी ब्रिटिश भारत की प्रजा अपने ब्रिटिश शासकों से। अतएव अपने ज्ञापन (Memorandum) में उसने मूल अधिकारो की घोषणा को अनिवार्य बतलाकर उनके भारत के संघ-संविधान में सम्मिलित करने पर जोर दिया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस प्रकार की घोषणा के विरोधी थे। "जब तक उन्हें कार्यान्वित करने की इच्छा तथा साधन न हों, इस प्रकार की सैद्धांतिक घोषणाएं निरर्थक सिद्ध होती हैं।" भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट के प्रारूप पर विचार करते समय, संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी में, सर तेज बहादुर सप्रू ने, ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के उक्त मत का खंडन इस प्रकार किया था—"भारत की अनोखी परिस्थिति में, विशेषतया, अल्प-संख्यकों और दलित जातियों में रक्षा की भावना उत्पन्न करने के लिए, यह आवश्यक था कि मूल अधिकारों के संबध में पुरातनवादी ब्रिटिश कानूनी दृष्टिकोण पर विशेष जोर न दिया जाय और उनमें से कुछ नये ऐक्ट में सम्मिलित भी कर लिये जायँ।" सन् १९४४ में प्रस्तुत किये गये अपने संवैधानिक सुझावों में भी उन्होंने इसी आशय के विचार प्रगट किये थे। मूल अधिकारों की उक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में यह अनिवार्य था कि भारत के नये संविधान में वे सम्मिलित किये जायं। अतएव नये संविधान में उनकी यथेष्ट व्यवस्था की गयी है। संसार के अन्य संविधानों में इन अधिकारों का उल्लेख अति सूक्ष्म भाषा में पाया जाता है। किंतु भारतीय संविधान में वे अधिक ब्यौरेवार दिये गये हैं। अतएव उनके संबंध में भ्रामक विचारों के फैलने की आशंका है। कुछ आलोचकों के मतानुकूल वे इतने दृढ़ नहीं हैं कि जनता की शासकों की धाँधली से पूर्णरूपेण रक्षा हो सके।

समता का अधिकार—नये संविधान में, मूल अधिकारों के संबंध में सर्वप्रथम समता के अधिकार का उल्लेख है। निर्धारित परिस्थितियों के

अतिरिक्त, केवल धर्म, मूल वंश (Race), जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर राज्य द्वारा किसी नागरिक के विरुद्ध किसी प्रकार का भेदभाव न किया जायगा। उक्त बातों के आधार पर दूकानों या सार्वजनिक होटलों या मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश, या राज्य द्वारा पोषित अथवा सर्व-साधारण के लिए समर्पित कुंओं, तालाबों, सड़कों आदि के उपयोग के संबंध में भी किसी प्रकार का प्रतिबंध न लगाया जायगा। इसी अधिकार के अंतर्गत अस्पृश्यता और सेना और विद्या-संबंधी उपाधियों के अतिरिक्त, अन्य उपाधियों का अंत कर दिया गया है। भारत का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता। वे व्यक्ति भी, जो भारतीय नागरिक नहीं हैं, पर भारतीय राज्य के अधीन किसी लाभ या विश्वास के पद पर हैं, राष्ट्रपति (President) की सम्मति के बिना, विदेशी राज्यों से कोई उपाधि नहीं ले सकते।

समता के उक्त अधिकार के कई अपवाद हैं। इसके होते हुए भी राज्य को स्त्रियों और बालकों के लिए विशेष व्यवस्था करने का अधिकार है। "इस अनुच्छेद की किसी बात से राज्य को स्त्रियों और बालकों के लिए विशेष उपबंध बनाने में बाधा न होगी।" इसी प्रकार समता के अधिकार के होते हुए भी राज्य ने पिछड़ी जातियों की नियुक्ति के कुछ अपवादपूर्ण अधिकार अपने अधीन रखे हैं। "इस अनुच्छेद की किसी बात से, राज्य को पिछड़े हुए किसी नागरिक वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में, राज्याधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, नियुक्तियों या पदों के रक्षण के लिए उपबंध करने में कोई बाधा न पड़ेगी।" संविधान-सभा के कुछ सदस्य उक्त अपवाद के विरोधी थे। पर अंत में वह स्वीकृत हो गया। राष्ट्र की उन्नति की दृष्टि से ये अपवाद अनुचित नहीं प्रतीत होते। भारत की मौजूदा परिस्थिति में उनके बिना न तो स्त्रियों और बालकों की उन्नति हो सकती है और न दलित जातियों की।

स्वतंत्रता का अधिकार—दूसरे मूल अधिकार का संबंध स्वतंत्रता से है। सब नागरिकों को वाक् और अभिव्यक्ति, शांतिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन, संस्था और संघ-निर्माण, भारत के राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र बिना रोकटोक आने-जाने तथा निवास करने, धन कमाने, रखने और खर्च करने, तथा रोजगार, व्यापार और कारबार करने की स्वतंत्रता का अधिकार है। कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए तब तक दोषी न ठहराया जायगा, जब तक अपराध करते समय उसने किसी प्रचलित कानून को न तोड़ा हो और न उसे उस समय के निर्धारित दंड से अधिक दंड दिया जायगा। किसी व्यक्ति को एक अपराध के लिए एक बार

से अधिक दंड न दिया जायगा और न उसे अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए बाध्य किया जायगा। कोई व्यक्ति कानून द्वारा निर्धारित तरीके के अतिरिक्त प्राण अथवा शारीरिक स्वाधीनता से वंचित न किया जायगा। पकड़े गये व्यक्ति २४ घंटे के भीतर निकटतम मैजिस्ट्रेट के समक्ष उपस्थित किये जायंगे और उसके आदेशानुकूल ही निर्धारित समय से अधिक समय तक हवालात में रखे जायँगे। समय की गणना में वह समय न गिना जायगा जो बंदीकरण के स्थान से मैजिस्ट्रेट के न्यायालय तक आने में लगा हो।

समता के अधिकार की भांति स्वतंत्रता के अधिकार के भी कई अपवाद हैं। स्वतंत्रता के अधिकार का प्रयोग इस प्रकार होना चाहिये कि सार्वजनिक शांति और व्यवस्था पर किसी प्रकार का कुप्रभाव न पड़े। वाक् और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार के कारण, अपमानसूचक शब्द तथा लेख का प्रयोग न होना चाहिये और न राजद्रोह अथवा शिष्टता या सदाचार विरोधी या राज्य की सत्ता को मिटाने तथा उसकी नीव उखाड़ने वाले प्रयत्नों का। अतएव समता के अधिकार के होते हुए भी राज्य की उस शक्ति में कोई रुकावट नहीं है जिसके कारण वह "अपमान-लेख, अपमान-वचन, मान-हानि, न्यायालय-अवमान (Contempt of Court) अथवा शिष्टाचार या सदाचार पर आघात करने वाले अथवा राज्य की सुरक्षा को दुर्बल अथवा राज्य को उलटने की प्रवृत्ति वाले किसी विषय" की विधि बना सकता है। इसी प्रकार बंदी किये गये व्यक्तियों को मैजिस्ट्रेट के सम्मुख उपस्थित करने के संबंध में भी कुछ अपवाद हैं। उपरिवर्णित व्यवस्था उन व्यक्तियों पर लागू न होगी, जो बंदीकरण के समय विदेशी शत्रु हों या जो "व्यक्ति निवारक निरोध (Preventive detention) उपबंधित करने वाली किसी विधि के अधीन बंदी या निरुद्ध किये गये हों"। निवारक निरोध की निरुद्धि तीन महीने से अधिक की न होगी किंतु किसी बोर्ड की सहमति से, जिसके सदस्य उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के समकक्ष हों, यह अवधि तीन माह से भी अधिक हो सकती है।

स्वतंत्रता के अधिकार के उक्त अपवादों की कड़ी आलोचना हुई है। संविधान-सभा में ही कुछ सदस्यों ने विरोधात्मक विचार प्रगट किये थे। सेठ दामोदर स्वरूप के मतानुकूल स्वातंत्र्य-अधिकार के अनुच्छेद के "एक भाग में जो अधिकार दिये गये हैं वे दूसरे भाग में छीन लिये गये हैं।" सरदार हुकुम सिंह के विचार में "जितनी कुछ स्वाधीनता इस अनुच्छेद द्वारा जनता को दी गयी है वह अपवाद संबंधी वाक्यांशों से छीन ली गयी है।" आलोचकों के मतानुकूल मूल अधिकारों को ऐसा होना चाहिये कि उन पर कार्यपालिका

अथवा विधान-मंडल का कुप्रभाव न पड़े। उनकी रक्षा का भार न्यायपालिका पर होना चाहिये। भारत के नये संविधान की व्यवस्था इससे भिन्न है। अपवाद इतने स्पष्ट तथा व्यापक हैं कि कार्यपालिका शक्ति जब चाहे, उन्हें प्रभावशून्य बना सकती हैं।

इस आलोचना में सत्य का अंश अवश्य है, किंतु उतना नहीं जितना प्रयुक्त भाषा से प्रगट होता है। मनुष्य के अधिकारों में एक भी ऐसा नहीं है जिसका दुरुपयोग न हो सके। अन्य अधिकारों की अपेक्षा स्वातंत्र्य-अधिकार के दुरुपयोग की आशंका अधिक होती है। अतएव यह आवश्यक है कि उसके दुरुपयोग के संबंध में आवश्यक प्रतिबंध हों। भारत के नये संविधान की व्यवस्था इसी प्रकार की है। पर उसके द्वारा लगाये गये प्रतिबंध इतने अस्पष्ट तथा व्यापक हैं कि सरकार द्वारा उनके दुरुपयोग के कारण, जनता के स्वातंत्र्य-अधिकार पर अतिक्रमण की आशंका सर्वथा निराधार नहीं है।

शोषण के विरुद्ध अधिकार—अंगरेजी शासन-काल में ब्रिटिश भारत के कुछ भागों में बेगार की प्रथा प्रचलित थी। भारतीय रियासतों में उसका प्रचलन ब्रिटिश भारत की अपेक्षा अधिक था। कहीं-कहीं राजकुमारियों के विवाह में दासियाँ भी दहेज में दी जाती थीं। श्रम-जीवियों से आवश्यकता से अधिक काम लिया जाता था। कभी-कभी सुकुमार बच्चों तथा स्त्रियों से इस प्रकार का काम लिया जाता था कि उनका स्वास्थ्य सदा के लिए बिगड़ जाता था।

नये संविधान द्वारा नागरिकों को शोषण के विरुद्ध रक्षा का अधिकार प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद द्वारा "मानव का पण्य और बेट-बेगार तथा इसी प्रकार का अन्य जबर्दस्ती लिया गया श्रम" प्रतिषिद्ध कर दिया गया है। "इस उपबंध का कोई भी उल्लंघन अपराध होगा जो विधि के अनुसार दंडनीय होगा।" "चौदह वर्ष से कम आयु वाले किसी बालक को किसी कारखाने अथवा खान में नौकर न रखा जायगा और न किसी दूसरी संकटमय नौकरी में लगाया जायगा।" संविधान द्वारा प्रदत्त इस मूल अधिकार के कारण भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन की कई बुराइयों की इतिश्री हो गयी है। पर इसका भी एक अपवाद है। राज्य को सार्वजनिक प्रयोजन के लिए बाध्य सेवा लगाने का अधिकार प्राप्त है। पर इस संबंध में, केवल धर्म, मूलवंश, जाति या वर्ग या इनमें से किसी के आधार पर, वह नागरिकों के साथ विभेद न करेगा।

धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार—सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार, तथा स्वास्थ्य की रक्षा के अंतर्गत, सब नागरिकों को निर्बाध रूप से अपना धर्म

मानने, उस पर आचरण तथा उसका प्रचार करने का समान अधिकार दिया गया है। इसी शर्त पर प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय को धार्मिक और दातव्य सस्थाओं की स्थापना और पोषण, धार्मिक कार्यों संबंधी विषयों के प्रबंध, जंगम और स्थावर संपत्ति की प्राप्ति और स्वामित्व तथा ऐसी संपत्ति के कानून के अनुसार प्रबंध का अधिकार दिया गया है। यह भी व्यवस्था की गयी है कि किसी व्यक्ति को जबर्दस्ती ऐसे कर न देने पड़ें, जिनकी आय किसी धर्मविशेष या धार्मिक संप्रदाय की उन्नति या पोषण के लिए विनियुक्त कर दी गयी हो। सरकार द्वारा पोषित किसी शिक्षण-संस्था में धार्मिक शिक्षा न दी जायगी। पर यदि कोई संस्था ऐसे दान या न्यास द्वारा स्थापित की गयी है जिसके अनुसार उसमें धार्मिक शिक्षा का देना आवश्यक हो, तो सरकार द्वारा प्रशासित होने पर भी, उसमें धार्मिक शिक्षा पर प्रतिबंध न लगाया जायगा। राज्य द्वारा अभिज्ञात (Recognized) अथवा सहायता-प्राप्त किसी शिक्षण-सस्था में विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए बाध्य न किया जायगा।

नये संविधान द्वारा प्रदत्त धर्म-स्वातंत्र्य का उक्त अधिकार भी अनियंत्रित नहीं है। नागरिकों को इस अधिकार का उपभोग इस प्रकार करना चाहिये कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार तथा स्वास्थ्य-रक्षा पर किसी प्रकार का कुप्रभाव न पड़े। अन्यथा राज्यसंविधान की अन्य धाराओं के अंतर्गत उनके विरुद्ध आवश्यक कार्रवाई करेगा। राज्य को धार्मिक आचरण से संबद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं के विनियमन और निर्बंधन का अधिकार है। वह किसी ऐसी विधि को भी बना सकेगा जो सामाजिक कल्याण और सुधार उपबंधित करती हो अथवा हिंदुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म-संस्थाओं को हिंदुओं के सब वर्गों और विभागों के लिए खोलती हो।" संविधान की यह व्यवस्था परिगणित जातियों और आदिवासियों के लिए इस उद्देश्य से की गयी है कि उन्हें हिंदू-समाज में समान धार्मिक अधिकार प्राप्त हों।

शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा के संबंध में संविधान-सभा में मतैक्य का अभाव था। उसके कुछ सदस्य धार्मिक शिक्षा के विरोधी थे और कुछ उसके समर्थक। विरोधी पक्ष वाले चाहते थे कि धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था किसी प्रकार की शिक्षण-संस्था में न हो। उनके मतानुकूल, राज्य द्वारा संचालित अथवा राज्य की सहायता प्राप्त संस्थाओं की तो कौन कहे, धार्मिक संस्थाओं में भी धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। दूसरे पक्ष वाले चाहते थे कि शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था हो, पर कोई भी व्यक्ति उसे प्राप्त

करने के लिए बाध्य न किया जाय। संविधान-सभा ने इन दृष्टिकोणों पर विचार के पश्चात्, मध्यवर्ती मार्ग को ग्रहण किया और संविधान में उस व्यवस्था को स्थान दिया जिसका सारांश ऊपर दिया गया है।

संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार—नये संविधान द्वारा नागरिकों को अपनी संस्कृति तथा शिक्षा का अधिकार दिया गया है। "भारत के राज्य-क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के निवासी नागरिकों के किसी विभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति हो, उसे बनाये रखने का अधिकार है।" केवल धर्म, मूल वंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई भी नागरिक राज्य द्वारा पूर्णतया या आंशिक रूप में पोषित किसी शिक्षण-संस्था में प्रवेश पाने के अधिकार से वंचित न किया जायगा। धर्म या भाषा पर आधारित अल्प-संख्यकों को अपनी रुचि की शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना और प्रबंध का अधिकार है। शिक्षण-संस्थाओं को सहायता देते समय राज्य उनमें से किसी के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वे धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्प-संख्यक वर्ग के प्रबंध में हैं।

इस व्यवस्था का संबंध प्रधानतया अल्प-संख्यकों से है। जब संविधान-सभा में उस पर विचार हो रहा था, अल्प-सख्यकों के प्रतिनिधियों ने उसके संबंध में अपने मत को बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रगट किया था। श्री जेड० एच० लारी के मतानुकूल राज्य को अल्प-संख्यक वर्गों को भाषा, लिपि और संस्कृति की केवल स्वाधीनता ही न देनी चाहिये वरन् उनकी रक्षा की भी व्यवस्था करनी चाहिये। काजीकमरुद्दीन ने ऐसे अल्प-संख्यकों के बालकों के लिए, जिनकी अपनी भाषा और लिपि है, राज्य द्वारा उनकी भाषा और लिपि में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था पर जोर दिया। संविधान सभा ने इन तर्कों पर विचार करने के पश्चात् वह व्यवस्था निश्चित की जिसका सारांश ऊपर दिया गया है। देखने से ही स्पष्ट है कि यह व्यवस्था एक समझौते के समान है। राज्य ने अल्प-संख्यकों को उनकी भाषा और लिपि में शिक्षा देना तो स्वीकार नहीं किया, पर यदि वे स्वयं इस प्रकार के प्रयत्न करें, तो राज्य उन्हें आर्थिक सहायता देते समय अल्प-संख्यक होने के नाते, किसी प्रकार का विभेद न करेगा।

संपत्ति का अधिकार—नये संविधान द्वारा नागरिकों को अपनी संपत्ति का अधिकार दिया गया है। उसकी यह व्यवस्था न तो पूर्णरूपेण व्यष्टिवादी है और न पूर्णरूपेण समाजवादी। व्यष्टिवादी संपत्ति के अधिकार को पुनीत समझते हैं। वे उस पर किसी प्रकार के आघात को सहन नहीं करते। समाजवादी

निजी संपत्ति के विरोधी हैं। वे प्रतिकर दिये बिना निजी संपत्ति का समाजीकरण करना चाहते हैं। संविधान-सभा ने इन दोनों के मध्यमवर्ती मार्ग को अपनाया। उसके निर्णय में निजी संपत्ति का अधिकार पुनीत समझा गया है पर प्रतिकर देखकर, वह समाज के कल्याण के लिए, छीनी जा सकती है। संविधान द्वारा निर्धारित संपत्ति के अधिकार की व्यवस्था इस प्रकार है—

कोई भी व्यक्ति कानूनी आधार के बिना अपनी संपत्ति से वंचित न किया जायगा। कोई भी जंगम या स्थावर संपत्ति, (जिसमें ऐसे स्वत्व भी सम्मिलित हैं जो किसी व्यापारिक या औद्योगिक कार्य अथवा उस पर स्वामित्व रखने वाली किसी कंपनी से संबद्ध हों) सार्वजनिक प्रयोजन के लिए, किसी विधि के अंतर्गत तब तक अधिकृत न की जायगी जब तक उस विधि के द्वारा अधिकृत संपत्ति के प्रतिकर की रकम या उसके निर्धारण के सिद्धांत, निर्धारित न कर दिये गये हों। उक्त विधि यदि किसी संक्रांतरित राज्य के विधान-मंडल द्वारा बनायी गयी है, तो वह तब तक लागू न होगी जब तक उसे राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किये जाने के पश्चात्, उनकी अनुमति न मिल गयी हो। यदि, संविधान के आरंभ होने के पूर्व, कोई प्रस्ताव किसी राज्य के विधान-मंडल के विचाराधीन है या अठारह महीने पहले स्वीकृत हो चुका है, तो राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात्, उसके संबंध में, प्रतिकर के विरुद्ध होने के कारण, किसी न्यायालय में प्रश्न न उठाया जा सकेगा।

भारत का समाजवादी दल संपत्ति के अधिकार की इस व्यवस्था से संतुष्ट नहीं है। सैद्धांतिक मतभेद के अतिरिक्त वह प्रतिकर के संबंध में न्यायालय के अधिकार की आलोचना करता है। "यह बात समझ में नहीं आ सकती कि अगर कांग्रेस की कुछ योजनाओं के संबंध में न्यायालय में मुआवजे के प्रश्न पर बहस अनुचित है, तो आगे चल कर दूसरी योजनाओं के संबंध में इस प्रश्न पर न्यायालय में बहस क्यों ठीक समझी गयी है।"[1] कारण स्पष्ट है। संविधान के आरंभ होने के पूर्व कई संक्रांतरित राज्यों के विधान-मंडल जमींदारी उन्मूलन प्रस्तावों पर विचार कर रहे हैं। संविधान की उक्त व्यवस्था द्वारा इस बात का प्रयत्न किया गया है कि उनके द्वारा निर्धारित प्रतिकर के नियमों को न्यायालय असंवैधानिक न ठहरा सकें।

संवैधानिक उपचारों का अधिकार—नागरिकों के उक्त मूल अधिकारों की संविधान द्वारा गारंटी की गयी है। संविधानांतर्गत व्यवस्था के अतिरिक्त

---

[1] प्रो० मुकुट बिहारी लाल—भारतीय संविधान की समीक्षा, पृष्ठ १०.

वे निलंबित नहीं किये जा सकते। यदि राष्ट्रपति संकट-काल की घोषणा करें और तत्पश्चात् दूसरी घोषणा से मूल अधिकारों को निलंबित करें, तभी वे निलंबित हो सकते हैं। यदि सरकारी अधिकारी या कोई अन्य व्यक्ति उनका उल्लंघन करेगा, तो उच्चतम न्यायालय में उसके विरुद्ध कार्रवाई की जा सकेगी। उच्चतम न्यायालय को उनकी रक्षा का अधिकार है। वह आदेश (Direction), निदेश (Order) या लेख (Writ) जारी करके उनकी रक्षा करता है। संसद के आदेशानुसार उच्चतम न्यायालय के अंतर्गत अन्य न्यायालय भी, इस प्रकार के अधिकार का उपभाग कर सकते हैं।

मूल अधिकार संबंधी कुछ अन्य बातें—उपरिवर्णित बातों के अतिरिक्त, मूल अधिकारों के संबध की निम्नलिखित बातें भी उल्लेखनोय हैं—

(१) यदि किसी क्षेत्र में सैनिक कानून (Martial Law) जारी किया जायगा, तो सैनिक कानून के काल के लिए मूल अधिकार निलंबित रहेंगे।

(२) सेना में कड़े अनुशासन की आवश्यकता के कारण, संसद् को सेना के संबंध में इन अधिकारों को संकुचित या समाप्त करने का अधिकार प्राप्त है।

(३) मूल अधिकारों के निलंबित करने की व्यवस्था ऐसी है कि असाधारण परिस्थितियों में संघात्मक संविधान सुगमता से एकात्मक में परिवर्तित किया जा सके।

(४) मूल अधिकारों की सूची इतनी पर्याप्त नहीं है कि उसमें सब अधिकार आ गये हों। कांग्रेस द्वारा स्वीकृत मूल अधिकारों में से शस्त्र रखने और धारण करने का अधिकार तथा प्राणदंड मिटाने की व्यवस्था नये संविधान में नहीं की गयी है। अन्य न्यूनताएं निम्नलिखित हैं—(१) काम करने का अधिकार; (२) विश्राम का अधिकार; (३) प्रेस की स्वतंत्रता का अधिकार; (४) वृद्ध अथवा रोग-ग्रस्त लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार; (५) जीवित रहने का अधिकार इत्यादि।

मूल अधिकारों में संशोधन—भारत का नया संविधान डेढ़ बरस का भी न हो पाया था कि उसमें संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई और संविधान (प्रथम संशोधन) ऐक्ट सन् १९५१ द्वारा वे संशोधन कर भी दिये गये। उनमें से कुछ का संबंध मूल अधिकारों से है। वाक् स्वातंत्र्य तथा अभिव्यक्ति

स्वातंत्र्य का अर्थ उच्च न्यायालयों द्वारा इतना व्यापक कर दिया गया था कि उसमें हत्या के प्रचार का अधिकार निहित समझा जाने लगा। इसे रोकने के लिए इस अधिकार में निम्नलिखित संशोधन किया गया—राज्य को अधिकार होगा कि अपनी सुरक्षा, अन्य राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध-सार्वजनिक व्यवस्था, तथा न्यायालय अवमान, मानहानि या अपराध के लिए उत्तेजना रोकने के लिए स्वतंत्रता संबधी मूल अधिकार पर उचित रोक लगा तथा उस संबंध के नये कानून बना सके। संविधान के इस संशोधन की कड़ी आलोचना की गयी। भारतीय पत्रकार उससे विशेषरूप से असंतुष्ट थे। उनकी स्वतंत्रता सीमित कर दी गयी थी। सरकार ने इस संबंध में उन्हें यह आश्वासन दिया कि संशोधन का उद्देश्य उनकी स्वतंत्रता का अपहरण नहीं वरन् ऐसी व्यवस्था का करना था कि समाज के शत्रु इस अधिकार के बहाने अराजकता का प्रचार न कर सकें और उत्तरदायित्व-विहीन पत्रकार निराधार, अनैतिक और हिंसात्मक लेखों द्वारा सरकार के विरुद्ध मोर्चा न बना सकें।

दूसरा संशोधन संपत्ति के मूल अधिकार के संबंध में किया गया। विभिन्न संघांतरित राज्यों की सरकारें जमीदारी उन्मूलन के प्रस्तावों पर विचार कर रही थीं। कुछ ने इस संबंध का कानून भी पास कर लिया, पर वहाँ के उच्च न्यायालय ने उसे अवैध घोषित कर दिया था। बिहार का जिमीदारी उन्मूलन ऐक्ट इस संबंध में विशेषतया उल्लेखनीय है। अन्य राज्यों में इसी प्रकार के प्रयत्न हो रहे थे। इसे रोकने के लिए संविधान में संशोधन किया गया। उसके अनुसार यह व्यवस्था की गयी कि संपत्ति संबंधी मूल अधिकार की आड़ में राज्य द्वारा रियासतों या उन पर अधिकार प्राप्त करने, या इस प्रकार के अधिकार को संशोधित अथवा समाप्त करने का कोई भी काम अवैध घोषित न किया जायगा।

तीसरा संशोधन समानता के अधिकार से संबद्ध है। संविधान द्वारा राज्य को, समानता के मूल अधिकार के होते हुए भी, स्त्रियों और बच्चों के लिए विशेष उपबंध करने का अधिकार प्राप्त था। संशोधन द्वारा विशेष उपबंध का क्षेत्र अधिक व्यापक कर दिया गया है। राज्य, स्त्रियों और बच्चों के वर्गों या परिगणित जातियों या परिगणित जन-जातियों के लिए विशेष उपबंध कर सकता है।

चौथा संशोधन व्यापार और कारबार की स्वाधीनता के संबंध में है। स्वतंत्रता के मूल अधिकार मे इस अधिकार की भी गणना की गयी थी।

संशोधन द्वारा राज्य को किसी व्यवसाय, व्यापार या कारबार करने वालों की योग्यताएँ निर्धारित करने का अधिकार दिया गया है। उसके अंतर्गत राज्य या राज्य द्वारा अंशतः या पूर्णतया नियंत्रित कारपोरेशन को, किसी के भी व्यापार, व्यवसाय या कारबार करने का अधिकार मिल गया है चाहे इसके कारण संबद्ध कामों में लगे हुए नागरिक पूर्णतया या आंशिक रूप में उससे अपवर्जित क्यों न हो जाते हों।

राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व—नागरिकों के मूल अधिकारों के अतिरिक्त, नये संविधान में राज्य की नीति के कुछ निदेशक तत्त्व भी सम्मिलित किये गये हैं। संविधान-सभा में उनके ऊपर बड़ी बहस हुई थी। आलोचकों के मतानुकूल वे "अत्यंत अस्पष्ट और अनिश्चित हैं।" "संविधान द्वारा यह गारंटी नहीं की गयी है, कि उन पर किसी प्रकार का अतिक्रमण न होगा।" उनके पीछे किसी प्रकार का कानूनी बल नहीं है। वे केवल आदर्श मात्र है जिन्हें कार्यान्वित करने का अवसर सभवतः राज्य को न मिलेगा। निदेशक तत्वों के प्रतिपोषकों के विचार इनसे भिन्न थे। वे उन्हें भारतीय जीवन के उत्थान के लिए आवश्यक समझते थे। पं० जवाहर लाल नेहरू के मतानुकूल, स्पष्ट शब्दावली के प्रयोग के बिना भारतीय संविधान में आर्थिक लोकतंत्र, राजनीतिक लोकतंत्र, तथा समाजवादी समाज की व्यवस्था की गयी है। संभवतः निदेशक तत्त्वों के द्वारा ही इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकी है। डा० अंबेडकर कानूनी आधार के बिना भी निदेशक तत्त्वों को आवश्यक समझते थे। "मैं इसे स्वीकार करता हूँ कि निदेशक तत्त्वों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है परंतु मैं यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हूँ कि उनके पीछे किसी प्रकार का बंधन भी नहीं है।" वे सन् १९३५ के भारतीय शासन-संबंधी ऐक्ट के आदेश-पत्रों के समान हैं। अंतर केवल इतना ही है कि केवल कार्यपालिका के लिए नहीं वरन् कार्यपालिका और विधान-मंडल दोनों के लिए आदेश हैं। संविधान द्वारा निर्धारित मुख्य निदेशक तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(१) राज्य यथाशक्ति लोक-कल्याण के लिए ऐसी सामाजिक व्यवस्था का प्रयास करेगा जिसमें समाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे।

(२) राज्य अपनी नीति का विशेषतया ऐसा संचालन करेगा कि—

(क) "समान रूप से नर और नारी सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो;

(ख) समुदाय की भौतिक संपत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो कि उससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो ;

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि उससे धन और उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकर केंद्रण न हो ;

(घ) पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो ।

(ङ) श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों का स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश हो कर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े, जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो ।

(च) शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो ।

(३) राज्य ग्राम-पंचायतों का संगठन करने के लिए तैयार रहेगा और उन्हें ऐसी शक्तियां और अधिकार देगा जो उन्हें स्थानीय स्वशासन की सफल इकाई बनाने के लिए आवश्यक हों ।

(४) "राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने के, शिक्षा पाने के तथा बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंगहानि तथा अन्य अनर्ह अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के, अधिकार को प्राप्त कराने का कार्यसाधक उपबंध करेगा ।"

(५) "राज्य काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति-सहायता के लिए उपबंध करेगा ।"

(६) "उपयुक्त विधान या आर्थिक संघटन द्वारा अथवा और किसी दूसरे प्रकार से राज्य कृषि के उद्योग के, या अन्य प्रकार के सब श्रमिकों को काम, निर्वाह-मजूरी, शिष्ट जीवन-स्तर तथा अवकाश का संपूर्ण उपभोग सुनिश्चित करनेवाली काम की दशाएँ तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा, तथा विशेष रूप से ग्रामों में कुटीर-उद्योगों को वैयक्तिक तथा सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा ।"

(७) "भारत के समस्त राज्य-क्षेत्र में नागरिकों के लिए राज्य एक समान व्यवहारसंहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा ।"

(८) "राज्य इस संविधान के प्रारंभ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष की अवस्था समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबंध कराने का प्रयास करेगा ।"

(९) "राज्य जनता के दुर्बलतर विभागों की विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों की शिक्षा तथा अर्थसंबंधी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषणों से उनका संरक्षण करेगा।"

(१०) "राज्य अपने लोगों के आहार-पुष्टि-तल (Level of nutrition) और जीवन-स्तर को ऊँचा करने तथा लोकस्वास्थ्य के सुधार को अपने प्राथमिक कर्तव्यों में से मानेगा तथा विशेषतया स्वास्थ्य क लिए हानिकर मादक पेयों और औषधियों के औषधीय प्रयाजनों से अतिरिक्त उपभोग का प्रतिबंध करने का प्रयास करेगा।"

(११) "राज्य कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संघटित करने का प्रयास करेगा तथा विशेषतया गायों और बछड़ो तथा अन्य दुधारू और वाहक ढोरों की नस्ल के परि-रक्षण और सुधारने के लिए तथा उनके बध का प्रतिषेध करने के लिए अग्रसर होगा।"

(१२) "संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्त्व वाले घोषित कलात्मक या ऐति-हासिक अभिरुचिवाले प्रत्येक स्मारक या स्थान या चीज का यथास्थित लुंठन, विरुपन, विनाश, अपनयन, व्ययन अथवा विपत्ति से रक्षा करना राज्य का आभार होगा।"

(१३) "राज्य की लोकसेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने के लिए, राज्य अग्रसर होगा।"

(१४) राज्य—

(क अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा का,

(ख) राष्ट्रों के बीच न्याय और सभ्यतापूर्ण संबंधों को बनाये रखने का,

(ग) संघटित लोगों के एक दूसरे से व्यवहारों में अंतर्राष्ट्रीय विधि और संधि संबंधों के प्रति आदर बढ़ाने का,

(घ) अंतर्राष्ट्रीय विवादों के मध्यस्थता द्वारा निबटाने के लिए प्रोत्साहन देने का प्रयास करेगा।"

राज्य की नीति के उक्त निदेशक तत्त्वों में उन सब कामों का उल्लेख है जिनका किया जाना भारतीय जीवन को उन्नत बनाने के लिए आवश्यक है। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनकी गणना नागरिकों के मूल अधिकारों में होनी चाहिये। परंतु किस सीमा तक वे कार्यरूप में परिणत होंगे, यह बतलाना इस समय संभव नहीं। निदेशक तत्त्वों के पीछे किसी प्रकार का कानूनी बल नहीं है पर नैतिक बंधन अवश्यहै।

अभ्यास

१. संविधान के आरंभ के दिन कौन कौन से व्यक्ति भारतीय नागरिक समझे गये हैं ?
२. मूल अधिकारों से क्या तात्पर्य है ? भारत में उनकी माँग पर एक निबंध लिखिये।
३. नये संविधान द्वारा नागरिकों को कौन कौन से मूल अधिकार दिये गये हैं ? समता के अधिकार की व्याख्या कीजिये।
४. स्वतंत्रता के अधिकार से क्या तात्पर्य है ? नये संविधान द्वारा दिये गये स्वतंत्रता के अधिकार की व्याख्या कीजिये।
५. नये संविधान द्वारा प्रदत्त धर्म-स्वातंत्र्य और संस्कृति और शिक्षा के मूल अधिकारों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
६. राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों तथा मूल अधिकारों में क्या अंतर है ?
७. राज्य की नीति के मुख्य निदेशक तत्त्वों का सारांश लिखिये।
८. "राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व अस्पष्ट तथा अनिश्चित हैं।" इस वाक्यांश की व्याख्या कीजिये।

१५

भारतीय संघ

भारतीय संघ और उसका राज्य-क्षेत्र—अंगरेजी शासन-काल में भारत के कुछ प्रदेशों को प्रांत और कुछ को रियासतें कहा जाता था। इनका शासन-संगठन विभिन्न प्रकार का था। नये संविधान में इन सबका नाम बदलकर राज्य कर दिया गया है। इनकी सूची पृष्ठ २६५ पर दी गयी है। भारत इन्हीं राज्यों का तथा जो राज्य भविष्य में अर्जित किये जायँ, उनका संघ है। संसद को, विधि द्वारा, नये राज्य को प्रविष्ट करने तथा स्थापना का अधिकार है। वह किसी राज्य से उसका प्रदेश अलग करके, अथवा दो या अधिक राज्यों या राज्यों के भागों को मिलाकर अथवा किसी प्रदेश को किसी राज्य के भाग के साथ मिलाकर नया राज्य बना सकती है, किसी राज्य का क्षेत्र बढ़ा या घटा सकती है अथवा किसी राज्य की सीमाओं और नाम को बदल सकती है। परंतु इस काम के लिए कोई भी बिल राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना संसद की किसी सभा में पेश न किया जायगा। यदि बिल द्वारा अ और ब वर्ग के राज्यों की सीमा में परिवर्तन होता हो, तो राष्ट्रपति संबद्ध राज्यों के विधान-मंडलों के मत को निश्चित रूप से जानने के पश्चात् ही अपनी सिफारिश करेंगे। सीमा के उक्त परिवर्तन संविधान में संशोधन न समझे जायँगे। अतएव वे केवल बहुमत के आधार पर ही कर दिये जायँगे। किस प्रकार से संघांतरित राज्य, संघ से अलग हो सकते हैं, संविधान में इसका उल्लेख नहीं है। चूँकि संविधान भारत के निवासियों द्वारा स्वीकृत हुआ है, अतएव उसके किसी अंग को अलग होने की आज्ञा देने का अधिकार भारत के निवासियों को ही हो सकता है, किसी अन्य संस्था या अधिकारी को नहीं।

संघ और संघांतरित राज्यों में विधायिनी शक्ति का विभाजन—प्रत्येक संघ-राज्य की एक विशेषता यह होती है कि उसमें संविधान द्वारा ही संघ और संघांतरित राज्यों में कार्य-विभाजन कर दिया जाता है। इस संबंध में दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं, पहली संयुक्त-राज्य अमरीका और ऑस्ट्रेलिया की और दूसरी कैनाडा की। पहली के अनुसार संघ का कार्य-क्षेत्र निश्चित कर दिया जाता है और अवशिष्ट विषय संघांतरित राज्यों को छोड़ दिये जाते हैं।

दूसरी के अनुसार सघांतरित राज्यों का कार्य-क्षेत्र निश्चित कर दिया जाता है और अवशिष्ट विषय संघ के अधीन कर दिये जाते हैं। भारतीय संविधान में कार्य-विभाजन का ढंग कैनाडा का सा है। केंद्रीकरण की ओर उसका झुकाव संभवतः कैनाडा से भी अधिक है। तीन सूचियाँ बनायी गयी हैं। पहली का नाम संघ-सूची है, दूसरी का राज्य-सूची और तीसरी का समवर्ती सूची।

संघ-सूची—संघ-सूची में वे विषय हैं जिनमें समस्त भारत की एक ही नीति का होना आवश्यक समझा गया है। देश के विभाजन के पूर्व इस सूची में केवल तीन विषय, पर-राष्ट्र-संबंध, रक्षा और यातायात के साधन रखे गये थे। उन दिनों भारत के सम्मुख एक दुर्बल संघ का आदर्श था। किंतु विभाजन के पश्चात् भारत में एक सबल और सुदृढ़ संघ स्थापित किया गया है। फल-स्वरूप संघ-सूची में ९७ विषय सम्मिलित किये गये हैं। इनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—(१) भारत तथा उसके प्रत्येक भाग की रक्षा; (२) नौ, स्थल और विमान-बल तथा संघ का कोई अन्य सशस्त्र बल; (३) कटक क्षेत्रों (Cantonment Areas) का परिसीमन और उनमें स्थानीय स्वायत्त-शासन; (४) नौ, स्थल और विमान-बल की कर्मशालाएँ; (५) शस्त्रास्त्र, अग्न्यस्त्र, युद्धोपकरण और विस्फोटक; (६) अणुशक्ति; (७) केंद्रीय गुप्त वार्ता और अनुसंधान विभाग; (८) विदेशीय कार्य; (९) राजनायक, वाणिज्य-दूतिक तथा व्यापारिक प्रतिनिधित्व; (१०) संयुक्त राष्ट्र-संघटन; (११) युद्ध और शांति, (१२) विदेशीय क्षेत्राधिकार; (१३) नागरिकता, (१४) प्रत्यर्पण (Extradition) (१५) भारत के बाहर के स्थानों की तीर्थ-यात्राएँ; (१६) रेल, (१७) प्रकाश-स्तंभ; (१८) संसद् द्वारा घोषित महापत्तन (Major ports), (१९) पतन-निरोधा (Port Quarantine); (२०) वायु-पथ; (२१) डाक, तार, दूर भाष (Telephone), बेतार प्रसारण और अन्य समरूप संचार; (२२) संघ का लोक ऋण; (२३) विदेशी ऋण; (२४) रिजर्व बैंक; (२५) डाकघर बचत बैंक; (२६) भारत-सरकार या किसी राज्य की सरकार द्वारा संघटित लाटरी; (२७) अंतर्राज्यिक व्यापार और वाणिज्यः (२८) महाजनी (Banking); (२९) विनिमय-पत्र, चेक, वचन-पत्र आदि; (३०) बाँटों और मापों का मान-स्थापन; (३१) जल-प्रांगण से परे मछली पकड़ना और मीन-क्षेत्र; (३२) अफीम की खेती, निर्माण और निर्यात के लिए विक्रय; (३३) प्रदर्शन के लिए चल-चित्रों की मंजूरी; (३४) काशी हिंदूविश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और दिल्ली विश्वविद्यालय; (३५) उच्चतर शिक्षा और गवेषण; (३६) जन-गणना; (३७) संघ और राज्यों के लेखाओं की लेखा-परीक्षा, (३८) अंतर्राज्यीय प्रव्रजन और

निरोधा; (३९) कृषि-आय को छोड़कर अन्य आय पर कर; (४०) सीमा-शुल्क जिसमें निर्यात-शुल्क भी सम्मिलित है। (४१) निगम-कर (Corporation Tax); (४२) कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य संपत्ति के उत्तराधिकार के बारे में शुल्क आदि।

राज्य-सूची—इस सूची में वे विषय सम्मिलित किये गये हैं जिनमें संघांतरित राज्यों को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल अधिक से अधिक स्वाधीनता देना आवश्यक समझा गया है। मुख्य विषय निम्नलिखित हैं—(१) सार्वजनिक व्यवस्था; (२) पुलिस जिसके अंतर्गत् रेलवे और ग्राम पुलिस भी आती है; (३) न्याय-प्रशासन; (४) कारागार, सुधारालय आदि; (५) स्थानीय स्वशासन; (६) सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता; (७) तीर्थ-यात्राएँ; (८) अंगहीनों और नौकरी के लिए अयोग्य व्यक्तियों की सहायता; (९) शव गाड़ना और कबरस्थान शव-दाह और श्मशान; (१०) शिक्षा; (११) पुस्तकालय, संग्रहालय आदि; सड़कें, पुल, नौका, घाट; (१२) कृषि; (१३) पशु की नस्ल का परि-रक्षण; (१४) जल-संभरण, सिंचाई और नहरें; (१५) वन; (१६) मीन-क्षेत्र; (१७) गैस और गैस कर्मशालाएँ; (१८) बाजार और मेले; (१९) कृषि-ऋणता का उद्धार; (२०) नाट्यशाला, नाट्य-अभिनय, (२१) पण लगाना और जुआ; (२२) राज्य के विधान-मंडल के निर्वाचन; (२३) राज्य के मंत्रियों के वेतन और भत्ते; (२४) राज्य लोक-सेवाएँ और राज्य लोक-सेवा आयोग, (२५) राज्य का लोक ऋण; (२६) कृषि-भूमि के उत्तराधिकार के विषय में शुल्क; (२७) विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर; (२८) पथ-कर; (२९) प्रति व्यक्ति कर; (३०) भूमि और भवनों पर कर।

समवर्ती सूची—इस सूची में वे विषय सम्मिलित किये गये हैं जिनमें संघ और संघांतरित राज्यों दोनों को अधिकार दिया गया है। साधारणतया इन विषयों में राज्यों की स्वतंत्रता की व्यवस्था है, पर उनके संबंध में समस्त देश की एक ही नीति की आवश्यकता के कारण, संघीय नियंत्रण भी आवश्यक समझा गया है। इन विषयों की संघीय और संघांतरित राज्यों की विधि में यदि विरोध होगा, तो संघीय विधि ठीक और संघांतरित राज्यों की विधि विरोधात्मक अंश तक रद्द समझी जायगी। किंतु यदि किसी राज्य की विधि राष्ट्र-पति के विचार के लिए सुरक्षित रखे जाने के पश्चात्, उनकी अनुमति प्राप्त कर लेगी, तो संघीय विधि से असंगत होने पर भी वह उस राज्य के लिए ठीक समझी जायगी। समवर्ती सूची के निम्नलिखित विषय मुख्य हैं—(१) दंड-विधि

बनाने का अधिकार मिल जाता है। इस प्रकार की विधि असाधारण परिस्थिति के अंत की घोषणा के पश्चात ६ महीने तक लागू रहती है। (२) उक्त व्यवस्था के अंतर्गत, संघ और संघांतरित राज्य दोनों, अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में प्रभुता-संपन्न हैं। (३) भारतीय संविधान में विधायिनी शक्ति के विभाजन की सूचियां अत्यधिक ब्यौरेवार बनायी गयी हैं। (४) भारतीय संविधान में असाधारण परिस्थिति की व्यवस्था एक अनोखी बात है। संसार के अन्य संघ-संविधानों में कदाचित इस प्रकार की व्यवस्था नहीं है।

संघ और राज्यों में कार्यपालिका संबंध—कार्यपालिका संबंध के के विषय में यह निश्चित कर दिया गया है कि राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करेंगे कि संसद द्वारा निर्मित विधि का पालन हो और संघ की कार्य-पालिका शक्ति पर न तो किसी प्रकार का कुप्रभाव पड़े और न उसके प्रयोग में अड़चन। संघ-सरकार राज्यों की सरकारों को यह आदेश दे सकेगी कि वे राष्ट्रीय महत्त्व के यातायात के मार्गों को बनावें और अपने राज्य-क्षेत्र के भीतर स्थित इन मार्गों तथा रेलों का संरक्षण करें। राष्ट्रपति राज्य की सरकार की अनुमति से, उसके किसी पदाधिकारी को ऐसे काम दे सकेंगे जो संघीय कार्य-क्षेत्र से संबद्ध हों। भारतीय रियासतों की समस्त सशस्त्र सेनाएं संघ-सरकार के अधीन हो गयी हैं। संकट के काल में राष्ट्रपति, राज्यपालों को आवश्यक आदेश दे सकेंगे और आवश्यकतानुकूल राज्य का आंशिक अथवा समस्त शासन अपने अधीन कर सकेंगे। यदि कोई राज्य, राष्ट्रपति के नियमानुकूल जारी किये गये कार्यपालिका आदेश का उल्लंघन करेगा, तो राष्ट्रपति इसे संवैधानिक कार्यपद्धति की विफलता समझेंगे और संबद्ध राज्य की कार्यपालिका के अधिकार अपने अधीन कर सकेंगे।

संघ और संघांतरित राज्यों के कार्यपालिका-संबंध से भी हम उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जिस निष्कर्ष पर, विधायिनी शक्ति के विभाजन से। संघ-सरकार की प्रभुता प्रायः प्रत्येक विषय में कायम रखी गयी है। राज्यों की सरकारों के अधिकार बड़े परिमित हैं और अनेक अवसरों पर उन्हें, न्यूनाधिक संघ-सरकार के अधीन काम करना पड़ता है। सारांश यह कि भारतीय-संविधान देखने में तो संघात्मक है पर वास्तव में वह एकात्मक दिशा की ओर झुका हुआ है।

संघ और संघांतरित राज्यों का वित्तीय संबंध—नये संविधान की वित्तीय व्यवस्था समझने के लिए हमें निम्नलिखित बातों को स्मरण रखना चाहिये—(१) इसका संबंध पृष्ठ २६५ पर दी गयी तालिका के अ और ब वर्ग के

राज्यों से ही है। (२) "भारत की संचित निधि" तथा विभिन्न राज्यों की "संचित निधियां" बनायी गयी हैं। संघ और राज्यों की समस्त आय अपनी-अपनी निधियों में जमा होती है। (३) भारत की या राज्य की संचित निधि में से कोई धन विधि की अनुकूलता से, तथा इस संविधान में उपबंधित प्रयोजनों और रीति से, अन्यथा विनियुक्त नहीं किया जायगा। (४) संसद् अपनी विधि द्वारा और राज्य का विधान-मंडल अपनी विधि द्वारा अग्रदाय के रूप में, "आकस्मिक निधि" की स्थापना करेंगे। यह विधि राष्ट्रपति, राज्य-पाल, या राजप्रमुख के अधीन होगी और इसमें से वे आकस्मिक व्यय के लिए अग्रिम धन दे सकेंगे। (५) विधि के अधिकार के सिवाय कोई कर न तो आरोपित और न संगृहीत किया जायगा। (६) संविधान द्वारा संघ और संघांतरित राज्यों के आय के साधन निर्धारित कर दिये गये हैं। संघांतरित राज्यों की आय की मदों की सब आय उन्हें मिलेगी। इसके अतिरिक्त उन्हें संघीय आय की कुछ मदों का अंश भी मिलेगा।

संघ की आय—नये संविधान की वित्तीय व्यवस्था पूर्वकालीन व्यवस्था का विकसित स्वरूप है। विधायिनी-शक्ति-वितरण की संघ तथा राज्य-सूचियों में कुछ ऐसे विषय हैं, जिन्हें हम आय और व्यय के विषय कह सकते हैं। विभिन्न सरकारों की आय, आय की इन्हीं मदों से होती हैं और वे अपनी आय को अपने कामों के करने में खर्च करती हैं। संघीय आय की मदों में बहिःशुल्क, केंद्रीय उत्पादन शुल्क, निगम-कर (Corporation Tax), आय-कर, अफीम, ब्याज, मुद्रा और टकसाल, डाकघर और तारघरों तथा रेलों से खर्च के पश्चात् आय आदि मुख्य हैं। उसके व्यय की मुख्य मदें निम्नलिखित हैं—रक्षा, आबपाशी, असैनिक शासन, मुद्रा और टकसाल, सार्वजनिक काम, पेंशन, संघांतरित राज्यों को अनुदान, आकस्मिक व्यय आदि।

संघांतरित राज्यों की आय—संघांतरित राज्यों की आय सात प्रकार के विभिन्न साधनों से होती है। (१) वे साधन जिनकी सारी आय राज्यों को मिलती है। राज्य ही इन करों को लगाते तथा उगाहते हैं। इनमें से निम्न लिखित मुख्य हैं—भूमि-कर; कृषि-आय पर कर; शराब तथा कुछ नशीली वस्तुओं पर कर; भूमि और भवनों पर कर; स्थानीय क्षेत्र में वस्तुओं के प्रवेश पर कर; समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों को छोड़ कर अन्य विज्ञापनों पर कर; पथ-कर; प्रतिव्यक्ति कर; वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं और नौकरियों पर कर; जुआ और मनोरंजन के साधनों पर कर; स्टांप-कर

आदि। (२) कुछ कर ऐसे हैं जो संघ द्वारा लगाये जायंगे, पर राज्य उन्हें उगाहेंगे तथा अपने पास रख लेंगे। इनमें से मुख्य ये हैं—(क) विनिमय-बिल, चेक, शेयर, बीमा आदि पर जो स्टांप से आय होगी। (ख) दवाई और शृंगार की वस्तुओं में प्रयुक्त नशीली वस्तुओं पर उत्पादन-शुल्क। (३) वे कर जो संघ द्वारा लगाये तथा उगाहे जायंगे, पर जिनकी सारी आय संघांतरित राज्यों को मिलेगी। इनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की संपत्ति का उत्तराधिकार-कर; कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य संपत्ति के बारे में संपत्ति-शुल्क; रेल या समुद्र या वायु से ले जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा-कर; समाचार-पत्रों के क्रय या विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर आदि। (४) कुछ कर ऐसे हैं जिन्हें संघ-राज्य लगावेगा तथा वसूल करेगा पर जिनकी आय का कुछ अंश वह संघांतरित राज्यों को देगा; जैसे कृषि-आय के अतिरिक्त अन्य आय-कर। (५) संविधान द्वारा संघ को संघांतरित राज्यों की आर्थिक सहायता का अधिकार है। संघीय अनुदान विशेष रूप से राज्य की विकास-योजनाओं की सफलता तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम निवासियों के कल्याण के लिए दिये जाते हैं। आसाम को इस संबंध में विशेष रूप से सहायता मिलेगी। (६) पटसन पर जो निर्यात-कर लगेगा, उसका राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित अंश पश्चिमी बंगाल, बिहार, आसाम और उड़ीसा के राज्यों को संघ की संचित निधि से मिलेगा। (७) पृष्ठ २६५ पर दी गयी तालिका के ब वर्ग के राज्यों से, संघ-सरकार निम्नलिखित बातों के संबंध में समझौता कर सकेगी—(क) किसी राज्य में संघ द्वारा लगाये जाने वाले करों के लगाने और उगाहने तथा उनकी आय के वितरण के संबंध में। (ख) भारत-सरकार द्वारा इस संविधान के अधीन लगाये जाने वाले किसी कर से राज्य को जो हानि पहुँचती है, उसके बदले उस राज्य की वित्तीय सहायता के संबंध में (ग) भारतीय नरेशों की प्रिवी पर्स (Privy Purse) के बदले में उनके राज्यों द्वारा केंद्र को दिये जाने वाले धन के संबंध में।

वित्त-आयोग—संविधान के आरंभ से दो बरस के भीतर और तत्पश्चात प्रत्येक पाँचवें बरस की समाप्ति पर अथवा उससे पहले ऐसे समय पर जिसे राष्ट्र-पति आवश्यक समझें राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा एक वित्त-आयोग नियुक्त करेंगे, जिसके सभापति के अतिरिक्त चार अन्य सदस्य होंगे। संसद, विधि द्वारा सदस्यों की योग्यताएँ तथा उनके संवरण की विधि निर्धारित करेगी। आयोग का काम निम्नलिखित बातों की सिफारिश करना है—(क) संघ और संघांतरित राज्यों में ऐसे करों की शुद्ध आय का विभाजन, जो इस प्रकार वितरित किये

जाने को हैं, (ख) संघ द्वारा संघांतरित राज्यों को सहायक अनुदान के सिद्धांत; (ग) पृष्ठ २६५ पर दी गयी तालिका के ब वर्ग के राज्यों के साथ किये गये किसी समझौते के चालू रखने अथवा उसके रूप-भेद करने के विषय में। (घ) सुदृढ़ वित्त के हित में राष्ट्रपति द्वारा सौंपे गये किसी अन्य विषय के बारे में। इस प्रकार के आयोग की नियुक्ति कर दी गयी है।

संपूर्ण वित्तीय व्यवस्था पर दृष्टिपात—यदि हम उपरिवर्णित संपूर्ण वित्तीय व्यवस्था पर दृष्टिपात करें, तो उसके संबंध में हमें निम्नलिखित बातें मालूम होंगी—(१) वित्तीय व्यवस्था का संबंध समस्त भारत से है। इसमें पूर्वकालीन ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों के आधार पर किसी प्रकार का विभेद नहीं किया गया है। भारतीय रियासतों और भारत के वित्तों (Finances) का एक प्रकार से एकीकरण कर दिया गया है। (२) संघ की वित्तीय स्थिति अधिक से अधिक सुदृढ़ बनायी गयी है। उसे आय के ऐसे साधन मिले हैं जिनके आगम के बढ़ने की संभावना है। पूर्वकालीन मेस्टन निर्णय (Meston Award) की भाँति संघ, संघांतरित राज्यों द्वारा दी गयी आर्थिक सहायता पर निर्भर नहीं है। (३) संघांतरित राज्यों को राष्ट्र-निर्माण के प्रायः सभी काम दिये गये हैं। पर उनकी आय के साधन ऐसे नहीं, जिनके आगम से उनका सारा खर्च निकल सके। अतएव उनके लिए संघीय अनुदान और संघीय आय की कुछ मदों के आगम के वितरण की व्यवस्था की गयी है। उसके कारण भी भारतीय संघ एकात्मक दिशा की ओर झुका हुआ संघ बन गया है।

केंद्रीकरण की ओर झुकाव—कार्य-विभाजन के उक्त विवरण से यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि भारत का नवीन संविधान संघात्मक होते हुए भी एकात्मक दिशा और केंद्रीकरण की ओर अत्यधिक झुका हुआ है। इस संबंध में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—(१) संविधान में भारत को फेडेरेशन (Federation) न कह कर यूनियन कहा गया है। यह शब्द अधिक एकात्मक दिशा में झुकाव का परिचायक है। (२) विधायिनी शक्ति का वभाजन इस प्रकार किया गया है कि आवश्यकता पड़ने पर संसद समस्त विषयों के कानून बना सकती है। (३) कार्यपालिका शक्ति का विभाजन भी इसी प्रकार का है। राष्ट्रपति राज्यपालों को नियुक्त करते हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि संघांतरित राज्य अपनी कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करेंगे कि संघ की कार्यपालिका शक्ति पर कुप्रभाव न पड़े। (४) संकट के काल में राष्ट्रपति के अधिकार इस प्रकार बढ़ाये जा सकते हैं कि

समस्त देश का शासन उनके अधीन किया जा सकता है। इन दिनों राष्ट्रपति की घोषणा द्वारा मूल अधिकार भी निलंबित किये जा सकते हैं। (५) वित्तीय व्यवस्था भी इस प्रकार की है कि संघ, संघांतरित राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बन गया है। इन सब बातों से यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि भारत का संविधान आवश्यकता पड़ने पर सुगमता से एकात्मक संविधान में परिवर्तित किया जा सकता है। राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने उपरिवर्णित अधिकारों का प्रयोग मंत्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार करें।

अभ्यास

१. भारतीय संविधान में विधायिनी शक्ति के वितरण की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

२. भारतीय संविधान में संघ और संघांतरित राज्यों के संबंध पर प्रकाश डालिये।

३. नये संविधान द्वारा निर्धारित संघ और संघांतरित राज्यों के आय के साधनों के नाम लिखिये और संपूर्ण वित्तीय व्यवस्था की आलोचना कीजिये।

४. "भारत का नवीन संविधान केंद्रीकरण की दिशा में अत्यधिक झुका हुआ है", इस मत की आलोचना कीजिये।

१६

संघीय कार्यपालिका

राष्ट्र-पति—नये संविधान द्वारा भारतीय संघ की सर्वश्रेष्ठ कार्यपालिका शक्ति निर्वाचित राष्ट्रपति को दी गयी है। वह उसका प्रयोग संविधान के अंतर्गत या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करता है। संघ के रक्षाबलों का सर्वोच्च समादेश राष्ट्रपति में निहित है और उसका प्रयोग विधि से विनियमित होता है।

राष्ट्रपति के निर्वाचन का अधिकार एक ऐसे निर्वाचक गण (Electoral College) को दिया गया है जिसमें संघीय संसद् की दोनों सभाओं तथा संघांतरित राज्यों की विधान-सभाओं के सब निर्वाचित सदस्य सम्मिलित होंगे। सब सदस्यों के वोटों में समतुल्यता प्राप्त कराने के लिए एक विशेष व्यवस्था की गयी है। किसी राज्य के कुल मतदाताओं की संख्या को उसकी विधान-सभा के कुल निर्वाचित सदस्यों से विभाजित करने से जो भजनफल आवे, उसमें १००० से भाग दिया जायगा और इस प्रकार जो भजनफल आवे, उतने वोट उस राज्य के प्रत्येक सदस्य के होंगे। यदि भाग देने के पश्चात् शेष ५०० या उससे अधिक होगा तो उस राज्य के प्रत्येक सदस्य को एक वोट और मिलेगा और यदि ५०० से कम, तो पूर्ववत्। इसी प्रकार समस्त राज्यों के सदस्यों के जितने कुल वोट होंगे, उनमें संसद के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या से भाग दिया जायगा और जो भजनफल आवे, उतने वोट संसद् के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के होंगे। शेष वोट यदि भाजक के आधे या आधे से अधिक होंगे तो प्रत्येक सदस्य को एक वोट और मिल जायगा, और यदि कम होंगे तो वे छोड़ दिये जायंगे। निर्वाचन एकाकी हस्तांतरीय मताधिकार की अनुपातीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली (Proportional Representation by Single Transferrable Vote) के अनुसार पांच बरस के लिए होगा। पुनर्निर्वाचन के संबंध में किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं है। अतएव एक व्यक्ति एक बार से अधिक भी राष्ट्रपति चुना जा सकेगा।

भारत का प्रत्येक नागरिक जिसकी अवस्था ३५ बरस की हो और जो संघीय संसद् की लोकसभा का सदस्य चुना जा सकता हो, राष्ट्रपति के पद के

लिए उम्मेदवार हो सकता है। संघ अथवा संघांतरित राज्यों के अधीन लाभप्रद पद के अधिकारी, उम्मेदवारी के अधिकार से वंचित कर दिये गये हैं। पर राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, राज्यपाल, राजप्रमुख और संघ अथवा राज्य के मंत्रियों पर इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं है। सरकारी निवास-स्थान के अतिरिक्त राष्ट्रपति के लिए १०,०००) माहवारी वेतन की व्यवस्था की गयी है। उन्हें वह भत्ता भी मिलेगा जो संविधान के आरंभ में भारतीय डोमीनियन के गवर्नर जनरल को मिलता था। अपने कार्यकाल में राष्ट्रपति किसी अन्य लाभप्रद पद को नहीं ग्रहण कर सकते। पदासीन होने के पूर्व उनको निम्नलिखित शपथ लेनी पड़ती या प्रतिज्ञान करना पड़ता है—

"मैं......अमुक $\frac{\text{ईश्वर की शपथ लेता हूँ}}{\text{सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ}}$ कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति-पद का कार्यपालन (अथवा राष्ट्र-पति के कृत्यों का निर्वहन) करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा और मैं भारत की जनता की सेवा में निरत रहूँगा।"

उपराष्ट्रपति के पास, अपने हस्ताक्षर में त्यागपत्र भेज कर, राष्ट्रपति अपने पद से अलग हो सकते हैं। संविधान के उल्लंघन के कारण, महाभियोग द्वारा दोषी ठहराये जाने पर राष्ट्रपति के अपदस्थ करने की व्यवस्था है। महाभियोग के चलाने का अधिकार संसद् की किसी सभा को है। यदि एक चौथाई सदस्यों द्वारा १४ दिन के नोटिस के पश्चात् संसद की एक सभा कुल सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से महाभियोग का प्रस्ताव स्वीकार करती है तो दूसरी सभा या तो स्वयं उसकी जांच करेगी अथवा जांच करने की व्यवस्था करेगी। तत्पश्चात् राष्ट्रपति की सफाई सुनने के पश्चात्, यदि वह भी महाभियोग के प्रस्ताव को कुल सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पास कर देगी तो राष्ट्रपति अपदस्थ हो जायँगे। यदि मृत्यु या त्यागपत्र या किसी अन्य कारण से राष्ट्रपति का स्थान रिक्त होगा, तो दूसरे राष्ट्र-पति के निर्वाचन की व्यवस्था जल्दी से जल्दी छः महीने के भीतर होनी चाहिये। राष्ट्रपति की पदावधि के समाप्ति से हुई रिक्तता की पूर्ति के लिए, निर्वाचन अवधि समाप्ति के पूर्व ही कर लिया जायगा। जब तक राष्ट्रपति के उत्तराधिकारी का निर्वाचन न हो जाय, मौजूदा राष्ट्रपति अपने पद के कर्त्तव्यों का पालन करते रहेंगे।

राष्ट्रपति के निर्वाचन के संबंध में निम्नलिखित बातें स्मरणीय हैं—(१) परोक्ष-निर्वाचन; (२) विभिन्न निर्वाचकों के वोटों में समतुल्यता; (३) एकाकी

हस्तांतरीय मताधिकार की अनुपातीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार निर्वाचन; (४) पुनर्निर्वाचन में प्रतिबंध का अभाव; (५) महाभियोग की नयी व्यवस्था। साधारणतः महाभियोग चलाने का अधिकार विधान-मंडल की छोटी सभा को होता है और बड़ी सभा निर्णायक की हैसियत से उसका निर्णय करती है। भारतीय संविधान में संसद् की किसी सभा को महाभियोग की कार्रवाई आरंभ करने का अधिकार है।

उप-राष्ट्रपति—नये संविधान द्वारा भारतीय संघ के लिए एक निर्वाचित उप-राष्ट्रपति की भी व्यवस्था है। निर्वाचनाधिकार एकाकी हस्तांतरीय मताधिकार की अनुपातीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार संसद् की दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन को है। कार्यावधि पांच बरस निर्धारित हुई है। उम्मेदवारों में राष्ट्रपति की सब योग्यताओं के अतिरिक्त संघीय राज्य-परिषद् के सदस्यों की योग्यताओं का होना आवश्यक है। राष्ट्रपति की भाति उप-राष्ट्रपति भी अपने कार्यकाल में किसी अन्य लाभप्रद पद को ग्रहण नहीं कर सकते और न संसद् की किसी सभा के सदस्य ही हो सकते हैं। राष्ट्रपति के पास, अपने हस्ताक्षर में त्याग-पत्र भेज कर, वे अपने पद से अलग हो सकते हैं। राज्य-परिषद् भी, जिसके वे पदेन सभापति होंगे, अपने कुल सदस्यों के बहुमत से उन्हें अपदस्थ करने का प्रस्ताव, चौदह दिन के नोटिस के पश्चात् पास कर सकेगी। यदि इस प्रस्ताव को लोक-सभा भी स्वीकार कर ले, तो उप-राष्ट्रपति अपदस्थ हो जायँगे। यदि राष्ट्रपति का स्थान मृत्यु, त्याग-पत्र, अपदस्थ होने तथा किसी अन्य कारण से रिक्त होगा, तो उप-राष्ट्रपति उस समय तक राष्ट्रपति की भाति काम करेंगे जब तक नये राष्ट्रपति का निर्वाचन न हो जाय। यदि अनुपस्थिति, बीमारी या किसी अन्य कारण से राष्ट्रपति अपने कर्तव्यपालन में असमर्थ होंगे, तो भी जब तक राष्ट्रपति अपने कर्त्तव्यों को पुनः न संभाले, उप-राष्ट्रपति उनके स्थान पर काम करेंगे। इस अवधि में उनको राष्ट्रपति की सब शक्तियों, उन्मुक्तियों तथा ऐसी उपलब्धियों, भत्तों और विशेषाधिकारों का, जिन्हें संसद् विधि द्वारा निश्चित करे, अधिकार होगा। उप-राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन में भी किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं है। अवधि समाप्त हो जाने पर अपने उत्तराधिकारी के पद-ग्रहण तक वे पदासीन रहेंगे।

निर्वाचन-संबंधी मतभेद—राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न सब विवादों की जांच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय करेगा और उसका विनिश्चय अंतिम होगा। यदि उक्त न्यायालय, राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति

के निर्वाचन को शून्य घोषित करेगा तो इसके कारण, यथास्थिति राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति के पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्तव्यों के पालन में विनिश्चय की तारीख को या उसके पूर्व किये गये कार्य अमान्य न हो जायँगे।

राष्ट्रपति का निर्वाचन—राष्ट्रपति के निर्वाचन की जिस व्यवस्था का वर्णन ऊपर दिया गया है, उसके अनुसार प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेंद्र प्रसाद का निर्वाचन नहीं हुआ था। संक्रमण-कालीन व्यवस्था के अनुसार उनका चुनाव संविधान-सभा द्वारा किया गया था।

२६ जनवरी सन् १९५० को भारत का नया संविधान देश पर लागू किया गया। उसके अनुसार भारतीय संसद और संघातरित राज्यों की विधान-सभाओं का निर्वाचन हुआ। तत्पश्चात् उपरिवर्णित व्यवस्था के अनुसार डा० राजेंद्रप्रसाद भारत के सर्व-प्रभुता-संपन्न गण-राज्य के राष्ट्रपति चुने गये और डा० राधा-कृष्णन् उप-राष्ट्रपति।

राष्ट्रपति के अधिकार—नये संविधान द्वारा राष्ट्रपति को महत्त्वपूर्ण कानूनी अधिकार दिये गये हैं। हम उन्हें चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) कार्यपालिका के अधिकार—भारतीय संघ के समस्त शासकीय अधिकार राष्ट्र-पति को हैं। वे उनका उपभोग या तो स्वयं करेंगे या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा। प्रधान मंत्री, उनकी मंत्रणा पर अन्य मंत्रियों, संघांतरित राज्यों के राज्यपालों, उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के प्रधान न्याया-धीशों तथा अन्य न्यायाधीशों आदि की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है। वे भारत की रक्षा की सेनाओं के सर्वोच्च अधिकारी तथा केंद्र-शासित प्रदेशों के शासन के लिए उत्तरदायी हैं। उन्हें प्रति पांचवें साल संघ और संघांतरित राज्यों में टैक्सों के बँटवारे के विषय में सिफारिश करने के लिए एक वित्त-आयोग की नियुक्ति का अधिकार है। वे विदेशों में भारत के राजदूत नियुक्त करते हैं। भारत में विदेशों के राजदूत उनके पास भेजे जाते हैं। उन्हें भारत की ओर से युद्ध की घोषणा तथा संधि करने का अधिकार है।

राष्ट्रपति के उपर्युक्त शासन-संबंधी अधिकारों का संबंध साधारण काल से है। किंतु नये संविधान में संकट के काल की भी व्यवस्था की गयी है। भारत या उसके किसी भाग में युद्ध, आक्रमण या आंतरिक विप्लव का भय होने पर राष्ट्रपति को संकट की स्थिति की घोषणा का अधिकार है। ऐसी ही घोषणा वे उस समय भी कर सकेंगे जब किसी राज्यपाल या राजप्रमुख की रिपोर्ट पर उन्हें यह विश्वास हो जाय कि संविधान-युक्त शासन का चलाना असंभव है। आर्थिक

संकट की संभावना पर भी राष्ट्रपति को संकट के काल की घोषणा का अधिकार है। ऐसी घोषणाओं की अवधि दो मास निर्धारित हुई है; किंतु यदि इस बीच में संसद् की दोनों सभाएं उसके संबंध में अनुमतिसूचक प्रस्ताव पास करती हैं, तो उनकी अवधि छः महीने हो सकती है। संसद् के दूसरे अनुमति-सूचक प्रस्तावों के आधार पर छः छः महीने करके, यह अवधि अधिक से अधिक तीन साल तक बढ़ायी जा सकती है। राष्ट्रपति की दूसरी घोषणा द्वारा, संकट काल की घोषणा के निराकरण की व्यवस्था की गयी है।

संकट के काल में संविधान द्वारा राष्ट्रपति को ऐसे अधिकार दिये गये हैं कि संघात्मक शासन सरलतापूर्वक एकात्मक में परिवर्तित हो जाय। ऐसी अवस्था में संघीय संसद् संघांतरित राज्यों की सूची के विषयों के भी कानून बना सकेगी और राष्ट्रपति संघीय विषयों के अतिरिक्त, इन विषयों के शासन की भी व्यवस्था करेंगे। वे राज्यपालों और राजप्रमुखों को भी तत्संबंधी आदेश दे सकेंगे जिनका पालन करना उनके लिए अनिवार्य होगा। संकटकाल की घोषणा के पश्चात् दूसरी घोषणा द्वारा वे नागरिकों के मूल अधिकारों को निलंबित कर सकेंगे। फलस्वरूप घोषणा की अवधि तक न तो उनकी गारंटी रह जायगी और न उनके संबंध में उच्चतम न्यायालय में अभियोग ही चलाये जा सकेंगे।

आर्थिक संकट की आशंका के कारण संकट की घोषणा के काल में संघ की कार्यपालिका शक्ति इतनी विस्तृत हो जायगी कि वह राज्यों को वित्तीय औचित्य के सिद्धांतों का निदेश दे सकेगी। इस प्रयोजन के लिए राष्ट्रपति भी आवश्यक और समुचित निदेश दे सकेंगे। किसी ऐसे निदेश के अंतर्गत राष्ट्रपति यह प्रबंध कर सकते हैं कि राज्य के कार्यों के संबंध में सेवा करनेवाले व्यक्तियों के सब या किन्हीं वर्गों के वेतनों और भत्तों में कमी की जाय और धन-संबंधी सब विधेयक, राज्यों के विधान-मंडलों या सभाओं में स्वीकृत होने के पश्चात्, उनके विचार के लिए रक्षित किये जायँ। घोषणा की अवधि में, वे संघ के कार्यों के संबंध में सेवा करनेवाले व्यक्तियों के सब या किसी वर्ग के वेतनों और भत्तों में भी कमी का निदेश दे सकेंगे। उच्चतम तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीश भी इस व्यवस्था से मुक्त नहीं हैं।

(२) विधायिनी शक्ति संबंधी अधिकार—राष्ट्रपति संघीय संसद् के अंग हैं। वे राज्य-परिषद (Council of State) के बारह सदस्यों को मनोनीत करते, संघीय संसद् के अधिवेशन कराते तथा लोक-सभा को विघटित कर सकते हैं। संसद द्वारा स्वीकृत कोई विधेयक उनकी अनुमति के बिना ऐक्ट

नहीं बन सकता। वे प्रस्ताव को संसद् के पास पुनर्विचार के लिए भेज सकते हैं। यदि पुनर्विचार के पश्चात् संसद उस प्रस्ताव को पुनः मौलिक या संशोधित रूप में पास करती है, तो राष्ट्रपति अनुमति देने से इनकार नहीं कर सकते। दोनों सभाओं के मत-भेद में, राष्ट्रपति को उनके संयुक्त अधिवेशन के कराने का अधिकार है। वे दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन तथा किसी सभा में अपना भाषण दे तथा संदेश भेज सकते हैं। जिन दिनों संसद् के अधिवेशन न होते हों, वे अध्यादेश (आर्डीनेंसें) जारी कर सकते हैं। ये ऑर्डीनेंसें संसद् की दोनों सभाओं के समक्ष उपस्थित की जायँगी और यदि छः सप्ताह के भीतर स्वीकृत न हों, तो रद्द समझी जायँगी।

(३) **आर्थिक अधिकार**—राष्ट्रपति प्रतिवर्ष संघीय आय-व्ययक संसद् के समक्ष उपस्थित करेंगे। उनकी सिफारिश के बिना किसी प्रकार के व्यय की स्वीकृति न दी जायगी। राष्ट्रपति संघ और संघांतरित राज्यों में आय-कर का बंटवारा तथा पश्चिमी बंगाल, आसाम, बिहार और उड़ीसा को जूट के निर्यात-कर के बदले सहायक अनुदान दे सकेंगे। उन्हें संविधान के आरंभ के दो साल भीतर और तत्पश्चात् प्रति पांचवें साल एक वित्त आयोग की नियुक्ति का अधिकार है। इन बातों का विवरण पंद्रहवें परिच्छेद में वित्तीय व्यवस्था के संबंध में दिया जा चुका है। राष्ट्रपति के संकट-कालीन आर्थिक अधिकारों का विवरण पूर्व पैरा में दिया गया है।

(४) **न्याय संबंधी अधिकार**—पूर्वकालीन गवर्नर जनरल की भाँति राष्ट्रपति को निर्धारित प्रकार के अपराधियों को क्षमा-प्रदान करने का अधिकार है। वे उनके दंड को घटा, बिलंबित तथा निलंबित कर सकते हैं। इस प्रकार के अधिकार का प्रयोग वे तीन प्रकार के मामलों में कर सकते हैं—(१) उन सब मामलों में जिनमें दंड अथवा दंडादेश सेना-न्यायालय द्वारा दिया गया हो; (२) उन सब मामलों के संबंध में जिनमें दंड या दंडादेश ऐसे विषय संबंधी किसी विधि के विरुद्ध अपराध के लिए दिया गया हो जिस विषय तक संघ की कार्यपालिकाशक्ति का विस्तार हो; और (३) उन सब मामलों में जिनमें अपराधी को प्राणदंड मिला हो। उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायधीशों की नियुक्ति संबंधी राष्ट्रपति के अधिकारों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

राष्ट्रपति के उपरिवर्णित अधिकारों से यह स्पष्ट है कि वे बड़े व्यापक हैं। शासन, विधि-निर्माण, न्याय, वित्त आदि सभी विषयों में उनके अधिकार हैं। पर क्या वे इन अधिकारों का वास्तविक प्रयोग कर सकते हैं? इस प्रश्न का

उत्तर देने के लिए यह आवश्यक है कि संघीय मंत्रि-परिषद् और उसके साथ राष्ट्रपति के संबंध का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय।

मंत्रि-परिषद्—नये संविधान द्वारा राष्ट्रपति को अपने कामों के करने में मंत्रणा और सहायता देने के लिए प्रधान मंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था की गयी है। प्रधान मंत्री की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है, पर राजनीतिक दलों की स्थिति के कारण उन्हें, निकट भविष्य में, इस काम में अधिक स्वतंत्रता न होगी। यदि राजनीतिक दलों की संख्या बढ़ी और उनमें से एक भी ऐसा न रह गया जिसके साथ संसद् की लोक-सभा के कुल सदस्यों के आधे से अधिक सदस्य हों, तब राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री की नियुक्ति में कुछ स्वतंत्रता से काम कर सकेंगे।

प्रधान मंत्री की सिफारिश पर राष्ट्रपति मंत्रि-परिषद् के अन्य मंत्रियों को नियुक्त करेंगे। ये तीन प्रकार के हैं। कुछ को कैबीनेट मंत्री कहते हैं, कुछ को राज्य मंत्री और कुछ को उप-मंत्री। इनका वेतन क्रमानुसार ३५००, ३००० और २००० रु० मासिक निर्धारित हुआ है। संविधान में इस आशय का एक भी अनुच्छेद नहीं है कि मंत्रियों को संसद का निर्वाचित सदस्य होना चाहिये। पर व्यवहार में प्रत्येक मंत्री को संसद् की किसी सभा का सदस्य होना चाहिये। यदि ऐसे व्यक्ति मंत्री नियुक्त होंगे जो संसद् के सदस्य नहीं हैं तो उन्हें, छः महीने के भीतर या तो संसद् का सदस्य बनना पड़ेगा या मंत्रि-पद से अलग होना पड़ेगा। इसके बिना उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था निष्फल होगी। "राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यंत मंत्री अपने पद धारण करेंगे।" व्यवहार में इस वाक्यांश का अर्थ शाब्दिक न होकर कुछ और ही होगा। चूँकि संविधान के अनुसार मंत्रि-परिषद् सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है इसलिए राष्ट्रपति ऐसे मंत्रि-परिषद के मंत्रियों को निकालने में अपने को असमर्थ पावेंगे, जिनके साथ लोक-सभा का बहुमत हो।

नये संविधान द्वारा भारत के लिए उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की गयी है। इस संबंध के कई खंड संविधान मे हैं। "राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का संपादन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिए एक मंत्रि-परिषद् होगी।" "मंत्रि-परिषद् लोक-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।" इन खंडों के कारण भारत में उत्तरदायी सरकार का आधार इंगलड, ऑस्ट्रेलिया, कैनाडा आदि से भिन्न है। इन देशों में उत्तरदायी सरकार का क्रमशः विकास हुआ है। वह संविधान की धाराओं पर नहीं, उसके संबंध की प्रथाओं पर अवलंबित

है। भारत की उत्तरदायी सरकार संविधान पर अवलंबित है। इस संबंध में उसने कुछ अंश में आयरलैंड की पद्धति को अपनाया है।

किसी मंत्री द्वारा पद-ग्रहण के पूर्व राष्ट्रपति उससे पद और गोपनीयता की शपथें निम्नलिखित शब्दों में लेंगे—

"मैं……अमुक…… ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्य-निष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूंगा, संघ के मंत्री के रूप में अपने कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक और शुद्ध अंतःकरण से निर्वहन करूँगा तथा भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना मैं सब प्रकार के लोगों के प्रति संविधान और विधि के अनुसार न्याय करूँगा।"

"मैं……अमुक…… ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि जो विषय संघ-मंत्री के रूप में मेरे विचार के लिए लाया जायगा अथवा मुझे ज्ञात होगा, उसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को, उस अवस्था को छोड़कर जब कि ऐसे मंत्री के रूप में अपने कर्तव्यों के उचित निर्वहन के लिए ऐसा करना आपेक्षित हो, अन्य अवस्था में मैं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में संसूचित या प्रगट नहीं करूँगा।"

मंत्रियों के वेतन और भत्ते ऐसे होंगे जैसे समय-समय पर, संसद् विधि द्वारा निर्धारित करेगी। इस व्यवस्था के कारण संसद् के सदस्यों को मंत्रियों के कामों की आलोचना करने का अधिक अवसर मिलेगा।

प्रधान मंत्री का स्थान—नये संविधान में प्रधान मंत्री के स्थान के विषय में केवल निम्नलिखित बातों का उल्लेख है—(१) वह मंत्रि-परिषद् का नेता है। फलस्वरूप भारतीय शासन में उसका वही स्थान है जो इंगलैंड के शासन में वहाँ के प्रधान मंत्री का। (२) राष्ट्रपति, अन्य मंत्रियों की नियुक्ति, प्रधान मंत्री की सिफारिश पर करते हैं। (३) प्रधान मंत्री का यह कर्तव्य है कि यह संघ के कार्यों के प्रशासन संबंधी समस्त विनिश्चयों तथा विधि-निर्माण की समस्त प्रस्थापनाओं की सूचना राष्ट्रपति को दे, संघ के प्रशासन संबंधी तथा विधि-निर्माण की प्रस्थापना संबंधी जो सूचना राष्ट्रपति माँगे, उसे दे और किसी ऐसे विषय को, जिस पर मंत्री ने विनिश्चय कर दिया हो, पर मंत्रि-परिषद् ने विचार न किया हो, उसे राष्ट्रपति के कहने पर मंत्रि-परिषद् के सम्मुख विचार के लिए रखे। किंतु इतने ही से प्रधान मंत्री की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं होता। उत्तरदायी शासन में प्रधान मंत्री का

स्थान इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि देश का समस्त शासन-संचालन उस पर निर्भर करता है। संसद् के बहुमत से सुरक्षित प्रधान मंत्री ऐसे कार्य कर सकता है जिन्हें न तो पूर्वकालीन जर्मन सम्राट कर सकते थे और आधुनिक संयुक्त-राज्य अमरीका के राष्ट्रपति ही कर सकते हैं। भारत के प्रधान मंत्री की स्थिति न्यूनाधिक इसी प्रकार की है। वह केवल मंत्रि-परिषद् का निर्माण ही नहीं करता वरन् सब मंत्रियों को एक सूत्र में बाँधकर रखता है और उनमें से किसी को त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य कर सकता है। वह चाहे तो अपना त्याग-पत्र देकर समस्त मंत्रि-परिषद को अपदस्थ कर सकता है। वह मंत्रि-परिषद के अधिवेशनों में सभापति का आसन ग्रहण करता तथा समस्त शासकीय विभागों का साधारण निरीक्षण करता है। मंत्रि-परिषद् के साथ साथ वह संसद् का भी नेता है। फलस्वरूप देश में प्रचलित विधि में वह आवश्यक परिवर्तन करा सकता तथा आवश्यकतानुकूल नयी विधि का निर्माण करा सकता है। वह नये कर लगा सकता, मौजूदा करों को रद करा सकता तथा राष्ट्र के पर-राष्ट्र-संबंध एवं सैनिक बल का संचालन करता है। सारांश यह कि भारतीय संविधान में प्रधान मंत्री का स्थान अति महत्त्वपूर्ण है। संघ की कार्यपालिका शक्ति वास्तव में उसी के हाथ में है, राष्ट्रपति के हाथ में केवल नाममात्र को। शर्त केवल इतनी ही है कि संसद का बहुमत उसके साथ हो।

राष्ट्रपति और मंत्रि-परिषद् का संबंध—राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति के संबंध में नये संविधान के आलोचकों में मतैक्य का अभाव है। कुछ लोगों के मतानुकूल संविधान-सभा भारतीय राष्ट्रपति को न तो इंगलैंड के राजा के समान निर्बल बनाना चाहती थी और न संयुक्त-राज्य अमरीका के राष्ट्रपति की भाँति सबल। वह वास्तव में मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करना चाहती थी। इस उद्देश्य की पूर्ति में संभवतः वह सफल न हो सकी। यदि हम उत्तरदायी सरकार के संबंध में प्रचलित प्रथाओं तथा भारतीय राजनीतिज्ञों द्वारा की गयी उसकी व्याख्याओं पर ध्यान दें तो यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि भारतीय राष्ट्रपति केवल नाममात्र के शासक हैं।

संविधान द्वारा केवल यही व्यवस्था की गयी है कि "राष्ट्रपति को अपने कृत्यों को संपादन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिए एक मंत्रि-परिषद होगी, जिसका प्रधान प्रधान-मंत्री होगा।" यह अनुच्छेद भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट से ज्यों का त्यों उतार लिया गया है। उस ऐक्ट की व्याख्या करते समय भारतीय राजनीतिज्ञ कहा करते थे कि अपने विशेषाधिकारों के अतिरिक्त, गवर्नर जनरल या गवर्नर अपने सब कामों को मंत्रिमंडल के परामर्श

के अनुसार करेंगे। नये संविधान के उक्त अनुच्छेद का भी यही अर्थ होना चाहिये। अतएव राष्ट्रपति अपने समस्त सरकारी काम मंत्रिपरिषद की मंत्रणा और सहायता से करेंगे। उनके स्वतंत्र अधिकारों का सर्वथा अभाव है। यदि किसी समय वे अपने संवैधानिक अधिकारों का स्वतंत्र रूप से उपयोग करेंगे और प्रधान-मंत्री एवं मंत्रि-परिषद की मंत्रणा पर ध्यान न देंगे, तो उन्हें मंत्रि-परिषद के पद-त्याग का सामना करना पड़ेगा। बहुत संभव है कि संविधान के उल्लंघन के कारण उनके विरुद्ध महाभियोग भी चलाया जाय।

राष्ट्रपति का वास्तविक स्थान बहुत अंश में उनके व्यक्तित्व पर निर्भर करेगा। इंगलैंड के राजा की भांति वे प्रधान मंत्री को सलाह दे सकते तथा सावधान कर सकते हैं। यदि राष्ट्रपति वास्तव में योग्य और प्रभावशाली व्यक्ति हुए, तो प्रधान मंत्री के लिए न्यूनाधिक यह असंभव होगा कि वे राष्ट्रपति के परामर्श पर ध्यान न दें। पर ये सब बातें गुप्त रूप से ही हो सकती हैं, सार्वजनिक तौर पर नहीं। न्यायालयों को यह पूछने का अधिकार नहीं है कि मंत्रिपरिषद् ने राष्ट्रपति को मंत्रणा दी या नहीं दी और यदि दी तो क्या? इसी प्रकार राष्ट्रपति को भी यह बतलाने का अधिकार नहीं है कि उनमें और मंत्रिपरिषद् में अमुक विषय में मतभेद है। राज्य के समस्त सरकारी काम उनके नाम पर अवश्य किये जायँगे पर ये काम ऐसे होंगे जो मंत्रिपरिषद् की सहायता और मंत्रणा से किये जायँगे। यदि कभी राष्ट्रपति को यह विदित हो कि वे अमुक मंत्रिपरिषद् के साथ काम नहीं कर सकते, तो त्यागपत्र देकर वे स्वयं अलग हो सकते हैं, पर लोक-सभा के बहुमत से सुरक्षित मंत्रिपरिषद को तोड़ नहीं सकते। इस परिस्थिति के कारण बहुत संभव है कि भविष्य में योग्य व्यक्ति राष्ट्रपति के पद के लिए उम्मेदवार न हों और साधारणतया यह स्थान देश के ऐसे वयोवृद्ध नेता को दिया जाय जिससे सब राजनीतिक दलों के लोग न्यूनाधिक संतुष्ट हों।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति की योग्यता के विषय में किसी को संदेह नहीं हो सकता। संविधान-सभा के अध्यक्ष होने के नाते, वे संविधान की समस्त बारीकियों से भलीभांति परिचित हैं। देश में उनका मान भी किसी अन्य नेता से किसी प्रकार कम नहीं है। पर राष्ट्रपति चुने जाने के पश्चात् वे एक प्रकार से व्यक्तित्वहीन हो गये हैं। जब कि देश के अन्य नेता अपने सार्वजनिक भाषणों में राजनीतिक बातों की चर्चा करते हैं, राष्ट्रपति केवल सांस्कृतिक और

सभ्यता की बातों की। प्रथम राष्ट्रपति का यह झुकाव इस बात का परिचायक है कि राष्ट्रपति भारत के नाम-मात्र के सर्वोच्च शासकीय अधिकारी हैं। यह बात उनके असाधारण परिस्थिति के अधिकारों के विषय में उतनी ही ठीक है जितनी साधारण अधिकारों के विषय में।

भारत में उत्तरदायी सरकार पर दृष्टिपात्—भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की निम्नलिखित बातें स्मरणीय हैं—(१) राष्ट्रपति प्रधान मंत्री को नियुक्त करेंगे और उसकी सिफारिश पर अन्य मंत्रियों को; (२) मंत्रि-परिषद् राष्ट्रपति को अपने कृत्यों के संपादन में सहायता और मंत्रणा देगी; (३) मंत्रि-परिषद् सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होगी; (४) प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद् के प्रधान होंगे। उक्त बातों की व्यवस्था संविधान द्वारा की गयी है। अतएव भारत की उत्तरदायी सरकार संविधान पर आश्रित है। साथ ही वह उन प्रथाओं से सर्वथा मुक्त नहीं है जो उत्तरदायी सरकार वाले अन्य देशों में पायी जाती हैं।

अभ्यास

१. भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन की व्यवस्था को समझाकर लिखिये।

२. राष्ट्रपति के अधिकारों का संक्षिप्त विवरण लिखिये। क्या वे उनका उपयोग स्वतंत्र रूप से कर सकते हैं?

३. भारत के उप-राष्ट्रपति पर एक निबंध लिखिये।

४. मंत्रि-परिषद् के निर्माण के विषय में आप क्या जानते हैं? प्रधान मंत्री और मंत्रिपरिषद् के संबंध की व्याख्या कीजिये।

५. राष्ट्रपति और मंत्रि-परिषद् के संबंध की अलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

१७

संसद्

संसद्—नये संविधान द्वारा भारतीय संघ के लिए प्रभुतासंपन्न संसद् की व्यवस्था की गयी है जिसके राष्ट्र-पति, लोक-सभा (House of People) और राज्य-परिषद् (Council of State) नाम के तीन अंग होंगे। संसद इन तीनों का सामूहिक नाम होगा। प्रतिवर्ष दो अधिवेशनों की व्यवस्था है। पहले अधिवेशन के अंतिम दिन और दूसरे अधिवेशन के आरंभिक दिन के बीच में छः मास से अधिक का अंतर न होना चाहिये। इसके अंतर्गत राष्ट्र-पति को संसद की दोनों अथवा एक सभा को बुलाने, उसके सत्रावसान करने (Prorogue) तथा लोक-सभा को विघटित करने का अधिकार है। इस अधिकार का प्रयोग मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा के अनुसार ही होगा।

राज्य-परिषद् की रचना—राज्य-परिषद् के अधिक से अधिक २५० सदस्य होंगे, जिनमें से १२ राष्ट्र-पति द्वारा मनोनीत होंगे और शेष संघांतरित राज्यों से निर्धारित पद्धति के अनुसार चुने जायँगे। अभी तक कुल मिला कर २१७ स्थानों की व्यवस्था निम्नलिखित ढंग से की गयी है—आसाम ६, बिहार २१, बंबई १७, मध्य प्रदेश १२, मद्रास २७, उड़ीसा ९, पंजाब ८, उत्तर-प्रदेश (संयुक्त-प्रांत) ३१, बंगाल १४, हैदराबाद ११, काश्मीर ४, मध्य भारत ६, मैसूर ६, पटियाला और पूर्वी पंजाब का रियासती संघ ३, राजस्थान ९, सौराष्ट्र ४, ट्रावनकोर-कोचीन ६ और विंध्य प्रदेश ४। केंद्र-शासित प्रदेशों में से अजमेर और कुर्ग को मिलाकर १, भूपाल को १, बिलासपुर और हिमाचल प्रदेश को मिलाकर १, कूच-बिहार को १, दिल्ली को १, कच्छ को १ और मनीपूर और त्रिपुरा को मिलाकर १ प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया है। पृष्ठ २६५ पर दी गयी तालिका के अ और ब वर्ग के राज्यों के प्रतिनिधि उनकी विधान-सभाओं (Legislative Assemblies) द्वारा अनुपातीय प्रतिनिधित्व की एकाकी हस्तांतरीय मतदान की प्रणाली के अनुसार निर्वाचित होंगे। ग वर्ग के राज्यों के प्रतिनिधि ऐसी रीति से चुने जायँगे जैसी कि संसद, विधि द्वारा विहित करे। उम्मेदवारों के लिए यह आवश्यक है कि वे कम से कम ३० बरस

के भारतीय नागरिक हों और संसद द्वारा निर्धारित योग्यताओं को रखते तथा अयोग्यताओं से मुक्त हों। भारत-सरकार तथा संघांतरित सरकारों के लाभ-प्रद पदों के पदाधिकारी, उपयुक्त न्यायालय द्वारा खराब दिमाग के ठहराये गये व्यक्ति, अमोचित दिवालिये, भारतीय नागरिकता को छोड़ कर विदेशी नागरिकता ग्रहण करने वाले व्यक्ति और संसद द्वारा सदस्यता के लिए अयोग्य ठहराये गये व्यक्ति उसकी दोनों सभाओं की सदस्यता से वंचित कर दिये गये हैं। संघीय उप-राष्ट्र-पति राज्य-परिषद् के पदेन (Ex-officio) सभापति होंगे और सभा अपने सदस्यों में से किसी एक को उप-सभापति चुनेगी। सभापति की अनुपस्थिति में अथवा जब वे राष्ट्र-पति के स्थान पर काम करते हों, उप-सभापति सभापति की हैसियत से काम करेंगे। राज्य-परिषद् एक स्थायी सभा होगी, पर संसद द्वारा निर्धारित पद्धति के अनुसार, प्रति दूसरे वर्ष उसके एक तिहाई सदस्यों का नया निर्वाचन होगा। दशांश सदस्यों का कोरम होगा और यदि कोई सदस्य सभा की आज्ञा के बिना ६० दिन तक अनुपस्थित रहेगा तो सभा उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकेगी। राष्ट्रपति ऐसे व्यक्तियों को ही मनोनीत करेंगे जो साहित्य, विज्ञान, कला और समाज-सेवा का विशेष या व्यावहारिक ज्ञान रखते हों।

लोक-सभा की रचना—लोक-सभा के अधिक से अधिक ५०० सदस्य होंगे। वे वयस्क मताधिकार के आधार पर, प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जायंगे। २५ बरस का प्रत्येक भारतीय नागरिक, यदि वह उन अयोग्यताओं से मुक्त हो जिनका उल्लेख राज्य-परिषद की सदस्यता के संबंध में किया गया है, लोक-सभा की सदस्यता के लिए उम्मेदवार हो सकेगा। निर्वाचन पांच साल के लिए होगा, पर राष्ट्र-पति को इसके पूर्व भी सभा को भंग करने का अधिकार दिया गया है। प्रत्येक ७,५०,००० निवासियों के लिए कम से कम एक प्रतिनिधि होगा। लोक-सभा अपने ही सदस्यों में से अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को चुनेगी। संकट-कालीन घोषणा के काल में राष्ट्रपति एक-एक साल करके लोक-सभा की कार्यावधि को बढ़ा सकेंगे, पर संकट काल के अंत के पश्चात्, उसकी बढ़ायी हुई अवधि छः महीने से अधिक न होगी। लोक-सभा के कोरम और अनुपस्थिति संबंधी नियम वे ही हैं, जो राज्य-परिषद के।

लोक-सभा में अनुसूचित जातियों तथा आंग्ल-भारतीयों के प्रतिनिधित्व की विशेष व्यवस्था की गयी है। संविधान का संबंधित अनुच्छेद इस प्रकार है— लोक-सभा में (क) अनुसूचित जातियों (ख) आसाम के आदिम जाति-क्षेत्रों की

अनुसूचित आदिम जातियों को छोड़कर अन्य आदिम जातियों, और (ग) आसाम के स्वायत्तशासी जिलों की अनूसूचित आदिम जातियों, के लिए स्थान रक्षित कर दिये गये हैं। रक्षित स्थानों की संख्या उसी आधार पर निश्चित की जायगी जिसके अनुसार उस राज्य की विधान-सभा के सदस्यों की संख्या। यदि राष्ट्रपति की राय हो कि लोक-सभा में आंग्ल-भारतीय जन-समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है तो वे उसमें उनके अधिक से अधिक दो प्रतिनिधि नामजद कर सकेंगे। रक्षित स्थान संविधान के प्रारंभ से दस बरस तक चलेंगे और तत्पश्चात् समाप्त हो जायंगे। निर्वाचित रक्षित स्थानों के निर्वाचन भी संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली के अनुसार होंगे।

संसद् के पदाधिकारी—नये संविधान में राज्य-परिषद के लिए सभापति और उप-सभापति और लोक-सभा के लिए अध्यक्ष और उपाध्यक्ष, की व्यवस्था की गयी है। उप-राष्ट्रपति पदेन राज्य-परिषद् के सभापति होंगे। सभा अपने सदस्यों में से किसी एक को उप-सभापति चुनेगी। जब जब उप-सभापति का स्थान रिक्त होगा तब तब इस प्रकार का निर्वाचन किया जायगा। यदि उप-सभापति सभा का सदस्य न रह जायगा, तो उसका स्थान रिक्त हो जायगा। सभापति के पास अपने हस्ताक्षर में त्याग-पत्र भेजकर वह स्वयं अपने पद से अलग हो सकता है। यदि परिषद् चौदह दिन के नोटिस के पश्चात् तत्कालीन सदस्यों के बहुमत से उसके हटाने का प्रस्ताव करे और लोक-सभा उसे स्वीकार कर ले तो भी उसे अपने पद से हटना पड़ेगा। सभापति की अनुपस्थिति में, अथवा जब वह राष्ट्रपति के स्थान पर काम कर रहा हो, उप-सभापति सभापति की भाँति काम करेगा। सभापति और उपसभापति दोनों की अनुपस्थिति में या दोनों के स्थान रिक्त होने पर, सभा अपने किसी अन्य सदस्य को स्थानापन्न सभापति चुनेगी। सभापति के हटाये जाने के संकल्प पर विचार होते समय सभापति और उपसभापति के हटाये जाने के संकल्प पर विचार होते समय उप-सभापति, सभा का सभापतित्व न करेंगे। जब राज्य-परिषद् उप-सभापति के हटाये जाने के संकल्प पर विचार कर रही हो, उस समय सभापति विचार में भाग ले सकेंगे, पर उन्हें वोट देने का अधिकार न होगा। सभा के सभापति और उप-सभापति को वही वेतन मिलेगा जो संविधान-सभा के सभापति और उप-सभापति को मिलता था।

लोक-सभा अपने सदस्यों में से एक को अध्यक्ष और दूसरे को उपाध्यक्ष चुनेगी और जब जब इनके स्थान रिक्त होंगे, नये निर्वाचन किये जायँगे। स्थान

रिक्त होने, त्याग-पत्र, हटाये जाने तथा वेतन की वही व्यवस्था है जो राज्य-सभा की। किंतु यदि लोक-सभा अपने अध्यक्ष के हटाये जाने के संकल्प पर विचार करेगी, तो अध्यक्ष को उसकी कार्रवाई में भाग लेने तथा वोट देने का अधिकार होगा। किंतु यदि दोनों पक्ष के वोट समान होंगे तो वे वोट न सकेंगे।

संसद् का प्रथम निर्वाचन—संसद् के निर्वाचन के पूर्व यह आवश्यक था कि संक्रमणकालीन संसद् उसके कानूनी आधार की व्यवस्था कर देती और राष्ट्रपति निर्वाचन-कमीशन को नियुक्त कर देते। पहली बात रेप्रेसेंटेशन आफ् पीपुल्स ऐक्ट (Representation of Peoples Act) नबर एक के द्वारा की गयी। यह १२ अप्रैल सन् १९५० को संक्रमणकालीन संसद् में प्रेषित किया तथा १२ मई को राष्ट्रपति की अनुमति पाकर देश पर लागू कर दिया गया था। इसके द्वारा विविध विधान-मंडलों का आकार निर्धारित किया गया। तत्पश्चात् निर्वाचन-क्षेत्र निश्चित किये गये। अधिकांश निर्वाचन-क्षेत्र एक सदस्यीय थे। उनके निर्धारण में तीन बातों का विशेष ध्यान रखा गया—(१) भौगोलिक दृष्टि से निर्वाचन-क्षेत्रों में तारतम्य हों। (२) यथासंभव सब निर्वाचन-क्षेत्रों के निर्वाचकों की संख्या समान हो। (३) यथासंभव निर्वाचन-क्षेत्र प्रशासनीय इकाइयों के अंतर्गत हों। निर्वाचन की समस्त व्यवस्था रेप्रेसेंटेशन आफ पीपुल्स ऐक्ट नंबर २ में की गयी। यह १८ दिसंबर सन १९५० को संसद् में प्रेषित तथा ७ जुलाई सन् १९५१ को राष्ट्रपति की अनुमति पाकर देश पर लागू कर दिया गया था। इसके अनुसार राष्ट्रपति को राज्य-परिषद और लोक-सभा तथा राज्यपालों को संघातरित राज्यों के विधान-मंडलों या विधान-सभाओं के निर्वाचनों की घोषणा तथा अभ्यर्थियों की योग्यताओं और नियोग्यताओं को निर्धारित करने का अधिकार दिया गया था। निर्वाचन-संबंधी अन्य बातों जैसे प्रिज़ाइडिंग और पोलिंग ऑफीसरों, भ्रष्टाचार, निर्वाचन-याचिका (Election Petition) आदि बातों की भी इसमें व्यवस्था की गयी थी। इन सब कामों के पश्चात् संसद् का निर्वाचन हुआ।

राजनीतिक दल और निर्वाचन—निर्वाचन के पूर्व स्वतंत्र भारत-सरकार की आलोचना यह कह कर की जाती थी कि वह एक दलीय थी। विरोधी दल का अस्तित्व एक प्रकार से नहीं के बराबर था। तिसपर सरकार उत्तरदायी थी जो विरोधी दल के अभाव में सफल नहीं हो सकती। अतः भारत-सरकार, विरोधी दल के भय से मुक्त होकर, मनमानी करती थी। देश में खाद्यान्न

का संकट था। सरकारी अधिकारियों में से कम से कम कुछ तो अवश्य ही भ्रष्ट हो गये थे। कांग्रेस तक में भ्रष्टाचार फैल गया था। गांधी जी के आदर्श परित्यक्त कर दिये गये थे। कांग्रेसी सरकारें क्रमशः पूँजीवाद की ओर झुकती जा रही थीं। पाकिस्तान के साथ भारत का संबंध संतोषप्रद न था। भारत-सरकार उसके प्रति दुर्बलता दिखला रही थी। अतः पाकिस्तान-निवासी हिंदू निरंतर भारत में शरणार्थियों की भांति आ रहे थे। भारत का पर-राष्ट्र-संबंध भी संतोषप्रद न था। चार बरस के शासन में सरकार ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी थी कि कोई भी महाशक्ति भारत के साथ न थी। इस परिस्थिति के अंत के लिए यह आवश्यक था कि भारत एक दलीय राज्य न रहकर बहुदलीय राज्य में परिवर्तित हो जाय और बहुसंख्यक दल के विरोध के लिए प्रभावशाली विरोधी दल का अस्तित्व हो। अतः प्रथम निर्वाचन में, कांग्रेस के अतिरिक्त समाजवादी दल, कृषक-मजदूर-प्रजा पार्टी, कम्यूनिस्ट पार्टी, भारतीय जन-सघ, राम-राज्य परिषद, हिंदू महासभा तथा अनुसूचित जातियों के संघ ने अपने अपने उम्मेदवारों को कांग्रेस के उम्मेदवारों के विरोध में खड़ा करके विरोधी दल के निर्माण का प्रयत्न किया था।

निर्वाचन के घोषणापत्र—निर्वाचन लड़ने के लिए सभी राजनीतिक दलों ने अपने अपने चुनाव घोषणा-पत्र प्रकाशित किये। इनमें यह बतलाया गया था कि अमुक दल का उद्देश्य क्या था और किस कार्यक्रम को अपनाकर वह देश का आर्थिक विकास तथा राजनीतिक उत्थान करना चाहता था। कांग्रेस के घोषणापत्र में गांधी जी द्वारा बतलाये गये राष्ट्रीय जीवन के चारित्रिक एवं नैतिक आधार के प्रति श्रद्धा दिखलाते हुए सम्मिलित सहकारी स्वराज्य (Co-operative Common-wealth) की स्थापना देश का उद्देश्य बतलाया गया था। कांग्रेस का उद्देश्य "भारत में शांतिमय एवं वैध उपायों से ऐसे सम्मिलित सहकारी स्वराज्य (Co-operative Commonwealth) की स्थापना करना है जिसका आधार सब के लिए समान अवसर, समान राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक अधिकार हो और जिसका लक्ष्य विश्व-शांति एवं विश्व-बंधुत्व की स्थापना करना हो"। देश की आर्थिक उन्नति के लिए कांग्रेसी घोषणापत्र में निश्चित योजना के अनुसार काम करना आवश्यक बतलाया गया था। "इसलिए कांग्रेस योजना कमीशन के कार्य का स्वागत करती है और यह समझती है कि उन्नति के लिए सुनियोजित विकास का तरीका बहुत जरूरी है तथा यह काम जारी रखना चाहिये।" कृषि की

उन्नति के लिए, कांग्रेस के मतानुकूल, जमींदारी, जागीरदारी तथा इसी किस्म की अन्य व्यवस्थाओं का अंत, सहकारिता के आधार पर होने वाली कृषि की वृद्धि, दुधारू तथा हल चलाने वाले पशुओं की रक्षा तथा उनकी नस्लों में सुधार, तथा खेतिहर मजदूरों की दशा में सुधार अत्यंत आवश्यक था। उसके मत में "राज्य को चाहिये कि वह अनुसंधान को प्रोत्साहन दे।" सहकारिता के आधार पर वह घरेलू उद्योग-धंधों के प्रोत्साहन के पक्ष में थी। बुनियादी उद्योग-धंधों के संबंध में उसका कार्य-क्रम समाजवाद की ओर झुका हुआ था। "बहुत अर्से से कांग्रेस की नीति यह रही है कि बुनियादी उद्योग-धंधों को या तो सरकार चलाये या उन पर नियंत्रण रखे"। इस नीति पर चलते हुए भी निजी उद्योगों के लिए पर्याप्त क्षेत्र रखा गया था। "इस प्रकार हमारी आर्थिक स्थिति में सरकारी उद्योग और निजी उद्योग दोनों रहेंगे। परंतु निजी उद्योगों के लिए यह आवश्यक होगा कि वे राष्ट्रीय योजना के उद्देश्यों को स्वीकार करें और अपने को उनके अनुकूल बनायें।" कांग्रेस उन वस्तुओं के वितरण के लिए जिनकी कमी थी तथा वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि को रोकने के लिए, कंट्रोल लगाना जरूरी समझती थी। आर्थिक प्रगति के साथ साथ वह आर्थिक समानता तथा सामाजिक न्याय की स्थापना के कार्य को जारी रखना चाहती थी और मजदूरों के रहन-सहन के मानदंड को ऊँचा उठाना तथा उनकी उत्पादन-शक्ति को बढ़ाना चाहती थी। उसके मतानुकूल "यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है ऊँची उत्पादन-शक्ति के बिना राष्ट्र और मजदूरों के हितों को नुकसान पहुँचेगा।" वह उद्वासितों के बसाये जाने के काम को प्राथमिकता देना आवश्यक रूप से जारी रखना चाहती थी। राजनीतिक बातों में वह भारत को धर्म-निरपेक्ष-राज्य (Secular) बनाये रखने के पक्ष में थी। वह अल्प-संख्यकों के उचित अधिकारों की रक्षा करना तथा उन्हें विकास का पूर्ण अवसर देना चाहती थी। स्त्रियों के विषय में कांग्रेस की राय थी कि उनके लिए इस बात की पूरी कोशिश होनी चाहिये कि उन्हें धारा-सभाओं और सामाजिक कार्यों में सेवा करने का अधिकाधिक अवसर प्राप्त हो सके। संबंधित जनता की इच्छा पर वह भाषा के आधार पर प्रांतों के बनाये जाने के पक्ष में थी। पर-राष्ट्र-संबंध संचालन में कांग्रेस स्वतंत्र नीति के पक्ष में थी। "पर-राष्ट्र-नीति के संबंध में भारत अपने राष्ट्रीय हितों एवं विश्व-शांति के हित को देखते हुए स्वतंत्र नीति अपनाकर चला है और समस्त देशों के साथ मैत्री संबंध स्थापित करने में सफल हुआ है। यह नीति सबल और सक्रिय रही है। कभी कभी दूसरों ने हमारी नीति की आलोचना की है लेकिन घटनाओं ने

इसे सही साबित कर दिखाया है। हमारी यह नीति जो पहले ही सफल हो चुकी है अच्छे परिणाम लायेगी और हमें उसी पर चलते जाना चाहिये।" शांतिमय उपायों द्वारा कांग्रेस भारत में स्थित विदेशी क्षेत्रों को भारत में मिलाना चाहती थी।

कृषक-मजदूर-प्रजा-पार्टी ऐसे वर्ग विहीन समाज की स्थापना के पक्ष में थी जिसमें किसी प्रकार का राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शोषण न हो। वह सरकार में इस प्रकार परिवर्तन करना चाहती थी कि सरकारी कर्मचारी जनता के मालिक के रूप में नहीं, वरन् सहायक और सेवक के रूप में काम करें। वह भ्रष्टाचार के अंत के पक्ष में थी और संयम-आंदोलन द्वारा विदेशी वस्तुओं के मुकाबले में स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग के पक्ष में। कृषि की उन्नति के संबंध में वह चकबंदी और वैज्ञानिक कृषि के पक्ष में थी और उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए विकेंद्रित उद्योगों के पक्ष में। धन के पुनर्वितरण के संबंध में वह यह चाहती थी कि किसी भी क्षेत्र में काम करने वाला व्यक्ति जाहिल और अकुशल मजदूर की मजदूरी के बीस गुने से अधिक धन न ले सके। कांग्रेस की भांति यह पार्टी भी मिश्रित आर्थिक व्यवस्था में, जिसका झुकाव विकेंद्रीकरण की ओर हो, विश्वास करती थी और नियंत्रणों को क्रमशः हटाना चाहती थी। यह परिगणित जातियों की अवस्था में शीघ्रातिशीघ्र सुधार के पक्ष में थी। पाकिस्तान के साथ यह मैत्री संबंध रखना चाहती थी और पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन में तटस्थता की नीति के पक्ष में थी।

समाजवादी दल के घोषणा-पत्र में, कांग्रेस के गत चार बरस के शासन की आलोचना के पश्चात् सामाजिक क्रांति की आवश्यकता पर जोर दिया गया था। "हम बिना सामाजिक क्रांति के ही प्राप्त होने वाली समृद्धि के वादों के विरुद्ध जनता को गंभीर चेतावनी देना चाहते हैं।" कृषि की उन्नति के लिए बिना क्षतिपूर्ति जमींदारी का अंत करके, खेतिहर पल्टन की सहायता से बेकार पड़ी हुई जमीन को हल के तले लाकर तथा ३० एकड़ से अधिक भूमि वाले परिवारों की भूमि लेकर, वह पाँच आदमियों के प्रत्येक कृषक-परिवार को कम से कम दस एकड़ भूमि देना चाहती थी। आर्थिक विषमता को मिटाने के लिए वह अधिक से अधिक १०००) रु० और कम से कम १००) रु० मासिक आय के पक्ष में थी, कपड़ा, चीनी, लोहा, सीमेंट और बीमें की कंपनियों का राष्ट्रीयकरण चाहती थी, किसानों के लगान की बोझ को आधा करना चाहती थी और बच्चों को निःशुल्क प्रारंभिक शिक्षा तथा रोगियों के लिए डाक्टरों और

सस्ती दवाओं का प्रबंध करना चाहती थी। यह सहकारिता द्वारा आर्थिक जीवन को ऊपर उठाना, उद्वासितों की समस्या के हल को प्राथमिकता देना तथा स्त्रियों और अल्प-संख्यकों की अवस्था में सुधार करके उन्हें ऊपर उठाना चाहती थी। संक्षेप में उनके मतानुकूल स्त्रियों का जीवन ऐसा होने को था "जिसका क्षेत्र अधिक विस्तृत होगा, अवसर अधिक होंगे और जीवन अधिक पूर्ण होगा।" समाजवादी दल भारत के संविधान से असंतुष्ट था। "आर्थिक समानता और सामाजिक गतिशीलता का ढाँचा भारत के वर्तमान संविधान के ऊपर नहीं खड़ा किया जा सकता। संविधान बहुत से मौलिक सुधारों के रास्ते में रुकावटें हो नहीं डालता, वह महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर जनता की इच्छाओं को भी प्रतिबिंबित नहीं करता।'' संविधान में राज्य को दिये गये निर्देश संतोषजनक नहीं हैं। उनमें केवल बाह्य रूप-रेखा ही दी गयी है और तथ्य को छाड़ दिया गया है। पर-राष्ट्र-संबंध संचालन में वह रूसी और अमरीकी गुटों से अलग रहना तथा सभी राष्ट्रों और सरकारों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध बनाये रखना चाहता था। वह उन राष्ट्रों के आंदोलनों के समर्थन के पक्ष में था जो स्वतंत्र नहीं थे। अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ वह इस उद्देश्य से सहयोग करना चाहता था कि वे स्वतंत्रता, समानता और शांति के विश्व का निर्माण करने में सहायक हों।

कम्यूनिस्ट पार्टी, समाजवादी पार्टी की भांति, कांग्रेसी सरकार की आलोचना करके उसे हटाने पर जोर देती थी। "कम्यूनिस्ट पार्टी हिंदुस्तान की जनता को सचेत करती है कि वह कांग्रेसी नेताओं के वादों, उनकी घोषणाओं और उनकी पुनर्निर्माण की योजनाओं से कहीं एक बार फिर धोखा न खा जाय। जिन्होंने चार बरस तक अपने हर वादे को तोडा है वह फिर अपने वादों को तोड़ेंगे।" कांग्रेसी सरकार के स्थान पर यह जनता की लोकशाही सरकार की स्थापना करना चाहती थी। यह सरकार "मजदूरों, किसानों, मध्यम वर्ग और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग (अर्थात् पूंजीपति वर्ग का वह हिस्सा जो देश के सच्चे उद्योगीकरण और हिदुस्तान की आजादी और स्वाधीनता के पक्ष में हो) का प्रतिनिधित्व करने वाली तमाम पार्टियों, दलों और व्यक्तियों की सरकार होगी। यह सरकार ब्रिटिश साम्राज्य से नाता तोड़ेगी, किसानों के तमाम ऋण रद्द कर देगी और बिना मुआविजा दिये जमींदारी और रजवाड़ों की तमाम जमीन और औजार जब्त करके बिना कीमत लिए, जमीन जोतने वालों को देगी। उस पूंजी की सहायता से जिसका राष्ट्रीयकरण हो चुका है और व्यक्तिगत पूंजीपतियों की सहायता से यह सरकार भारत में उद्योगों की उन्नति

करेगी, मजदूरों को उचित मजदूरी देगी और बेकारी के खिलाफ सरकार और पूंजीपतियों के खर्च पर सामाजिक बीमे की व्यवस्था करेगी। जनता की लोकशाही सरकार एक राष्ट्रीय फौज बनायेगी जिसका जनता के साथ बहुत निकट का संबंध होगा और मौजूदा पुलिस को खत्म कर देगी। अल्प-संख्यकों की रक्षा, शोषित और पिछड़े हुए वर्गों की उन्नति, स्त्रियों की स्थिति में सुधार, प्राथमिक शिक्षा और उद्वासितों के संबंध में, कम्यूनिस्ट पार्टी के विचार न्यूनाधिक वे ही हैं जो समाजवादी दल के। वह पूरी बराबरी और पारस्परिक लाभ के आधार पर सब देशों के साथ व्यापारिक और आर्थिक संबंध स्थापित करेगी और इस बात की कोशिश करेगी कि दुनियां की बड़ी ताकतों के बीच में एक शांति-संधि हो, एटम बम पर पाबंदी लगायी जाय, तमाम देशों से विदेशी फौजें हटायी जायं और हर राष्ट्र को आजाद और स्वाधीन रहने का अधिकार हो।" जनता की लोकशाही सरकार जनता की सत्ता का साधन होगी। वह संयुक्त मोर्चे द्वारा मौजूदा शासकों की शक्ति को चकनाचूर करके, उन्हें हटने के लिए विवश करेगी और "देश की अपार प्राकृतिक संपत्ति और मनुष्य-बल का पूरी तरह इस्तेमाल करके हिंदुस्तान में एक नये जीवन का संचार करेगी और हिंदुस्तान को स्वतंत्र, जनवादी सुखी और समृद्धि-शाली देश बनाकर एक समाजवादी समाज के लिए रास्ता साफ करेगी—एक ऐसे समाज के लिए जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण से सर्वथा मुक्त हो।"

हिंदू महासभा के घोषणापत्र में सर्व-प्रथम भारतीय संविधान को इस प्रकार संशोधित करने का उल्लेख था कि भारत वास्तव में लोकतंत्रात्मक हिंदू-राज्य बन जाय। वह भारत से पार्थक्य की सभी बातों का विरोध करता, केवल उसको ही राज्य और उसके अंगों को प्रांत मानता, भाषावर प्रांतों का समर्थन करता तथा भारत के नागरिकों को पूर्ण नागरिक अधिकारों की गारंटी के पक्ष में थी। वह चाहती थी कि भारत राष्ट्रमंडल से अलग हो जाय और उसकी पर-राष्ट्र-नीति उसके हित तथा बदले की नीति के आधार पर निर्धारित की जाय। पाकिस्तान के संबंध में वह बदले की नीति का समर्थक थी। देश की रक्षा के लिए वह १८ से २५ बरस तक के सब नवयुवकों की सैनिक शिक्षा के पक्ष में थी। हिंदू महासभा निजी संपत्ति को पवित्र मानती तथा उसके स्वामित्व और उत्तराधिकार की गारंटी देती थी। देश की आर्थिक उन्नति के लिए वह कृषि में इस प्रकार सुधार करना चाहती थी कि प्रति एकड़ और प्रति व्यक्ति उपज बढ़ जाय, आधारभूत दस्तकारियां राज्य के नियंत्रण में हों, श्रमजीवियों के काम सुरक्षित रहें और उन्हें पर्याप्त पारिश्रमिक मिले, घरेलू उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन दिया जाय

और नियंत्रण क्रमशः हटा लिये जायं। हिंदू महासभा उद्वासितों के पुनर्वास की प्राथमिकता देती तथा उन लोगों की क्षतिपूर्ति के पक्ष में थी जो पाकिस्तान में अपनी संपत्ति खो आये थे। भारत-निवासी अल्प-संख्यकों को वह न्यायपूर्ण उचित बर्ताव की गारंटी देती तथा निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा के पक्ष में थी। वह शिक्षा के नैतिक और धार्मिक आधार में विश्वास करती और सस्कृत की शिक्षा को प्रोत्साहन देना चाहती थी।

रामराज्य-परिषद् के घोषणा-पत्र में 'धर्म-राज्य' की स्थापना पर जोर दिया गया था। "सबको धर्मपरायण और सदाचारी बनाने का प्रयत्न किया जायगा। सब एक ही ईश्वर की संतान हैं, इसी आधार पर सब में वास्तविक भ्रात्रता, समता और स्वतंत्रता का भाव लाया जायगा, सभी को लौकिक और पारलौकिक उन्नति का पूर्ण अवसर दिया जायगा।" रामराज्य-परिषद सभी वैध उपायों से भारत की अखंडता पुनः संपादित करना तथा भारत के संविधान को देश के आदर्श और परंपरा के अनुरूप बनाना चाहती थी। पर-राष्ट्र-संबंध सचालन में वह चाहती थी कि भारत सभी राष्ट्रों से मैत्री रखे, किसी की कूट-नीति का शिकार न बने और विदेशों में भारतीय दूतावास उसकी संस्कृति के प्रतीक हों। वह सभी योग्य नागरिकों को शस्त्र देने के पक्ष में थी और आंतरिक शासन में भ्रष्टाचार, घूसखोरी, चोरबाजारी और मुनाफाखोरी को रोकना चाहती थी। वह भारत को एक धर्म-नियंत्रित राज्य बनाना चाहती था और धर्म विरोधी सभी कानूनों जैसे हिंदू कोड बिल, का विरोध करती थी। वह न्याय की शुद्धता, निःशुल्क शिक्षा तथा हिंदी को, रोमन अंकों के बिना, राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में थी। वह करों के भार को घटाना चाहती थी और बिक्रीकर, मृत्युकर, गायों और साइकिलों के कर की विरोधिनी थी। आर्थिक जीवन में वह बेकारी का अंत करना, नियंत्रणों को उठाना तथा मंहगाई को घटाना चाहती थी। "राम-राज्य में किसानों को सभी प्रकार की सुविधाएं दी जायंगी। लगान की दर निश्चित रहेगी, उसे उपज की रूप में भी चुकाने की सुविधा रहेगी और बेदखली की प्रथा बंद कर दी जायगी। दसगुना वसूली की रकम लौटा देने का प्रयत्न होगा। श्रमिकों के हितों की पूर्ण रक्षा की जायगी। उनमें और उद्योगपतियों में परस्पर मेल और सौहार्द उत्पन्न किया जायगा।"[²]—मुद्रा का प्रचलन कम करने के लिए रामराज्य-परिषद् वस्तु-विनिमय की प्रथा को पुनर्जीवित करना चाहती थी। वह खाद्य-वस्तुओं में मिलावट की विरोधी और आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति

घोषित करने की पक्षपाती थी। वह गोवध को अविलंब बंद करना, अंत्यजों को लौकिक और पारलौकिक उन्नति का पूरा अवसर देना, शरणार्थियों की सहायता करना और पाकिस्तान स्थित अपहृत भारतीय महिलाओं का उद्धार करना चाहती थी। वह भारत स्थित विदेशी बस्तियों के शीघ्र ले लेने के पक्ष में थी और चाहती थी कि काश्मीर का कोई भी भाग भारत के हाथ से निकलने न पाये।

भारतीय जन-संघ के घोषणापत्र में हिंदुओं और मुसलमानों दोनों की भलाई के लिए संयुक्त भारत की स्थापना पर जोर दिया गया था। वह प्रांतीयता, भाषावाद, वर्गवाद व जातिवाद के विष से देश को बचाकर विशुद्ध राष्ट्रीयता के आधार पर शक्तिशाली भारत का निर्माण करना तथा खूनी क्रांति कराने वाली पार्टियों से उसको बचाना चाहता था। वह भारतीय सस्कृति के आधार पर देश की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक समस्याओं के हल के पक्ष में था। आर्थिक उन्नति के लिए वह जमींदारी का अंत करके किसानों तथा जोतने वालों को खेत का मालिक बनाना, गांवों में उद्योगों का विस्तार करके अन्न की कमी और बेकारी को दूर करना, सुरक्षा-उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना, देशी व्यापार के हित में विदेशी व्यापार का नियंत्रण करना, गोवध बंद करके गायों की नस्लों को सुधारना, हिंदू कोड बिल को रद्द करना और जल्दी से जल्दी कंट्रोल तोड़कर अंतर्प्रांतीय व्यापार के प्रतिबंध को समाप्त करना चाहता था। वह निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के पक्ष में था और और राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण को शिक्षा का उद्देश्य समझता था। देश की रक्षा के लिए वह रक्षा-संबंधी उद्योगों की शीघ्र स्थापना, विशाल प्रादेशिक सेना का संगठन करना तथा राष्ट्र के समस्त युवकों और युवतियों को सैनिक शिक्षा देना चाहता था। वह हिंदी की राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में था। भ्रष्टाचार तथा घूसखोरी को समाप्त करके देश के नैतिक स्तर को ऊंचा उठाना चाहता था। पाकिस्तान के संबंध में वह घुटने टेकने की नीति का विरोधी था और भारत के सिरमौर काश्मीर को पाकिस्तान के चंगुल से बचाना चाहता था।

विराट निर्वाचन—उपरिवर्णित मुख्य तथा कुछ अन्य दलों ने भारत की प्रथम संसद् के निर्वाचन में भाग लिया। निर्वाचन वास्तव में विराट था। मतदाताओं की संख्या लगभग १९,५०,००,००० थी। लगभग ६० प्रतिशत मतदाताओं ने मताधिकार का प्रयोग किया था। निर्वाचन के परिणाम-स्वरूप निर्मित लोक-सभा में विभिन्न दलों की स्थिति इस प्रकार थी—कांग्रेस ३६२, समाजवादी १२, कृषक-मजदूर-प्रजापार्टी ९, कम्यूनिष्ट पार्टी २३, हिंदू महासभा ४

और जनसंघ ३। डाले गये वोटों में से ४४·८ प्रतिशत कांग्रेस को मिले, १०·५ प्रतिशत समाजवादी दल को, ५·८ प्रतिशत कृषक-मजदूर प्रजापार्टी को, ४·४ प्रतिशत कम्यूनिस्ट पार्टी को, ४ प्रतिशत जन-संघ को और ·९ प्रतिशत हिंदू महासभा को। निर्वाचन के नतीजे से स्पष्ट है कि कांग्रेस पार्टी को लोकसभा में कुल सदस्यों के ३/४ स्थान मिले, पर उसके द्वारा प्राप्त वोटों की संख्या आधे से भी कम थी और समाजवादी दल को २·५ प्रतिशत स्थान, यद्यपि उसके पक्ष में १०·५ प्रतिशत वोट पड़े थे।

संसद् का कार्यारंभ—राष्ट्रपति को संसद् की दोनों सभाओं अथवा किसी एक सभा के अधिवेशन को निर्धारित दिन और स्थान पर कराने का अधिकार है। पदासीन होने के पूर्व प्रत्येक सदस्य को निम्नलिखित शपथ लेनी पड़ती है—

"मैं···अमुक···जो राज्य-परिषद् (अथवा लोक-सभा) का सदस्य निर्वाचित (या नाम-निर्देशित) हुआ हूँ ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूँगा तथा जिस पद को मैं ग्रहण करनेवाला हूँ, उसके कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक निर्वहन करूँगा।"

राष्ट्रपति को संसद् की किसी सभा अथवा दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन मे भाषण देने तथा किसी विचाराधीन विधेयक या किसी अन्य विषय पर संदेश भेजने का अधिकार है। किसी अधिवेशन के आरभ में वे दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन में अपना भाषण देंगे और यह बतलायेंगे कि अधिवेशन क्यों किया गया है। दोनों सभाएँ इस भाषण पर विचार करने के लिए समय निर्धारित तथा अन्य कार्यों पर इस चर्चा को पूर्ववर्तिता देने का उपबंध करेगी। दोनों सभाओं के अलग-अलग तथा संयुक्त अधिवेशन के निर्णय बहुमत के आधार पर होंगे। सभापति अथवा अध्यक्ष को प्रथमतः वोट देने का अधिकार न होगा, किंतु यदि किसी विधेयक पर समान वोट आयँगे तो उन्हें निर्णायक वोट देने का अधिकार होगा। यदि ससद् की किसी सभा के कुछ स्थान रिक्त होंगे, तो भी वह अपना काम कर सकेगी। किसी सभा की कार्रवाई इस आधार पर असंवैधानिक न ठहरायी जायगी कि उसके विचार और निर्णय में किसी ऐसे व्यक्ति ने भाग लिया है जिसे इस प्रकार का अधिकार न था। यदि किसी बात पर विचार करते समय किसी सभा का कोरम (Quorum) न रह जायगा, तो या तो अधिवेशन स्थगित कर दिया जायगा या जब तक कोरम न हो, तब तक के लिए निलंबित कर दिया जायगा।

संसद् के सदस्यों के अधिकार—संविधान के उपबंधों तथा संसद् की प्रक्रिया के विनियामक नियमों और स्थायी आदेशों के अधीन संसद के सदस्यों को अपने विचारों के प्रगट करने की स्वतंत्रता दी गयी है। उनके विरुद्ध किसी प्रकार की कार्रवाई किसी न्यायालय में इस लिए न की जा सकेगी कि उन्होंने संसद् या उसकी कमेटी में अमुक प्रकार का भाषण तथा अमुक पक्ष में वोट दिया है। संसद्, विधि द्वारा, समय-समय पर किसी सभा या उसकी कमेटी के सदस्यों के अधिकारों, विशेषाधिकारों और उन्मुक्तियों को निश्चित करेगी। किंतु जब तक इस प्रकार की विधि न बने, तब तक उनके अधिकार और उन्मुक्तियां वे ही होंगी जो इंगलैंड की कॉमन-सभा के सदस्यों को प्राप्त हैं। संसद् के सदस्यों को, उसकी विधि द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ता मिलेगा और जब तक वह इस प्रकार की विधि न बनाये, तब तक वही वेतन और भत्ता, जो संविधान-सभा के सदस्यों को मिलता था।

संसद् के अधिकार—संसद् को संघ और समवर्ती सूचियों के समस्त विषयों की विधि बनाने का अधिकार है। संघांतरित राज्यों के विधान-मंडल भी समवर्ती विषयों की विधि बना सकते हैं पर इस शर्त पर कि उनकी विधि को तत्संबंधी संघीय विधि से असंगत न होना चाहिये। असंगत होने पर संघीय विधि ठीक और संघांतरित राज्य की विधि विरोधात्मक अंश तक रद्द समझी जायगी। इस व्यवस्था का एक अपवाद भी है। यदि किसी संघांतरित राज्य की विधि, राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किये जाने के पश्चात् उनकी अनुमति प्राप्त कर लेगी, तो संघीय विधि से असंगत होने पर भी, वह उसके लिए ठीक समझी जायगी। संसद् को अवशिष्ट विषयों की भी विधि बनाने का अधिकार है। यदि संकट के काल की घोषणा की जाय, तो घोषणा की अवधि तक संसद् को राज्य-सूची के विषयों की भी विधि बनाने का अधिकार है। इस व्यवस्था का विशेष विवरण पंद्रहवें परिच्छेद में विधायिनी शक्ति के विभाजन के संबंध में दिया गया है।

प्रति वर्ष संघ का आय-व्ययक संसद् के समक्ष उपस्थित किया जायगा और स्वीकृति के पश्चात् ही कार्यरूप में परिणत किया जायगा। संविधान के अनुसार "विधि के अधिकार के सिवाय कोई कर न तो आरोपित और न संगृहीत किया जायगा।" "भारत की संचित निधि से कोई धन विधि की अनुकूलता से तथा इस संविधान में उपबंधित प्रयोजनों और रीति से अन्यथा विनियुक्त नहीं किया जायगा।"

संसद् को मंत्रि-परिषद् के निरीक्षण का अधिकार है। वह उसे अपदस्थ तक कर सकती है। संविधान के अनुसार मंत्रि-परिषद् अपनी नीति और कामों के लिए सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि लोक-सभा का विश्वास उससे उठ जायगा और वह उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर देगी, तो मंत्रि-परिषद् को या तो पदत्याग करना पड़ेगा या लोक-सभा के विघटन के पश्चात् उसके दूसरे निर्वाचन द्वारा लोकमत का ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। लोक-सभा के सदस्यों को प्रश्न, विरोधात्मक प्रस्ताव, तथा कार्य-स्थगन के प्रस्ताव द्वारा भी कार्यपालिका की नीति और कामों की आलोचना का अधिकार दिया गया है।

यद्यपि संसद् के अधिकार प्रभुतायुक्त हैं तो भी संविधान द्वारा वे कुछ अंश में सीमित कर दिये गये हैं। संसद् को संविधान के उल्लंघन का अधिकार नहीं हैं। वह उसमें संशोधन कर सकती है, पर जब तक संशोधन न हो जाय, तब तक उसका उल्लंघन नहीं कर सकती। यदि संसद् ऐसी विधि बनाती है जो संविधान से असंगत है तो उच्चतम न्यायालय को उसकी व्याख्या करके उसे असंगत घोषित करने तथा संविधान की रक्षा का अधिकार है। संसद् की किसी सभा में उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के पदाचरण के विषय में तब तक बहस न होगी, जब तक वह किसी न्यायाधीश को अपदस्थ करने पर विचार न कर रही हो।

विधान-प्रक्रिया—(Legislative Procedure) विधि-निर्माण की प्रणाली न्यूनाधिक वही है जो सन् १९३५ के भारतीय शासन संबंधी ऐक्ट सन् १९३५ के द्वारा निर्धारित की गयी थी। संसद् की किसी सभा में धन-संबंधी विधेयकों के अतिरिक्त समस्त संघीय, समवर्ती और अवशिष्ट विषयों के विधेयक रखे जा सकेंगे। उनके, विधि में परिणत होने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि वे दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत हों। यदि संसद् की एक सभा द्वारा पास किये गये विधेयक को दूसरी सभा स्वीकार नहीं करती, या उसे इस प्रकार संशोधित करती है जो पहली सभा को मान्य नहीं है या उपस्थित किये जाने के छः माह पश्चात् तक उसे पहली सभा में अपने निर्णय के साथ वापस नहीं भेजती, तो राष्ट्रपति को दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन के बुलाने का अधिकार है। इसके बहुमत का निर्णय दोनों सभाओं का निर्णय समझा जायगा। दोनों सभाओं द्वारा अलग अलग अथवा संयुक्त अधिवेशन में स्वीकृत विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष उनकी अनुमति के लिए उपस्थित किये

जायंगे। उन्हें अनुमति देने या न देने या विधेयक को अपने संदेश के साथ पुनर्विचार के लिए लौटा देने का अधिकार है। यदि पुनर्विचार के पश्चात् संसद की दोनों सभाएं उसे मौलिक या संशोधित रूप में पुनः पास करेंगी, तो राष्ट्रपति अनुमति देने से इनकार न कर सकेंगे।

संसद की दोनों सभाओं के संबंध के विषय में निम्नलिखित बातें भी उल्लेखनीय हैं—(१) संसद में लंबित (Pending) विधेयक सभाओं के सत्रावसान के कारण समाप्त न हो जायंगे। (२) राज्य-परिषद में लंबित विधेयक जिसे लोक-सभा ने पास नहीं किया है, लोक-सभा के विघटन पर समाप्त न होगा। (३) लोक-सभा में लंबित विधेयक उसके विघटन पर समाप्त समझा जायगा। (४) लोक-सभा द्वारा स्वीकृत विधेयक जो राज्य-परिषद् के विचाराधीन है, साधारणतया उसके विघटन के पश्चात् समाप्त समझा जायगा। (५) संविधान के अंतर्गत संसद की प्रत्येक सभा को अपनी प्रक्रिया तथा कार्य-संचालन के नियम बनाने का अधिकार है। पर संयुक्त अधिवेशन के प्रक्रिया के नियम राज्य-परिषद के सभापति और लोक-सभा के अध्यक्ष के परामर्श के पश्चात् राष्ट्रपति बनावेंगे। (६) संयुक्त अधिवेशन में लोक-सभा का अध्यक्ष सभापति का आसन ग्रहण करेगा। उसकी अनुपस्थिति में ऐसा व्यक्ति सभापति बनेगा जो यथास्थिति नियमों के अंतर्गत निर्धारित किया जाय।

वित्तीय विधेयक—वित्तीय-विधेयकों की विशेष व्यवस्था की गयी है। ये केवल लोक-सभा में ही आरंभ होंगे। यदि कोई वित्तीय-विधेयक लोक-सभा द्वारा स्वीकृत हो गया हो तो वह राज्य-परिषद में उसकी सिफारिश के लिए भेजा जायगा। सिफारिश के सहित चौदह दिन में, उस विधेयक को लोक-सभा में वापस आ जाना चाहिये। यदि चौदह दिन में मौलिक या संशोधित रूप में वह वापस नहीं आता तो वह राज्य-परिषद द्वारा स्वीकृत समझा जायगा। किंतु यदि राज्य-परिषद, निर्धारित अवधि के भीतर, विधेयक को अपनी सिफारिशों के साथ, लोकसभा में वापस कर देगी, तो लोकसभा उस पर पुनः विचार करेगी। उसे अधिकार है कि वह राज्य-परिषद की सिफारिशों को स्वीकार करे अथवा न करे। यदि कोई विधेयक राज्य-परिषद की सिफारिशों के बिना लोक-सभा द्वारा स्वीकृत होगा, तो उसके साथ लोक-सभा के अध्यक्ष को अपना प्रमाण-पत्र लगाना पड़ेगा। इस प्रकार वित्तीय विधेयक जब संसद की दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत हो जायंगे तो वे राष्ट्रपति के पास उनकी अनुमति के लिए भेजे जायंगे और उनकी अनुमति प्राप्त करके विधि बन जायंगे।

निम्नलिखित विषयों के विधेयक वित्तीय-विधेयक निर्धारित हुए हैं—(१) जो किसी कर को लगाते, बढ़ाते, घटाते, बदलते या विनियमित करते हों। (२) जो भारत-सरकार द्वारा ऋण लेने या गारंटी देने या भारत-सरकार द्वारा लिये गये अथवा लिये जाने वाले धनसंबंधी उत्तरदायित्वों का संशोधन या विनियमन करते हों। (३) जो भारत की संचित या आकस्मिक निधि की रक्षा तथा उसमें धन डालने या उससे धन निकालने के संबंध में हों। (४) जो भारत की संचित निधि से धन का विनियोग करते हों। (५) जो किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर भारित व्यय घोषित करते तथा ऐसे व्यय को बढ़ाते हों। (६) जो उपरिलिखित विषयों के आनुषंगिक विषयों से संबद्ध हों। अमुक विधेयक धन विषयी है या नहीं, इसके संबंध में लोकसभा के अध्यक्ष का निर्णय अंतिम होगा।

संसद के वित्तीय अधिकारों के अंतर्गत निम्नलिखित बातें आती हैं—(१) वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा, (२) अनुदान की मांग, (३) विनियोग विधेयक, (४) अन्य वित्तीय विधेयक। प्रति वित्तीय वर्ष राष्ट्रपति संसद के सम्मुख वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा पेश करावेंगे। व्यय के दो भाग होंगे, पहला वह जो संचित निधि पर भारित है और दूसरा वह जो इसके अतिरिक्त है। निम्नलिखित व्यय सचित निधि पर भारित व्यय हैं—(१) राष्ट्रपति का वेतन, भत्ता और उनके पद संबंधी अन्य खर्चे; (२) राज्य-परिषद के सभापति और उपसभापति तथा लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का वेतन और भत्ता; (३) ऐसे ऋण-भार जिनका उत्तरदायित्व भारत-सरकार पर हो; (४) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके बारे में दिये जाने वाले वेतन, भत्ते और पेंशनें; (५) संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके बारे में दी जाने वाली पेंशनें; (६) भारत के राज्य-क्षेत्र के अंतर्गत उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की पेंशनें; इसमें पृष्ठ २६५ पर दी गयी तालिका के अ वर्ग के उन राज्यों के न्यायाधीशों की भी पेंशनें सम्मिलित हैं जो संविधान के आरंभ में उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का प्रयोग करते थे। (७) भारत के नियंत्रक-महालेखा-परीक्षक (Controller Auditor General) को और उनके बारे में दिये जाने वाले वेतन और भत्ते; (८) किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायालय के निर्णय के संबंध का व्यय; (९) अन्य कोई व्यय जो संविधान या संसद विधि द्वारा, इस प्रकार का निश्चित करे। व्यय की उक्त मदें संसद के वोट पर निर्भर न होंगी, पर वह उनके विषय में वाद-विवाद कर सकेगी। व्यय की अन्य मदें संसद की स्वीकृति पर निर्भर होंगी। उसे अधिकार

है कि उन्हें स्वीकार करे अथवा अस्वीकार, या उनमें आवश्यक परिवर्त्तन कर दे। इस प्रकार संसद अनुदान की माँगों (Demands for Grants) को स्वीकृत करेगी। उसे उन माँगों की भी स्वीकृति का अधिकार है जिनके अनुसार संघ की आय होगी। ये सब विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) के अंतर्गत आवेगी। संघ के प्रत्येक विधेयक अथवा अनुदान के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश का होना आवश्यक है।

संसद् की विशेषताएँ—इस अध्याय को समाप्त करने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि संसद् की कुछ विशेषताओं को बतला दिया जाय। वे इस प्रकार हैं—

(१) संसद का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर हुआ है। संसार के राजनीतिक इतिहास में शायद ही कोई ऐसा उदाहरण मिले, जिसमें इतने अधिक व्यक्तियों को एकदम मताधिकार दिया गया हो।

(२) संसद सर्व-प्रभुता-संपन्न संस्था है। लोक-सभा का स्थान, राज्य-परिषद के स्थान से कुछ उच्चतर समझा गया है। यह बात धन संबंधी विधेयकों और मंत्रि-परिषद के उत्तरदायित्व की व्यवस्था से स्पष्ट है। राष्ट्रपति भी संसद की सत्ता में अधिक हस्तक्षेप नहीं कर सकते। वे उसके द्वारा प्रस्तावों को, उसके पास अपने सुझावों के साथ पुनर्विचार के लिए भेज सकते हैं। पर यदि वह उनके सुझावों को नहीं मानती, तो उन्हें उसके द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों को अपनी अनुमति देनी पड़ती है। संसद की दोनों सभाएँ उनके द्वारा जारी की गयी ऑर्डीनेंसों तथा संकटकालीन घोषणा को रद कर सकती हैं। वे महाभियोग के प्रस्तावों को, निर्धारित बहुमत से स्वीकार करके, उन्हें अपदस्थ तक कर सकती हैं।

(३) नये संविधान में न्यायालयों द्वारा समीक्षा की व्यवस्था है। संघ-संविधानों की यह विशेषता कुछ देशों में पायी जाती है। इसके अनुसार उच्चतम न्यायालय को संविधान की व्याख्या तथा कानूनों की समीक्षा करके उनकी संवैधानिकता के निर्णय का अधिकार है। उच्चतम न्यायालय का निर्णय सभी को स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार न्यायालय द्वारा संविधान की अतिक्रमण (violation) से रक्षा की गयी है।

(४) नये संविधान द्वारा दोनों सभाओं के मतभेद को दूर करने के लिए उनके संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था है। इसमें भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट का प्रभाव स्पष्ट है। अन्य देशों में इस प्रकार की व्यवस्था

नहीं पायी जाती। संयुक्त-राज्य अमरीका में ऐसे मतभेद को दूर करने के लिए दोनों सभाओं की कमेटियों के सम्मेलन होते हैं। फलस्वरूप जो कुछ अंतिम निर्णय होता है वह समझौते के आधार पर होता है। भारतीय व्यवस्था में समझौते का विशेष स्थान नहीं है। अंतिम निर्णय वोट पर निर्भर करता है जिसमें लोकसभा, बहुसंख्यक होने के कारण, अपने मत को राज्य-परिषद् पर लाद सकती है। उक्त व्यवस्था राज्यपरिषद् के अधिक प्रभावशाली हो जाने की आशंका से भी मुक्त नहीं है। यदि किसी समय लोक-सभा के सदस्य किसी विचाराधीन विधेयक के पक्ष और विपक्ष में न्यूनाधिक बराबर संख्या में हुए, उस समय उपरिवर्णित व्यवस्था के कारण, राज्यपरिषद् का निर्णय ही दोनों सभाओं का निर्णय होगा।

(५) राष्ट्रपति को, किंचित काल के लिए, संसद् द्वारा स्वीकृत विधेयकों को अपनी अनुमति न देकर, विलंबित करने का अधिकार है। इस अधिकार का उपयोग भी मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा पर निर्भर करता है। लोक-सभा में पराजित मंत्रि-परिषद् इस प्रकार की मंत्रणा न दे सकेगा। उत्तरदायी शासन की व्यवस्था के कारण, ऐसे मंत्रि-परिषद् को ऐसी मंत्रणा देने की आवश्यकता ही न पड़ेगी। अतएव बहुत संभव है कि अपने व्यावहारिक रूप में राष्ट्रपति का उक्त अधिकार न्यूनाधिक नहीं के बराबर हो जाय।

(६) प्रक्रिया में किसी प्रकार की अनियमता के आधार पर संसद् की किसी कार्यवाही की मान्यता पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

(७) भारत के प्रत्येक मंत्री और महामान्यवादी (Advocate General) को अधिकार है कि वह संसद् की किसी भी सभा, दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन तथा संसद् की किसी कमेटी में जिसका वह सदस्य है, बोले तथा दूसरे प्रकार की कार्रवाइयों में भाग ले, किंतु केवल इस कारण उसे मतदान का अधिकार न होगा।

(८) संसद् का कार्य हिंदी या अंगरेजी में किया जाता है। यदि कोई सदस्य हिंदी या अंगरेजी में अपनी पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं कर सकता तो राज्य-परिषद् के सभापति या लोक-सभा के अध्यक्ष या ऐसे रूप में कार्य करनेवाले व्यक्तियों की आज्ञा से वे अपनी-अपनी सभाओं में अपनी मातृ-भाषा में अपनी अभिव्यक्ति कर सकते हैं। जब तक संसद् विधि द्वारा कोई दूसरी व्यवस्था न करे, पंद्रह बरस के पश्चात् अंगरेजी का प्रयोग बंद हो जायगा।

अभ्यास

१. नये संविधान द्वारा राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति के निर्वाचन की क्या व्यवस्था की गयी है ?

२. राष्ट्रपति के अधिकारों का संक्षिप्त विवरण लिखिये ।

३. महाभियोग का क्या तात्पर्य है ? संसद, राष्ट्रपति और उपराष्ट्र-पति को किस प्रकार अपदस्थ कर सकती है ?

४. भारत के मौजूदा राष्ट्र-पति का नाम लिखिये । उनका निर्वाचन किस प्रकार हुआ है ?

५. नये संविधान द्वारा राष्ट्र-पति और मंत्रि-परिषद् के संबंध पर एक लेख लिखिये ।

६. संसद् का क्या तात्पर्य है ? उसकी विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण लिखिये ।

७. लोक-सभा और राज्य-परिषद् की रचना का संक्षिप्त विवरण लिखिये ।

८. संघीय संसद् के अधिकारों का संक्षिप्त विवरण लिखिये ।

९. संसद् की विधि-निर्माण प्रणाली का संक्षिप्त विवरण लिखिये ।

१०. धन-संबंधी प्रस्ताव का क्या अर्थ है ? भारतीय संसद् धन-संबंधी प्रस्तावों पर किस प्रकार विचार करती है ?

११. नये संविधान द्वारा संसद् की दोनों सभाओं के मतभेद को कैसे दूर किया जा सकता है ?

१२. संसद् और मंत्रि-परिषद् के संबंध की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये ।

१८

संघीय न्यायपालिका

उच्चतम न्यायालय

संघ-संविधानों में न्यायालयों का स्थान—संघ-संविधान प्रायः लिखित और अनमनीय होते हैं और उनमें संविधान द्वारा संघ और संघांतरित राज्यों में काम का बंटवारा कर दिया जाता है। न्यायालयों का भी विशेष स्थान होता है। संघ-संविधान एक इकरारनामे के समान होता है जिसकी धाराओं के संबंध में मतभेद का होना स्वाभाविक है। अतएव इकरारनामे की रक्षा तथा उसकी व्याख्या के लिए न्यायालयों के विशेष स्थान की व्यवस्था होती है। भारत के संघ-संविधान में एक उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था की गयी है जिसका काम संविधान की रक्षा एवं व्याख्या है। संविधान के इन अनुच्छेदों पर संयुक्त-राज्य-अमरीका का प्रभाव स्पष्ट है।

उच्चतम (Supreme) न्यायालय की रचना—"भारत के उच्चतम न्यायालय में प्रधान न्यायाधीश के अतिरिक्त अधिक से अधिक सात न्यायाधीश होंगे।" संसद को विधि द्वारा न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने का अधिकार है। उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है। नियुक्ति के समय वे उच्चतम या उच्च न्यायालय के उन न्यायाधीशों का परामर्श लेंगे, जिन्हें वे उचित समझें, पर प्रधान न्यायाधीश के अतिरिक्ति अन्य न्यायाधीशों की नियुक्त में प्रधान न्यायाधीश का परामर्श अवश्य लिया जायगा। इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि प्रधान न्यायाधीश अथवा न्यायाधीशों की नियुक्ति में विशेषज्ञों का परामर्श लिया जायगा। पर राष्ट्रपति के लिए यह अनिवार्य नहीं कि वे उस परामर्श के अनुसार ही न्यायाधीशों को नियुक्त करें। नियुक्ति की उक्त व्यवस्था भारतीय संविधान की एक विशेष बात है। उसका उद्देश्य प्रधानतया यह है कि ऐसे ही व्यक्ति न्यायाधीश नियुक्त हों जिन्हें अपने काम का यथोचित ज्ञान हो।

न्यायाधीशों की योग्यताएँ—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए कुछ योग्यताएँ निर्धारित कर दी गयी हैं। भारत के नागरिक होने के अतिरिक्त, वे इस प्रकार हैं—(१) वे व्यक्ति जो किसी उच्च न्यायालय

या दो या दो से अधिक उच्च न्यायालयों में मिलाकर कम से कम पांच बरस तक न्यायाधीश रह चुके हों। (२) वे वकील जो किसी उच्च न्यायालय या दो या अधिक उच्च न्यायलय या दो या अधिक उच्च न्यायालयों में मिलाकर कम से कम दस बरस तक वकालत कर चुके हों। (३) वे व्यक्ति, जो राष्ट्रपति के मतानुकूल, सुविख्यात कानून जानने वाले हों। नियुक्त न्यायाधीश ६५ बरस की अवस्था तक अपने पद पर रह सकते हैं। वे राष्ट्रपति के पास त्यागपत्र भेजकर इसके पूर्व भी अलग हो सकते हैं। यदि संसद की प्रत्येक सभा कुल सदस्यों के आधे तथा उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से अयोग्यता या दुराचार के कारण किसी न्यायाधीश के निकालने की प्रार्थना करे, तो राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा उसे निकाल सकते हैं। प्रधान न्यायाधीश को ५००० रु० मासिक वेतन मिलता है और अन्य न्यायाधीशों को ४००० रु० मासिक। इसके अतिरिक्त उन्हें बिना किराये का मकान भी मिलता है।

पदासीन होने के पूर्व प्रत्येक न्यायाधीश को राष्ट्रपति या उनके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के सम्मुख निम्नलिखित शपथ लेनी पड़ती है—

"मैं,···अमुक···जो भारत के उच्चतम न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश (न्यायाधीश) नियुक्त हुआ हूँ, ईश्वर की शपथ लेता हूँ, / सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि मैं विधि द्वारा संस्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूंगा, तथा मैं सम्यक् प्रकार से और निष्ठापूर्वक तथा अपनी पूर्ण योग्यता, ज्ञान और विवेक से अपने पद के कर्तव्यों का भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना पालन करूँगा तथा विधियों की मर्यादा बनाये रखूंगा।"

प्रधान न्यायाधीश के अधिकार—मुकद्दमों के निर्णय के अतिरिक्त, प्रधान न्यायाधीश को कुछ अन्य अधिकार भी दिये गये हैं। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं। यदि किसी समय उच्चतम न्यायालय का कोरम पूरा न हो तो प्रधान न्यायाधीश, संबद्ध उच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश के परामर्श से, उस न्यायालय के उपयुक्त न्यायाधीश से सर्वोच्च न्यायालय में काम करने की लिखित प्रार्थना करेंगे और वह न्यायाधीश अन्य कामों के पूर्व प्रधान न्यायाधीश की आज्ञा का पालन करेगा। उच्चतम या संघीय न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीशों से भी वे इसी प्रकार की प्रार्थना कर सकते हैं। दोनों अवस्थाओं में राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक है। उच्चतम न्यायालय के अधिकारी और कर्मचारी, प्रधान न्यायाधीश या उनके द्वारा निर्धारित न्यायाधीश या अधिकारी द्वारा नियुक्त होते हैं।

तथ्य (fact) का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ या होनेवाला है जो इस प्रकार का तथा ऐसे सार्वजनिक महत्त्व का है कि इस पर उच्चतम न्यायालय का मत लेना चाहिये, तो वे उस प्रश्न को उसके विचारार्थ सौंपेंगे और वह आवश्यक कार्रवाई के पश्चात्, राष्ट्रपति के सम्मुख अपनी उचित राय रख सकेगा।

उच्चतम न्यायालय संबंधी अन्य बातें—उच्चतम न्यायालय से संबद्ध निम्नलिखित अन्य बातें भी उल्लेखनीय हैं—

(१) उच्चतम न्यायालय के अधिवेशन दिल्ली या किसी अन्य ऐसे स्थान में होते हैं जिन्हें प्रधान न्यायाधीश राष्ट्रपति की अनुमति से निश्चित करें। (२) उच्चतम न्यायालय अभिलेख (Record) का न्यायालय है और उसे अपने अवमान करने वालों को दंड देने के सहित ऐसे न्यायालयों की सब शक्तियां प्राप्त हैं। (३) संसद को उच्चतम न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र के बढ़ाने का अधिकार है। (४) उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित कानून का बंधन भारत के राज्य-क्षेत्र में स्थित सब न्यायालयों पर है। (५) भारत के राज्य-क्षेत्र के समस्त असैनिक और न्याय-संबंधी अधिकारी उच्चतम न्यायालय की सहायता से काम करते हैं। (६) संसद् द्वारा निर्मित कानूनों के अंतर्गत, राष्ट्रपति के अनुमोदन से, उच्चतम न्यायालय अपनी कार्य-पद्धति के नियम बना सकता है। (७) ऐसे मुकदमों की सुनवायी, जिनका संबंध किसी महत्त्वपूर्ण कानूनी प्रश्न से हो या जो राष्ट्र-पति द्वारा परामर्श के लिए उसके अधीन किये गये हों, कम से कम पांच न्यायाधीश करेंगे। (८) उच्चतम न्यायालय के सब निर्णय खुली अदालत में दिये जाते हैं। निर्णय बहुमत के आधार पर किये जाते हैं। (९) उच्चतम न्यायालय को जनता के मूल अधिकारों तथा संविधान की रक्षा का अधिकार है। (१०) कोई व्यक्ति जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में पद धारण कर चुका है, भारत के राज्य-क्षेत्र के भीतर किसी न्यायालय अथवा अधिकारी के सम्मुख वकालत नहीं कर सकता।

उपसंहार—उच्चतम न्यायालय की उक्त व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि भारत के नये संविधान में उसका स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। संविधान-निर्माताओं ने उसे अधिक से अधिक योग्य तथा स्वतंत्र बनाने का प्रयत्न किया है। उसके निर्णयों की अवहेलना नहीं की जा सकती। वह अपने अवमान करने वालों को दंड दे सकता है। संसद से विधि द्वारा निदेश, आदेश या लेख, जिनके अंतर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण, (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus),

प्रतिषेध (Prohibition), अधिकार-पृच्छा (Quo Warranto), उत्प्रेषण (Certiorari) के लेख भी सम्मिलित हैं, के अधिकारों को पाकर वह इनका प्रयोग कर रहा है तथा कर सकेगा। उच्चतम न्यायालय के उक्त अधिकारों का होना अनिवार्य है। संघ-संविधान योग्य, निष्पक्ष, स्वतंत्र और निर्भय न्यायालयों के बिना सफल नहीं हो सकता।

अभ्यास

१. संघ संविधानों में न्यायपालिका के स्थान पर एक निबंध लिखिये।

२. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों में किन-किन योग्यताओं का होना आवश्यक है? उन्हें किस प्रकार नियुक्त किया जाता है?

३. रचना के अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय की अन्य महत्त्वपूर्ण बातों को समझाकर लिखिये।

४. उच्चतम न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

५. संघीय कार्यपालिका, संसद् और न्यायपालिका में क्या संबंध है?

१९

संघांतरित राज्यों का शासन

कार्यपालिका, विधान-मंडल और न्यायपालिका

(१) कार्य-पालिका

भारतीय संघ के अंग—प्रत्येक संघ-राज्य दो या अधिक राज्यों के मेल से बनता है। भारत भी राज्यों का संघ है। संविधान द्वारा वे चार भागों में विभाजित किये गये हैं। पहले भाग में उन राज्यों की गणना है जो सन् १९५० ई० के पूर्व प्रांत कहे जाते थे; जैसे आसाम, बंगाल, बिहार, बंबई, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, मध्य-प्रदेश और उत्तर-प्रदेश। दूसरे भाग में उन राज्यों की गणना है जो पहले भारतीय रियासतों के नाम से प्रसिद्ध थे। इनमें से बड़ी रियासतें, जैसे जम्मू और काश्मीर, हैदराबाद और मैसूर स्वतंत्र संघांतरित इकाइयों के रूप में स्वीकार कर ली गयी हैं और दूसरी रियासतों को मिलाकर संघ बनाये गये हैं। संघांतरित रियासती संघों के नाम राजस्थान, मध्यभारत, पटियाला तथा पूर्वी पंजाब का रियासती संघ, सौराष्ट्र, ट्रावनकोर-कोचीन, तथा विंध्य प्रदेश हैं। तीसरे भाग में उन राज्यों की गणना है जो पहले चीफ कमिश्नरों के प्रांत थे। इनकी संख्या इस समय दस है। इनमें कुछ रियासतें भी सम्मिलित हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—पंथ-पिपलोदा सहित अजमेर, भूपाल, बिलासपुर, कुर्ग, कूच-बिहार, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा। चौथे भाग में अंडमांस और नीकोबार द्वीप-समूहों की गणना है, पर इन्हें राज्य की उपाधि नहीं मिली है। प्रथम दो भागों के संघांतरित राज्यों का शासन कुछ अंतरों के अतिरिक्त, न्यूनाधिक एक ही प्रकार का है। अतएव हम पहले प्रथम वर्ग के राज्यों के शासन का विवरण देकर, यह बतलायेंगे कि दूसरे वर्ग के राज्यों का शासन उनसे किन बातों में भिन्न है।

राज्यपाल (गवर्नर)—प्रथम वर्ग के प्रत्येक संघांतरित राज्य के लिए एक राज्यपाल (गवर्नर) की व्यवस्था है। राज्य की समस्त शासकीय सत्ता उसमें निहित है और वह उसका प्रयोग या तो स्वयं करता है या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा। राज्यपाल की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति

को है। इस अधिकार का प्रयोग वे मंत्रि-परिषद् की सहायता और मंत्रणा से करेंगे। राज्यपाल तभी तक अपने पद पर रह सकेगा जब तक राष्ट्रपति चाहें या वह स्वयं ही त्यागपत्र देकर अलग न हो जाय। इन दोनों शर्तों के अंतर्गत राज्यपाल का कार्यकाल साधारणतया पांच बरस निश्चित किया गया है। इस अवधि के पश्चात् भी वह उस समय तक अपने पद पर रहेगा, जब तक उसके उत्तराधिकारी की नियुक्ति न हो जाय। कोई व्यक्ति जो भारतीय नागरिक नहीं है तथा जिसकी अवस्था ३५ बरस से कम है, राज्यपाल नियुक्त होने के लिए उपयुक्त न समझा जायगा। राज्यपाल न तो राज्य के विधान-मंडल की किसी सभा का सदस्य होगा और न अपने कार्यकाल में किसी अन्य लाभ-प्रद स्थान को ग्रहण कर सकेगा। उसे पार्लमेंट द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ता तथा रहने को बिना किराये का सरकारी निवास-स्थान मिलेगा। पार्लमेंट के निर्णय के पूर्व राज्यपाल को संविधान द्वारा निर्धारित ५५००) रु० मासिक वेतन मिलेगा। उसका वेतन, भत्ता तथा विशेषाधिकार उसके कार्य-काल में घटाये न जायंगे। किसी राज्य के राज्यपाल बनने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उसका निवासी हो। व्यवहार में अभी तक साधारणतया दूसरे राज्यों के प्रभावशाली व्यक्ति ही राज्यपाल नियुक्त हुए हैं। इस पद्धति के अंतस्तल में संभवतः यह भावना है कि दूसरे राज्यों के निवासी अधिक निष्पक्षता के साथ अपने उत्तर-दायित्वों का वहन करेंगे।

पदासीन होने के पूर्व राज्यपाल को अपने पद की निम्नलिखित शपथ लेनी पड़ेगी "मैं·········अमुक·········ईश्वर की शपथ लेता हूँ या सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक (राज्य का नाम) के राज्यपाल का कार्यपालन (अथवा राज्यपाल के कृत्यों का निर्वहन) करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, और प्रतिरक्षण करूँगा और मैं (राज्य का नाम) की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा"

मंत्रि-परिषद्—राज्यपाल को अपने कार्य-संपादन में मंत्रणा और सहायता देने के लिए, मुख्य-मंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था है। मुख्य मंत्री को राज्यपाल नियुक्त करेंगे और मुख्य मंत्री की मंत्रणा से अन्य मंत्रियों को भी। मुख्य-मंत्री की नियुक्ति में राज्यपाल को अपने विवेक के प्रयोग की अधिक गुंजाइश न होगी। उत्तरदायी शासन के आदर्श के कारण उसे उसी व्यक्ति को मुख्य मंत्री नियुक्त करना पड़ेगा, जो प्रांतीय विधान-सभा के बहु-संख्यक दल का नेता हो। अन्य मंत्री भी साधारणतया प्रांतीय विधान-मंडल के सदस्य

होंगे। बाहरी व्यक्ति मंत्री नियुक्त हो सकेंगे, किंतु इस शर्त पर कि यदि छः महीने के भीतर वे प्रांतीय विधान-मंडल के सदस्य नहीं हो जाते, तो उन्हें मंत्रि-पद से हटना पड़ेगा। पदासीन होने के पूर्व मुख्य-मंत्री तथा अन्य मंत्रियों को अपने पद तथा गोपनीयता की शपथ लेना पड़ेगी। मंत्रि-मंडल सामूहिक रूप से अपने कामों के लिए विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी होगा। मंत्रियों को विधान-मंडल द्वारा निर्धारित वेतन मिलेगा, किंतु जब तक वह निर्धारित न किया जाय, वे उसी वेतन के अधिकारी होंगे, जो नये संविधान के लागू होने के पूर्व उन्हें मिलता था। राज्यपालों को कुछ विवेक के भी अधिकार हैं। उनका निर्धारण वे अपने विवेक के अनुसार करेंगे। इन कामों में राज्यपाल के लिए मंत्रि-परिषद् की सहायता और मंत्रणा से काम करना आवश्यक न होगा। किसी विषय में, मंत्रि-परिषद् ने राज्यपाल को परामर्श दिया या नहीं और यदि दिया तो क्या?—इस विषय में किसी न्यायालय को जांच करने का अधिकार न होगा।

राज्यपाल (गवर्नर) के अधिकार—नये संविधान द्वारा राज्यपाल को अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकार दिये गये हैं। हम उन्हें तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) **कार्यपालिका संबंधी अधिकार**—राज्य के सर्वोच्च शासकीय अधिकार राज्य-पाल को हैं। राज-सूची के समस्त विषयों पर उसका अधिकार है। समवर्ती सूची पर भी उसका अधिकार है पर राष्ट्रपति के अधीन रहकर। राज्य के समस्त कार्यपालिका संबंधी कार्य उसके नाम पर किये जायँगे। वह ही मुख्य मंत्री को नियुक्त करेगा और उसकी मंत्रणा के अनुसार अन्य मंत्रियों को। महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल) की नियुक्ति का अधिकार भी उसी को है। इस अधिकारी में उन सब योग्यताओं का होना आवश्यक है जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए आवश्यक समझी गयी हैं। यदि राज्यपाल को किसी समय यह विदित हो कि राज्य पर संकट आनेवाला है, तो वह उसकी सूचना राष्ट्रपति को देगा और यदि वे उसकी सूचना के आधार पर संकट के काल की घोषणा कर देंगे, तो राज्यपाल को राष्ट्रपति के आदेशानुसार काम करना पड़ेगा। वह अपने शासकीय अधिकारों का प्रयोग या तो मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा के अनुसार करेगा या अपने विवेक के अनुसार। उसे अपने विवेक के अनुसार ही, यह निश्चित करने का अधिकार है कि कौन से काम वह मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा से करे और कौन से अपने विवेक के अनुसार।

विधि-निर्माण संबंधी अधिकार—राज्यपाल, राष्ट्रपति की भाँति अपने अपने विधान-मंडलों के अंग हैं। जिन राज्यों के विधान-मंडलों में दो सभाएँ हैं वहाँ उसे विधान-परिषद् (लेजिस्लेटिव कौंसिल) के कुछ सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार है। वह ही विधान-मंडल के अधिवेशनों को कराता तथा विधान-सभा (Legislative Assemby) को विघटित कर सकता है। विधान-मंडल द्वारा स्वीकृत कोई भी विधेयक उसकी अनुमति के बिना कानून नहीं बन सकता। उसे अनुमति देने, न देने या विधेयक को रा पति के आज्ञा के लिए रिजर्व करने का अधिकार है। वह उसे विधान-मंडल के पास पुनर्विचार के लिए भी भेज सकता है। किंतु यदि पुनर्विचार के पश्चात् विधान-मंडल उस विधेयक को पुनः मौलिक या संशोधित रूप में पास करता है तो वह अपनी अनुमति देने से इनकार नहीं कर सकता, पर उच्च न्यायालय के अधिकारों पर कुप्रभाव डालनेवाले विधेयकों को राष्ट्रपति की आज्ञा के लिए रिजर्व कर सकता है। जिन दिनों विधान-मंडल के अधिवेशन न होते हों, वह अध्यादेश (ऑर्डीनेंसें) जारी कर सकता है। ये विधान-मंडल के अधिवेशन के आरंभ के पश्चात् अधिक से अधिक छः सप्ताह तक लागू रहेंगे। इस अवधि के पूर्व भी वे स्वयं राज्यपाल द्वारा वापस लिये जा सकते हैं या विधान-मंडल या सभा के प्रस्ताव द्वारा रद किये जा सकते हैं। राज्यपाल ऐसे विषयों की ऑर्डीनेंसें न जारी करेगा, जिनके संबंध के प्रस्ताव वह राष्ट्र-पति की आज्ञा के लिए रिजर्व करता। राज्यपाल को विधान-सभा अथवा विधान-मंडल की दोनों या एक सभा में अपना भाषण देने का अधिकार है। वह विचाराधीन किसी विधेयक के विषय में अपना संदेश भेज सकेगा और संबद्ध सभा यथासुविधा शीघ्रता से उस पर विचार करेगी। प्रत्येक अधिवेशन के आरंभ में वह अपना भाषण देगा जिस पर विचार करने के लिए पूर्ववर्तिता देने का उपबंध किया जायगा।

आर्थिक अधिकार—प्रति वर्ष राज्यपाल, राज्य की आय-व्यय का लेखा, विधान-मंडल और जहाँ केवल एक ही सभा हो, विधान-सभा के समक्ष पेश करावेंगे। विधान-मंडल या सभा किसी ऐसी माँग को स्वीकार न करेगी जो राज्यपाल के नाम पर न हो। वित्तीय विधेयक केवल विधान-सभा में ही आरंभ होंगे। अमुक विधेयक वित्तीय है अथवा नहीं, इस संबंध में अध्यक्ष का प्रमाणपत्र सर्वमान्य होगा। विधान-मंडल अथवा सभा द्वारा स्वीकृत वित्तीय विधेयक भी राज्यपाल की अनुमति के लिए उनके समक्ष उपस्थित किये जायँगे।

न्याय संबंधी अधिकार—राज्यपाल को कुछ न्याय संबंधी अधिकार भी

दिये गये हैं। जिस विषय पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है उसके संबंध में किसी विधि के विरुद्ध किसी अपराध के लिए सिद्ध-दोष किसी व्यक्ति के दंड की क्षमा, प्रविलंबन, विराम और परिहार करने की अथवा दंडादेश का निलंबन, परिहार या लघुकरण की शक्ति राज्यपाल को दी गयी है।

अधिकारों का सीमा—राज्यपाल के अधिकार असीमिति नहीं वरन् सीमित हैं। उसका संबंध केवल उन्हीं विषयों से है, जिनका उल्लेख राज्य-सूची में है। इनके संबंध में भी वह साधारणतया मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा और सहायता से काम करेगा। यदि वह किसी काम को अपने विवेक के अनुसार करेगा, तो उसके संबंध में या तो वह राष्ट्रपति के अधीन हो जायगा, या ऐसी परिस्थिति को उत्पन्न करेगा कि मंत्रि-परिषद् त्याग-पत्र की धमकी देकर उससे अपनी मंत्रणा के अनुसार काम करावेगा। अतएव व्यवहार में वह साधारण काल में राज्य का संवैधानिक शासक-मात्र होगा और संकट के काल में राष्ट्रपति के अधीन राज्य के अधिकारी के समान।

राज्यपाल और मंत्रि-परिषद् का संबंध—राज्यपाल और मंत्रि-परिषद् के संबंध के विषय में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—(१) राज्यपाल मुख्य मंत्री और उसकी सिफारिश पर अन्य मंत्रियों को नियुक्त करेंगे। (२) राज्यपाल अपनी कार्यपालिका शक्ति का उपभोग मंत्रि-परिषद् की सहायता और मंत्रणा से करेंगे। अपने विवेक के अधिकारों के अतिरिक्त वे अन्य कामों को मंत्रि-परिषद् के परामर्श के अनुसार करेंगे। (३) अपने विवेक के कामों के अतिरिक्त सरकारी कामों के लिए, राज्यपाल, काम के बँटवारे के नियम बनावेंगे। (४) प्रत्येक मुख्य-मंत्री का यह कर्तव्य है कि वह राज्य-कार्यों के प्रशासन संबंधी मंत्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चयों तथा विधान के लिए प्रस्थापनाओं की सूचना राज्यपाल को दे, प्रशासन संबंधी जिन विनिश्चयों तथा विधान-संबंधी जिन प्रस्थापनाओं की सूचना राज्यपाल माँगे, उसको दे, तथा जिस विषय पर केवल एक मंत्री ने विनिश्चय किया हो उसे राज्यपाल के कहने से समस्त मंत्रि-परिषद् के विचाराधीन करे।

राष्ट्रपति और राज्यपाल का संबंध—राष्ट्रपति और राज्यपाल के संबंध की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—(१) राज्यपालों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है। इस काम को वे अपनी मंत्रिपरिषद् के परामर्श से करेंगे। (२) कुछ विषय ऐसे हैं जिनके संबंध के स्वीकृत विधेयक राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किये जायँगे और उनकी अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् ही विधि बन सकेंगे; जैसे राज्य द्वारा किसी संपत्ति का अधिकृत किया जाना; समवर्ती

विषयों के ऐसे स्वीकृत विधेयक जो संसद द्वारा निर्मित पूर्वकालीन विधियों से असंगत हों। (३) यदि राज्यपाल को किसी समय यह विदित हो कि संविधान युक्त शासन का चलाना असंभव है, तो वह इस बात की सूचना राष्ट्रपति को देगा। ऐसी अवस्था में राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह घोषणा द्वारा राज्यपाल के सब अधिकारों को अपने हाथ में कर लें। (४) किसी आकस्मिकता में, जिसकी संविधान द्वारा व्यवस्था न हो, अपने कृत्यों के निर्वहन के लिए, राज्यपाल जैसा उचित समझें, उपबंध कर सकेंगे।

(२) विधान-मंडल

राज्यों के विधान-मंडल—नये संविधान में छः राज्यों, पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, बंबई और मद्रास के लिए विधान-मंडलों की व्यवस्था है और शेष के लिए केवल विधान-सभा की। सभाओं के नाम विधान-परिषद् (Legislative Council) और विधान-सभा (Legislative Assembly) हैं। संसद को, विधान-परिषदों के तोड़ने तथा नयी विधान-परिषदों की व्यवस्था करने का अधिकार है। ऐसी कार्रवाई वह तभी करेगा, जब राज्य की विधान-सभा उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई और कुल सदस्यों के आधे से अधिक बहुमत से तत्संबंधी विधेयक पास करे। इस प्रकार की व्यवस्था संविधान में संशोधन न समझी जायगी।

विधान-सभा का संगठन—विधान-सभा प्रत्यक्ष निर्वाचन तथा वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा निर्वाचित होगी। प्रत्येक ७५००० जनसंख्या के लिए एक से अधिक प्रतिनिधि न होगा। अधिक से अधिक सदस्यों की संख्या ५०० निर्धारित हुई है और कम से कम ६०। कार्य-काल पाँच बरस है, पर वह इसके पूर्व भंग की जा सकती है। संकट के काल में उसका कार्यकाल एक एक बरस करके बढ़ाया जा सकता है, पर संकट के काल की घोषणा के अंत के पश्चात् छः महीने से अधिक नहीं। सभा अपने ही सदस्यों में से एक को अध्यक्ष और दूसरे को उपाध्यक्ष चुनेगी। ये अधिकारी तभी तक अपने पद पर रह सकेंगे जब तक सभा के सदस्य बने रहें। त्याग-पत्र देकर वे अपने पद से हट सकते हैं। सभा स्वयं कुल सदस्यों के आधे से अधिक मतों द्वारा उन्हें अपदस्थ कर सकती है। अध्यक्ष के स्थान के रिक्त होने पर उपाध्यक्ष उसके स्थान पर काम करेगा। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों को राज्य की विधान-सभा अथवा मंडल द्वारा निर्धारित वेतन मिलेगा।

विधान-परिषद् (Legislative Council) का संगठन—विधान-

परिषद् के सदस्यों की संख्या सभा के सदस्यों की एक चौथाई निश्चित की गयी है पर वह ४० से कम न होगी। उसका संगठन इस प्रकार किया जायगा—(१) एक तिहाई सदस्य म्युनिसिपल बोर्डों, जिला बोर्डों तथा संसद (पार्लमेंट) द्वारा निर्धारित अन्य स्थानीय संस्थाओं के सदस्यों द्वारा निर्वाचित होंगे। (२) लगभग १/१२ भाग, विश्व-विद्यालयों के तीन बरस पुराने स्नातकों या संसद् द्वारा निर्धारित समान योग्यता वाले अन्य व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित होंगे। (३) लगभग १/१२ भाग ऐसे अध्यापकों द्वारा निर्वाचित होंगे जो माध्यमिक (Secondary) या उनसे बड़े स्कूलों में कम से कम तीन बरस से काम कर रहे हों। (४) एक तिहाई सदस्य राज्य की विधान-सभा ऐसे व्यक्तियों में से निर्वाचित करेगी जो उसके सदस्य न हों। (५) शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जायँगे।

विधान-परिषद् एक स्थायी संस्था होगी। पर प्रत्येक दूसरे बरस, उसके एक तिहाई सदस्यों का एक नया निर्वाचन होगा। सभा अपने ही सदस्यों में से एक को सभापति और दूसरे को उप-सभापति निर्वाचित करेगी। वेतन, त्याग-पत्र तथा अपदस्थ होने की व्यवस्था विधान-परिषद् के संबंध में वही है जो विधान-सभा के संबंध में।

संगठन संबंधी अन्य बातें—विधान-सभा के निर्वाचन में वोट देने के लिए निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक समझा गया है—(१) भारतीय नागरिक तथा राज्य का निवासी होना। (२) मानसिक दृष्टि से ठीक होना, अर्थात् किसी उपयुक्त न्यायालय द्वारा वह खराब दिमाग का न घोषित किया गया हो। (३) किसी ऐसे अपराध के लिए दंडित न होना जिसके कारण वह वोट देने के अधिकार से वंचित कर दिया गया हो। (४) निर्वाचन संबंधी दुराचरण का अपराधी न होना। (५) निर्वाचकों की सूची में उसके नाम का होना। (६) कम से कम २१ बरस की आयु का होना। सदस्यता के लिए भी यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति भारतीय नागरिक हो और विधान-सभा के लिए कम से कम २५ और विधान-परिषद् के लिए कम से कम ३० बरस का हो। उसे निम्नलिखित निर्योग्यताओं से भी मुक्त होना चाहिये। (१) भारत-सरकार या राज्य की सरकार में लाभप्रद पदों के अधिकारी, जब तक वे राज्य के कानून द्वारा मुक्त न कर दिये गये हों। (२) वे मनुष्य जिन्हें उपयुक्त न्यायालय ने खराब दिमाग का ठहराया हो। (३) वे दिवालिए जो अपना दुर्नाम न कर पाये हों। (४) वे व्यक्ति जो भारत की नागरिकता को छोड़कर

स्वतः दूसरे देशों के नागरिक बन गये हों। (५) जो संसद द्वारा निर्मित किसी नियम द्वारा अयोग्य ठहराये गये हों।

कोई भी व्यक्ति एक ही समय दो विधान-मंडलों का सदस्य नहीं हो सकता। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जो सदस्यता का अधिकारी नहीं है, विधान-मंडल की कार्रवाई में भाग लेगा तथा मत-दान करेगा, तो उससे प्रतिदिन ५००) रु० के हिसाब से जुर्माना लिया जायगा। यदि विधान-मंडल की किसी सभा का कोई भी सदस्य, सभा की आज्ञा के बिना, ६० दिन तक लगातार अनुपस्थित रहेगा, तो सभा उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकेगी। विधान-मंडल के सदस्यों को मंडल द्वारा निर्धारित वेतन मिलेगा। विधान-मंडल में दिये गये भाषणों के कारण किसी भी न्यायालय में उनके विरुद्ध किसी प्रकार का आरोप न लगाया जायगा।

अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व—राज्यों की विधान-सभा के सदस्य साधारणतया जनसंख्या के आधार पर निर्वाचित होंगे, पर कुछ अल्प-संख्यकों के लिए स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। प्रत्येक राज्य की विधान-सभा में अनुसूचित जातियों (Castes) और अनुसूचित जन-जातियों (Tribes) के लिए उनकी जन-संख्या के आधार पर स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं, पर उनका निर्वाचन संयुक्त निर्वाचन के आधार पर होगा। आंग्ल-भारतीयों की भी विशेष व्यवस्था की गयी है। यदि किसी राज्य के राज्यपाल को यह विदित हो कि आंग्ल-भारतीयों को यथेष्ट प्रतिनिधित्व नहीं मिला है, तो वह जितने उचित समझे, उतने इस वर्ग के व्यक्ति, विधान-सभा में नामजद कर सकेगा।

विधान-मंडलों का प्रथम निर्वाचन—संसद के निर्वाचन के संबंध में हम रेप्रेसेंटेशन आफ पोपुलस ऐक्ट नंबर १ और नंबर २ का उल्लेख कर चुके हैं। वे संघातरित राज्यों पर भी लागू किये गये और उनके अंतर्गत निर्वाचन-क्षेत्रों का निर्माण तथा निर्वाचन की समस्त व्यवस्था की गयी। संघांतरित राज्यों के निर्वाचन संसद की भाँति, दलबंदी के आधार पर लड़े गये। मुख्य दल वे ही थे जिनका विवरण संसद् के निर्वाचन के संबंध में दिया गया है। संसद की लोक-सभा तथा संघांतरित राज्यों की विधान-सभाओं के लिए मतदान एक ही दिन और एक ही स्थान पर हुआ था पर विभिन्न संघांतरित राज्यों के निर्वाचन की तारीखें अलग-अलग थीं। निर्वाचन के परिणाम-स्वरूप प्रायः सभी राज्यों में कांग्रेस के सदस्य बहुमत में पहुँचे। केवल मद्रास में उनकी संख्या आधे से कम थी। वहाँ पर भी दूसरे दलों के मेल के कारण कांग्रेस का बहुमत स्थापित हो गया है। पेप्सू (पटियाला और पूर्वी पंजाब का रियासती संघ) में भी कांग्रेस के सदस्य

अल्प संख्या में निर्वाचित हुए थे। फलस्वरूप वहाँ की शासन-व्यवस्था ठीक-ठीक न चल सकी। अतः उसका शासन राष्ट्रपति ने अपने अधीन कर लिया है। विधान-सभाओं के निर्वाचन के पश्चात् विधान-परिषदों के निर्वाचन हुए। निर्वाचन का फल यहाँ भी विधान-सभाओं का सा रहा। इस प्रकार नये संविधान के अंतर्गत विधान-मंडलों का निर्वाचन हो गया।

विधान-मंडल का कार्यारंभ—राज्यपाल को विधान-मंडल की दोनों सभाओं अथवा केवल विधान-सभा के अधिवेशन को निर्धारित दिन और स्थान पर बुलाने का अधिकार है। पदासीन होने के पूर्व प्रत्येक सदस्य को निम्नलिखित शपथ लेनी पड़ती है—

"मैं......अमुक......जो विधान-सभा (या विधान-परिषद) के लिए सदस्य निर्वाचित (तथा नाम निर्देशित) हुआ हूँ ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्य-निष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूँगा तथा जिस पद को मैं ग्रहण करने वाला हूँ उसके कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक निर्वहन करूँगा।"

राज्यपाल को विधानमंडल की किसी सभा अथवा दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन में भाषण देने का अधिकार है। अतएव प्रत्येक अधिवेशन के आरंभ में विधान-सभा और जहाँ दो सभाएं हों, वहाँ दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन में, वे अपना भाषण देंगे और उसमें यह बतलायेंगे कि अधिवेशन क्यों कराया गया है। विधान-सभा या दोनों सभाएँ इस भाषण पर विचार करने के लिए समय निर्धारित तथा अन्य काम पर इस चर्चा को पूर्ववर्तिता देने का उपबंध करेंगी। तत्पश्चात् राज्यों के विधान-मंडल अपने-अपने काम में लग जायँगे।

विधान-मंडल के अधिकार—संविधान के अनुसार प्रतिवर्ष विधान-मंडल के दो अधिवेशनों का होना आवश्यक है, अर्थात् एक अधिवेशन के अंतिम दिन और आगामी अधिवेशन के आरंभिक दिन के बीच में ६ महीने से अधिक का अंतर न होना चाहिये। राज्यपाल को एक या दोनों सभाओं के अधिवेशनों को बुलाने, उनके सत्रावसान (Prorogue) करने, तथा विधान-सभा को विघटित करने का अधिकार है। विधान-मंडल को राज्य-सूची के समस्त विषयों की विधियाँ बनाने का अधिकार है। वह समवर्ती (Concurrent) विषयों की भी विधियाँ बना सकेगा, पर इस शर्त पर कि साधारणतया इन विषयों की संघीय विधियाँ उच्चतर और राज्यों की विधियाँ विरोधात्मक अंश तक रद समझी जायंगी।

राज्य की मंत्रि-परिषद् अपनी नीति और कामों के लिए विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी है। विधान-सभा का कोई सदस्य मंत्रियों से प्रश्न पूछ सकता, शासकों के कामों पर तर्क-वितर्क के लिए अधिवेशन को स्थगित करा सकता तथा अविश्वास के प्रस्ताव को पास करके मंत्रि-परिषद् को अपदस्थ करा सकता है। विधान-मंडल को बजट पास करने का भी अधिकार है। इस संबंध में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि विधान-परिषद् के अधिकार विधान-सभा की अपेक्षा कम हैं। वित्तीय विधेयक विधान-सभा में ही आरंभ होते हैं और यदि विधान-परिषद् उन्हें स्वीकार न करे, तो भी १४ दिन के पश्चात् वे दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत समझे जाते हैं।

विधान-मंडलों की सीमाएँ—राज्यों के विधान-मंडल पूर्णतया प्रभुता-संपन्न नहीं हैं। वे केवल राज्य-सूची के विषयों की विधियाँ बना सकते हैं। समवर्ती विषयों पर भी उनका अधिकार है, पर इस शर्त पर कि उनकी विधि संघीय विधि से असंगत न हो और यदि असंगत हों तो विरोधात्मक अंश तक रद समझी जाय। संकट के काल की घोषणा पर, संसद् को राज्य-विषयों की भी विधि बनाने का अधिकार है। राज्यों के विधान-मंडलों द्वारा स्वीकृत विधेयकों को अनुमति न देकर, पहले तो राज्यपाल उन्हें विलंबित कर सकते हैं और यदि वे राष्ट्र-पति की आज्ञा के लिए रिजर्व किये गये हों, तो वे भी उन्हें रद कर सकते हैं। इस प्रकार कार्य-विभाजन तथा राज्यपाल और राष्ट्र-पति के अधिकारों के कारण राज्य के विधान-मंडलों के अधिकार सीमाबद्ध हैं।

विधि-निर्माण की प्रक्रिया—विधान-मंडल साधारणतया दो तरह की विधियाँ बनाता है—(अ) साधारण-विधियाँ—इनके विधेयक किसी भी सभा में प्रेषित किये जा सकते हैं। यदि कोई विधेयक विधान-सभा द्वारा स्वीकृत होने के पश्चात्, विधान-परिषद् के विचाराधीन किया जाता है और वह इसे अस्वीकार करती या तीन महीने तक उसकी स्वीकृति की सूचना नहीं देती या उसे इस प्रकार संशोधित करती है जो विधान-सभा को मान्य नहीं है, तो विधान-सभा उसके मौलिक या संशोधित रूप पर पुनः विचार करके तथा उसे पुनः स्वीकार करके, विधान-परिषद् के पास भेजेगी। यदि इस बार भी विधान-परिषद् उसे अस्वीकार करेगी तो विधान-सभा द्वारा स्वीकृत विधेयक दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत समझा जायगा और राज्यपाल के पास उसकी अनुमति के लिए भेज दिया जायगा। राज्यपाल को अधिकार है कि अनुमति दे या न दे या उसे पुनर्विचार के लिए लौटा दे या राष्ट्र-पति की आज्ञा के लिए रिजर्व कर दे।

यदि विधेयक राज्यपाल के सुझाव के साथ पुनर्विचार के लिए भेजा जाता है और विधान-मंडल उसे मौलिक अथवा संशोधित रूप में पुनः स्वीकार करता है, तो राज्यपाल अनुमति देने से इनकार न करेंगे, पर ऐसे विधेयकों को जिनका उच्च न्यायालय के अधिकारों पर कुप्रभाव पड़ता हो, वे राष्ट्रपति की आज्ञा के लिए रिजर्व कर देंगे।

विधान-मंडल की दोनों सभाओं के संबंध के विषय में निम्नलिखित बातें भी स्मरणीय हैं—(१) किसी राज्य के विधान-मंडल में लंबित विधेयक उसकी एक सभा या दोनों सभाओं के सत्रावसान के कारण समाप्त न हो जायँगे। (२) किसी राज्य की विधान-परिषद में लंबित विधेयक, जिसे विधान-सभा ने स्वीकार नहीं किया है, विधान-सभा के विघटन पर समाप्त न हो जायगा। (३) कोई विधेयक जो किसी राज्य की विधान-सभा में लंबित है अथवा जो विधान-सभा द्वारा स्वीकृत होकर विधान-परिषद में लंबित है, विधान-सभा के विघटन पर समाप्त समझा जायगा। (४) संघातरित राज्यों में, दोनों सभाओं में मतभेद होने पर, संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था नहीं है। विपरीत इसके विधान-परिषद के दबने की व्यवस्था की गयी है।

(ब) वित्तीय विधेयकों की प्रक्रिया—वित्तीय विधेयकों की प्रक्रिया इससे कुछ भिन्न है। निम्नलिखित विषयों के विधेयक वित्तीय निर्धारित हुए हैं—

(१) जो किसी कर को लगाते, हटाते, बदलते या विनियमित करते हों। (२) जो राज्य द्वारा ऋण लेने या गारंटी देने या राज्य द्वारा लिये गये अथवा लिये जाने वाले धन-संबंधी उत्तरदायित्वों के नियमों को संशोधित या विनियमित करते हों। (३) जो राज्य की संचित या आकस्मिक निधि की रक्षा तथा उसमें धन डालने या उससे धन निकालने के संबंध में हों। (४) जो राज्य की संचित निधि (Consolidated Fund) से धन लेने से संबद्ध हों। (५) जो किसी व्यय को राज्य की निधि पर भारित (Charged) घोषित करते हों, या इस प्रकार के व्यय को बढ़ाते हों। (६) जो उपरिलिखित विषयों के आनुषंगिक विषयों से संबद्ध हों।

उक्त प्रकार के वित्तीय विधेयक केवल विधान-सभा में ही आरंभ होंगे और उसकी स्वीकृति के पश्चात् विधान-परिषद् में भेजे जायंगे। यदि विधान-परिषद्, चौदह दिन के भीतर मौलिक अथवा संशोधित विधेयक को विधान-सभा को वापस न करेगी, तो वह दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत समझा जायगा। यदि विधान-परिषद् उसे इस प्रकार संशोधित करती है जो विचार के पश्चात् विधान-सभा को मान्य न हो, तो भी विधेयक दोनों सभाओं द्वारा स्वीकृत समझा जायगा।

विधान-सभा द्वारा स्वीकृत वित्तीय विधेयकों को राज्यपाल पुनर्विचार के लिए नहीं लौटा सकते। अमुक विधेयक वित्तीय है अथवा नहीं, इस संबंध में अध्यक्ष का निर्णय अंतिम होगा।

राज्यों के विधान-मंडल के वित्तीय अधिकारों में निम्नलिखित बातें आती हैं—(१) वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा; (२) अनुदान की माँग; (३) विनियोग विधेयक; (४) अन्य वित्तीय विधेयक। प्रति वित्तीय वर्ष राज्यपाल विधान-सभा के सम्मुख वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा पेश करावेंगे। व्यय के दो भाग होंगे, पहला वह जो राज्य की संचित निधि पर भारित है और दूसरा वह जो इसके अतिरिक्त है। निम्नलिखित व्यय संचित निधि पर भारित व्यय है—(१) राज्यपाल की उपलब्धियाँ और भत्ते तथा उसके पद से संबद्ध अन्य व्यय ; (२) विधान-सभा के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा विधान-परिषद के सभापति और उप-सभापति के वेतन और भत्ते। (३) ऐसे ऋण का भार जिसका उत्तरदायित्व राज्य की सरकार पर हो। (४) किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को या उनके बारे में दिये जाने वाले वेतन, भत्ते और पेंशनें। (५) किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायालय के निर्णय के संबंध का व्यय। (६) संविधान या राज्य के विधान-मंडल द्वारा जो व्यय इस प्रकार का घोषित किया जाय।

व्यय की उक्त मदें विधान-सभा के वोट पर निर्भर न होंगी पर वह इनके विषय में वाद-विवाद कर सकेगी। व्यय की अन्य मदें विधान-सभा के वोट पर निर्भर हैं। उसे अधिकार है कि वह उन्हें स्वीकार करे अथवा अस्वीकार, या उन्हें अपने इच्छानुकूल संशोधित कर दे। इस प्रकार राज्य का विधान-मंडल अनुदान की माँगों को स्वीकार करेगा। उसे उन मांगों की भी स्वीकृति का अधिकार है जिसके अनुसार राज्य की आय होगी। वे सब विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) के अंतर्गत आवेंगी। राज्य के प्रत्येक वित्तीय विधेयक अथवा अनुदान के लिए राज्यपाल की सिफारिश का होना आवश्यक है।

मंत्रि-परिषद् और विधान-मंडल का संबंध—मंत्रि-परिषद और विधान-मंडल के परस्पर संबंध के विषय में निम्नलिखित बातें स्मरणीय हैं—(१) मंत्रि-परिषद के सब सदस्यों के लिए यह आवश्यक है कि वे विधान-मंडल के सदस्य हों। बाहरी व्यक्ति भी मंत्रिपरिषद के सदस्य हो सकते हैं, पर विधान-मंडल के सदस्य हुए बिना छः महीने से अधिक वे मंत्रि-परिषद् के सदस्य नहीं रह सकते। (२) मंत्रि-परिषद सामूहिक रूप से अपनी नीति और कामों के लिए विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी है। अविश्वास के प्रस्ताव को पारित

करके विधान-सभा मंत्रि-परिषद को अपदस्थ कर सकती है। (३) यदि मंत्रि-परिषद की कार्यावधि विधान-सभा के वोट पर निर्भर करती है तो विधान-सभा का कार्यकाल भी मंत्रि-परिषद की इच्छा पर निर्भर करता है। अधिकार के दुरुपयोग पर वह राज्यपाल को यह परामर्श दे सकती है कि लोकमत के निर्धारण के लिए विधान-सभा का नया निर्वाचन कराया जाय। इस व्यवस्था के कारण विधान-सभा अपने अधिकारों का उपयोग समझ-बूझ कर करेगी, मंत्रि-परिषद को केवल परेशान करने के लिए नहीं। (४) मंत्रि-परिषद केवल कार्य-पालिका संबंधी कामों में ही नहीं, वरन् विधि-निर्माण के कामों में भी विधान-सभा का नेतृत्व करेगी। इंगलैंड की भांति, कोई भी ग़ैर-सरकारी विधेयक, विधान-सभा द्वारा तब तक स्वीकृत न हो सकेगा जब तक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से उसे मंत्रि-परिषद् का सहयोग प्राप्त न हो।

विधान-मंडल संबंधी अन्य बातें—उपरिवर्णित बातों के अतिरिक्त राज्य के विधान-मंडलों की निम्नलिखित अन्य बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) विधान-सभाओं का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर किया गया है। इतने अधिक लोगों को यकायक मताधिकार देना लोकतंत्रात्मक संसार के इतिहास में एक अद्वितीय बात है।

(२) राज्यों के विधान-मंडल राज्य-सूची के संबंध में प्रभुता-संपन्न हैं। पर उनके अधिकार असीमित नहीं हैं। संवैधानिक शासन की असफलता में अथवा संकट के काल की घोषणा में, संसद राज्य-सूची के विषयों की भी विधियां बना सकती है। उच्च न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय को भी राज्यों द्वारा निर्मित विधियों की समीक्षा करके उनकी संवैधानिकता के विषय में निर्णय देने का अधिकार है।

(३) दोनों सभाओं के मतभेद में राज्यों में संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था नहीं है। विपरीत इसके एक बार संशोधन द्वारा विलंबित करने के पश्चात्, यदि विधान-परिषद और विधान-सभा में एकमत का अभाव होगा तो विधान-परिषद् को दबना पड़ेगा।

(४) राज्यपाल को राष्ट्रपति की भाँति, विधान-मंडल द्वारा स्वीकृत विधेयकों को विलंबित करने का अधिकार है। वे इस अधिकार का प्रयोग साधारणतया मंत्रि-परिषद की मंत्रणा से करेंगे। अपने विवेक के अधिकारों का प्रयोग करते समय उन्हें मंत्रि-परिषद की मंत्रणा के अनुसार काम करना आवश्यक न होगा।

(५) प्रक्रिया में किसी प्रकार की अनियमता के कारण विधान-मंडल की किसी कार्रवाई की मान्यता पर कोई अपत्ति नहीं हो सकती।

(६) राज्य के प्रत्येक मंत्री तथा महाधिवक्ता को अधिकार है कि वह विधान-मंडल की किसी भी सभा, दोनों सभाओं के संयुक्त अधिवेशन तथा विधान-मंडल की किसी कमेटी में जिसका वह सदस्य है बोले, तथा दूसरे प्रकार की कार्रवाइयों में भाग ले, किंतु केवल इस व्यवस्था के कारण ही उसे मतदान का अधिकार न होगा।

(७) राज्य के विधान-मंडल में उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के पदाचरण के विषय में किसी प्रकार का वादविवाद नहीं हो सकता।

(८) विधान-मंडल का कार्य राज्य की भाषा या भाषाओं या हिंदी या अंगरेज़ी में किया जायगा। यदि कोई सदस्य उपर्युक्त भाषाओं में से किसी में अपनी पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं कर सकता तो विधान-सभा के अध्यक्ष या विधान-परिषद के सभापति या इनके रूप में कार्य करने वाले व्यक्ति की अनुज्ञा से वह अपनी मातृ-भाषा में बोल सकेगा। जब तक विधि द्वारा विधान-मंडल कोई दूसरी व्यवस्था न करे, पंद्रह बरस के पश्चात् अंगरेजी का प्रयोग बंद हो जायगा।

(३) उच्च न्यायालय—

उच्च न्यायालय—(High Court)—भारत के नये संविधान में प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था है। यह अपने राज्य का सर्वश्रेष्ठ न्यायालय होगा। उसमें एक मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीश होंगे। इनकी नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है। वे ही अपने आदेश द्वारा समय-समय पर न्यायाधीशों की अधिकतम संख्या को निश्चित करेंगे। न्यायाधीशों की नियुक्ति में राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश तथा राज्यपाल का परामर्श लेंगे और मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के अतिरिक्त अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में, मुख्य न्यायाधीश का। न्यायाधीश ६० बरस की अवस्था तक अपने पद पर रहते हैं। वे राष्ट्र-पति के पास त्यागपत्र भेज कर अपने पद से अलग हो सकते हैं। राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा उन्हें उसी प्रकार निकाल सकते हैं जिस प्रकार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को। मुख्य न्यायाधीश को ४०००) रु० और अन्य न्यायाधीशों को ३०००) रु० मासिक वेतन मिलेगा। वे विधि द्वारा निर्धारित भत्ते, छुट्टी तथा पेंशन के भी अधिकारी होंगे। किसी न्यायाधीश के

कार्य-काल में ये इस प्रकार न बदले जायँगे कि उसे हानि पहुंचे। पदासीन होने के पूर्व प्रत्येक न्यायाधीश को राज्यपाल या उसके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के सम्मुख, अपने पद की उसी प्रकार शपथ लेनी पड़ेगी। इसका उल्लेख उच्चतम न्यायालय के संबंध में किया गया है।

न्यायाधीशों की योग्यताएं—किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए कुछ योग्यताएं निर्धारित की गयी हैं। भारत के नागरिक होने के अतिरिक्त वे इस प्रकार हैं—

(१) भारत के राज्य-क्षेत्र में कम से कम दस बरस तक किसी न्यायिक (Judicial) पद पर रहे हुए व्यक्ति;

(२) किसी राज्य के उच्च न्यायालय अथवा इसी प्रकार के दो या अधिक न्यायालयों में मिला कर दस बरस तक वकालत करनेवाले वकील।

भारत के प्रधान न्यायाधीश के परामर्श से राष्ट्रपति एक उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को, दूसरे उच्च न्यायालय में बदल सकते हैं। बदली की अवधि में न्यायाधीश अपने वेतन के अतिरिक्त उस भत्ते आदि का भी अधिकारी होगा जिसे राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा निर्धारित करें। राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से किसी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को यह अधिकार है कि वह अपने या किसी अन्य उच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश से न्यायाधीश की भाँति काम करने की प्रार्थना करे। यदि वह काम करने के लिए तैयार हो जाय, तो काम की अवधि में उसे राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित भत्ता मिलेगा। उसे न्यायाधीश के सब अधिकार प्राप्त होंगे, पर वह न्यायालय का न्यायाधीश न समझा जायगा। अवकाशग्रहीत न्यायाधीश वकालत करने के अधिकार से भी वंचित कर दिये गये हैं।

उच्च न्यायालय के अधिकार—(१) उच्च न्यायालयों का मौलिक अधिकार-क्षेत्र है और अपीलों के सुनने का भी अधिकार-क्षेत्र। साधारणतया उच्च न्यायालयों में अपीलें ही सुनी जाती हैं। ये अपीलें फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार के अभियोगों की होती हैं। उच्च-न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है। आज कल किसी के मुकद्दमे की अपील उच्चतम न्यायलय में तब तक नहीं हो सकती जब तक वह २००००) रु० या अधिक की न हो।

(२) नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए उच्च न्यायालयों को विभिन्न प्रकार के लेख (Writ) जारी करने का अधिकार दिया गया है।

(३) यदि किसी समय उच्च न्यायालय को यह संतोष हो जाय कि उसके अधीनस्थ न्यायालय के विचाराधीन मामले का संबंध संविधान की व्याख्या से है, तो वह उस मामले को अपने विचाराधीन कर सकेगा।

(४) प्रत्येक उच्च न्यायालय को अपने अधिकार-क्षेत्र के भीतर प्रत्येक न्यायालय के निरीक्षण का अधिकार है। इस उद्देश्य से वह ऐसे न्यायालयों से विवरणी (Report) माँग सकेगा, उनकी कार्रवाई के विनियमन के हेतु नियम बना सकेगा और उनके पदाधिकारियों द्वारा रखी जाने वाली पुस्तकों का रूप निर्धारित कर सकेगा।

(५) उच्च न्यायालय के पदाधिकारियों और कर्मचारियरियों की नियुक्ति का अधिकार मुख्य न्यायाधीश या उसके द्वारा निर्धारित अन्य न्यायाधीश या अधिकारी को है।

(६) भारतीय संसद को किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को अधिक विस्तृत करने तथा घटाने का अधिकार है।

अधीनस्थ न्यायालय—उच्च न्यायालय के अतिरिक्त प्रत्येक राज्य में अनेक अधीनस्थ न्यायालयों की व्यवस्था है। इनमें से जिला न्यायालय विशेषतया उल्लेखनीय हैं। किसी राज्य के जिला-न्यायाधीशों की नियुक्ति, उच्च न्यायालय के परामर्श से, राज्यपाल करेंगे। उनकी पदोन्नति भी इसी प्रकार निर्धारित होगी। किसी ऐसी व्यक्ति की नियुक्ति के लिए जो संघ अथवा राज्य की सेवा में नहीं लगा है, यह आवश्यक है कि वह सात बरस का अनुभवी वकील हो तथा राज्य के उच्च न्यायालय ने उसकी सिफारिश की हो। जिला-न्यायाधीश से नीचे दर्जे के न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ लोक-सेवा (पब्लिक सर्विस) कमीशन और उच्च न्यायालय के परामर्श से राज्यपाल द्वारा की जायंगी। उच्च न्यायलय को उनके निरीक्षण का अधिकार है।

(४) अन्य राज्यों की शासन-व्यवस्था

अन्य राज्यों की शासन-व्यवस्था—ऊपर जिन संघांतरित राज्यों की शासन-व्यवस्था का विवरण है, वे नये संविधान के लागू होने के पूर्व, प्रांतों के नाम से प्रसिद्ध थे। इनके अतिरिक्त भारतीय संघ के और भी अंग हैं। उनमें से कुछ भारतीय रियासतें हैं, कुछ भारतीय रियासतों के संघ और कुछ केंद्र द्वारा शासित प्रदेश।

संघांतरित भारतीय रियासतों तथा उनके संघों की शासन-व्यवस्था न्यूनाधिक वैसी ही है जिसका विवरण ऊपर दिया गया है। महत्वपूर्ण अंतर इस प्रकार हैं—

(१) इनके सर्वोच्च शासकीय अधिकारी को राज्यपाल के स्थान पर राजप्रमुख कहा जायगा। हैदराबाद के निजाम तथा काश्मीर और मैसूर के नरेश, राष्ट्र-पति की अनुमति से अपनी-अपनी रियासतों के राजप्रमुख होंगे और रियासती संघों के राजप्रमुख वे व्यक्ति होंगे जो राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत कर लिये गये हों। राजप्रमुख को राज्य की संचित निधि से उतना भत्ता तथा व्यय संबंधी धन मिलेगा, जो राष्ट्रपति अपने साधारण अथवा विशेष आदेशों द्वारा निश्चित करें।

(२) इनमें से प्रत्येक के लिए एक विधान-सभा की व्यवस्था है। पर मैसूर के लिए दो सभाओं के विधान-मंडल की व्यवस्था की गयी है।

(३) प्रत्येक राज्य के लिए एक मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था है। पर मध्य भारत में आदिम जातियों के कल्याण (Tribal Welfare) के लिए एक मंत्री अवश्य होगा, जो अपने काम के अतिरिक्त परिगणित तथा पिछड़ी हुई जातियों के भी कल्याण की देखभाल करेगा।

(४) इन राज्यों के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को राजप्रमुख के परामर्श से राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित वेतन मिलेगा, संविधान द्वारा निर्धारित वेतन नहीं।

केंद्रीय शासित प्रदेशों का शासनाधिकार राष्ट्रपति को है। ये इस कार्य का संपादन चीफ कमिश्नर, लेफ्टिनेंट गवर्नर (उप-राज्यपाल) या पड़ोसी राज्य की सरकार द्वारा करेंगे। पड़ोसी राज्य को यह काम तब तक न दिया जायगा, जब तक उसकी सरकार का परामर्श तथा शासित प्रदेश के निवासियों की इच्छा का ज्ञान न प्राप्त कर लिया जाय। संसद को विधि द्वारा, इनमें से किसी के लिए परामर्शदाताओं तथा मंत्रियों की परिषद् और पूर्णतया या आंशिक रूप में निर्वाचित विधान-सभा की व्यवस्था करने का अधिकार है। वह इनके लिए उच्च न्यायालय की भी व्यवस्था कर सकती है तथा इनमें स्थापित न्यायालयों का दर्जा उच्च न्यायालय के दर्जे के समान घोषित कर सकती है।

अभ्यास

१. राज्यों की कार्यपालिका के विभिन्न अंगों के नाम लिखिये। उनका परस्पर क्या संबंध है ?
२. राज्यपाल की नियुक्ति के ढंग तथा उसके अधिकारों का संक्षिप्त विवरण लिखिये।

३. मंत्रिपरिषद् के निर्माण के ढंग तथा विधान-सभा के साथ उसके संबंध की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

४. राज्यपाल और मंत्रि-परिषद् के संबंध पर प्रकाश डालिये। क्या राज्यपाल के लिए यह अनिवार्य है कि मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा के अनुसार ही काम करें?

५. विधान-मंडल की सदस्यता के लिए किन किन योग्यताओं का होना आवश्यक है? कौन से व्यक्ति सदस्यता के अधिकार से वंचित हैं।

६. राज्य के विधान-मंडल के अधिकारों का संक्षिप्त विवरण लिखिये।

७. विधान-मंडल की दोनों सभाओं के संगठन तथा परस्पर संबंध की व्याख्या कीजिये।

८. राज्य के विधान-मंडल द्वारा विधि-निर्माण की प्रक्रिया की आलोचना कीजिये।

९. वित्तीय विधेयकों का क्या अर्थ है? विधान-मंडल उन पर किस प्रकार विचार करता है?

१०. उच्च न्यायालय के संगठन और अधिकारों का संक्षिप्त विवरण लिखिये।

११. संकट के काल में राज्यों की संवैधानिक स्थिति में कौन कौन से परिवर्तन हो जाते हैं?

१२. रियासती इकाइयों और संघों की शासन-व्यवस्था का विवरण लिखिये।

१३. राज्यों के विधान-मंडलों में दूसरी सभा की आवश्यकता पर एक निबंध लिखिये।

२०

नये संविधान की अन्य बातें

(१) अनुसूचित जातियों और क्षेत्रों की व्यवस्था—नये संविधान द्वारा अनुसूचित जातियों और क्षेत्रों के शासन की विशेष व्यवस्था की गयी है। वे दो भागों में विभक्त हैं—पहला आसाम और दूसरा पृष्ठ २६५ की तालिका के अ और ब वर्ग के अन्य राज्य। राष्ट्रपति को अनुसूचित जातियों और क्षेत्रों के निर्धारण का अधिकार है। वे राज्य के किसी भी भाग को अनुसूचित क्षेत्र घोषित कर सकते तथा उसकी सीमा में परिवर्तन कर सकते हैं। राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार अनुसूचित क्षेत्रों तक होगा। किंतु इस संबंध में वह केंद्र की कार्यपालिका के आदेशानुसार काम करेगी। प्रति वर्ष अथवा जब कभी राष्ट्रपति इस प्रकार की आज्ञा दे, राज्यपाल या राजप्रमुख को ऐसे क्षेत्रों के शासन की रिपोर्ट राष्ट्रपति के पास भेजनी पड़ेगी।

संविधान में किसी बात के होते हुए भी राज्यपाल या राजप्रमुख को अपनी घोषणा द्वारा यह सूचित करने का अधिकार है कि संसद या विधान-मंडल द्वारा स्वीकृत कोई भी विधि या उसका अंश या तो अनूसूचित क्षेत्रों पर लागू न होगा या किये गये परिवर्तनों के अनुसार लागू होगा। राज्यपाल या राजप्रमुख को उनकी शांति और सुशासन के लिए विनियम (Regulations) बनाने का अधिकार है। इस प्रकार के विनियम तुरंत ही राष्ट्रपति को प्रेषित किये जायँगे और जब तक उनकी अनुमति न मिल जाय, तब तक उनका कोई प्रभाव न होगा। विनियम बनाने के लिए आदिम-जाति-मंत्रणा-परिषद् (Tribal Advisory Council) का परामर्श अनिवार्य कर दिया गया है।

आदिम क्षेत्रों की उन्नति और कल्याण के लिए, संबद्ध राज्यों में आदिम जाति-मंत्रणा-परिषद् की व्यवस्था है। जिन राज्यों में आदिम क्षेत्र नहीं हैं, पर आदिम जातियाँ हैं, उनमें भी यदि राष्ट्रपति चाहें तो आदिम-जाति-मंत्रणा-परिषद की व्यवस्था कर सकते हैं। इनके सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक बीस होगी जिनमें से यथासंभव ७५ प्रतिशत् राज्य के विधान-मंडल के अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधि होंगे। विधान-मंडल में इतने प्रतिनिधियों के न होने पर अन्य प्रतिनिधियों की व्यवस्था है। परिषद् के सदस्यों की संख्या, उनकी नियुक्ति के ढंग, सभापति की नियुक्ति, परिषद् की

कार्य-विधि आदि के नियमों के बनाने का अधिकार राज्यपाल को है। उक्त व्यवस्था के अतिरिक्त संसद् की लोक-सभा तथा राज्यों की विधान-सभाओं में अनुसूचित जातियों के स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। बिहार, मध्य-प्रदेश और उड़ीसा के मंत्रि-परिषदों में अनुसूचित जातियों की उन्नति के लिए एक अलग मंत्री की व्यवस्था है। यदि भारतीय संघ, इन जातियों की उन्नति की कोई योजना बनायेगा, तो उसकी पूर्ति के लिए वह राज्यों की आर्थिक सहायता की व्यवस्था करेगा

आसाम के आदिम क्षेत्रों तथा जातियों के लिए अलग व्यवस्था की गयी है। इसका कारण उनकी पृथक संस्कृति है। क्षेत्र स्वयं दो भागों में विभाजित किये गये हैं। (१) स्वायत्तशासी जिले और (२) अन्य प्रदेश। प्रथम के अंतर्गत संयुक्त खासी-जयंतीया, गारो, लुसाई, नगा, उत्तरी कछार और मिकिर की पहाड़ियां आती हैं और दूसरे के अंतर्गत उत्तरी-पूर्वी सीमात का इलाका तथा नगा का आदिम-क्षेत्र।

स्वायत्त शासी जिलों की सीमा के निर्धारण का अधिकार राज्यपाल को है। वह इनकी सीमा को बढ़ा-घटा सकता तथा नये जिलों को बना सकता है। इस प्रकार के प्रत्येक जिले के लिए एक जिला-परिषद् की व्यवस्था है, जिसके सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक २४ होगी और इनमें से तीन चौथाई वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित होंगे। राज्यपाल को जिला और प्रादेशिक परिषदों के निर्वाचन के नियम बनाने का अधिकार है। किसी स्वायत्त शासी जिले में, कई आदिम जातियों के अस्तित्व में, वह तदनुकूल प्रदेशों में बाँट दिया जायगा और प्रत्येक के लिए एक पृथक प्रादेशिक परिषद बनायी जायगी। इन परिषदों को निर्धारित भूमि के अतिरिक्त भूमि, रक्षित बन न होने वाले किसी बन, नहर और जलधारा के उपयोग, गाँव और शहरों की व्यवस्था, स्वास्थ्य, स्वच्छता, पुलिस, मुखियों की नियुक्ति अथवा उत्तराधिकार, संपत्ति का दाय भाग, विवाह, सामाजिक रूढ़ियों आदि की विधियां बनाने का अधिकार है, पर इस प्रकार की कोई भी विधि, राज्यपाल की अनुमति के बिना, प्रभावी न होगी। जिला और प्रादेशिक परिषदों को भूमि और मकान, व्यवसाय और पेशा, जानवर, सवारी और नौका, किसी बाजार में बिकने के लिए वस्तुओं के प्रवेश तथा नावों से जाने वाले व्यक्तियों और सामान, पाठशालाओं, औषधालयों और सड़कों के बनाये रखने के लिए, कर लगाने का अधिकार है। जिला परिषद् जिले में ऐसे लोगों की साहूकारी और व्यापार के विनियमन और नियंत्रण के विनियम बना सकेगी, जो उनमें निवास करने वाली आदिम जातियों

से भिन्न हैं। राज्यपाल, न्याय के संबंध में, जिला और प्रादेशिक परिषदों को तथा उनके द्वारा स्थापित अन्य संस्थाओं को भारतीय दंड-विधान के अंतर्गत न्याय करने का अधिकार दे सकता है।

आसाम के दूसरे प्रकार के जिले बहुत पिछड़े हुए हैं। इस लिए कुछ दिनों तक वे केंद्रीय शासन में रखे गये हैं। राज्यपाल उनका शासन राष्ट्रपति के एजेंट के रूप में, उनके आदेशानुकूल करेंगे। इस संबंध में उनके लिए मंत्रिपरिषद् की मंत्रणा लेने की आवश्यकता नहीं है।

आंग्ल-भारतीयों (एंग्लो-इंडियनों) के लिए भी इसी प्रकार की व्यवस्था की गयी है। यदि किसी समय राष्ट्रपति को यह विदित हो कि इस वर्ग के लोगों को लोक-सभा में यथेष्ट प्रतिनिधित्व नहीं मिला है तो वे इसके दो प्रतिनिधियों को मनोनीत कर सकेंगे। इसी प्रकार राज्यपाल या राजप्रमुख भी ऐसी ही परिस्थिति में आवश्यकतानुकूल इसके प्रतिनिधियों को राज्य की विधान-सभाओं मे मनोनीत कर सकेंगे। संविधान के आरंभ के प्रथम दो बरसों में संघ की रेल, बहिःशुल्क (Customs), डाक तथा तार संबंधी नोकरियो में उनकी भर्ती उसी आधार पर होगी जिस पर १५ अगस्त सन् १९४७ को। पर उसके पश्चात् प्रति दूसरे बरस उनके संरक्षित स्थान १० प्रतिशत् के हिसाब से कम होते जाएँगे और दस बरस के पश्चात् एक भी स्थान सुरक्षित न रखा जायगा। उनकी शिक्षा के लिए संघ और राज्य की सरकारें, संविधान लागू होने के प्रथम तीन बरस तक वही अनुदान देंगी जो सन् १९४७-४८ में दिया गया था, पर प्रति तीसरे बरस यह अनुदान १० प्रतिशत के हिसाब से कम कर दिया जायगा और दस बरस के पश्चात् उनके साथ किसी प्रकार की विशेष रियायत न की जायगी।

(२) संघ और राज्यों के लोक-सेवा (Public Service) आयोग—योग्य और निष्पक्ष सरकारी कर्मचारियों के बिना कोई भी सरकार सफल नहीं हो सकती। लोकतंत्र में इसकी आवश्यकता और भी अधिक होती है। अतएव नये संविधान में संघ और राज्यों दोनों के लिए लोक-सेवा आयोगों की व्यवस्था है। दो या अधिक राज्यों को मिलकर एक ही आयोग से काम लेने का अधिकार दिया गया है। संघ और राज्यों के आयोग के प्रधान तथा उनके सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार क्रमानुगत राष्ट्रपति और राज्यपाल या राजप्रमुख को है और संयुक्त आयोगों के प्रधान और सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को। इनका कार्य-काल छः बरस निर्धारित हुआ है। वे इसके पूर्व त्यागपत्र देकर अपने पद से अलग हो सकते हैं और दुराचरण के लिए

राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय की जाच के पश्चात्, उन्हें अपदस्थ कर सकते हैं। अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् संघीय लोकसेवा कमीशन का प्रधान न तो संघ-सरकार के अधीन किसी पद पर नियुक्त किया जायगा और न राज्यों की सरकार के। पर संघ-आयोग के सदस्य और राज्य-आयोगों के प्रधान और सदस्य, अन्य लोक-सेवा आयोगों के प्रधान और सदस्यो के पद पर नियुक्त हो सकेंगे। ६० बरस की अवस्था में राज्य-आयोगों के प्रधान और सदस्यों को और ६५ बरस की अवस्था में संघ-आयोग के प्रधान और सदस्यों को अवकाश ग्रहण करना पड़ेगा। लोकसेवा आयोगों के निम्नलिखित कर्तव्य निर्धारित हुए हैं—(अ) संघ और राज्यों के सार्वजनिक कर्मचारियों की नियुक्ति के संबंध में परीक्षाओं का संचालन ; (२) प्रति वर्ष राष्ट्रपति या राज्यपाल के पास अपने काम की रिपोर्ट भेजना। यह रिपोर्ट संबंधित विधान-मंडल में पेश की जाती है। (३) राष्ट्रपति और राज्यपाल को कर्मचारियों की भर्ती, उनकी पदोन्नति और बदली, अनुशासन, क्षतिपूर्ति आदि के संबंध में परामर्श देना। उक्त अधिकारियों के लिए कमीशनों का परामर्श लेना आवश्यक कर दिया गया है।

नये संविधान द्वारा सरकारी अधिकारी चार भागों में विभक्त किये गये हैं। (१) सैनिक अधिकारी, (२) भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य, (३) अखिल भारतीय सर्विस के सदस्य, (४) राज्यों की सिविल सर्विस के सदस्य। सैनिक, सिविल सर्विस और अखिल भारतीय नौकरी के अधिकारी तब तक अपने पद पर रहेंगे, जब तक राष्ट्र-पति चाहें। इसी प्रकार राज्य की सिविल सर्विस के सदस्य तथा राज्यों के अधीन काम करने वाले अधिकारी राज्यपाल या राजप्रमुख के इच्छानुकूल अपने पद पर रहेंगे। यह व्यवस्था उन लोगों पर लागू न होगी, जो किसी इकरारनामे के द्वारा निर्धारित काल के लिए नियुक्त किये गये हों। यदि इस प्रकार के सरकारी नौकर दुराचरण के अतिरिक्त, नियत अवधि के पूर्व अपने पद से निकाले जाँयगे, तो उन्हें क्षतिपूर्ति दी जायगी। सरकारी नौकर उस अधिकारी से निम्नतर अधिकारी द्वारा न निकाले जायँगे, जिसने उनकी नियुक्ति की है। अपने बचाव में सफाई देने के पश्चात् ही उनके विरुद्ध इस प्रकार की कारवाई की जाती है।

(३) **निर्वाचन कमीशन**—नये संविधान द्वारा भारत की लगभग आधी जनसंख्या को मताधिकार दिया गया है। संसार के किसी अन्य देश में, एक दम से मतदाताओं की संख्या इतनी अधिक नहीं बढ़ायी गयी है जितनी भारत में अतएव नये संविधान में एक निर्वाचन-कमीशन (Election

Commission) की व्यवस्था की गयी है। इसमें मुख्य निर्वाचन कमिश्नर (Chief Election Commissioner) के अतिरिक्त इतने निर्वाचन कमिश्नर होंगे, जितने राष्ट्र-पति समय-समय पर नियत करें। निर्वाचन कमीशन के परामर्श से, राष्ट्रपति को आवश्यतानुकूल प्रादेशिक कमिश्नरो की नियुक्ति का अधिकार है। मुख्य-निर्वाचन कमिश्नर के अपदस्थ करने की वही व्यवस्था है, जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की। निर्वाचन कमिश्नर और प्रादेशिक कमिश्नर, मुख्य निर्वाचन कमिश्नर की सिफारिश पर ही निकाले जा सकेंगे। राष्ट्र-पति, राज्यपाल और राजप्रमुख, निर्वाचन के संबंध में, अपने इतने कर्मचारियों को निर्वाचन कमिश्नर या प्रादेशिक कमिश्नरों को देंगे जितने की, वे प्रार्थना करें। निर्वाचन कमीशन का काम है निर्वाचकों की सूची तैयार कराना तथा संसद, राज्य के विधान-मंडल और राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचनों को कराना। इनका निरीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण उसी के अधीन है। समस्त प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों के लिए एक ही सूची होगी, और केवल धर्म, मूल वंश, जाति अथवा लिंग भेद के कारण कोई भो व्यक्ति इसमें नाम लिखाने के अधिकार से वंचित न किया जायगा। संविधानांतर्गत संसद् को समय-समय पर, कानून द्वारा निर्वाचकों की सूची तैयार कराने, निर्वाचन-क्षेत्रों के परिसीमित करने, तथा निर्वाचन संबधी अन्य बातों के निश्चित करने का अधिकार है। उसका परिसीमन (Delimitation) संबंधी निर्णय सर्वमान्य होगा। राज्यों के विधान-मंडलों को इस संबंध में कुछ अधिकार दिये गये हैं। अपने राज्य के निर्वाचन के संबंध में वे उन बातों के कानून बनायेंगे जिनकी व्यवस्था संसद् के कानूनों द्वारा न की गयी हो। यदि संसद या विधान-मंडल के किसी निर्वाचन के संबंध में मतभेद होगा तो निर्वाचन-याचिका (Election Petition) के पश्चात् उसका निर्णय उस अधिकारी द्वारा किया जायगा जिसकी उपयुक्त विधान-मंडल द्वारा व्यवस्था की जाय।

(४) **राजभाषा**—भारत के निवासी लगभग २१५ विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं। इनमें से कुछ उच्चकोटि की हैं, और कुछ का सुसपन्न साहित्य भी है। भाषाओं की विभिन्नता के कारण, एक राज्य के निवासी दूसरे के निवासियों की बातचीत समझने से असमर्थ हैं। शिक्षित समाज में अंगरेजी का प्रचार है और बहुत दिनों तक वह सरकारी भाषा के पद पर रही है। उसके ही प्रयोग के कारण भारत के विभिन्न भागों के निवासी एक मंच पर एकत्रित होकर राष्ट्रीय उत्थान की समस्याओं पर विचार कर सके। पर स्वतंत्र भारत अंगरेजी को राजभाषा बनाने में असमर्थ था। संविधान में, देवनागरी लिपि में

हिंदी, भारत की राजभाषा मानी गयी है और सरकारी कामों के लिए प्रयोग होनेवाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप (अर्थात् रोमन अंक) निर्धारित हुआ है। इस सामान्य व्यवस्था के होते हुए भी १५ बरस तक सरकारी कामों में अंगरेजी का प्रयोग पूर्ववत् होता रहेगा। इस काल के भीतर राष्ट्रपति को अंगरेजी भाषा के अतिरिक्त, हिंदी भाषा और देवनागरी अंकों के प्रयोग की अनुमति देने का अधिकार है। पर इसके पश्चात् अंगरेजी भाषा और रोमन अंको का प्रयोग, संसद की विधि के बिना न हो सकेगा। संघांतरित राज्यों के विधान-मंडल को अपने अपने राज्यों की भाषाएँ निर्धारित करने का अधिकार है, पर जब तक वे इसका निश्चय न करें, अंगरेजी का प्रयोग होता रहेगा। संघ और राज्यों का परस्पर संबंध अंगरेजी भाषा के द्वारा होगा पर हिंदी के प्रयोग के लिए उन्हें परस्पर समझोता करने का अधिकार है। अंगरेजी उच्चतम तथा उच्च न्यायालयों की भी भाषा निर्धारित हुई है और यह निश्चित कर दिया गया है कि केंद्रीय तथा राज्यों के विधान-मंडलों के सब प्रस्ताव, कानून नियम, उपनियम आदि अंगरेजी भाषा में होंगे। यदि किसी राज्य का विधान-मंडल अंगरेजी के स्थान पर किसी अन्य भाषा को अपनायेगा तो राज्यपाल द्वारा प्रमाणित उसका अंगरेजी अनुवाद, सरकारी कामों के लिए प्रामाणिक समझा जायगा।

संविधान के लागू होने के पांच और दस बरस पश्चात् राष्ट्रपति को एक भाषा-कमीशन की नियुक्ति का अधिकार दिया गया है। इसमें असमिया, उड़िया, उर्दू, कन्नड, काश्मीरी, गुजराती, तामील, तेलुगु, पंजाबी, बंगला, मराठी, मलयालम, संस्कृत, हिंदी के प्रतिनिधि होंगे। देश को वैज्ञानिक, औद्योगिक, व सांस्कृतिक उन्नति तथा अहिंदी प्रदेशों की उचित मांगों पर ध्यान रखते हुए कमीशन इस बात की सिफारिश करेगा कि किस प्रकार हिंदी के प्रयोग की वृद्धि हो और किन कामों में अंगरेजी भाषा और रोमन अंकों के स्थान पर हिंदी भाषा और देवनागरी अंकों का प्रयोग किया जाय। कमीशन की रिपोर्ट संसद की एक कमेटी के विचाराधीन की जायगी, जिसके ३० सदस्य होंगे, २० लोकसभा के, और १० राज्य-परिषद् के। राष्ट्रपति के लिए यह अनिवार्य नहीं कि वे इन सिफारिशों को मानें, पर उन्हें इनके पूर्णरूपेण अथवा अंशतः माने जाने की आज्ञा देने का अधिकार है।

अभ्यास

१. लोक-सेवा कमीशन का क्या अर्थ है? संघीय लोक-सेवा-कमीशन के संगठन और कामों का संक्षिप्त विवरण लिखिये।

२. नये संविधान में अनुसूचित जातियों और आंग्ल-भारतीयों के संबंध में क्या विशेष व्यवस्था की गयी है ?

३. निर्वाचन कमीशन के संगठन और कामों का संक्षिप्त विवरण लिखिये।

४. संविधान में राज-भाषा के सबंध की धाराओं का सारांश समझा कर लिखिये।

२१

जिले का शासन

भारतीय जिले—शासन की दृष्टि से समस्त भारत जिलों में विभाजित किया गया है। पर उनकी आबादी और क्षेत्रफल का कोई सामान्य नियम नहीं है। कुछ जिलों का क्षेत्रफल दूसरे जिलों की अपेक्षा अत्यधिक है। आबादी में भी इसी प्रकार को विभिन्नता पायी जाती है। भारत के सबसे बड़े जिले का नाम विजगापट्टम है। इसका क्षेत्रफल १७,००० वर्ग मील से अधिक है और जन-संख्या ३०,०००,०० व्यक्तियों से अधिक। जिलों का औसत क्षेत्रफल लगभग ४,००० वर्गमील है और किसी जिले का क्षेत्रफल १,५०० वर्गमील से कम नहीं है। अन्य राज्यों की अपेक्षा उत्तर-प्रदेश में जिलों की संख्या अधिक है। अतएव अन्य प्रांतों के जिलों को देखते हुए उनका क्षेत्रफल भी कम है। कुछ जिलो की बस्ती बहुत घनी है और कुछ की बहुत कम।

कलक्टर या जिलाधीश—कुछ राज्यों में जिले के सर्वोच्च अधिकारी को कलक्टर कहते हैं और कुछ में डिप्टी-कमिश्नर। वह अपने जिले में सरकार का प्रतिनिधि-स्वरूप होता है। साधारणतया अखिल भारतीय सर्विस के सदस्य ही जिलाधीश के पद पर नियुक्त किये जाते हैं। किंतु कभी कभी राज्यों की सिविल सर्विस के अनुभवी पदाधिकारी भी बढ़ते बढ़ते जिलाधीश बना दिये जाते हैं। जिले के शासन में कलक्टर के अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकार होते हैं। उन्हें हम निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) **मालगुजारी-संबंधो अधिकार**—जिले की मालगुजारी का वसूल करना कलक्टर का काम है। यह उसके नाम से ही विदित है। वह अपने जिले की भूमि और हिसाब संबंधो सारे कागजों की रक्षा करता है। जिले का खजाना भी उसी के अधीन होता है। यद्यपि उसे मालगुजारी घटाने या बढ़ाने का अधिकार नहीं होता तो भी भूकंप, महामारी या अकाल ऐसी आकस्मिक विपत्तियों के काल में, वह राज्य की सरकार से मालगुजारी घटाने की सिफारिश कर सकता है और साधारणतया उसकी सिफारिश मान ली जाती है। मालगुजारी के संबंध में उसे छोटे-छोटे किसानों और बड़े बड़े जमींदारों के संपर्क में आना पड़ता है। उसे प्रतिवर्ष लगभग छः महीने

अपने जिले का दौरा करना पड़ता है जिसके कारण उसे जिले के प्रायः सभी हिस्सों की जानकारी रहती है। इसी लिए तो कहा जाता है कि कलक्टर अपने जिले में सरकार की आँख, कान और मुँह का काम करता है।

(२) शासन-संबंधी अधिकार—जिले के शासन की देखभाल करने का अधिकार कलक्टर को दिया गया है। जिले के निवासी शांतिपूर्वक रहें, उन्हें किसी प्रकार की आशंका न हो, लोग नियम-विरुद्ध आचरण न करें और यदि करें तो गिरफ्तार कर लिये जायँ, इन सब बातों की देखभाल करना कलक्टर का काम है। इन कामों को सफलतापूर्वक करने के लिए वह जिले की पुलिस का निरीक्षण करता है और आवश्यकतानुसार उससे काम ले सकता है। अन्य सरकारी विभागों के उच्च अधिकारियों के कार्यालय प्रायः जिले में होते हैं। वे कलक्टर के अधीन तो नहीं होते, किंतु अपने अपने विभागों की सूचना कलक्टर को देते रहते हैं और इस प्रकार उसके काम में सहायता पहुँचाते रहते हैं। कलक्टर जिले की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण सरकारी संस्थाओं का प्रधान होता है। वह अकाल के दिनों में तकावी ऋण को बाँटता है और उन लोगों की जायदाद की देख-भाल करता है जो अल्पवयस्क हैं और जिनका कोई संरक्षक नहीं है। यदि जिले पर किसी प्रकार का संकट आ पड़ता है, तो उसकी सूचना कलक्टर को दी जाती है और राज्य की सरकार के निरीक्षण में वह उसे भरसक दूर करने की कोशिश करता है।

(३) न्याय-संबंधी अधिकार—कलक्टर को न्याय-संबंधी भी कुछ अधिकार दिये गये हैं। वह प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट होता है और इस हैसियत से वह दो वर्ष के कारावास और १००० रुपये जुर्माने की सजा दे सकता है। वह अपने अधीन डिप्टी-कलक्टरों के निर्णय की अपीलें सुनता और आवश्यकतानुसार उनके निर्णयों में परिवर्तन कर सकता है। कलक्टर के न्याय-संबंधी अधिकार अनुचित हैं। नागरिकों की स्वाधीनता की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि कार्यपालिका और न्यायपालिका संबंधी अधिकार अलग अलग व्यक्तियों के अधीन हों। नये संविधान के निदेशक तत्त्वों में एक अनुच्छेद इस आशय का है और क्रमशः उसके अनुसार कार्यपालिका और न्यायपालिका शक्तियों का पृथक्करण किया जा रहा है।

(४) निरीक्षण-संबंधी अधिकार—जिले के शासन के निरीक्षण का अधिकार कलक्टर को दिया गया है। सरकारी विभागों के जिले में रहने वाले अनेक कर्मचारी जैसे सिविल सर्जन, इक्जीक्यूटिव इंजीनियर, पुलिस सुपरिंटेंडेंट, जेलर आदि अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं या नहीं, यह देखना कलक्टर का

काम है। वह स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं का भी निरीक्षण करता है। जिला बोर्ड और छोटी नगरपालिकाएँ साधारणतया उसी के अधीन होती हैं। नगरपालिकाओं का संबंध कमिश्नर से होता है किंतु उनमें भी कलक्टर के निरीक्षण संबंधी महत्वपूर्ण अधिकार होते हैं।

साधारणतया कलक्टर अपने जिले के प्रधान नगर में ही रहा करता है। वहीं उसके तथा जिले के अन्य कर्मचारियों के कार्यालय होते हैं। परंतु जाड़े में वह अपने जिले का दौरा करता है और इस प्रकार जिले की जनता के संपर्क में आता और वहाँ की परिस्थिति की जानकारी हासिल करता है।

(५) अधिकारों की सीमा—उपर्युक्त विवरण से हमें यह न समझना चाहिये कि कलक्टर अपने जिले का निरंकुश शासक है। मालगुजारी के मामलों में वह कमिश्नर के अधीन है और न्याय-संबंधी अधिकारों में उसके निर्णय के प्रतिकूल जिले के न्यायाधीश (District judge) की अदालत में अपील की जा सकती है। हर साल उसे अपने जिले की उन्नति और सुव्यवस्था का विवरण ऊँचे पदाधिकारियों के पास भेजना पड़ता है। इस विवरण में वह अपने जिले की उन्नति कैसे होगी, इस बात का भी संकेत करता है।

जिले के शासन में कलक्टर का महत्वपूर्ण स्थान होता है, इसमें संदेह नहीं, लेकिन उसका वास्तविक प्रभाव बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। वह जनता के साथ संपर्क रखता है और साथ ही उच्च अधिकारियों के साथ भी। जनता के साथ सहानुभूति का बर्ताव करके वह उसे बहुत ऊँचे उठा सकता है और उच्च अधिकारियों पर प्रभाव डाल कर वह उसकी भलाई के अनेक काम कर सकता है। कर्तव्य-परायण कलक्टरों को अपने काम से छुट्टी बहुत कम मिलती है। असाधारण परिस्थितियों में उसे न दिन का ध्यान रहता है और न रात का। ध्यान रहता है केवल कर्तव्य-पालन का। जनता के साथ सहानुभूति रखने वाले कलक्टरों को लोग हमेशा याद करते हैं और सरकार के अस्तित्व के अज्ञान में, वे उन्हें ही सरकार समझते रहते हैं।

डिप्टी-कलक्टर और अवैतनिक मैजिस्ट्रेट—कलक्टर की सहायता के लिए प्रत्येक जिले में आवश्यकतानुसार डिप्टी-कलक्टर और अवैतनिक मैजिस्ट्रेट होते हैं। प्रत्येक जिला कई सबडिवीजनों में विभक्त होता है जिनमें से हरेक साधारणतया एक डिप्टी-कलक्टर के अधीन होता है। डिप्टी-कलक्टर लोग, माली मामलों में कलक्टर की सहायता करते हैं। उसके आदेशानुसार उन्हें शांति और व्यवस्था का प्रबंध करना पड़ता है। वे अनेक फौजदारी और माल के मुकदमों का भी निर्णय करते हैं। अवैतनिक मैजिस्ट्रेट प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणियों के होते

हैं। ये साधारणतया छोटे-छोटे मुकदमों का फैसला करते हैं। अवैतनिक मैजिस्ट्रेटों की वजह से सरकार का न्याय संबंधी काम कुछ हल्का हो जाता है।

कलक्टर के सहकारी अफसर—प्रत्येक जिले में कलक्टर की सहायता के लिए अन्य विभागों के भी कुछ ऊँचे पदाधिकारी रहते हैं। वे अपने-अपने विभाग के अधीन होते हैं, कलक्टर के अधीन नहीं। परंतु कलक्टर को अपने जिले में उनके द्वारा किये गये कामों के निरीक्षण का अधिकार होता है। इनमें से निम्नलिखित अधिकारी ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) सिविल सर्जन—प्रत्येक बड़े जिले में एक सरकारी अस्पताल होता है, जहाँ पर मुफ्त चिकित्सा की जाती है। बड़े जिले में यह अस्पताल साधारणतया सिविल सर्जनों के अधीन होता है। उसकी सहायता के लिए कई और डाक्टर भी होते हैं। सिविल सर्जन साधारणतया अखिल भारतीय सर्विस का (All India Service) सदस्य होता है। सरकारी अस्पताल के अतिरिक्त जिले में नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों, सार्वजनिक संस्थाओं और परोपकारी व्यक्तियों द्वारा खोले गये अनेक धर्मार्थ औषधालय तथा अस्पताल होते हैं।

(ब) पुलिस सुपरिंटेंडेंट—प्रत्येक जिले में एक पुलिस सुपरिंटेंडेंट होता है। उसका काम जिले की शांति और व्यवस्था और लोगों की जान-माल की रक्षा करना होता है। उसकी सहायता के लिए एक शहर कोतवाल, अनेक थानेदार और बहुत से सिपाही होते हैं। शहर की पुलिस दो तरह की होती है।—(१) साधारण पुलिस और (२) खुफिया पुलिस। खुफिया पुलिस के सिपाही छिपे-छिपे अपराधियों का पता लगाते हैं। रेलवे पुलिस की पृथक व्यवस्था है।

(स) जेलर—प्रत्येक जिले में एक जेल होता है। वहाँ पर अपराधी रखे जाते हैं। जेल का प्रबंध जेलर के अधीन होता है। जेल में वे ही अपराधी रखे जाते हैं जिन्हें किसी न्यायालय द्वारा कारावास का दंड मिला हो। कैदियों के स्वास्थ्य आदि की जिम्मेदारी जेलर पर होती है और कलक्टर पर भी। जेल में कैदियों को योग्यतानुसार काम करना पड़ता है। कभी-कभी दंड देने के लिए उनसे कठोर या ऐसा काम लिया जाता है जिसका उन्हें अभ्यास न हो। जेलों में रखने का उद्देश्य यह है कि अपराधी का सुधार हो जाय। भारतीय जेलों की अवस्था अभी तक इस प्रकार की नहीं है।

शासन संबंधी जिले के भाग—शासन-सुभीते के लिए प्रत्येक जिला कई तहसीलों में बँटा होता है। तहसील के सबसे बड़े अफसर को तहसीलदार

कहते हैं। वह किसानो से मालगुजारी वसूल तथा उनके छोटे-छोटे अभियोगों का फैसला करता है। तहसीलदार का मुख्य काम मालगुजारी इकट्ठा करके उसे सरकारी खजाने में जमा करना है। प्रत्येक तहसील कई थानों में विभक्त की गयी है। थाने के सबसे बड़े अधिकारी को थानेदार कहते हैं। अपने हल्के की शांति और व्यवस्था की रक्षा करना थानेदार का मुख्य कर्त्तव्य है। यह नियम-उल्लंघन संबंधी शिकायतों को लिखता और उनकी आवश्यक जाँच करके, अभियुक्तों का चालान आदि करता है। रात में गाँवों की रक्षा के लिए चौकीदारों का प्रबंध है। प्रायः प्रत्येक बड़े गॉव में एक चौकीदार होता है। कई छोटे-छोटे गाँवों को मिलाकर एक चौकीदार का प्रबंध किया जाता है।

कमिश्नरियाँ—राज्य और जिले के बीच में शासन संबंधी एक हिस्सा और होता है जिसे कमिश्नरी कहते हैं। मद्रास राज्य को छोडकर, पूर्वकालीन ब्रिटिश भारत के अन्य सभी राज्य कमिश्नरियों में विभक्त किये गये हैं। प्रत्येक कमिश्नरी में कई जिले होते हैं। कमिश्नरियों के क्षेत्रफल, जनसंख्या और जिलों की संख्या आदि के विषय में कोई सामान्य नियम नही है।

कमिश्नरी के सर्वोच्च अधिकारी को कमिश्नर कहते हैं। आरंभ में उसके न्याय, पुलिस और माल संबंधी अनेक महत्वपूर्ण अधिकार थे, किंतु क्रमशः उसका स्थान गिरता गया है और उसके अधिकार कम होते गये हैं। आजकल उसका मुख्य काम मालगुजारी और तत्संबंधी अन्य बातों की देखभाल करना है। मालगुजारी संबंधी कलक्टर के निर्णयों की अपीलें कमिश्नर की अदालत में होती हैं। यद्यपि भूमि-व्यवस्था के सबंध में उसे केवल परामर्श देने का ही अधिकार है, तो भी वह किंचित काल के लिए, मालगुजारी की उगाही स्थगित कर सकता है और विशेष अवसरों पर किसानो को छूट भी दे सकता है। राज्य के नियमों के अतर्गत् वह किसानों और जमींदारों को ऋण दे सकता है। कोर्ट आफ् वार्ड्स के संबंध में कमिश्नर के महत्वपूर्ण अधिकार होते हैं। स्थानीय स्वशासन की देखभाल भी कमिश्नर का एक महत्वपूर्ण अधिकार है।

कमिश्नर के पद के विषय में भारतीय लोकमत बहुत दिनों से यह कहता आया है कि कमिश्नर का पद व्यर्थ है और उसे तोड़ देना चाहिये। मद्रास राज्य की भाँति, जहाँ पर न तो कमिश्नरियाँ हैं और न कमिश्नर, अन्य राज्यों का भी काम चल सकता है। कमिश्नर के निरीक्षण के अधिकारों को कलक्टर को दे देना चाहिये और माली अधिकारों को बोर्ड आफ रेवेन्यू को। स्वतंत्र भारत की सरकार लोकमत के अनुसार आवश्यक परिवर्तन कर रही है। उत्तर प्रदेश में कमिश्नरों की संख्या घटाकर आधी कर दी गयी है।

अभ्यास

१. कलक्टर के अधिकारों को समझाकर लिखिये।

२. कार्यपालिका और न्यायपालिका के पृथक्करण के संबंध में आपके क्या विचार हैं ?

३. निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिये—

कमिश्नर, सिविल सर्जन, जेलर और तहसीलदार।

२२

स्थानीय-स्वशासन

प्राक्कथन—केंद्रीय और प्रांतीय सरकारें एवं कुछ सरकारी कर्मचारी ही किसी देश का शासन सफलतापूर्वक नहीं कर सकते। भारत ऐसे बड़े देश के लिए ऐसा होना और भी कठिन है। कंपनी के शासनकाल में सरकारी नीति का झुकाव केंद्रीकरण की ओर था और इसलिए शासन के अधिकांश अधिकार सरकारी कर्मचारियों को दे दिये गये थे। परंतु कुछ ही दिनों के पश्चात् इस कुनीति के दुष्परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे और क्रमशः स्थानीय स्वशासन की स्थापना की गयी।

स्थानीय स्वशासन का अर्थ है किसी स्थान के नागरिकों के वे अधिकार जिनके कारण वे अपने नगर, जिला अथवा गाँव की कुछ विशेष बातों का प्रबंध स्वयं ही करते हैं। इन अधिकारों पर अमल करने के लिए भारत में म्युनिसिपल्टियाँ, जिला बोर्ड, ग्राम-पंचायतें, इंप्रूवमेंट ट्रस्ट, पोर्ट ट्रस्ट आदि संस्थाएँ स्थापित की गयी हैं। नागरिक के जीवन में इन संस्थाओं का स्थान बड़े महत्त्व का होता है। केंद्रीय या प्रांतीय सरकारोंसे उसका संपर्क साल में एक या दो बार होता है। वह प्रत्यक्ष रूप से यह भी नहीं जानता कि उनकी नीति का उसके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। परंतु स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं से उनका नित्यप्रति का संबंध है और उनकी नीति का उनके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा, इसे भी वह प्रत्यक्ष रूप से देखता और समझता है। यही कारण है कि युरुप और अमरीका के निवासी स्थानीय स्वशासन में बड़ी दिलचस्पी लेते हैं। स्थानीय स्वशासन ने भी उनके जीवन को पूर्णतया बदल दिया है। लेकिन भारत में अभी तक ऐसी परिस्थिति नहीं है। न तो यहाँ पर अब तक वास्तविक स्थानीय स्वशासन ही स्थापित हुआ है और न जनता में उसके प्रति दिलचस्पी ही है। यहाँ के योग्य पुरुष स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं में भाग लेना फजीहत की बात समझते हैं और जनता गरीबी और अशिक्षा के कारण, तीन या चार साल में एक बार भी वोट देना भार-स्वरूप समझती है। आशा की जाती है कि राष्ट्रीय उत्थान एवं स्थानीय स्वशासन के अधिकारों की वृद्धि के साथ-साथ जनता की यह उदासीनता दूर हो जायगी और इस देश की भी स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ नागरिकों की वही सेवा

कर सकेंगी जो अमरीका और युरुप की स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ करती है।

स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता—स्थानीय स्वशासन की स्थापना के तीन मुख्य कारण हैं—

(१) केंद्रीय सरकार का भार घटाना—मनुष्य का जीवन दिन पर दिन अधिकाधिक जटिल होता जाता है और उसके साथ-साथ राज्य का कार्य भी बढ़ता जाता है। २० वीं शताब्दी में राष्ट्र-मूलक राज्यों की परस्पर प्रतिस्पर्धा और पूँजीपतियों के शोषण के कारण, राज्य को ऐसे कार्य करने पड़ रहे हैं जिनको १९ वीं शताब्दी के लोग ध्यान में भी ला सकते थे। केंद्रीय सरकार के भार घटाने की आवश्यकता हमेशा से रही है और विशेष रूप से २०वीं शताब्दी में है। अतएव स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं की स्थापना आवश्यक होती है।

(२) जनता को व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा देना—स्थानीय स्वशासन की स्थापना का दूसरा कारण जनता को व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा देना है। फ्रांस की राज्य-क्रांति के पश्चात् संसार के अनेक देशों में लोकतंत्र की स्थापना हुई है। लोकतंत्र की सफलता जनता की व्यावहारिक राजनीतिक कुशलता पर निर्भर होती है। स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं से जनता को इस प्रकार की व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा मिलती है। यही कारण है कि स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ लोकतंत्र की सफलता की मूल कही जाती हैं। कार्यरूप में भी साधारणतया लोकतंत्र उन देशों में असफल होता है जहाँ स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के रूप में उसका बीजारोपण नहीं किया जाता।

(३) प्रत्येक स्थान की विशेष समस्याओं का होना—स्थानीय स्वशासन की स्थापना का तीसरा कारण है प्रत्येक स्थान की विशेष समस्याओं का होना। तीर्थ-स्थानों की समस्याएँ व्यापारिक नगरों की समस्याओं से और ऐतिहासिक नगरों की समस्याएँ औद्योगिक नगरों की समस्याओं से भिन्न होती हैं। बंदरगाहों और आंतरिक नगरों की समस्याएँ भी एक दूसरे से भिन्न होती हैं। इन समस्याओं को जितना इन नगरों के निवासी समझते हैं उतना बाहरवाले नहीं। वे ही उनको संतोषपूर्वक कम मूल्य में हल कर सकते हैं। अतएव प्रत्येक नगर की विशेष समस्याओं के होने और उन समस्याओं को योग्यतापूर्वक कम मूल्य पर हल करने के लिए स्थानीय स्वशासन का होना आवश्यक है।

भारत में स्थानीय स्वशासन का विकास—कुछ लोगों का कहना है कि भारत में स्थानीय स्वशासन की स्थापना ब्रिटिश शासन-काल से ही आरंभ हुई है। यह बात ठीक नहीं है। लगभग २३०० बरस पूर्व चंद्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में स्थानीय स्वशासन उन्नत अवस्था में था। पाटलिपुत्र के विषय में मेगस्थनीज ने इस प्रकार लिखा है—'राजधानी के प्रबंध के लिए ३० सदस्यों की एक सभा है जो ६ समान कमेटियों में विभक्त होकर नगर का सारा काम-काज देखती है, एक कमेटी शिल्प-कला का प्रबंध करती है; दूसरी विदेशियों की देखभाल करती है; तीसरी जन्म-मरण की गणना करती है; चौथी व्यापार-संबंधी बातों को देखती है; पाँचवीं देश की बनी वस्तुओं के क्रय का प्रबंध करती है और छठी बिकी वस्तुओं का कर वसूल करती है। ग्राम-प्रबंध भी सुव्यवस्थित है।" मध्यकाल में स्थानीय स्वशासन की, विशेषकर ग्राम-पंचायतों की, यही अवस्था रही। ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन-काल में भारत के प्राचीन स्थानीय स्वशासन का अंत हुआ। उत्तरदायित्व-रहित अधिकारों के कारण कंपनी ने भारत के उद्योग-धंधों को ही नहीं, वरन् उन ग्राम-पंचायतों को भी समाप्त किया जो अनेक शताब्दियों से चली आ रही थीं और जिनमें जनता को व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा मिलती थी। अतएव भारत में स्थानीय स्वशासन के लोप होने का बहुत कुछ उत्तरदायित्व कंपनी की केंद्रीकरण की नीति पर ही है।

केंद्रीकरण के कुपरिणाम शीघ्र ही दृष्टिगोचर होने लगे और सरकार को अकेंद्रीकरण का सहारा लेना पड़ा। कलकत्ता, बंबई और मद्रास में सत्रहवीं शताब्दी से ही स्थानीय स्वशासन स्थापित होने की चर्चा हो रही थी और कुछ सफल प्रयत्न भी किये गये थे। सन् १८४२ के बंगाल के दसवें ऐक्ट के अनुसार अन्य नगरों में भी स्थानीय स्वशासन स्थापित करने की व्यवस्था की गयी। परिणाम-स्वरूप कुछ शहरों में नगरपालिकाएँ (म्युनिसिपिल्टियाँ) बनीं; परंतु प्रत्यक्ष करों (Direct Taxes) के कारण वे असफल सिद्ध हुईं। सन् १८५० में पुराने ऐक्ट को रद करके एक नया ऐक्ट बनाया गया। उसके अनुसार नगरपालिकाओं को चुंगी आदि अप्रत्यक्ष कर लगाने का अधिकार मिला। इस ऐक्ट के कारण उत्तरी पश्चिमी प्रांत (आजकल उत्तर-प्रदेश) और बंबई प्रांत में अनेक नयी नगरपालिकाएँ बनीं।

सन् १८६३ में सेना तथा स्वास्थ्य संबंधी शाही कमीशन की सिफारिशों के अनुसार नगरपालिकाओं के स्वास्थ्य विषयी अधिकार बढ़ाये गये। सन् १८७० में लॉर्ड मेयो ने आर्थिक अकेंद्रीकरण की नीति के कारण स्थानीय स्वशासन के

बढ़ाने पर भी जोर दिया। अतएव सभी प्रांतों में नगरपालिकाओं के अधिकार बढ़े। उनके सदस्यों का चुनाव होने लगा और उनकी संख्या एवं उपयोगिता बढ़ी। सन् १८८२ में लॉर्ड रिपन ने स्थानीय स्वशासन के बढ़ाने पर और भी जोर दिया। उनके विचार में स्थानीय स्वशासन की स्थापना केवल शासन में सुभीते के ही लिए आवश्यक न थी, वरन् जनता को व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा देने के लिए भी जरूरी थी। इसलिए उन्होंने निर्वाचित सदस्यों के आधिक्य पर जोर दिया और यह स्पष्ट किया कि सरकारी निरीक्षण बाहर से होना चाहिये, भीतर से नहीं। सन् १९१८ में भारतमंत्री और गवर्नर जनरल ने स्थानीय स्वशासन संबंधी एक नया प्रस्ताव प्रकाशित किया। उसमें निर्वाचित सदस्यों और निर्वाचकों की संख्या बढ़ाने, नगरपालिकाओं के गैर-सरकारी सभापतियों के होने, उनके आर्थिक अधिकारों के बढ़ाने, स्थानीय स्वशासन के नये विभाग के स्थापित करने और ग्राम-पंचायतों के स्थापित करने पर जोर दिया गया था। सन् १९१९ में भारतीय शासन में सुधार किये गये। अब स्थानीय स्वशासन हस्तांतरित विषय हो गया और उसका शासन उत्तरदायी, मंत्रियों द्वारा होने लगा। सन् १९३५ के भारतीय शासन संबंधी ऐक्ट द्वारा हस्तांतरित और संरक्षित विषयों का भेद मिटा दिया गया। फल-स्वरूप स्थानीय स्वशासन प्रांतीय विषय हो गया। आजकल वह संवांतरित राज्यों की सरकार के अधीन है।

स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं का वर्गीकरण—भारत की स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहली वे जिनका संबंध शहरों से है और दूसरी वे जिनका संबंध देहातों से है। कॉरपोरेशन, म्युनिसिपिल्टी, पोर्ट ट्रस्ट, इंप्रूवमेंट ट्रस्ट आदि शहरों से संबंध रखने वाली स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ हैं और जिला बोर्ड और ग्राम-पंचायतें देहातों से संबंध रखनेवाली।

भारत की शहरातू जन-संख्या—पाश्चात्य देशों और अमरीका के देखते हुए, भारत में शहरों और बड़े-बड़े नगरों में रहने वालों की संख्या बहुत कम है। सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार १३ प्रतिशत और १९५१ की जनगणना के अनुसार १५ प्रतिशत् लोग शहरों में रहते थे। इंगलैंड और वेल्स के ८० प्रतिशत्, संयुक्त-राज्य अमरीका के ५६·२ प्रतिशत्, कैनाडा के ५३·७ प्रतिशत्, उत्तरी आयरलैंड के ५०·८ प्रतिशत् और फ्रांस के ४९ प्रतिशत् लोग शहरों में रहते हैं। लेकिन भारत की शहरातू जन-संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इस वृद्धि के मुख्य कारण हैं (अ) आवागमन के साधनों की सुविधा

(३) अपराध और अपराधियों की समस्या—देहातों की अपेक्षा शहरों में अपराध अधिक होते हैं। कुछ अपराध तो केवल धन के लिए किये जाते हैं और कुछ पाशविक वृत्तियों को तृप्त करने के लिए। धनसंबंधी अपराधों के लिए शहरों की परिस्थिति विशेष रूप से अनुकूल होती है। थोड़े से स्थान में अति अधिक संपत्ति एकत्रित रहती है और चोरी के माल छिपाने और बेचने के साधनों की कमी नहीं होती। अतएव शहरों में कुछ लोगों का पेशा ही चोरी करना और जेब कतरना हो जाता है। पाशविक वृत्ति के तृप्त करनेवाले अपराध गुप्त रीति से किये जाते हैं। इन अपराधों के कारण शहरों में पुलिस का भी जोर अधिक होता है। बहुतेरे चोरी और बदमाशी के मामले पकड़ लिये जाते हैं फिर भी अनेक अपराध ऐसे रह जाते हैं जिनकी खबर पुलिस तक नहीं पहुँचती और अनेक ऐसे जिनका पता लगाने में पुलिस को सफलता नहीं मिलती।

(४) किरायेदारों की वृद्धि और मकान-मालिकों की कमी—साधारणतया सब शहरों के और विशेष रूप से औद्योगिक शहरों के बहुत से निवासी श्रमजीवी होते हैं। उनके पास इतनी संपत्ति नहीं होती कि वे निजी मकान बनवा सकें। अतएव वे किराये के मकानो में ही अपना निर्वाह करते हैं। व्यापारियों को अपनी दूकानें साधारणतया किराये पर लेनी पड़ती हैं। कचहरी, दफ्तरों, कॉलेजों और स्कूलों आदि में काम करनेवाले लोग भी आम तौर से किराये के मकानों में रहते हैं। अतएव शहरों में देहातों की अपेक्षा मकान-मालिक कम होते हैं। किरायेदारों की अधिकता के कारण शहरों के निवासियों में सामूहिक जीवन का अभाव होता है। बड़े-बड़े शहरों में यहाँ तक देखा गया है कि निकट के पड़ोसी भी एक दूसरे को नहीं जानते और यदि जानते भी हैं तो परस्पर बात-चीत नहीं करते। निजी मकान के कारण मनुष्य एक स्थान में बँध सा जाता है। वह उस स्थान की उन्नति करने का प्रयत्न करता है। पर किरायेदारों में यह बात नहीं होती। अतएव मकान-मालिकों की संख्या को बढ़ाकर, शहरों के सामूहिक जीवन का उभारना शहरों की जटिल समस्या है।

(५) हलचल मचानेवालों का अस्तित्व—शहरों में हमेशा किसी न किसी प्रकार की हलचल मची रहती है। कभी मजदूरों और मील-मालिकों का झगड़ा होता है और कभी सांप्रदायिक। कभी जलूस निकलते हैं, कभी राज-नीतिक हलचल होती है और कभी सामाजिक। नाना प्रकार के मनुष्यों के कारण, शहरों में हलचल के कारण भी स्वतः विद्यमान रहते हैं। हलचल मचाने-वाले इन कारणों की सहायता से राई का पर्वत बनाते हैं और शहरों के शांति-

मय जीवन में खलबली पैदा करते हैं। शहरों में हड़तालें अधिक होती हैं। कभी राजनीतिक अथवा सामाजिक कारणों से सारा बाजार बंद हो जाता है; कभी मजदूर लोग अपना वेतन बढ़ाने के लिए हड़ताल करते हैं, कभी इक्के और ताँगेवाले, कभी मेहतर लोग और कभी स्कूलों और कॉलेजों के विद्यार्थी लोग। इन हड़तालों और उपद्रवों के कारण शहरों के शांतिमय जीवन में अशांति उत्पन्न होती है। इस अशांति का रोकना शहरों की एक कठिन समस्या है।

शहरों से संबंध रखनेवाली स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ—भारतीय स्थानीय स्वशासन की मौजूदा हालत में शहरों से संबंध रखनेवाली चार प्रकार की स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ पायी जाती हैं—(१) कॉरपोरेशन, (२) म्युनिसिपिल्टी, (३) पोर्ट ट्रस्ट और (४) इंप्रूवमेंट ट्रस्ट।

कॉरपोरेशंस—कलकत्ता, बंबई और मद्रास की म्युनिसिपल संस्थाओं को कॉरपोरेशन कहा जाता है। इनका श्रीगणेश सन् १६८७ में हुआ था। सन् १८६० तक इनका संगठन प्रायः एकसा रहा। किंतु १८६१ में प्रांतों को पुनः अपने कानून बनाने का अधिकार मिला और तब से प्रत्येक प्रेसीडेंसी नगर का अलग-अलग विकास होने लगा। सन् १९२० से स्थानीय स्वशासन हस्तांतरित विषय हो गया। इसके कारण कॉरपोरेशनों पर प्रांतीय विधान सभाओं का अधिकार बढ़ा और उनके संगठन और अधिकारों में समय-समय पर आवश्यकतानुकूल परिवर्तन किये गये।

इस समय कलकत्ता कॉरपोरेशन के सदस्यों की संख्या ९८ है। इनमें से ९३ को कौंसिलर कहते हैं और ५ को एल्डरमैन। एल्डरमैन को कौंसिलर निर्वाचित करते हैं। कॉरपोरेशन के अध्यक्ष को मेयर कहते हैं। इसका प्रतिवर्ष निर्वाचन किया जाता है। कॉरपोरेशन के प्रशासन की देखभाल करने के लिए एक इक्जीक्यूटिव ऑफीसर होता है। कॉरपोरेशन का कार्यालय इसी के अधीन होता है और यह ही उसके सुप्रबंध के लिए कॉरपोरेशन के प्रति उत्तरदायी होता है। इसे अपने काम की विशेष जानकारी होती है। अतः कॉरपोरेशन के निर्वाचित सदस्य अथवा उसका मेयर इसके काम में विशेष हस्तक्षेप नहीं करते।

बंबई कॉरपोरेशन के सदस्यों की संख्या १०६ है। इनमें ८० जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं, १६ को बंबई-सरकार मनोनीत करती है और शेष १० सदस्य अन्य सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं। निर्वाचन में प्रत्येक ऐसे वयस्क नागरिक को वोट देने का अधिकार है जो निर्धारित निर्योग्यताओं से मुक्त हो। कॉरपोरेशन के सदस्य स्वयं मेयर को चुनते हैं। कलकत्ते की भाँति इसका

निर्वाचन भी एक ही बरस के लिए होता है। स्वतंत्रता के पूर्व प्रचलित प्रथा के अनुसार मेयर, बारी-बारी से हिंदू, मुसलमान, पारसी और युरोपीय जातियों का होता था। आजकल यह प्रथा परित्यक्त कर दी गयी है। बंबई के इक्जीक्यूटिव ऑफीसर को, म्युनिसिपल कमिश्नर कहते हैं। इसकी नियुक्ति तीन बरस के लिए की जाती है।

मद्रास कॉरपोरेशन के सदस्यों की संख्या ६५ है। इनमें से ५९ सदस्य जनता द्वारा चुने जाते हैं, १ को मद्रास की सरकार मनोनीत करती है और शेष पाँच सदस्यों को अन्य सदस्य कोआप्ट करते हैं। कोआप्ट किये गये सदस्यों में साधारणतया एक महिला होती है। कॉरपोरेशन के सदस्य स्वयं अपने मेयर को चुनते हैं। बंबई की भांति मद्रास के इक्जीक्यूटिव ऑफीसर को भी म्युनिसिपल कमिश्नर कहते हैं। इसकी स्थिति न्यूनाधिक उसी प्रकार की है जैसी बंबई के म्युनिसिपल कमिश्नर की।

नगरपालिकाएँ—कॉरपोरेशनों के अतिरिक्त भारत में लगभग ८५० नगरपालिकाएँ हैं और उनमें लगभग चार करोड़ निवासी रहते हैं। नगरपालिकाओं के निवासियों का अनुपात विभिन्न राज्यों में अलग-अलग है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जिन राज्यों में दस्तकारियों का अधिक विकास हुआ है, उनमें नगरपालिकाओं के निवासियों की संख्या दूसरे प्रांतों की अपेक्षा अधिक है। बंबई राज्य के लगभग २५ प्रतिशत निवासी नगरपालिकाओं में रहते हैं और आसाम के केवल २½ प्रतिशत। शेष राज्यों में उनकी संख्या ४ से ९ प्रतिशत् तक है। राज्यों की सरकारें किसी प्रदेश को नगरपालिका घोषित कर सकती हैं, किसी नगरपालिका को शहर घोषित कर सकती हैं और किसी नगरपालिका के क्षेत्रफल और अधिकार-क्षेत्र को बढ़ा-घटा सकती हैं। उत्तर-प्रदेश में आजकल ११७ नगरपालिकाएँ हैं। बंबई राज्य की लगभग २५ नगरपालिकाओं को म्युनिसिपल बरो (Borough) कहते हैं।

म्युनिसिपल बोर्ड—प्रत्येक नगरपालिका की देखभाल के लिए एक कमेटी है जिसे म्युनिसिपल बोर्ड कहते हैं। इसका संगठन विभिन्न राज्यों में उनके द्वारा स्वीकृत ऐक्टों के अनुसार होता है। उक्त ऐक्ट विभिन्न राज्यों में विभिन्न कालों में स्वीकृत हुए हैं। उत्तर-प्रदेश का मूल ऐक्ट सन् १९१६ में पास हुआ था। समय-समय पर उसमें आवश्यक संशोधन किये गये, पर सबसे महत्त्वपूर्ण संशोधन १९४८ और १९४९ में हुए हैं। इनके कारण नगरपालिकाओं के संगठन में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गये हैं। नगरपालिकाओं का नवीन निर्वाचन इसी संशोधित ऐक्ट के अनुसार हुआ है।

विगत म्युनिसिपल बोर्डों का संगठन पुरानी पद्धति के अनुसार सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली के अनुसार हुआ था। उनके सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक ४० थी। अतएव बोर्ड के सदस्य अपनी जनता का प्रतिनिधित्व भली-भाँति न करते थे। वयस्क मताधिकार के अभाव में वे थोड़े से निर्वाचकों द्वारा चुने गये थे। बोर्ड के सदस्यों ने स्वयं अपने प्रधान को चुना था। भूतकाल में यह व्यवस्था असंतोषप्रद पायी गयी थी। अतः सन् १९४८ और १९४९ के संशोधनों के द्वारा इन दोषों को दूर करके नगरपालिकाओं के संगठन की नयी व्यवस्था की गयी। अब इनके तीन प्रकार के सदस्य निर्धारित किये गये हैं—

(१) प्रधान।

(२) निर्वाचित सदस्य, जिनकी संख्या राज्य की सरकार द्वारा निर्धारित, कम से कम २० और अधिक से अधिक ८० है।

(३) वे सदस्य जो उक्त सदस्यों द्वारा कोऑप्ट (Coopt) किये जायँ।

सभापति का निर्वाचन, उन्हीं मतदाताओं द्वारा किया जाता है जो नगरपालिका के निर्वाचित सदस्यों को चुनते हैं। कोऑप्ट किये गये सदस्यों की संख्या कम से कम चार और अधिक से अधिक आठ निर्धारित की गयी है। इन सदस्यों में से आधे उन विशेष हितों के प्रतिनिधि होंगे जिन्हें साधारण निर्वाचन में स्थान न मिला हो और आधी महिलाएँ होंगी। कानपुर, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ और आगरा को आठ सदस्यों को कोऑप्ट करने का अधिकार दिया गया है। सन् १९५३ से इन नगरों के लिए प्रशासन के राज्यपाल के अध्यादेश के अनुसार प्रशासक नियुक्त किये गये हैं। इस असाधारण कार्रवाई का उद्देश्य इन नगरों में कॉरपोरेशन स्थापित करने का विचार है।

म्युनिसिपल निर्वाचन—निर्वाचन के लिए प्रत्येक नगरपालिका हल्कों (wards) में विभाजित की जाती है और प्रत्येक से जन-संख्या के आधार पर एक या अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं। सन् १९४८ के संशोधन के अनुसार प्रत्येक हल्के से कम से कम तीन और अधिक से अधिक सात सदस्य चुने जायँगे। ये तीन भागों में विभाजित होंगे—(१) साधारण सदस्य, (२) मुसलमान सदस्य और (३) परिगणित जातियों के सदस्य। मुसलमानों और परिगणित जातियों के लिए उनकी जन-संख्या के आधार पर स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। किंतु उनका निर्वाचन सांप्रदायिक प्रणाली से न होकर संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली के अनुसार किया गया है। नये संशोधन द्वारा किया गया यह परिवर्तन एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है।

प्रत्येक हल्के की एक निर्वाचक नामावली (Electoral Roll) होती है

जिसमें उन सब लोगों के नाम होते हैं जो उस क्षेत्र में रहते तथा निर्वाचन में भाग लेने के अधिकारी हों। यदि किसी व्यक्ति का नाम इस नामावली में नहीं होता तो वह वोट देने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है। नाप लिखाने के लिए यह आवश्यक है कि वह कम से कम २१ बरस का हो, गत छः माह से साधारणतया उस क्षेत्र में रहता हो और उन अयोग्यताओं से मुक्त हो जिनका उल्लेख ऐक्ट में किया गया है। उक्त अयोग्यताएँ इस प्रकार हैं—

(१) भारत का नागरिक न होना। (२) इक्कीस बरस से कम अवस्था का होना। (३) ऐसा व्यक्ति जिसे उपयुक्त न्यायालय ने विकृत-मस्तिष्क ठहराया हो। (४) अमोचित दिवालिया। (५) वह व्यक्ति जिसने नगरपालिका के करों को न चुकाया हो। (६) वह व्यक्ति जिसे अनैतिक आचरण के लिए एक बरस से अधिक कारावास या कालेपानी का दंड मिला हो या जिससे सदाचरण के लिए मुचलके लिये गये हों।

उक्त योग्यताओं तथा अयोग्यताओं से यह स्पष्ट है कि नगरपालिकाओं के निर्वाचन में अब स्त्री-पुरुष के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जाता।

निर्वाचक नामावली में जिस व्यक्ति का नाम हो वह नगरपालिका के निर्वाचन में उम्मेदवार हो सकता है। किंतु उसे निम्नलिखित अयोग्यताओं से मुक्त होना चाहिये—

(१) निकाला गया ऐसा सरकारी अधिकारी जो पुनः सरकारी नौकरी के अधिकार से वंचित कर दिया गया हो। (२) ऐसा वकील जो उपयुक्त अधिकारी द्वारा वकालत करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया हो। (३) ऐसा व्यक्ति जो नगरपालिका के अधीन किसी लाभप्रद पद पर हो। (४) ऐसा व्यक्ति जो गुप्तरूप से नगरपालिका के ठेकों में साझा करने के लिए, सदस्यता से वंचित कर दिया गया हो, निकाले जाने के तीन बरस बाद तक उम्मेदवार नहीं हो सकता। (५) वे व्यक्ति जो केंद्रीय अथवा राज्य की सरकारों की नौकरी में हों, या सरकारी वकील हों या अवैतनिक मैजिस्ट्रेट या मुंसिफ या सहायक कलक्टर हों। (६) ऐसा व्यक्ति जिसने म्युनिसिपल टैक्स न अदा किया हो, या जिसे कुष्ठ का रोग हो या जो अमोचित दिवालिया हो। (७) ऐसा व्यक्ति जो अंगरेजी अथवा राज्य की किसी भी भाषा को न जानता हो। सभापति के पद के उम्मेद-वारों को कम से कम ३० बरस का होना चाहिये।

साधारणतः प्रति चौथे वर्ष नगरपालिका का नया चुनाव होता है। उन दिनों शहर में बड़ी हलचल मच जाती है। नियत दिन तक उम्मेदवारों के

निर्वाचन के आवेदन-पत्र (Nomination papers) पेश किये जाते हैं। निश्चित दिन उनकी जाँच होती है और जो आवेदन-पत्र नियमानुकूल नहीं होते वे रद कर दिये जाते हैं। इसी बीच भिन्न-भिन्न उम्मेदवार और उनके सहायक मतदाताओं के पास वोट लेने के लिए जाते हैं। चुनाव के दिन शहर में बडी धूम होती है। प्रत्येक उम्मेदवार के इक्के, तांगे, गाडी, मोटर आदि वोटरों को उस स्थान पर ले जाने के लिए घूमा करते हैं जहाँ वोट पड़ते हैं। वोटर अपना मत देकर अपने घर लौट आते हैं। उस दिन निश्चित समय के पश्चात् एक भी वोट नहीं पड सकता। कुछ समय बाद वोट गिने जाते हैं और जिन उम्मेदवारों के अधिक वोट आते हैं वे उस क्षेत्र के प्रतिनिधि घोषित कर दिये जाते हैं।

चुनाव में कुछ लोग ऐसे कामों को करते हैं, जिनके कारण वोटर स्वतंत्रता-पूर्वक अपना वोट नहीं दे सकते। कुछ लोग वोटरों को धमकाते हैं, घूस देते हैं, रुपया देकर वोट मोल लेते हैं, दावत आदि देकर उन पर अपना प्रभाव जमाते हैं या जाली वोट डालते हैं। कुछ लोग ईश्वरीय कोप की धमकी देते हैं और कुछ जाति, संप्रदाय, धर्म आदि के नाम पर वोट माँगते हैं। ऐसा करना नियम-विरुद्ध है। प्रत्येक वोटर को अधिकार है कि वह इस प्रकार की बातों की सूचना निर्वाचन-न्यायालय (Election Tribunal) या जहाँ निर्वाचन-न्यायालय न हो, वहाँ कलक्टर के पास भेज-कर चुनाव रद कराने का प्रार्थना-पत्र भेजे। प्रार्थना-पत्र के साथ कुछ जमानत भी जमा करनी पडती है। यदि प्रार्थना-पत्र ठीक निकला तो जमानत का रुपया वापस मिल जाता है और यदि गलत, तो वह या तो जब्त कर लिया या दूसरे पक्ष को दे दिया जाता है। इस प्रकार के प्रार्थना-पत्रों को निर्वाचन-फल की घोषणा के पश्चात् ३० दिन के भीतर आ जाना चाहिये। पराजित उम्मेदवार भी इसी प्रकार के प्रार्थना-पत्र दे सकते हैं। सभापति के निर्वाचन के विरुद्ध उक्त प्रकार के प्रार्थना-पत्र राज्य की सरकार के पास भेजे जायँगे। उनमें कम से कम दस निर्वाचकों के हस्ताक्षर होने चाहिये। प्रार्थना-पत्र की प्राप्ति के पश्चात् निर्वाचन न्यायालय यह निश्चित करता है कि निर्वाचन नियमानुकूल था या नहीं। तब यदि आवश्यकता हुई तो निर्णयानुसार दूसरा निर्वाचन किया जाता है या दूसरे उम्मेदवार के निर्वाचित होने की घोषणा कर दी जाती है।

नगरपालिका की कार्य-प्रणाली—चुनाव के पश्चात् निश्चित दिन नगर-मंडली (Municipal Board) का प्रथम अधिवेशन होता है। इसमें कमेटियाँ बनायी जाती हैं। इनकी संख्या विभिन्न नगरपालिकाओं में भिन्न-

भिन्न होती हैं। नगर-मंडली ही कमेटियों के प्रधान को नियुक्त करती है। नगर-मंडली के सदस्य ही कमेटियों के सदस्य होते हैं, पर आवश्यकतानुसार बाहरी व्यक्ति भी कोआप्ट किये जा सकते हैं। कमेटियाँ नगर-शासन के विभिन्न कामों को देखती हैं। नगर-मंडली की सहायता के लिए इक्जीक्यूटिव अफसर, इंजीनियर, मंत्री, हेल्थ-अफसर आदि अनेक वैतनिक कर्मचारी होते हैं। नगर-पालिका की कमेटियाँ, प्रधान, स्थायी अधिकारी आदि सब मिलकर नगरपालिका के शासन की देख-रेख करते हैं।

प्रधान और बोर्ड का संबंध—स्थानीय स्वशासन के नये सुधारों के पूर्व नगरपालिका का प्रधान, बोर्ड द्वारा चुना जाता था। उन दिनों प्रधान और बोर्ड में, मतभेद के कारण, प्रायः तनातनी रहती थी। कभी-कभी बोर्ड अवि-श्वास के प्रस्ताव को पास करके प्रधान को अपदस्थ करने का प्रयत्न करता था और कुछ प्रधान इतने पर भी पदत्याग न करते थे। अतएव नगरपालिका के सदस्य और उसके कर्मचारी जनता की सेवा न करके आपसी झंझटों में फंसे रहते थे। नये सुधारों द्वारा इस परिस्थिति में कुछ परिवर्तन कर दिये गये हैं। नगरपालिका को अब भी प्रधान के विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव के पास करने का अधिकार है। उसकी सूचना राज्य की सरकार के पास भेजी जायगी। प्रधान को भी राज्य की सरकार के पास अपने दृष्टिकोण को लिखने का अधिकार है। वह उसे बोर्ड को भंग करके दूसरे बोर्ड के चुनाव का परामर्श दे सकता है। दोनों पर विचार करके, राज्य की सरकार या तो प्रधान को त्याग-पत्र देने का आदेश देगी, या बोर्ड के भंग करने का। यदि पहला आदेश हुआ, तो प्रधान को तीन दिन के अंदर निकालना पड़ेगा। यदि दूसरा, तो विघटित बोर्ड का नया चुनाव होता है। यदि नया बोर्ड भी प्रधान के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास करेगा तो प्रधान को निकलना पड़ेगा। इस व्यवस्था के कारण प्रधान और बोर्ड दोनों अपने अपने कामों में लगे रहेंगे और अविश्वास के प्रस्ताव का निर्णय परोक्ष रूप से नागरिकों के द्वारा किया जायगा।

नगरपालिका के पदाधिकारी—प्रधान के अतिरिक्त प्रत्येक नगरपालिका के कुछ अन्य पदाधिकारी भी होते हैं। वे सब बोर्ड की ओर से वेतन पाते हैं। मुख्य पदाधिकारी इक्जीक्यूटिव ऑफीसर, हेल्थ ऑफीसर, म्युनिसिपल इञ्जीनियर, वाटर वर्क्स सुपरिंटेंडेंट और सेक्रेटरी हैं। इन सब पदाधिकारियों को बोर्ड नियुक्त करता है, परंतु राज्य की सरकार ने इनकी योग्यताएँ निर्धारित कर दी हैं। इन उच्च पदाधिकारियों के अतिरिक्त प्रत्येक बोर्ड के अधान सैकड़ों

अन्य कर्मचारी होते हैं, जिनको या तो बोर्ड नियुक्त करता है, या चेयरमैन या इक्जीक्यूटिव ऑफीसर। कहा जाता है कि इन पदाधिकारियों की नियुक्ति में बोर्ड के मेंबर कभी-कभी अपने अपने स्वार्थ का परिचय देते हैं जिसकी वजह से उनमें परस्पर द्वेष हो जाता है और म्युनिसिपल कर्मचारी, सदस्यों के परस्पर द्वेष के कारण, बिना कारण निकाल दिये जाते हैं। कम वेतन के कारण बहुतेरे घूस लेने लगते हैं, जिससे जनता की सेवा न करके वे उस पर अत्याचार करने लगते हैं। म्युनिसिपल नौकरों की हालत सुधारे बिना, म्युनिसिपल शासन का उन्नतिशील होना असंभव है।

म्युनिसिपल कमेटियाँ—म्युनिसिपल बोर्ड अपना सारा काम स्वयं नहीं कर सकता। अतएव वह अपने काम को विभिन्न कमेटियों में बाँट देता है। इनमें से मुख्य कमेटियाँ निम्नलिखित हैं—अर्थ कमेटी, वाटरवर्क्स कमेटी, स्वास्थ्य कमेटी, शिक्षा कमेटी, सड़क कमेटी इत्यादि। इस कमेटियों का चुनाव बोर्ड स्वयं करता है। इनके चुनाव में भी काफी चहल-पहल होती है। सभी सदस्य महत्वपूर्ण कमेटियों के चेयरमैन (सभापति) बनना चाहते हैं। ये कमेटियाँ कुछ काम स्वयं कर लेती हैं, परंतु साधारणतया बोर्ड की अनुमति के बिना इनके किसी निर्णय पर कार्रवाई नहीं की जा सकती। कमेटियों के सदस्य साधारणतया बोर्ड के सदस्य होते हैं, पर कभी कभी बाहरी व्यक्ति भी इनके सदस्य चुन लिये जाते हैं। यदि कमेटियों के सदस्य अच्छे व्यक्ति हों और यदि उनमे बाहर के योग्य व्यक्ति भी कोआप्ट कर लिये जायँ, तो ये कमेटियाँ म्युनिसिपल शासन में बार्ड की बहुत कुछ मदद कर सकती हैं।

म्युनिसिपल बोर्ड के अधिकार—राज्य की सरकार और कमिश्नर के अधिकारों के अतिरिक्त, म्युनिसिपल-क्षेत्र का शासनाधिकार म्युनिसिपल बोर्ड को होता है। जनता के जीवन को अधिक से अधिक सुखमय बनाना बोर्ड का कर्तव्य है। अतएव उसे अनेक अधिकार दिये गये हैं। वह टैक्स लगाता है, म्युनिसिपल पदाधिकारियों को नियुक्त करता और निकालता है और टैक्स द्वारा वसूल की गयी रकम को आवश्यकतानुसार खर्च करता है। वह खाने-पीने की वस्तुओं का निरीक्षण करता है और सड़ी और गंदी वस्तुओं के बेचने वालों को दंड दे सकता है। वह खतरनाक मकानों को गिरा सकता है और उन लोगों को दंड दे सकता है, जो नियम-विरुद्ध मकान बनवाते हैं या बेकायदा म्युनिसिपल भूमि पर अपना अधिकार जमाते हैं। म्युनिसिपल शासन में बोर्ड का स्थान सर्वोच्च होता है। कमेटियों, चेयरमैन और म्युनिसिपल पदाधिकारियों के निर्णयों का अंतिम निर्णय बोर्ड में ही होता है।

इंप्रूवमेंट ट्रस्ट—शहरों से संबंध रखने वाली स्थानीय स्वशासन की तीसरी संस्था को इंप्रूवमेंट ट्रस्ट कहते हैं। ये संस्थाएँ भारतीय शहरों की अवस्था सुधारने और उनके बढ़ाने के उद्देश्य से बनायी गयी हैं। अधिकांश भारतीय शहर, बिना किसी नक्शे के बस गये हैं। उनकी सडकें पतली और गंदी होती हैं, मकान तितर-बितर होते हैं, और शहरों के कुछ हिस्से तो ऐसे होते हैं जहाँ न तो धूप जाती है और न रोशनी। दस्तकारियों की उन्नति और शहरों के प्रलोभनों के कारण उनकी आबादी नित्य-प्रति बढ़ती जाती है जिसकी वजह से बीमारियों के फैलने और स्वास्थ्य के बिगड़ने का डर हमेशा बना रहता है। औद्योगिक नगरों की मजदूर-आबादी तो साधारणतया ऐसे घरों में अपना जीवन व्यतीत करती हैं, जो मनुष्यों के रहने योग्य नहीं कहे जा सकते। अधिक आबादी और कम मकानों के कारण मकानों का किराया भी अत्यधिक होता है। इसकी वजह से छोटे-छोटे घरों में उचित संख्या से अधिक मनुष्य रहते हैं।

बड़े शहरों की ऊपर लिखी हुई हालत के कारण यह आवश्यक है कि उनके गंदे हिस्से साफ किये जायँ, उनके फैलाव की समुचित व्यवस्था की जाय और उनकी घनी आबादी के लिए नयी बस्तियाँ बसायी जायँ। भारत के प्रमुख बड़े नगरों में इन्हीं उद्देश्यों से इंप्रूवमेंट ट्रस्ट स्थापित किये गये हैं। कलकत्ता इंप्रूवमेंट ट्रस्ट के, जो सन् १९१२ में स्थापित हुआ था, निम्नलिखित उद्देश्य हैं—घनी बस्तियों की आबादी को कम करने के लिए नयी बस्तियों का बसाना, नयी सड़कों का बनाना और पुरानी सड़कों का बदलना, हवाखाने के लिए और मकानों को अधिक हवादार बनाने के लिए खुली जगहों का प्रबंध करना, पुराने मकानों को तोड़ना और नये मकानों का बनाना, गरीबों और मजदूरों के रहने के लिए उपयुक्त मकान बनाना इत्यादि। ट्रस्ट का इंतजाम एक समिति को सौंपा गया है जिसके, सभापति के अतिरिक्त, ग्यारह सदस्य हैं। सभापति ट्रस्ट का नौकर है और उसे अपना सारा समय ट्रस्ट के कामों की देखभाल में बिताना पड़ता है। कलकत्ते के अतिरिक्त बंबई, कानपुर, इलहाबाद, लखनऊ, बनारस, दिल्ली आदि बड़े नगरों में भी इंप्रूवमेंट ट्रस्ट स्थापित किये गये हैं। सन् १९५३ से कानपुर, इलाहाबाद, लखनऊ और बनारस के इंप्रूवमेंट ट्रस्ट राज्यपाल के अध्यादेश के अनुसार नियुक्त प्रशासकों के अधीन कर दिये गये हैं।

इंप्रूवमेंट ट्रस्टों के कुछ सदस्यों को सरकार मनोनीत करती है, कुछ म्युनिसिपल बोर्ड की ओर से आते हैं और कुछ व्यापारिक संस्थाओं के द्वारा

चुने जाते हैं। ट्रस्टों की आमदनी के निम्नलिखित साधन हैं—बिकी हुई जमीन का दाम, सरकारी सहायता और ऋण। उनके खर्चे की मदें निम्नलिखित हैं—नयी सड़कों के बनाने के लिए मकान और जमीन का खरीदना, नयी सड़कों, गंदे नालों आदि का बनाना, ऋण का ब्याज देना और ऋण का चुकाना।

इंप्रूवमेंट ट्रस्टों की वजह से भारत के कुछ बड़े शहरों की हालत सुधरने लगी है। नयी बस्तियाँ नक्शे के अनुसार बसायी जाती हैं, जिसके कारण वे देखने में आकर्षक और निवासियों के लिए स्वास्थ्य-वर्द्धक होती हैं। मजदूरों और गरीबों के रहने का भी कुछ प्रबंध किया गया है, परंतु वह संतोषप्रद नहीं है। कहा जाता है कि इंप्रूवमेंट ट्रस्टों के मकानों का किराया बहुत ज्यादा होता है। वे अपनी जमीन को बहुत ज्यादा दाम पर बेचते हैं, जिससे गरीबों की जायदादें छिन तो जाती हैं पर वे नयी जायदादों का मूल्य नहीं दे पाते। इंप्रूवमेंट ट्रस्टों की नीति के कारण शहरों के अधिकांश मकान पूँजीपतियों के हाथ में होते जाते हैं, जिसके कारण किरायेदारों की संख्या बढ़ती जाती है और मकान-मालिकों की सख्या घटती जाती है।

पोर्ट ट्रस्ट—शहरों से संबंध रखनेवाली स्थानीय स्वशासन की चौथी संस्था को पोर्ट ट्रस्ट कहते हैं। ये केवल बंदरगाहों में ही स्थापित किये गये हैं। भारत के प्रमुख पोर्ट ट्रस्ट कलकत्ता, बंबई और मद्रास, में हैं। कलकत्ता पोर्ट ट्रस्ट के कुछ सदस्य व्यापारिक संस्थाओं द्वारा चुने जाते हैं, कुछ कॉरपोरेशन द्वारा और कुछ को सरकार मनोनीत करती है। बंबई पोर्ट ट्रस्ट के सदस्य भी इसी प्रकार चुने जाते हैं और अन्य पोर्ट ट्रस्टों की भी प्रायः यही व्यवस्था है। पोर्ट ट्रस्टों में मनोनीत सदस्यों की संख्या कॉरपोरेशनों और नगरपालिकाओं की अपेक्षा कहीं अधिक होती है। पोर्ट ट्रस्टों के शासन और प्रबंध में स्थानीय स्वशासन की अन्य संस्थाओं की अपेक्षा सरकारी निरीक्षण और हस्तक्षेप अधिक होता है। ट्रस्टों की आय के प्रमुख साधन जहाजी कर, गोदाम का किराया और माल की लदाई और उतराई के टैक्स हैं। वे अपने काम के लिए ऋण भी ले सकते हैं। इन ट्रस्टों के सदस्यों को कुछ भत्ता मिलता है।

देहातों से संबंध रखनेवाली स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं—भारत के लगभग ८५ प्रतिशत निवासी अभी तक देहातों में रहते हैं। स्थानीय स्वशासन से वास्तविक लाभ तभी पहुँच सकता है जब देहाती जनसंख्या को स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के द्वारा व्यावहारिक राजनीति की शिक्षा दी जाय। हमारे देश में देहातों से संबंध रखने वाली स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं, शहरों की अपेक्षा देर में स्थापित हुई हैं। विभिन्न राज्यों में उनके

नाम अलग-अलग हैं। उत्तर प्रदेश में ऐसी दो मुख्य संस्थाओं के नाम जिला बोर्ड और ग्राम-पंचायत हैं।

जिला बोर्डों का संगठन—समस्त भारत में जिला बोर्डों की संख्या लगभग २१० है। विभिन्न राज्यों में उनके नाम अलग-अलग हैं। बंगाल, उड़ीसा और मद्रास में उनको यूनियन कमेटी कहा जाता है और मध्य-प्रदेश में जन-पद-सभा। जिला बोर्डों को स्थापित करने का अधिकार राज्य की सरकार को है। उत्तर-प्रदेश में जिला बोर्ड का मूल ऐक्ट सन् १९२२ में स्वीकृत हुआ था। समय-समय पर उसमें आवश्यक संशोधन किये गये हैं जिनके कारण बोर्डों का संगटन अधिक लोकतंत्रात्मक हो गया है, उनके अधिकार बढ़ाये गये हैं और उनके सदस्यो की संख्या इतनी अधिक कर दी गयी है कि वे जनता का भली-भांति प्रतिनिधित्व कर सकें।

उत्तर प्रदेश में आजकल ५१ जिले हैं और उनमें से प्रत्येक के लिए एक जिला मंडली (बोर्ड) की व्यवस्था है। इसके अधिकांश सदस्य जनता द्वारा चुने जाते हैं। इन सदस्यों की संख्या कम से कम ३० और अधिक से अधिक ८० निर्धारित की गयी है। प्रत्येक जिला-मंडली का एक प्रधान होता है और इसे भी मतदाता ही चुनते हैं। नगरपालिकाओं की भांति प्रत्येक जिला-मंडली को कुछ बाहरी व्यक्तियों को भी अपना सदस्य बनाने का अधिकार है। ऐसे सदस्यों की संख्या बोर्ड के कुल सदस्यों की संख्या के दशांश से अधिक नहीं हो सकती। यह व्यवस्था उन वर्गों के लिए की गयी है जिनके प्रतिनिधि चुनाव द्वारा बोर्ड में न पहुँच सके हों। जिला-मंडली और उसके प्रधान के परस्पर संबंध के विषय में वही व्यवस्था है, जो नगरपालिकाओं के संबंध में बतलायी गयी है। चुनाव का ढंग भी उसी प्रकार का है। दोनों की कार्यप्रणाली में भी विशेष अंतर नहीं है। किंतु सन् १९४८ में, जिला-बोर्ड के ऐक्ट में किये गये संशोधनों के कारण, उसकी कमेटियों की संख्या और संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये गये हैं। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) शिक्षा-कमेटी—प्रत्येक जिला बोर्ड में एक शिक्षा-कमेटो होती है। नये संशोधनों के पूर्व डिप्टी-इंसपेक्टर और जहां डिप्टी-इंसपेक्टर न हो वहां का सब-डिप्टी-इंसपेक्टर, इस कमेटी का मंत्री होता था। कमेटी जिला बोर्ड की शिक्षा-संबंधा सभी बातों की देखभाल करती थी। किंतु अब शिक्षा-कमेटो अन्य कमेटियों के समान हो गयी है। डिप्टी-इंसपेक्टर या सब-डिप्टी-इंसपेक्टर अब इसके मंत्री नहीं होते। वे केवल शिक्षा का निरीक्षण करते हैं।

(२) कार्यपालिका कमेटी—सन् १९४८ के संशोधनों द्वारा प्रत्येक जिला-

बोर्ड के लिए एक कार्यपालिका कमेटी की व्यवस्था है। प्रधान, उपप्रधान, बोर्ड द्वारा निर्वाचित उसके तीन प्रतिनिधि तथा विभिन्न कमेटियों के सभापति इस कमेटी के सदस्य होते हैं। इस कमेटी का काम जिला-बोर्ड के निर्णयों को कार्यरूप में परिणत करना है।

(३) तहसील-कमेटी—जिला-बोर्ड को अपने काम में सहायता देने के लिए तहसील-कमेटियों की व्यवस्था है। प्रत्येक तहसील द्वारा चुने गये बोर्ड के सदस्य, उस तहसील की कमेटी के सदस्य होते हैं।

इन कमेटियों के अतिरिक्त जिला-बोर्ड की अन्य कमेटियाँ पूर्ववत् बनी हुई हैं। उनका चुनाव बोर्ड द्वारा होता है, पर प्रत्येक कमेटी में कुछ बाहरी व्यक्ति भी लिये जा सकते हैं। जिला-बोर्ड अपना सारा काम कमेटियों, प्रधान तथा स्थायी अधिकारियों द्वारा करता है। वह स्वयं अधिकारियों को नियुक्त करता है, पर कुछ अधिकारियों की योग्यताएँ राज्य द्वारा निर्धारित कर दी गयी हैं। जिला-बोर्ड का प्रति माह एक अधिवेशन होता है। किंतु प्रधान या बोर्ड के ⅕ सदस्यों को विशेष अधिवेशन कराने का अधिकार है। जिला-बोर्ड के अपने क्षेत्र में न्यूनाधिक वे ही अधिकार होते हैं जो नगरपालिकाओं के नगर में।

ग्राम-पंचायतें—जिला बोर्डों के अतिरिक्त उत्तर-प्रदेश में ग्राम-पंचायतों के स्थापित करने की व्यवस्था की गयी है। इनका काम होता है छोटे छोटे मामलों का निर्णय करना तथा गांव की स्वास्थ्य संबंधी तथा अन्य सार्वजनिक बातों की व्यवस्था करना। सन् १९४७ के सुधारों के पूर्व जिले के कलक्टर पंचों और सरपंचों को नियुक्त करते थे और वही उनको निकाल भी सकते थे। दुराचरण, कर्तव्य-पालन न करने, अथवा किसी अन्य उपयुक्त कारण के लिए कलक्टर किसी पंचायत को भंग तक कर सकते थे।

ग्राम-पंचायतें २५ रुपये तक के दीवानी मुकदमों का निर्णय कर सकती थीं। वे मामूली मार-पीट या दस रुपये तक की चोरी या दस रुपये तक के नुकसान या जान-बूझ कर अपमान करने वाले फौजदारी मुकदमों का भी फैसला कर सकती थीं। जानबूझ कर जानवरों के पकड़ने और स्वास्थ्य-संबंधी बातों पर ध्यान न देने के कारण जो मुकदमें होते हैं, उनका निर्णय भी ग्राम-पंचायतें करती थीं। उन्हें फौजदारी के मामलों में दस रुपये, मवेशियों के मामलों में पाँच रुपये और स्वास्थ्य-संबंधी मामलों में एक रुपया तक जुर्माना करने का अधिकार था।

ग्राम-पंचायतें उन मुकदमों को न कर सकती थीं जिनका संबंध सरकारी कर्मचारियों या ऐसे व्यक्तियों से था जिनसे अच्छे आचरण के लिए मुचलके लिये गये थे। पंचायतों को कारावास के दंड देने का अधिकार नहीं था।

पंचायतों की आमदनी के तीन मुख्य साधन थे—(१) मुकदमा करने की फीस, (२) जुर्माने की रकम, और (३) सरकारी सहायता। पंचायतें अपनी सारी आमदनी गाँव की शिक्षा और स्वास्थ्य-संबंधी कामों में खर्च करती थीं। कभी कभी अपनी आमदनी से, क्षति पहुँचाये गये मनुष्य को, वे कुछ हरजाना भी देती थीं।

ग्राम-पंचायतों के अधिकार बहुत थोड़े थे। उनके संगठन का ढंग भी दोषपूर्ण था। आवश्यकता इस बात की थी कि गाँववाले पंचायतों की उपयोगिता को समझते और उनके कामों में दिलचस्पी लेते। इसके लिए यह जरूरी था कि पंचायतों का चुनाव होता और उनके अधिकार बढ़ाये जाते।

पंचायत राज ऐक्ट, १९४७—अगस्त सन् १९४६ से हमारे राज्य की कांग्रेसी सरकार, गाँव हुकूमत के एक नये बिल पर विचार कर रही थी। सन् १९४७ में वह बिल पास होकर ऐक्ट बन गया है और उसीके अनुसार क्रमशः गाँवों का शासन संगठित किया जा रहा है। ऐक्ट का उद्देश्य गाँवों में स्वशासन की संस्थाएँ स्थापित करके उनकी हुकूमत का अच्छा प्रबंध करना है। उसके अनुसार गाँव की पंचायतों के टैक्स-संबंधी अधिकार बढ़ाये गये हैं और उन्हें अपनी आय और व्यय के स्वयं प्रबंध करने का अधिकार दिया गया है। वे अब उपनियम बना सकती हैं और देहातों के स्कूल और दवाखाने उनके अधीन कर दिये गये हैं। देहातों की रक्षा करनेवाले वालंटियरों का दल भी उनके अधीन है। अदालती पंचायतों द्वारा वे फौजदारी और दीवानी मामलों का फैसला कर सकती हैं। ऐक्ट का मंशा देहाती जीवन को इस प्रकार उठाना है कि देहात के निवासी सरकारी सहायता पर अत्यधिक निर्भर हुए बिना, अपनी अवस्था को अपने निजी बल पर परस्पर सहयोग द्वारा सुधार सकें।

इस ऐक्ट के अनुसार राज्य की सरकार प्रत्येक ऐसे गाँव के लिए, जिसकी जन-संख्या २००० से अधिक नहीं है, गाँव-सभा स्थापित कर सकती है। वह एक से अधिक पास पास वाले गाँवों को मिला कर भी एक गाँव सभा स्थापित कर सकती है किंतु इनकी कुल जनसंख्या १००० से अधिक न होनी चाहिये। गाँव का प्रत्येक वयस्क व्यक्ति सभा की सदस्यता का अधिकारी है। सभा एक चिरकालीन संस्था है और गाँव की हुकूमत की सभी बातों पर उसका पूर्ण अधिकार है। सभा को अपने सदस्यों में से एक कार्यकारिणी समिति और सरपंच चुनने का अधिकार दिया गया है। इस समिति का नाम गांव-पंचायत रखा गया है। इसके सदस्यों की संख्या कम से कम ३० और अधिक से अधिक ५१ निश्चित

की गयी है। गाँव के शासन की सब बातें इस सभा के अधीन हैं। इसे सड़कों की सफाई, मरम्मत और रोशनी का अधिकार दिया गया है। यही जन्म-मरण का लेखा रखती, शिक्षा तथा खेती का प्रबंध करती, दीवानी और फौजदारी न्याय की व्यवस्था करती और अदालती पंचायतों के काम करने वाले व्यक्तियों को चुनती है। एक से अधिक गाँव की पंचायतों की संयुक्त कमेटियों की भी व्यवस्था की गयी है। "यह कमेटी उन कामों की देखभाल करेगी जिनका सबंध कमेटी में सम्मिलित सब गाँवों से होगा"। गाँव के मुकदमों का निर्णय करने के लिए अदालती पंचायतों की व्यवस्था की गयी है। ये फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार के मुकदमों का फैसला कर सकती हैं। इनके अधिकार परिमित रखे गये हैं। यदि किसी अवसर पर हाकिम-परगना को यह विदित हो कि कोई विचाराधीन मुकदमा पेचीदा है या अदालती पंचायत के योग्य नहीं है तो इसका निर्णय या तो वह स्वयं करता है या उसे किसी दूसरी अदालत में निर्णय के लिए भेज देता है। इन अदालती पंचायतों के सामने वकीलों के जाने की मनाही है और इनके निर्णयों के कार्यान्वित करने की समुचित व्यवस्था की गयी है।

इस ऐक्ट के कारण गाँव की पंचायतों के अधिकांश दोष दूर कर दिये गये हैं। ऐक्ट के अनुसार नयी पंचायतें भी बन गयी हैं। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में ये पंचायतें देहाती जनता को व्यावहारिक राजनीति तथा स्वावलंबन की शिक्षा देने में सफल होंगी।

स्थानीय स्वशासन और राज्य की सरकार का संबंध—स्थानीय स्वशासन और केंद्रीय शासन के संबंध के विषय में दो आदर्श प्रचलित हैं, एक फ्रांस और जापान का और दूसरा इंगलैंड और अमरीका का। फ्रांस और जापान का केंद्रीय निरीक्षण एक ही केंद्र से होता है और इंगलैंड में केंद्रीय सरकार के कई विभाग स्थानीय स्वशासन का निरीक्षण करते हैं। केंद्रीय निरीक्षण की आवश्यकता पर मतभेद का होना असंभव है। केंद्रीय सरकार शासन-संबंधी बातों से अधिक परिचित होती है और स्थानीय प्रेम को उपयुक्त सीमा के अंदर रखती है। मतभेद है केवल इस बात पर, कि केंद्रीय निरीक्षण और हस्तक्षेप किस सीमा तक हो? यदि स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं का वास्तविक उपयोग होना है तो केंद्रीय निरीक्षण और हस्तक्षेप निर्धारित सीमा के भीतर होना चाहिये। अधिक और अनुचित केंद्रीय हस्तक्षेप और निरीक्षण के कारण स्थानीय स्वशासन के उद्देश्य की पूर्ति में बाधा पड़ती है।

भारत में सन् १९१९ के पश्चात् स्थानीय स्वशासन, प्रांतीय सरकार के

अधीन हो गया था। इस साल, द्वैध शासन-प्रणाली के अनुसार स्थानीय स्वशासन हस्तांतरित विषय ठहराया गया था और इसलिए उसके निरीक्षण का अधिकार विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों को मिला था। नये संविधान के अनुसार, स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ राज्य की सरकार के अधीन हैं और उसके निरीक्षण में अपना सारा कामकाज करती हैं।

राज्य की सरकारें, स्थानीय स्वशासन की देखभाल दो तरह से करती हैं, (१) नियम बनाकर और (२) प्रशासन-संबंधी बातों का निरीक्षण करके। विविध राज्यों के स्थानीय स्वशासन से संबंध रखने वाली संस्थाओं के ऐक्ट्स (जैसे म्युनिसिपिल्टीज् ऐक्ट्स, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड्स ऐक्ट्स, आदि) उन्हीं की विधान-सभाओं या मंडलों द्वारा पास किये गये हैं। इनमें संशोधन एवं परिवर्तन करने का अधिकार भी राज्य के विधान-मंडलों को है। इन्हीं ऐक्ट्स के अनुसार स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ सगठित की जाती हैं और उनके अधिकार और कर्तव्य निर्धारित किये जाते हैं। ऐक्टों का उल्लंघन करके स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ कुछ भी नहीं कर सकतीं। यदि स्थानीय स्वशासन के अधिकार-क्षेत्र बढ़ाने या घटाने की आवश्यकता प्रतीत होती है, तो आवश्यक परिवर्तन राज्य के विधानमंडलों के ऐक्टों द्वारा ही किये जाते हैं।

नियम-निर्माण-संबंधी उपर्युक्त अधिकारों के अतिरिक्त, राज्य की सरकारें स्थानीय स्वशासन की संस्थाओ के प्रशासन का भी निरीक्षण करती हैं। इस काम में कमिश्नरों, (जिन प्रांतों में कमिश्नरियाँ हैं) और कलक्टरों से उनको बड़ी सहायता मिलती है। उत्तर-प्रदेश में म्युनिसिपल संस्थाओं से संबंध रखने वाले कमिश्नरों और कलक्टरों के निम्नलिखित अधिकार हैं—

कमिश्नर के अधिकार—(१) अपने अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत स्थित नगरपालिकाओं के शासन का निरीक्षण करना, उनसे आवश्यक रिपोर्टें माँगना और उन पर उचित कार्रवाई करना। यदि उनकी कार्रवाई और कर्तव्य-पालन के संबंध में कुछ परामर्श देना हो, तो उसे लिखकर उनके पास भेजना। (२) किसी ऐसी कार्रवाई का रोकना जो सार्वजनिक भलाई के विरुद्ध हो; जैसे वे काम जिनसे जनता के स्वास्थ्य, जान-माल और अमन-चैन पर बाधा पड़ने की आशंका हो। (३) नगरपालिकाओं से संबंध रखने वाले सारे पत्र-व्यवहार को राज्य की सरकार के पास भेजना। (४) प्रत्येक नगरपालिका बजरिये कलक्टर के अपने वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा कमिश्नर के पास भेजती है। कमिश्नर को अधिकार है कि वह नगरपालिकाओं की वार्षिक बचत की सीमा निर्धारित करे।

इन अधिकारों के अतिरिक्त कमिश्नर उन सब अधिकारों का भी प्रयोग करते हैं, जो उनको राज्य की सरकारें प्रदान करें। उपर्युक्त अधिकारों का संबंध केवल बड़ी नगरपालिकाओं से है। छोटी नगरपालिकाओं के विषय में कमिश्नरों के अधिकार इनसे कहीं अधिक हैं।

कलक्टर के अधिकार—(१) जिले में स्थित नगरपालिकाओं के निरीक्षण के संबंध में, कलक्टर के वे ही अधिकार हैं जो कमिश्नर के। (२) निर्धारित परिस्थिति के कारण कलक्टर किसी पास किये गये प्रस्ताव का अमल रोक सकते हैं, पर उनके ऑर्डर की अपील कमिश्नर से की जा सकती है। (३) यदि बोर्ड अपने कर्तव्यों का पालन न करता हो तो असाधारण परिस्थितियों में कलक्टर बोर्ड के कर्तव्यों का पालन स्वयं कर सकते हैं। (४) नगरपालिकाओं का, कमिश्नर और राज्य की सरकार का पत्र-व्यवहार बजरिये कलक्टर के होता है। (५) जिन नगरपालिकाओं की आबादी ५०,००० से कम है उनके प्रशासन की रिपोर्ट का पर्यायलोचन कलक्टर करता और अपने पर्यायलोचन की सूचना कमिश्नर को देता है।

कमिश्नरों और कलक्टरों के अतिरिक्त राज्य की सरकारें बजरिये स्थानीय स्वशासन के मंत्री के स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं का निरीक्षण करती हैं। वे किसी प्रदेश को नगरपालिका घोषित कर सकती हैं, किसी नगरपालिका को शहर घोषित कर सकती हैं और इन संस्थाओं के अधिकार-क्षेत्र और सीमा में परिवर्तन कर सकती हैं। ठीक काम न होने पर वे नगरपालिकाओं को तोड़ सकती और उनके शासन का उचित प्रबंध कर सकती हैं। नगरपालिकाओं के आवश्यक कार्यों का खर्च राज्य की सरकार के निरीक्षण में होता है। राज्य की सरकारें नगरपालिकाओं से किसी रिपोर्ट को माँग सकती हैं और उन्हें किसी काम के करने का आदेश दे सकती हैं। उच्च म्युनिसिपल पदाधिकारियों की योग्यताएँ राज्य की सरकारों द्वारा निर्धारित की गयी हैं और कुछ पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिए उनकी अनुमति आवश्यक होती है। राज्य की सरकारें नगरपालिकाओं के ऋण लेने के अधिकार को नियंत्रित करती हैं और उनकी आर्थिक अवस्था की देखरेख करती हैं।

प्रांतीय सरकारों के उपर्युक्त निरीक्षण के अतिरिक्त, नगरपालिकाओं की कार्रवाई पर न्यायालयों का भी अधिकार है। प्रत्येक नगरपालिका एक कॉरपोरेशन (Body Corporate) होती है और न्यायालयों के सम्मुख कॉरपोरेशन की वही स्थिति होती है जो किसी व्यक्ति की। यदि नगरपालिकाएँ अपने अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करतीं, यदि वे कोई काम ऐक्ट के विरुद्ध

करती हैं, या किसी काम के करने में अपनी निर्धारित सीमा का उल्लंघन करती हैं; तो न्यायालयों को अधिकार है कि आवश्यक रिपोर्ट आने पर, वे उनके कामों की जाँच करें और नियम-विरुद्ध कामों को गैर-कानूनी घोषित करें। न्यायालयों के अधिकार के संबंध में अभी तक भारत में उचित मात्रा में कार्रवाई नहीं हो रही है।

संगठन संबंधी कुछ आवश्यक बातें—स्वतंत्रता के पश्चात् स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के संगठन में जो परिवर्तन किये गये हैं, उनसे उनके बहुत से दोष दूर हो गये हैं। फिर भी संगठन संबंधी कुछ ऐसी बातें हैं जिन पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—(१) भारत के बहुत से लोगों को यह संदेह है कि वयस्क मताधिकार के आधार पर संगठित स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ अपने कर्तव्यों के पालन में असफल सिद्ध होंगी। कुछ गाँव-सभाओं और पंचायतों का अनुभव इस संदेह को पुष्ट करता है। सरकार ने भी उनके कामों के निरीक्षण के लिए निरीक्षक नियुक्त किये हैं। यदि गाँव-सभाएँ अथवा पंचायतें अपने कामों को ठीक तरह से न करेंगी तो निरीक्षक उनके कामों को हस्तक्षेप कर सकेंगे। फलस्वरूप गाँव की व्यवस्था में निरीक्षकों का प्रभाव आवश्यकता से अधिक हो जायगा।

(२) म्युनिसिपल और जिला बोर्डों और उनके प्रधानों के नये संबंध के विषय में यह आशंका निर्मूल नहीं कि राज्य की सरकार का हस्तक्षेप इन संस्थाओं के नित्यप्रति के कामों तक विस्तृत हो जायगा। नयी व्यवस्था के कारण राज्य की सरकार ने अपने हाथ में एक ऐसा अधिकार ले लिया है जिसके कारण बोर्ड और प्रधान दोनों उसकी मुट्ठी में रहेंगे। स्थानीय स्वशासन के उद्देश्य की दृष्टि से यह व्यवस्था संतोषप्रद नहीं प्रतीत होती।

(३) स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के निर्वाचन, कभी कभी राजनीतिक दलबंदियों के आधार पर होते हैं। यह बात कुछ अनुचित सी है। स्थानीय स्वशासन का काम ऐसा है जिसके संबंध में मतभेद का होना असंभव है। अतएव उनका निर्वाचन दलबंदियों के आधार पर न होना चाहिये।

(४) स्थानीय स्वशासन के कर्मचारी—स्थानीय स्वशासन की सफलता बहुत कुछ उसके पदाधिकारियों और कर्मचारियों पर निर्भर होती है। भारत में इनकी स्थिति भी संतोषप्रद नहीं है। नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों के ऊँची श्रेणीवाले पदाधिकारी भी सदस्यों को खुश करने की कोशिश में लगे रहते हैं। नीची श्रेणीवाले कर्मचारियों का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। म्युनिसिपल कर्मचारी मेंबरों की गुटबंदी में शरीक होते हैं और इस प्रकार

अपनी स्थिति को बिगाड़ते हैं। बहुत से कर्मचारी घूस लेने और जनता के सच्चे सेवक न होकर उसको सताने लगते हैं। इस स्थिति को सुधारने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक प्रतीत होती हैं—

(क) म्युनिसिपल और जिला बोर्ड केवल नीति को ही निर्धारित करें और शासन से उनका विशेष संबंध न रहे। इस परिवर्तन से म्युनिसिपल और जिला बोर्डों के कर्मचारी अपने काम में संलग्न रहेंगे और मेंबरों की खुशामद और गुटबंदी से उनका विशेष संबंध न रहेगा।

(ख) म्युनिसिपल और जिला बोर्डों के कर्मचारियों का कार्य-काल निर्धारित कर दिया जाय और उनका वेतन, भत्ता, तरक्की, आदि नियमानुकूल हो। इस परिवर्तन के कारण म्युनिसिपल और जिला बोर्डों के कर्मचारी निर्भीक होकर अपने कामों को करेंगे और उन्हें किसी की खुशी या नाखुशी की परवा न रहेगी।

(ग) अधिकांश म्युनिसिपल और जिला बोर्डों के कर्मचारियों की भर्ती प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर की जाय। इस परिवर्तन के कारण स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को एक तो योग्य कर्मचारी मिलेंगे और दूसरे मेंबरों का उनकी नियुक्ति में विशेष हाथ न रहेगा।

(घ) म्युनिसिपल और जिला बोर्डों के उच्च पदाधिकारी, एक संस्था से दूसरी संस्था के बदले जा सकें। इस परिवर्तन के कारण इन पदाधिकारियों की नौकरी बनी रहेगी, बोर्ड से अनचाहा आदमी निकल जायगा और राज्य की सरकार का काम भी, अपीलों के न होने के कारण, कुछ कम हो जायगा।

(ङ) यदि म्युनिसिपल कर्मचारी कर्तव्य-पालन से मुँह मोड़ें, या अनैतिक ढंग से काम करें, तो उनको तत्संबंधी नियमानुकूल दंड मिले। ऐसे अपराधों के कारण निकाले गये कर्मचारी, अन्य स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं की नौकरी से निर्धारित काल के लिए वंचित कर दिये जायँ।

(५) राज्य की सरकार का निरीक्षण—स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि राज्य की सरकारें उनके कामों का वास्तविक निरीक्षण करें और उनको अनावश्यक हस्तक्षेप से मुक्त रखें। राज्य की सरकार के निरीक्षण की मौजूदा परिस्थिति संतोषप्रद नहीं है। अधिकांश कमिश्नर म्युनिसिपल शासन की देखरेख में दिलचस्पी नहीं लेते। उनके दफ्तर का एक कर्मचारी ही म्युनिसिपल रिपोर्टों का पर्यालोचन किया करता है और साधारणतया उसी पर्यालोचन पर कमिश्नर के हस्ताक्षर हो जाते हैं। कभी-कभी बजरिये कमिश्नर पत्र-व्यवहार होने में आवश्यकता से अधिक विलंब होता है।

अपनी रिपोर्टों में कमिश्नर म्युनिसिपल प्रधानों को आवश्यक परामर्श नहीं देते और पब्लिक को भी बोर्डों की दुर्बलताओं का पता नहीं चलता। अतः म्युनिसिपल शासन उतना उन्नतिशील नहीं हो पाता जितना उसको होना चाहिये। इस परिस्थिति का अंत करने के लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय स्वशासन की देखरेख के लिए कुछ निरीक्षक (इंसपेक्टर्स) नियुक्त किये जायँ और वे नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों के शासन का निरीक्षण करें और उन्हें शासन-संबंधी आवश्यक परामर्श दें। इंसपेक्टरों को कमिश्नरों के कुछ अधिकार मिलने चाहियें। ऐसा करने में किसी विशेष कठिनाई की संभावना नहीं है। मितव्ययता के लिए बहुत दिनों से कमिश्नरों के पद के तोड़ने की बातचीत हो रही है। असाधारण परिस्थितियों में म्युनिसिपल और जिला बोर्डों के शासन में कलक्टर के वे ही अधिकार हों जो आजकल कमिश्नर के हैं। स्थानीय स्वशासन के मंत्री की सहायता के लिए एक स्थानीय स्वशासन-समिति स्थापित की जाय। स्थानीय स्वशासन का मंत्री इसका सभापति हो। समिति के कुछ सदस्यों को स्थानीय स्वशासन का मंत्री मनोनीत करे और कुछ निर्धारित दर्जे की नगरपालिकाओं और जिलों बोर्डों के सभापतियों द्वारा चुने जायँ। यह बोर्ड स्थानीय स्वशासन के निरीक्षण के सिद्धांतों को निर्धारित करे, बोर्डों को परामर्श आदि देकर सहायता करे और आवश्यकता पड़ने पर म्युनिसिपल नौकरों को एक स्थान से दूसरे स्थान को बदल सके। आशा है कि प्रांतीय निरीक्षण की उपर्युक्त व्यवस्था के कारण स्थानीय स्वशासन का वास्तविक निरीक्षण होगा और वह अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त हो जायगा।

स्थानीय संस्थाओं के काम—स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ तरह-तरह के काम करती हैं। उन सबका अलग-अलग हाल लिखने के लिए बहुत ज्यादा जगह की जरूरत है। अतएव सुविधा के लिए हम उनका वर्णन निम्न-लिखित चार समूहों में करेंगे--

(१) सार्वजनिक स्वास्थ्य के काम ;
(२) सार्वजनिक सुभीते के काम ;
(३) सार्वजनिक रक्षा के काम ; और
(४) सार्वजनिक शिक्षा के काम।

स्थानीय संस्थाओं के कामों का यह सामूहिक वितरण सिद्धांत एवं व्यवहार में बिल्कुल दोषरहित नहीं है। इन संस्थाओं के कुछ काम ऐसे हैं जो एक से अधिक समूहों में सम्मिलित किये जा सकते हैं। परंतु सुभीते के लिए उपर्युक्त सामूहिक वितरण अनुचित नहीं प्रतीत होता

सार्वजनिक स्वास्थ्य के काम—सार्वजनिक स्वास्थ्य का सुधारना स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं, विशेषकर नगरपालिकाओं का, एक महत्वपूर्ण काम है। इसके लिए वे तीन प्रकार के काम करती हैं—

(१) वे काम जो बीमारियों को आने से रोकें।

(२) वे काम जो बीमारियों को अच्छा करें।

(३) वे काम जिनसे स्वास्थ्य संबंधी बातों का प्रचार हो।

वे काम जो बीमारियों को आने से रोकें—स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ बहुत से ऐसे काम करती हैं जो बीमारियों को आने से रोकें। वे अपने अधिकार-क्षेत्र की सफाई का प्रबंध करती हैं और उसका कूड़ा-कर्कट किसी दूर स्थान को ले जाती हैं। वे पीने के लिए शुद्ध पानी का प्रबंध करती हैं। वे इस प्रकार के नाले और नालियाँ बनवाती हैं कि गंदा पानी किसी जगह एकत्रित न रहे, वरन् बहकर सड़क के नीचे बहनेवाले नालों में चला जाय। वे गंदे स्थानों को साफ कराती हैं और नागरिकों की हवाखोरी आदि के लिए पार्क और खेलने के मैदानों का प्रबंध करती हैं। लोगों को अच्छे मकान देने के लिए वे कहीं-कहीं पर अपने मकान बनवाती और उनको किराये पर उठाती हैं। चेचक, प्लेग आदि बीमारियों को रोकने के लिए वे इनके टीकों का प्रबंध करती हैं और इस बात की कोशिश करती हैं कि लोगों के मकान हवादार हों और उनमें पर्याप्त प्रकाश और धूप पहुँच सके। वे नदियों को गंदगी से बचाती और मुर्दों के जलाने और गाड़ने का प्रबंध करती हैं। वे खाने-पीने की चीजों का निरीक्षण करती हैं और उन लोगों को दंड देती हैं जो सड़ी-गली वस्तुओं को बेच कर अपना भला करते और दूसरों को हानि पहुँचाते हैं। इनके अतिरिक्त वे स्वास्थ्य संबंधी बहुत से नियम बनाती हैं जिनके अनुसार काम करने से लोगों का स्वास्थ्य सुधर सकता है।

वे काम जो बीमारियों को अच्छा करें—इन कामों के अतिरिक्त स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ बहुत से ऐसे काम करती हैं, जो बीमार लोगों की बीमारियों को दूर करें। वे स्वयं अपने अस्पताल खोलती और अन्य सार्वजनिक अस्पतालों को आर्थिक सहायता देती हैं। नवजात शिशु और उसकी माता की देखभाल के लिए वे लेडी-डाक्टरों और नर्सों का प्रबंध करती हैं। महामारी के दिनों में वे जगह-जगह पर छोटे-छोटे दवाखानों का प्रबंध करती हैं जिनमें लोगों को मुफ्त दवा दी जाती है और इस प्रकार महामारी का प्रकोप थोड़ा-बहुत घट जाता है। शहरों की अपेक्षा देहाती स्थानीय संस्थाओं को इस काम में अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। देहात के कुछ निवासी

इस हद तक पुरानी लकीर के फकीर होते हैं कि चाहे वे मौत के मुँह में क्यों न चले जायँ, पर डाक्टरी दवा खाने के लिए तैयार नहीं होते। बहुत से लोग तो अस्पताल तक जाने से मुँह मोडते हैं। परदे की वजह से शहरों और देहातों दोनों में, मर्दों की अपेक्षा औरतों का स्वास्थ्य अधिक गिरा हुआ होता है।

स्वास्थ्य संबंधी बातों का प्रचार—अपने अधिकार-क्षेत्र के निवासियों के स्वास्थ्य-सुधार के लिए स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ स्वास्थ्य संबंधी बातों का प्रचार करती हैं। वे स्वास्थ्य संबंधी उपदेशों का प्रबंध करती हैं और चित्रपट के जरिये लोगों को बीमारी के कारणों का सबक सिखाती हैं। लोगों को दंड देकर वे इस बात की कोशिश करती हैं कि उनमें स्वास्थ्य और सफाई की आदतें आ जायँ। वे लोग जो सडकों पर गंदगी करते हैं या ऐसे कामों को करते हैं जिनका सर्वसाधारण के स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पडता है, दंडनीय समझे जाते हैं। इस प्रकार जनता को स्वास्थ्यसंबंधी बातों की शिक्षा देकर और यदि लोग उस शिक्षा के अनुसार न चलें, तो उनको दंड देकर, स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ सार्वजनिक स्वास्थ्य के सुधारने का प्रयत्न करती हैं।

स्वास्थ्य संबंधी बातों की देखभाल के लिए प्रत्येक बड़ी स्थानीय स्वशासन की संस्था में, एक हेल्थ आफीसर (Health Officer) होता है। उत्तर-प्रदेश में, जब तक, राज्य सरकार की दूसरी आज्ञा न हो, प्रत्येक ऐसी नगरपालिका को, जिसकी वार्षिक आय ५०,००० रुपये है, एक हेल्थ ऑफीसर रखना पड़ता है। यह पदाधिकारी साधारणतया राज्य की सर्विस का सदस्य होता है और उसकी नियुक्ति, वेतन और नौकरी की शर्तों के लिए राज्य की सरकार की अनुमति आवश्यक होती है। बोर्ड अपने हेल्थ ऑफीसर को निकाल नहीं सकता, पर यदि वह स-कारण राज्य की सरकार से किसी हेल्थ आफीसर के बदलने की प्रार्थना करता है तो साधारणतया उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली जाती है। हेल्थ आफीसर की सहायता के लिए प्रत्येक बड़े शहर में कई सैनीटैरी इंसपेक्टर्स (Sanitary Inspectors), बहुत से जमादार और सैकड़ों अन्य कर्मचारी होते हैं।

स्वास्थ्य संबंधी कामों में सुधार—स्वास्थ्य संबंधी उपर्युक्त व्यवस्था के होते हुए भी हमारे देश के निवासियों का स्वास्थ्य साधारणतया खराब रहता है और शहरों में यह खराबी कभी-कभी विकराल रूप धारण करती है। स्वास्थ्य के सुधारने के लिए प्रथम आवश्यक बात यह है कि लोगों की गरीबी दूर की जाय। इस विषय में स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ अधिक सहायता

पहुँचाने में असमर्थ हैं। फिर भी वे व्यापार करके नित्य-प्रति की बहुत सी आवश्यकताएँ कम दामों में पूरी कर सकती हैं। सामाजिक कुप्रथाओं का मिटाना स्वास्थ्य-सुधार की दूसरी आवश्यक बात है। स्थानीय संस्थाएँ प्रत्यक्ष रूप से इस विषय में कुछ भी नहीं कर सकतीं। इनके दूर करने में केंद्रीय और राज्य की सरकारें भी कुछ हिचकिचाहट के साथ काम करती हैं। शारदा ऐक्ट के बनने पर भी प्रतिवर्ष सहस्रों बाल-विवाह होते जाते हैं। पर परोक्ष रीति से, इनकी बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करके, वे इनके मिटाने में काफी सहायता पहुँचा सकती हैं। स्वास्थ्य-सुधार की तीसरी आवश्यक बात स्वास्थ्य संबंधी शिक्षा का प्रचार है। इस विषय में स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ कुछ काम करती तो हैं, पर समस्या की महत्ता को देखते हुए उनके काम पर्याप्त नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है, कि बच्चों, जवानों और बूढ़ों, मर्दों और औरतों सबको स्वास्थ्य की बातों से परिचित किया जाय। जब तक स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ निरंतर स्वास्थ्य संबंधी बातों का प्रचार न करेंगी और नगर के शिक्षित लोग प्रचार-कार्य में इन संस्थाओं की सहायता न करेंगे, तब तक न तो प्रचार-कार्य का ही सदुपयोग होगा और न सार्वजनिक स्वास्थ्य ही सुधरेगा। स्वास्थ्य-सुधार की चौथी आवश्यक बात उन कामों का विस्तार करना है जो बीमारियों को आने से रोकते हैं। अभी तक सब शहरों में शुद्ध पानी तक का प्रबंध नहीं है। अनेक जगहों में पानी के नल नालियों के ऊपर से निकलते हैं। शहर की सफाई का समुचित प्रबंध नहीं होता। बहुत से शहर ऐसे हैं जहाँ घनी बस्तियों में खुली जगहों का अभाव है। सड़ी गली वस्तुएँ भी बिका करती हैं। म्युनिसिपल कर्मचारी घूस लेकर ऐसी चीजों को बाजारों में बिकने देते हैं। कभी कभी दूकानदार भी म्युनिसिपल कर्मचारी को आते देखकर सड़ी-गली चीजों को छिपा देते हैं और निरीक्षण के लिए केवल ताजी और अच्छी चीजें दिखलाते हैं। बच्चों को पर्याप्त मात्रा में ताजा और अच्छा दूध नहीं मिलता। इन कामों का विस्तार बढ़ाकर भारत की स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ स्वास्थ्य-सुधार में बहुत कुछ सहायता पहुँचा सकती हैं। स्वास्थ्य-सुधार की पाँचवीं आवश्यक बात उन कामों का विस्तार करना है जो बीमारियों को अच्छा करने के लिए किये जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय शहरों में प्रति सहस्र मृत्युओं की संख्या क्रमशः घटती जाती है। पर युरोपीय देशों, अमरीका और जापान को देखते हुए अभी तक स्थिति संतोषजनक नहीं है। नगरपालिकाओं और जिला-बोर्डों को अधिक अस्पतालों और औषधालयों का प्रबंध करना चाहिये और इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उनमें चिकित्सा

विधिपूर्वक और ध्यानपूर्वक की जाय। स्वास्थ्य-सुधार की छठी आवश्यक बात जनता द्वारा किये जानेवाले हानिकारक कामों का रोकना है। शहरों की सड़कों में छोटे-छोटे बच्चे अश्लील गाने गाते हुए पाये जाते हैं। उनमें से बहुत से सिगरेट पीते हैं और कभी-कभी चरस और गाँजे की भी दम लगाते हैं। बहुत सी स्त्रियाँ अफीम खिलाकर, नव-जात शिशुओं को सुला देती हैं और तब घर का कामकाज देखती हैं। बहुतेरी शिक्षित और मध्यम श्रेणी की स्त्रियाँ घर की सफाई नौकरों पर छोड़कर स्वयं इधर-उधर घूमने में अपना समय नष्ट करती हैं। शायद यह कहना भी अनुचित न होगा कि गरीब देहातियों के मकान उनके मकानों की अपेक्षा अधिक साफ और सुव्यवस्थित रहते हैं और उनकी अपेक्षा वे अधिक स्वच्छ बर्तनों में भोजन करते और पानी पीते हैं। बहुत से लोग शराब आदि मादक वस्तुओं का प्रयोग करके अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ देते हैं। स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ ऐसे हानिकारक कामों को रोक सकती हैं और उन अनैतिक कामों को भी जिनके कारण सार्वजनिक स्वास्थ्य के बिगड़ने की आशंका रहती है।

स्वास्थ्य-सुधार संबंधी ऊपर लिखी हुई बातों से स्पष्ट हो जाता है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य का सुधारना स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं की एक गुरुतर समस्या है। वे इस समस्या के हल करने की कोशिश कर रही हैं। परंतु उनका काम अभी तक संतोषप्रद नहीं है। इस विषय में उन्हें अपने कार्यक्षेत्र को अधिक विस्तृत करना चाहिये। केंद्रीय तथा राज्य की सरकारों को भी, इन कामों में उनकी आवश्यक सहायता करनी चाहिये। संकुचित अधिकारों की वजह से स्वास्थ्य-संबंधी अनेक ऐसे काम हैं जिनको स्थानीय संस्थाएं स्वयं नहीं कर सकतीं; पर राज्य की और केंद्रीय सरकारों की सहायता से कर सकती हैं। म्युनिसिपल सदस्यों, शिक्षित लोगों और जनता का सहयोग भी स्वास्थ्य-सुधार के लिए आवश्यक है। यदि केंद्रीय और राज्य की सरकारें, म्युनिसिपल संस्थाएं, म्युनिसिपल सदस्य और शिक्षित लोग मिलकर स्वास्थ्य-सुधार की कोशिश करें तो हमारे देश के निवासियों का स्वास्थ्य सुधर कर अन्य सभ्य देशों का सा हो सकता है।

सार्वजनिक सुभीते के काम—नागरिक के जीवन को सुखमय बनाने के लिए नगरपालिकाएं सैकड़ों सार्वजनिक सुभीते के काम करती हैं। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(अ) सड़कों का बनाना और उनकी रक्षा करना—सार्वजनिक सुभीते के लिए चौड़ी और अच्छी सड़कों का होना आवश्यक है। चौड़ी सड़कों के

कारण मकान हवादार हो जाते हैं और उनमें पर्याप्त मात्रा में घाम और प्रकाश पहुँचता है। भारत के कुछ शहरों में चौड़ी सड़कें हैं और वे अच्छी अवस्था में रखी जाती हैं। परंतु अधिकांश सड़कें पतली हैं। उनमें सैकड़ों गड्ढे होते हैं और बरसात में कुछ सड़कें इस कदर कीचड़ से ढँक जाती हैं कि आना जाना तक मुश्किल हो जाता है। पैदल यात्रियों के चलने के लिए कुछ सड़कों में किनारे किनारे पटरियाँ बनायी गयी हैं पर उनको यात्री लोग बहुत कम इस्तेमाल करते हैं। साधारणतया उनमें या तो खोंचेवाले बैठते हैं या दूकानदार लोग अपनी कुर्सियाँ और खाली पेटियाँ रखते हैं। बड़े शहरों को छोड़कर सड़कों के सजाने का प्रयत्न बहुत कम किया जाता है। पार्कों का अभाव है। सड़कों में पेशाबखानों की बहुत सख्त जरूरत है। उनकी अनुपस्थिति में निकट की कोई पतली गली पेशाबखाना बना ली जाती है। अधिकांश सड़कें ऐसे मसाले की बनायी जाती हैं कि एक बरस के अंदर ही उनमें मरम्मत की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है और दो तीन बरसों में वे अगणित गड्ढों से भर जाती हैं। कुछ शहरों में अब ऐसफेल्ट और अलकतरे की सड़कें बनायी जाने लगी हैं। सड़कों पर सायादार वृक्षों का अभाव है। कहीं कहीं पर सड़कों के नाम के साइन बोर्ड भी नहीं पाये जाते।

(ब) सवारी का प्रबंध—सार्वजनिक सुविधा के लिए नगरपालिकाएँ तरह तरह की सवारियों का प्रबंध करती हैं। शहरों का क्षेत्रफल इतना अधिक और उनके विभिन्न हिस्सों का संबंध इतना घनिष्ट होता है कि सवारियों के बिना लोगों को बड़ी तकलीफ होती है। भारत में अभी तक सवारियों का प्रबंध पाश्चात्य देशों का सा नहीं है। कुछ शहरों में ट्रामकारों का प्रबंध जरूर है पर ये साधारणतया प्राइवेट कंपनियों की हैं; नगरपालिकाओं की नहीं। कहीं कहीं पर म्युनिसिपल बस-सर्विस चलायी गयी है। कहा जाता है कि सवारियों के उपर्युक्त प्रबंध से नगरपालिकाओं को कुछ घाटा होता है। अतएव सवारियों का प्रबंध ज्यादातर प्राइवेट लोगों के हाथ में है। नगरपालिकाएँ इन सवारियों को लाइसेंस देती हैं, उनपर नंबर डालती हैं और वे अच्छी अवस्था में रहें इस बात की देखभाल करती रहती हैं।

(स) बाजार आदि का प्रबंध—सार्वजनिक सुविधा के लिए शहरों और देहातों में बाजारों आदि का होना बहुत जरूरी है। पाश्चात्य देशों की नगरपालिकाओं ने अपने बाजार स्थापित किये हैं। वे पास पड़ोस के गांवों से अपना सामान लाकर उनमें बेंचती और इस प्रकार नागरिकों को ताजा सामान देती और स्वयं कुछ फायदा उठाती हैं। कुछ नगरपालिकाएँ सार्वजनिक

इस्तेमाल के लिए टेलीफून का प्रबंध करती हैं और कुछ में जनता के मनबहलाव के लिए आमोद-प्रमोद के साधनों का प्रबंध रहता है। भारत की स्थानीय संस्थाएँ इन बातों में भी पाश्चात्य देशों से बहुत पीछे हैं। कुछ शहरों में नगरपालिकाओं ने अपने बाजार जरूर खोले हैं, पर ये बाजार पाश्चात्य बाजारों से भिन्न हैं। म्युनिसिपिलिटियाँ केवल टीन की छायी हुई एक इमारत खड़ी कर देती हैं, जिनमें दूकानदार लोग किराये पर जगह लेकर अपना सामान बेचते हैं। अच्छा ताजा सामान लाने और उसे बेंचने में नगरपालिकाओं का कुछ भी हाथ नहीं होता। म्युनिसिपल टेलीफून-सर्विस का भारतीय स्थानीय संस्थाओं में कहीं भी इंतजाम नहीं है। बहुत से शहरों में सार्वजनिक हालों का अभाव है। अतएव आमोद-प्रमोद के साधनों के प्रबंध की आशा करना व्यर्थ है।

(द) पानी, बिजली, नालियों आदि का प्रबंध—सार्वजनिक सुविधा के लिए, पानी, बिजली, नालियों आदि की भी आवश्यकता होती है। पर्याप्त मात्रा में स्वच्छ पानी की आवश्यकता पर हम सार्वजनिक स्वास्थ्य के संबंध में कुछ लिख चुके हैं। पानी केवल स्वास्थ्य के लिए ही जरूरी नहीं है। यदि वह अशुद्ध और यथेष्ट मात्रा में नहीं मिलता तो लोगों को बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अच्छे से अच्छे मकानों को भी, पानी की कमी के कारण, बहुत कम लोग किराये पर लेते हैं। यही हाल बिजली और गैस का भी है। इनके जरिये से सड़कों, सार्वजनिक इमारतों आदि में रोशनी का प्रबंध किया जाता है और प्राइवेट घरों में भी। ठीक नालियों और नालों से भी लोगों को नित्यप्रति के जीवन में बड़ा सुभीता होता है। भारत की कुछ स्थानीय संस्थाएं इन सब बातों का प्रबंध करती हैं, परंतु उनका प्रबंध अभी तक संतोषप्रद नहीं है। उत्तर-प्रदेश में केवल कुछ शहरों में पानी के कल का प्रबंध है और ४८ शहरों में बिजली का। बड़े शहरों के अतिरिक्त जमीन के नीचे के नालों का प्रबंध बहुत कम शहरों में किया गया है।

भिखमंगों और जानवरों का प्रबंध—भारत में गरीबों की देखभाल का अभी तक उपयुक्त प्रबंध नहीं है। अतएव बहुत से भिखमंगे सड़कों और गलियों में घूमा करते हैं। यात्रियों को कभी-कभी इनसे असुविधा होती है। तीर्थ-स्थानों में इनकी संख्या इतनी अधिक है कि कभी-कभी सड़क पर खड़े होकर बात करना भी असंभव हो जाता है। बहुत से शहरों में सांड़ निर्द्वंद्व होकर इधर-उधर घूमा करते है, और कुछ में बंदरों की वजह से निवासियों को काफी तकलीफें होती हैं। कहीं-कहीं पर कुत्तों की भरमार होती है। नगरपालिकाएँ लोगों को इन जानवरों से बचाने का कुछ प्रबंध करती हैं। वे कुत्तों को

पकड़वाती हैं और बंदरों को पकड़वाकर दूर स्थानों को भेजने का प्रबंध करती हैं। पर उनका यह काम भी संतोषप्रद नहीं है। जानवरों के विषय में लोगों के धार्मिक चलन कभी-कभी उनके कामों में अनावश्यक बाधा पहुँचाते हैं।

सार्वजनिक सुभीते के कामों में सुधार—सार्वजनिक सुविधा संबंधी उपर्युक्त कामों के विवरण से हमें यह ज्ञात होता है कि सार्वजनिक सुभीते के कामों में भी भारतीय स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं पाश्चात्य देशों और अमरीका से बहुत पीछे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उनका कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत किया जाय। उन्हें चौड़ी सड़कें अच्छे मसाले की बनवानी चाहिये, जिससे जनता को आने-जाने में सुभीता हो और व्यय भी अधिक न हो। चौड़ी सड़कों में यात्रियों के पैदल चलने के लिए, पटरियों का प्रबंध होना चाहिये और म्युनिसिपल संस्थाओं को इस बात की कोशिश करनी चाहिये कि इन पटरियों का ठीक-ठीक इस्तेमाल हो। यात्रियों के आराम के लिए कहीं-कहीं पार्कों का होना जरूरी है। सायादार वृक्षों और पेशाब-खानों का भी होना आवश्यक है। नगरपालिकाओं को सवारी का भी प्रबंध करना चाहिये। जिन शहरों में आजकल ट्राम-कार हैं, उनमें से ज्यादातर ऐसे हैं जिनमें ट्राम-कार का मुनाफा किसी प्राइवेट कंपनी को मिलता है, नगरपालिका को नहीं। यदि ट्राम-कार, बिजलीघर और वाटर-वर्क्स स्वयं नगरपालिकाओं के हो जायँ तो लोगों को सुभीता हो और नगरपालिकाओं की भी आमदनी किसी हद तक बढ़ जाय। म्युनिसिपल बाजारों में कुछ दूकानें नगरपालिकाओं की होनी चाहिये। इन दूकानों के जरिये से नगरपालिकाएँ परोक्ष रीति से बाजार के भाव को तै और लोगों के इस्तेमाल के लिए अच्छी वस्तुओं का प्रबंध कर सकती हैं। नगरपालिकाओं को गरीबों के भरण-पोषण और मालिकरहित जानवरों का भी प्रबंध करना चाहिये। व्यक्तिगत विवेकरहित दान की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि नगरपालिकाओं को निर्धारित हैसियत के लोगों पर कर लगा कर गरीबों की देखभाल का अधिकार दिया जाय। भिखारी लोग यात्रियों को केवल परेशान ही नहीं करते, वे स्वयं बीमारियों के शिकार होते हैं और चारों ओर घूम कर उनका प्रचार करते हैं। संभव है कि इन सब कामों को करने के लिए नगरपालिकाओं के पास समुचित धन न हो। पर म्युनिसिपल व्यापार, राज्य की सहायता और जनता की दानशीलता से किसी हद तक धन की कमी पूरी की जा सकती है और इस प्रकार नागरिकों का जीवन अधिक सुखमय बनाया जा सकता है।

सार्वजनिक रक्षा के काम—नागरिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए, पाश्चात्य देशों और अमरीका की स्थानीय संस्थाएं, सार्वजनिक रक्षा के कामों का प्रबंध करती हैं। इंगलैंड और अमरीका में स्थानीय पुलिस की व्यवस्था है। भारत की परिस्थिति इससे भिन्न है। यहाँ की पुलिस पर स्थानीय संस्थाओं का लेशमात्र भी अधिकार नहीं है। स्थानीय संस्थाओं के नियमों को कार्यान्वित करने में पुलिस सहायता अवश्य करती है पर उसकी सहायता ऐसे दर्जे की नहीं होती कि म्युनिसिपल नियम भली-भाँति कार्यरूप में परिणत किये जा सकें। प्रत्येक बड़े चौराहे पर खड़े होकर, पुलिसमैन यातायात का संचालन करते हैं और उन लोगों का चालान करते हैं जो रात में बिना रोशनी के चलते हैं या जिनकी सवारियों का ठीक-ठीक नंबर या लाइसेंस नहीं होता। प्रत्येक शहर में कुछ ऐसे मैजिस्ट्रेट होते हैं जो म्युनिसिपल मुकदमों का फैसला करते हैं। सार्वजनिक रक्षा के लिए म्युनिसपिल्टियाँ, कमजोर और खतरनाक मकानों को गिराती हैं, सड़कों पर मलमा इकट्ठा नहीं होने देतीं और उन कामों और पेशों का नियंत्रण करती हैं, जिनका सार्वजनिक रक्षा पर कुप्रभाव पड़ता हो। यदि सड़क के किनारे कहीं पर गड्ढा होता है, या उसपर मलमा इकट्ठा होता है, तो सार्वजनिक रक्षा के लिए म्युनिसिपिल्टियाँ ऐसे स्थानों पर रात में लाल रोशनी का प्रबंध करती हैं। कहीं-कहीं पर गड्ढों के चारों तरफ चहारदीवारी का प्रबंध किया जाता है। प्रत्येक बड़े शहर में आग बुझाने के इंजन का प्रबंध होता है। शहरों में बिजली, सिगरेट आदि के प्रयोग के कारण हमेशा आग लगाने के साधन उपस्थित रहते हैं। ऐसे अवसरों पर आग बुझाने का इंजन, अग्नि के कोप को वश में करके, सार्वजनिक रक्षा करता है। रात में सड़कों की रोशनी की वजह से भी कुछ अंश में लोगों के प्राण और धन की रक्षा होती है।

सार्वजनिक रक्षा के कामों में सुधार—सार्वजनिक स्वास्थ्य और सुभीते कामों की तरह, भारतीय स्थानीय संस्थाओं के सार्वजनिक रक्षा के काम भी संतोषप्रद नहीं हैं। उनको संतोषप्रद बनाने के लिए सबसे जरूरी बात यह है कि म्युनिसिपिल्टियों को कुछ पुलिस संबंधी अधिकार दिये जायँ। इसमें संदेह नहीं कि साधारणतया पुलिस का काम भारतीय दंड-विधान की धाराओं को कार्यरूप में परिणत करके देश की शांति और सुव्यवस्था की रक्षा करना होता है। चूंकि समस्त देश का दंड-विधान एक ही है, इसलिए पुलिस पर केंद्रीय अथवा राज्य के अधिकार होने की दलील बिल्कुल निर्मूल नहीं है। पर पुलिस के अधिकांश काम स्थानीय होते हैं। अतएव स्थानीय अधिकार की दलील भी साररहित नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि पुलिस पर स्थानीय संस्थाओं का

जोर हो और उसकी मौजूदा योग्यता भी कायम रहे। यह तभी हो सकता है जब पुलिस स्थानीय संस्थाओं के अधीन कर दी जाय और उस पर केंद्रीय अथवा राज्य की सरकार का कड़ा निरीक्षण होता रहे। पुलिस के अतिरिक्त भारतीय स्थानीय संस्थाओं को सार्वजनिक रक्षा के कामों का विस्तार करना चाहिये। आग बुझाने वाले इंजनों का प्रत्येक शहर में होना परमावश्यक है। भारतीय नगरपालिकाएँ अभी तक उन लोगों की सहायता नहीं करतीं जो आकस्मिक कारणों से आर्थिक आपत्तियों के शिकार बन जाते हैं। पाश्चात्य देशों और अमरीका में म्युनिसिपल बीमें का प्रबंध है। भारत में भी आकस्मिक आर्थिक आपत्तियों के कम करने का इसी प्रकार का कुछ प्रबंध होना चाहिये।

सार्वजनिक शिक्षा के काम—सर्व साधारण को शिक्षित बनाना स्थानीय संस्थाओं का एक आवश्यक कार्य है। भारत में इस काम की भी अवस्था संतोषप्रद नहीं है। इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी, अमरीका और जापान में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो पढ़-लिख न सकता हो। भारत में शिक्षित लोगों की संख्या बहुत कम है।

भारत में शिक्षा-प्रचार का उत्तरदायित्व राज्य की सरकार और स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं पर है। राज्य की सरकारों ने कुछ सरकारी स्कूल, कॉलेज और विश्व-विद्यालय खोल रखे हैं और कुछ प्राइवेट शिक्षालयों की वे आर्थिक सहायता करती हैं। स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं ने भी प्राइमरी और सेकंडरी शिक्षा के लिए अनेक शिक्षालय खोले हैं। कुछ म्युनिसिपिल्टियों ने अंगरेजी की शिक्षा के लिए हाईस्कूल स्थापित किये हैं।

प्राइमरी और सेकंडरी स्कूलों के अतिरिक्त, स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं कई अन्य तरीकों से भी शिक्षा-प्रचार की व्यवस्था करती हैं। कुछ नगरपालिकाएं पुस्तकालयों और अजायबघरों को स्थापित करती या इस प्रकार की प्राइवेट संस्थाओं की आर्थिक सहायता करती हैं। कहीं पर उद्योग-धंधों की शिक्षा का प्रबंध किया गया है और कहीं पर गश्ती पुस्तकालयों का। कहीं पर पुरुषों और स्त्रियों की भी शिक्षा का प्रबंध है। कुछ नगरपालिकाएं हरिजनों की शिक्षा के लिए छात्रवृत्तियाँ देती हैं और कुछ चित्रपट के जरिये से शिक्षा-प्रचार का प्रयत्न करती हैं।

सार्वजनिक शिक्षा के कामों में सुधार—शिक्षा की उपर्युक्त व्यवस्था के होते हुए भी सार्वजनिक शिक्षा की अवस्था शोचनीय है। आवश्यकता इस बात की है कि स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं का कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत किया जाय। स्थानीय संस्थाओं को प्रत्येक स्त्री और पुरुष, बालक और

बालिका को शिक्षित बनाने की कोशिश करनी चाहिये। उन्हें उद्योग-धंधों के स्कूलों को स्थापित करके, विद्यार्थियों को इस योग्य बनाना चाहिये कि वे पढ़ लिख कर किसी काम में लग जायँ। उन्हें पुस्तकालयों और अजायबघरों को खोलकर जनता में विद्या-प्रचार का प्रयत्न करना चाहिये। उन्हें उच्च शिक्षा की भी आर्थिक सहायता करनी चाहिये। इन सब कामों के लिए धन की आवश्यकता है। कुछ लोगों का ख्याल है कि अपने कामों को अधिक विस्तृत करने के लिए म्युनिसिपिल्टियों के पास पर्याप्त धन नहीं है। उनका यह कथन बहुत कुछ ठीक है किंतु राज्य की सहायता और धनी पुरुषों की दानशीलता की वजह से, धन की कमी बहुत कुछ पूरी हो सकती है और अवैतनिक कार्यकर्ताओं की सहायता से सार्वजनिक शिक्षा की बहुत कुछ उन्नति हो सकती है।

जिला बोर्डों के काम—नगरपालिकाओं की भाँति जिला बोर्डों का भी उद्देश्य नागरिकों के जीवन को अधिक से अधिक सुखी बनाना है। देहातों से अधिक संबंधित होने के कारण उनके कार्मों में ऐसे कामों की प्रधानता होती है, जो देहातों में संबंधित हों। हमें उन्हें निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) यातायात के साधनों की सुविधा—जिला बोर्ड का प्रधान कार्य यातायात के साधनों की व्यवस्था करना है। इस उद्देश्य से वह नयी सड़कों को बनवाता तथा पुरानी की मरम्मत करके उन्हें ठीक हालत में रखता है। नालों को पार करने के लिए वह पुलों को बनवाता, सवारियों का प्रबंध करता है। यात्रियों की सुविधा के लिए कहीं-कहीं वह सवारियों का प्रबंध करता, सड़कों के किनारे पेड़ लगवाता तथा कुएँ खोदवाता है। जिला-बोर्ड तालाबों का भी प्रबंध करता है। इन कामों से जिला-बोर्ड के निवासियों को एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने में बड़ी सुविधा मिलती है।

(२) स्वास्थ्य और सफ़ाई के काम—जिला-बोर्ड के बहुत से काम स्वास्थ्य-सुधार के हेतु किये जाते हैं। इस उद्देश्य से वह देहातों की सफ़ाई का प्रबंध करता है। वह स्थान-स्थान पर मनुष्यों के इलाज के लिए औषधालय खोलता तथा पशु-चिकित्सा का प्रबंध करता है। प्लेग, हैजा, चेचक आदि संक्रामक बीमारियों के रोकने के हेतु वह इनके टीके लगवाने का प्रबंध करता है। वह पीने के लिए जगह-जगह कुएँ खोदवाता तथा उनकी सफ़ाई की व्यवस्था करता है। सार्वजनिक स्वास्थ्य-सुधार के लिए वह अखाड़ों तथा स्वास्थ्य-संबंधी भाषणों का प्रबंध करता है।

(३) सार्वजनिक सुभीते के काम—जिला-बोर्ड सार्वजनिक सुभीते के अनेक काम करता है। देहातियों की नित्यप्रति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह अनेक स्थानों पर बाजार खुलवाता तथा मेलों का प्रबंध करता है। उन्हें नयी-नयी वस्तुएँ दिखलाने के लिए कृषि तथा दस्तकारी की प्रदर्शनियों का प्रबंध किया जाता है। बहुत से लोग अपने जानवरों को लापरवाही से छोड़ देते हैं। उनसे दूसरों के खेतों को नुकसान पहुँचता है। ऐसे जानवरों को बंद करने के लिए मवेशीखानों का प्रबंध किया जाता है। यदि उन जानवरों के मालिक ठीक समय पर, जुर्माना देकर उनको नहीं छुडाते, तो वे नीलाम कर दिये जाते हैं। इस डर के कारण लोग अपने जानवरों को बाँधकर रखते हैं।

(४) शिक्षा के काम—जिला-बोर्ड बालक और बालिकाओं में शिक्षा-प्रचार के हेतु अनेक स्कूल खोलता तथा वहाँ पर प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा का प्रबंध करता है। वह दूसरों द्वारा संस्थापित स्कूलों को आर्थिक सहायता देता तथा विचित्र वस्तुओं के संग्रहालयों को खोलता है। जिला-बोर्ड का यह काम बड़े महत्व का है। स्वतंत्र होने के पश्चात् नित्य प्रति इस पर अधिकाधिक जोर दिया जा रहा है। शिक्षा-प्रचार के हेतु जिला-बोर्ड द्वारा पुस्तकालय और वाचनालय स्थापित किये जाते हैं।

(५) लोकसेवा के कार्य—इन कामों के अतिरिक्त जिला-बोर्ड लोक-सेवा के अनेक काम करता है। कभी-कभी देहाती जनता पर अनायास ही दैवी विपत्तियां आ पड़ती हैं। बाढ़ के कारण लहलहाते खेत बह जाते हैं और अकाल के दिनों में देहाती जनता भूखों मरने लगती है। ऐसे संकट के काल में जिला बोर्ड जनता की सहायता के लिए लोकसेवा के अनेक काम करता है। वह दुखियों की सहायता के लिए दातव्य-क्षेत्र स्थापित करता तथा पुनर्संस्थापन में जनता की सहायता करता है।

स्थानीय कामों से संबंध रखने वाली कुछ आवश्यक बातें—स्थानीय बोर्डों के काम के विषय में निम्नलिखित आवश्यक बातें विशेषतया ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) स्थानीय बोर्डों के कार्य-क्षेत्र का बढ़ाना—स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए प्रथम आवश्यक बात यह है कि स्थानीय बोर्डों का कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत किया जाय। इसमें संदेह नहीं, कि आजकल राज्य की सरकारें जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में हैं। पर इस आधार पर स्थानीय स्वशासन के अधिकारों को संकुचित रखना ठीक नहीं। सरकार चाहे किसी तरह की क्यों न हो, स्थानीय स्वशासन की वास्तविक उपयोगिता के लिए वह

आवश्यक है कि उसका कार्य-क्षेत्र बढ़ाया जाय और उसे अपने कामों के करने में अधिक से अधिक स्वतंत्रता हो। स्थानीय संस्थाओं को अपनी पुलिस रखने का अधिकार मिलना चाहिये। उन्हें गरीबों की देखभाल करने, म्युनिसिपल बीमा का प्रबंध करने, म्युनिसिपल व्यापार को बढ़ाने आदि का अधिकार मिलना चाहिये। म्युनिसपल संस्थाओं को इंप्रूवमेंट ट्रस्ट और पोर्ट ट्रस्ट के भी कुछ अधिकारों का मिलना जरूरी है। यदि इंप्रूमेंट ट्रस्ट तोड़ दिये जायँ और उनके अधिकार म्युनिसिपल संस्थाओं को दे दिये जायँ, तो संभव है कि खर्च भी कम हो और जनता को भी अधिक सुभीता हो।

(ब) मौजूदा कार्य-क्षेत्र में अधिक सावधानी की आवश्यकता—स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए दूसरी आवश्यक बात यह है कि मौजूदा कार्यक्षेत्र में स्थानीय संस्थाएँ अधिक सावधानी से काम करें। इसमें संदेह नहीं कि म्युनिसिपल असावधानी के उत्तरदायित्व का भार बहुत कुछ उसके संकुचित अधिकारों पर डाला जा सकता है। पर इस बहाने, सारी असावधानी का कलंक, स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ अपने ऊपर से नहीं हटा सकतीं। उनके कर्मचारियों को स्वार्थरहित होकर, निष्पक्ष भाव से काम करना चाहिये और उनके सदस्यों को, जनता के हित को सर्वोच्च समझ कर नैतिक ढंग से काम करना चाहिये। संकुचित अधिकारों के यथासंभव सफल प्रयोग से ही हम अधिक अधिकारों के अधिकारी बन सकते हैं। नैतिक ढंग से काम करके हम उच्च अधिकारियों और जनता को यह दिखला सकते हैं कि हम अधिक अधिकारों के योग्य हैं।

(स) प्रांतीय और केंद्रीय सरकारों की सहायता—स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए तीसरी आवश्यक बात राज्य की और केंद्रीय सरकारों की आवश्यक सहायता है। ये सरकारें स्थानीय संस्थाओं की सहायता दो तरह से कर सकती हैं—(१) ऐसे नियमों को बना कर, जिनका स्थानीय संस्थाओं को अधिकार नहीं है, पर जिन पर उनकी सफलता कुछ अंश में निर्भर करती है। देश में बहुत-सी सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित हैं। उनके कारण नागरिक जीवन सुखमय नहीं बन पाता। केंद्रीय और राज्य की सरकारों को उनके दूर करने के लिए नियम बनाना चाहिये और उनको यथासंभव कड़ाई से कार्यरूप में परिणत करना चाहिये। यदि संभव हो तो अनिवार्य शिक्षा की तरह म्युनिसिपल संस्थाओं को इनके भी रोकने का अधिकार मिलना चाहिये। (२) म्युनिसिपल संस्थाओं से उन कामों को लेकर, जो वास्तव में उनके कहे जा सकते हैं, पर जिनको आजकल राज्य की सरकारें कर रही हैं। ग्राम-सुधार का सारा काम स्थानीय संस्थाओं को सौंपा जा सकता है।

(द) स्थानीय कामों में अधिक से अधिक आजादी, पर कड़ा निरीक्षण—स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए चौथी आवश्यक बात यह है कि स्थानीय संस्थाओं को अपने कामों में अधिक से अधिक आजादी हो, पर उनके कामों का कड़ा निरीक्षण होता रहे। भीतरी बातों में हस्तक्षेप होने से, प्रायः सभी प्रकार की संस्थाएँ कुछ अंश में अपने को उत्तरदायित्व से मुक्त समझने लगती हैं। इस मनोवृत्ति का उनके कार्य-संचालन के ढंग पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि काम की सारी जिम्मेदारी उन पर छोड़ दी जाय और निर्धारित एवं आकस्मिक निरीक्षण का उन्हें भय रहे, तो यह असंभव नहीं कि वे अपने कामों को अधिक सावधानी से करें और स्थानीय स्वशासन पहले की अपेक्षा अधिक सफल हो। यदि राज्यों की सरकारें, हस्तक्षेप की पुरानी नीति का परित्याग करके, इस सिद्धांत के अनुसार काम करें तो यह आशा निर्मूल नहीं कि स्थानीय शासन की संस्थाएँ पहले की अपेक्षा अधिक सफल हो सकती हैं।

(य) स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक सहायता—स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए पाँचवीं आवश्यक बात उनकी आर्थिक स्थिति का सुधारना है। इस विषय का विस्तारपूर्वक विचार आगे किया जायगा। यहाँ पर केवल इतना ही जान लेना चाहिये कि स्थानीय संस्थाओं की मितव्ययता, म्युनिसिपल व्यापार, अवैतनिक कार्य-कर्ताओं और सर्वसाधारण की दानशीलता के कारण, इन संस्थाओं की आमदनी बढ़ सकती है। राज्य की सरकार को भी यथाशक्ति इनकी सहायता करनी चाहिये। उसकी सहायता के बल पर स्थानीय संस्थाएं नये-नये कामों को करके, सर्वसाधारण के जीवन को सुखमय बनावेंगी और अपने काम में आजकल की अपेक्षा अधिक सफल होंगी।

म्युनिसिपल राजस्व की कुछ विशेषताएँ—अपने कामों के करने के लिए स्थानीय संस्थाओं को धन की आवश्यकता होती है। बिना धन के वे कुछ भी नहीं कर सकतीं। शायद यह कहना भी अनुचित न होगा कि अपने धन के अनुसार ही स्थानीय संस्थाएँ जनता को भलाई के काम कर सकती हैं। आवश्यक धन को ये संस्थाएँ कई साधनों से एकत्रित करती हैं। उनका विचार आगे किया जायगा। यहाँ पर म्युनिसिपल आमदनी और खर्च की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाता है।

परिमित साधन—म्युनिसिपल आमदनी के साधन परिमित होते हैं। केंद्रीय सरकार की परिस्थिति इससे भिन्न होती है। वह किसी तरह के टैक्स लगा सकती है। नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों को यह अधिकार नहीं होता। ऐक्ट के अंतर्गत दी हुई मदों पर ही टैक्स लगाकर वे आवश्यक धन को एकत्रित करती हैं।

परिमित अधिकार—परिमित साधनों के साथ-साथ म्युनिसिपल संस्थाओं के धन संबंधी अधिकार भी परिमित होते हैं। अपनी आर्थिक नीति के लिए प्रथम तो वे जनता के प्रति उत्तरदायी होती हैं और फिर राज्य की सरकार के प्रति। आर्थिक बातों में शायद राज्य की सरकारों का हस्तक्षेप आवश्यकता से अधिक होता है। नये म्युनिसिपल टैक्सों के विषय में राज्य की सरकार की अनुमति आवश्यक होती है। राज्य की सरकार की स्वीकृति के बिना नगरपालिकाएँ ऋण भी नहीं ले सकतीं।

निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति—म्युनिसिपल टैक्स निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वसूल किये जाते हैं। केंद्रीय टैक्सों का भी यही हाल है, परंतु कभी-कभी केंद्रीय आमदनी से ऐसे खर्च किये जाते हैं जो आकस्मिक होते हैं और जिनसे सर्वसाधारण को लाभ नहीं पहुँचता। कभी-कभी दो या अधिक देशों में लड़ाई छिड़ जाती है। ऐसे अवसरों पर लड़ाई का सारा खर्च केंद्रीय सरकार को बरदाश्त करना पड़ता है। लड़ाइयों से सर्वसाधारण को फायदा भी नहीं पहुँचता। म्युनिसिपल खर्च इस प्रकार का नहीं हो सकता। स्थानीय संस्थाओं का आकस्मिक खर्च भी सर्वसाधारण की भलाई के लिए किया जाता है। नागरिक जीवन को अधिक से अधिक सुखमय बनाना म्युनिसिपल खर्च का मुख्य उद्देश्य है।

स्थानीय खर्च—म्युनिसिपल संस्थाओं का सारा खर्च स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है। किसी नगरपालिका या जिला बोर्ड को यह अधिकार नहीं होता कि वह अपनी आमदनी से दूसरे शहरों की उन्नति करे। केंद्रीय सरकार के खर्च में भी साधारणतया यही बात पायी जाती है। पर कभी-कभी केंद्रीय सरकार की आमदनी से, विशेषकर जब कि देश पराधीन है, दूसरे देशों के लोगों को फायदा पहुँचता है। म्युनिसिपल संस्थाओं का खर्च इस प्रकार का नहीं हो सकता।

स्थानीय खर्च की उत्तरोत्तर वृद्धि—म्युनिसिपल संस्थाओं का खर्च उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। पाश्चात्य देशों में इस वृद्धि की दर भारत की अपेक्षा कहीं अधिक है। इस बढ़े हुए खर्च के कारण स्थानीय संस्थाओं के कामों की भी वृद्धि हुई है, पर खर्च के देखते हुए यह वृद्धि पर्याप्त नहीं है।

आमदनी के साधन—म्युनिसिपल आमदनी के कई साधन हैं। केंद्रीय सरकार की अधिकांश आमदनी टैक्सों से होती है। कहीं-कहीं केंद्रीय सरकारें रेल, डाकखाने आदि का प्रबंध करती हैं और उनसे उनको कुछ लाभ होता है। इस आमदनी के अपर्याप्त होने पर, केंद्रीय सरकार ऋण लेकर अपनी आमदनी

को पूरा करती है। स्थानीय संस्थाएँ टैक्स, म्युनिसिपल व्यापार, ऋण आदि के अतिरिक्त राज्य की सहायता पर भी निर्भर होती हैं। म्युनिसिपल व्यापार से पाश्चात्य देशों, विशेषकर जर्मनी की नगरपालिकाओं, को अच्छी आमदनी होती है। भारत की स्थानीय संस्थाओं को इस विषय में जर्मनी का अनुकरण करना चाहिये।

म्युनिसिपल खर्च—स्थानीय संस्थाओं का धन उन कामों के करने में खर्च होता है जिनका विस्तारपूर्वक विवरण हम ऊपर लिख चुके हैं। सन् १९४०-४१ में उत्तर प्रदेश की नगरपालिकाओं का खर्च इस प्रकार था—

सार्वजनिक स्वास्थ्य और सुभीता	९९, ६१, ३२७	रुपये
सार्वजनिक शिक्षा	२६, २६, ८६९	,,
सार्वजनिक रक्षा	२०, ३०, ८६९	,,
आम इंतजाम और जमा करने का खर्च आदि	२०, ८८, ०८४	,,
अन्य खर्च	२०, ९९, ५००	,,
जमा	१, ९७, ०९, ३६०	,,

इसके अतिरिक्त नगरपालिकाओं ने लगभग ६, ०२, ७१४ रुपये ऋण के व्याज चुकाने में खर्च किये थे। आजकल यह खर्च पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक है।

म्युनिसिपल खर्च की आलोचना—म्युनिसिपल खर्च-संबंधी निम्नलिखित बातें विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) आम इंतजाम और जमा करने का खर्च—इस मद में भारत की नगरपालिकाओं का खर्च एक ही अनुपात में नहीं होता। उत्तर-प्रदेश की नगरापलिकाएँ इस संबंध में ११.५१ प्रतिशत् खर्च करती हैं। बंबई कॉरपोरेशन इस मद में लगभग ८ प्रतिशत् खर्च करता है और मद्रास कॉरपोरेशन लगभग १२ प्रतिशत्। जर्मनी के नगर इस मद में लगभग १७ प्रतिशत् खर्च करते हैं और इंगलैंड के नगरों का खर्च इसी अनुपात के आसपास होता है। भारतीय नगरपालिकाओं का इस मद का इतना अधिक खर्च उच्च पदाधिकारियों के वेतन और भत्ते की वजह से होता है। यदि इन कर्मचारियों का वेतन घटाया जाय और बची हुई रकम से कम वेतन वाले कर्मचारियों का वेतन बढ़ाया जाय तो संभव है कि म्युनिसिपल कर्मचारी अधिक योग्यता से काम करें और खर्च में भी कुछ कमी हो। भारत ऐसा गरीब देश, उच्च अधिकारियों को इतना अधिक वेतन नहीं दे सकता, जितना वे आजकल इस देश में पा रहे हैं।

(ब) सार्वजनिक स्वास्थ्य के काम—अपनी आमदनी का एक बहुत बड़ा अंश भारतीय म्युनिसिपिल्टियां सार्वजनिक स्वास्थ्य और सुभीते के कामों में खर्च करती हैं। उत्तर प्रदेश में इस मद का खर्च सारे खर्च का लगभग ५० प्रतिशत् है। मद्रास कॉरपोरेशन इस विषय में लगभग ४० प्रतिशत् खर्च करता है और बंबई कॉरपोरेशन लगभग ३५ प्रतिशत्। सार्वजनिक स्वास्थ्य और भलाई के कामों में जर्मनी की म्युनिसिपिल्टियाँ ४७.२ प्रतिशत् खर्च करती हैं। इतना अधिक खर्च होने पर भी भारतीय जनता का स्वास्थ्य संतोषप्रद नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस खर्च में मितव्यता की आवश्यकता है।

(स) सार्वजनिक शिक्षा—भारतीय नगरपालिकाएँ अपनी आमदनी का बहुत कम हिस्सा सार्वजनिक शिक्षा में खर्च करती हैं। इस मद का खर्च विभिन्न राज्यों मे अलग-अलग है। बंबई कॉरपोरेशन को छोड़ कर बंबई राज्य में इस मद में २१ प्रतिशत् खर्च होता है, मध्य-प्रदेश में १७ प्रतिशत् और उत्तर-प्रदेश में १३.५८ प्रातशत्। यही कारण है कि भारत में पढ़े-लिखे लोगों की संख्या इतनी कम है।

म्युनिसिपल खर्च संबंधी उपर्युक्त विवेचना से हमें यह ज्ञात होता है कि भारतीय नगरपालिकाएँ कुछ कामों में फिजूलखर्ची करती हैं और कुछ में कंजूसी। सार्वजनिक स्वास्थ्य और साधारण शासन के कामों में मितव्ययता की आवश्यकता है और सार्वजनिक शिक्षा के कामों में अधिक खर्च की आवश्यकता। पर इतने ही हेर-फेर से स्थानीय संस्थाओं के काम संतोषप्रद नहीं हो सकते। इसके लिए अधिक आमदनी की आवश्यकता है। खर्च में मितव्यता करके और आमदनी को बढ़ा कर ही भारतीय स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ अपने कर्तव्यपालन में सफल हो सकती हैं।

स्थानीय संस्थाओं की आमदनी—भारत में स्थानीय संस्थाओं की आमदनी के चार मुख्य साधन हैं—(१) म्युनिसिपल टैक्स और फीस, (२) म्युनिसिपल व्यापार का मुनाफा, (३) सरकारी सहायता, (४) म्युनिसिपल ऋण।

म्युनिसिपल टैक्स और फीस—स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं को अपने अधिकार-क्षेत्र में कई तरह के टैक्स लगाने का अधिकार दिया गया है। ये टैक्स दो प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष टैक्स जैसे मकान का टैक्स, पानी का टैक्स आदि और अप्रत्यक्ष टैक्स जैसे चुंगी आदि। उत्तर प्रदेश में सन् १९४०-४१ में नगरपालिकाओं द्वारा लगाये गये टैक्सों और उनकी आमदनी का पता हमें नीचे दी गयी तालिका से चलता है :—

टैक्स	रुपयों में आमदनी
चुंगी	४२,४९,६१०
मकान और जमीन का टैक्स	१२,४५,९४१
जानवर और सवारी का टैक्स	३,१६,३७७
रोजगार संबंधी टैक्स	१,८५,९९५
सड़क और नाव का टैक्स	७,४७,४८१
पानी का टैक्स	२१,१३,४६२
सफाई आदि का टैक्स	१,१८,६३५
हैसियत और मकान का टैक्स	१,२०,३८७
यात्रियों का टैक्स	२,७९,६१३
विविध टैक्स	५४,१०,२८९

उपर्युक्त तालिका से हमें यह विदित होता है, कि म्युनिसिपल टैक्सों की आमदनी का लगभग ½ चुंगी से वसूल किया जाता है। चूंकि यह टैक्स खाने-पीने की चीजों पर भी लगता है इसलिए इसकी वजह से गरीबों को तकलीफ होती है। उत्तर-प्रदेश की नगरपालिकाओं ने १९४०-४१ में प्रत्येक मनुष्य से ५ रु० ११ आना ६ पाई टैक्स के रूप में वसूल किया था। पाश्चात्य देशों में यह औसत भारत की अपेक्षा कहीं अधिक है, पर भारत की औसत आमदनी को देखते हुए, यह औसत भी अत्यधिक प्रतीत होता है।

म्युनिसिपल व्यापार का मुनाफा—भारतीय स्थानीय संस्थाओं की आमदनी का दूसरा साधन म्युनिसिपल व्यापार का मुनाफा है। पाश्चात्य देशों, विशेष कर जर्मनी में, नगरपालिकाओं को व्यापार से बड़ा लाभ होता है। भारत में अभी तक म्युनिसिपल व्यापार उन्नत अवस्था में नहीं है। कुछ नगरपालिकाओं ने अपने बाजार खोल रखे हैं और कुछ पानी का प्रबंध करती हैं। कहीं-कहीं मजदूरों के रहने के लिए मकान बनवाये गये हैं और कुछ में म्युनिसिपल बस-सर्विस का प्रबंध है। इन छोटी-मोटी बातों को छोड़कर म्युनिसिपल व्यापार का सारा क्षेत्र प्राइवेट कंपनियों और व्यक्तियों के हाथ में हैं। फलस्वरूप नगरपालिकाओं की आमदनी इस मद से उतनी नहीं होती जितनी अन्यथा हो सकती है। भारतीय नगरपालिकाएं म्युनिसिपल व्यापार के जरिये अपनी आमदनी को बहुत कुछ बढ़ा सकती हैं।

सरकारी सहायता—भारतीय स्थानीय संस्थाओं की आमदनी का तीसरा साधन सरकारी सहायता है। पाश्चात्य देशों में सरकारी सहायता से नगर-पालिकाओं की अच्छी आमदनी होती है। जर्मनी में म्युनिसिपल आमदनी का लगभग २९.६ प्रतिशत् केंद्रीय सरकार से मिलता है। इसके अतिरिक्त उपांग राज्यों की स्थानीय सरकारें भी नगरपालिकाओं की आर्थिक सहायता करती हैं। इंगलैंड में म्युनिसिपल आमदनी का लगभग २० प्रतिशत् केंद्रीय सरकार से मिलता है। भारत में सरकारी सहायता न तो पर्याप्त रूप से मिलती है और न वह किसी सिद्धांत के अनुसार दी जाती है।

म्युनिसिपल ऋण—म्युनिसिपल आमदनी का चौथा साधन म्युनिसिपल ऋण है। भारत की अधिकांश नगरपालिकाएं ऋण के भार से दबी हुई हैं। कहीं-कहीं पर तो यह ऋण पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भी ज्यादा है। ऋण साधारण-तया ऐसे कामों के लिए लिया जाता है जिन्हें नगरपालिकाएं अपनी सालाना आमदनी से नहीं कर सकतीं।

ऋण लेने के पूर्व निम्नलिखित शर्तों की पूर्ति आवश्यक होती है—

(१) ऋण के लिए राज्य की सरकार के पास प्रार्थना-पत्र भेजना। (२) प्रार्थना-पत्र में कर्ज की रकम, जमानत, सूद की दर, ऋण की मियाद आदि का उल्लेख होना चाहिये। (३) राज्य की सरकार द्वारा प्रार्थना-पत्र की जाँच। यदि वह नियमानुकूल होता है और ऋण की मियाद निर्धारित काल से अधिक नहीं होती, तो वह दरख्वास्त मंजूर होती है। अन्यथा राज्य की सरकार उसे नामंजूर कर सकती है। (४) राज्य की सरकार की मंजूरी के बिना स्थानीय संस्थाएं ऋण नहीं ले सकतीं। स्थानीय संस्थाओं का ऋण सरकारी होता है और ग़ैर सरकारी भी।

म्युनिसिपल आमदनी की कुछ आवश्यक बातें—म्युनिसिपल आमदनी की निम्नलिखित बातें विशेषतया ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) म्युनिसिपल टैक्सों में परिवर्तन की आवश्यकता—स्थानीय संस्थाओं के टैक्सों में परिवर्तन की गुंजाइश है। टैक्सों को साधारणतया उन लोगों पर पर लगाना चाहिये जो उन्हें दे सकें और जिनसे पर्याप्त आमदनी भी हो। प्रत्यक्ष करों की अपेक्षा अप्रत्यक्ष कर अधिक अच्छे समझे जाते हैं। इस सिद्धांत के विचार से चुंगी के विषय में यह जरूरी मालूम होता है कि वह ऐसी चीजों से उठा ली जाय जिनको गरीब लोग इस्तेमाल करते हैं। अनाज, तरकारी, दूध, घी आदि की चुंगी व्यवहार में अनुचित और सिद्धांत में दोषयुक्त है। इनको शीघ्र ही उठा देना चाहिये। आमदनी की कमी पूर्ति के लिए शान-शौकत

पालिकाएँ पार्क बनवाती हैं और कहीं पर गंदा नाला। कहीं पर वे पानी के कल का प्रबंध करती हैं और कहीं पर बिजली का। कहीं पर वे नये बाजार बनवाती हैं। इन कामों की वजह से आसपास की जायदाद का मूल्य कभी कभी दूने-तिगुने से भी अधिक हो जाता है। म्युनिसिपल संस्थाओं को चाहिये कि ऐसी जायदादों पर अधिक टैक्स लगावें और इस प्रकार बढ़ी हुई कीमत का कुछ हिस्सा स्वयं लें। यही बर्ताव उन इमारतों के साथ भी होना चाहिये जो शहर के स्वास्थ्यवर्द्धक भागों में स्थित हैं पर जिनमें शायद ही कभी कोई रहता है। ऐसी इमारतों पर नगरपालिकाओं को इतना अधिक टैक्स लगाना चाहिये कि अंत में या तो वे उचित किराये पर उठायी जायँ या बेंच दी जायँ। उपर्युक्त दोनों टैक्सों से म्युनिसिपल आमदनी कुछ हद तक बढ़ सकती है।

स्थानीय स्वशासन के प्रति हमारा कर्तव्य—भारतीय स्थानीय स्वशासन युरुप और अमरीका के देखते हुए बहुत पीछे है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसको उन्नतिशील बनावें। नगरपालिकाओं और जिलाबोर्डों के निर्वाचन में बहुत से लोग वोट देने नहीं जाते। यह ठीक नहीं। भारत के प्रत्येक मताधिकारी का कर्तव्य है कि वह निर्वाचन में वोट देने अवश्य जाय। इसके अतिरिक्त, योग्य मनुष्यों को सदस्य बनने के लिए तैयार रहना चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के अधिकार बहुत परिमित हैं तो भी हमें इनका उपयोग करना चाहिये। योग्य पुरुषों को यह कह कर अलग न हो जाना चाहिये कि अमुक संस्थाओं की सदस्यता फजीहत की बात है। सदस्य होने पर उन्हें अपने कर्तव्य से विलग भी न होना चाहिये। बहुत से लोग नगरपालिकाओं या जिलाबोर्डों के सदस्य इस लिए बनते हैं कि उनकी कुछ आमदनी हो जाय। ऐसा करना अनुचित है। प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की अपेक्षा, नगर की भलाई को उच्चतर समझे।

किसी शहर अथवा गाँव के निवासियों को केवल वोट ही देकर स्थानीय स्वशासन की सस्थाओं से पीछा न छुड़ाना चाहिये। उन्हें नित्यप्रति क जीवन में इन संस्थाओं से सहयोग करना चाहिये। नगरपालिका चाहे कितनी ही बड़ी और उसके कर्मचारी चाहे कितने ही योग्य क्यों न हों, जनता के नित्यप्रति के सहयोग के बिना वे कुछ भी नहीं कर सकती। यदि हम ही अपने मकान को साफ न रखेंगे, अपने मकान का कूड़ा-करकट सड़क पर फेकेंगे, बीमार होने पर दवा लेने न जायँगे और म्युनिसिपल कर्मचारियों को घूस देकर अपना काम निकालेंगे तो स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं अपने उद्देश्य की पूर्ति में

सर्वथा असफल रहेंगी। हमारी सरकार को भी चाहिये कि वह स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के अधिकार बढ़ावे, जिससे योग्य व्यक्ति उनकी ओर आकृष्ट हों।

स्थानीय स्वशासन की सफलता पर भारत का भविष्य बहुत कुछ निर्भर है। यहाँ की पायी हुई शिक्षा के आधार पर ही हमारी राष्ट्रीय और राजकीय संस्थाएं सफल अथवा असफल होंगी। अतएव भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं से अधिक से अधिक शिक्षा ग्रहण करे और उस शिक्षा के आधार पर अपने आचरण को ऐसा बनावे जिससे भारत का राष्ट्रीय उत्थान हो और संसार के अन्य देशों में वह वही स्थान पा सके जो उसका भूतकाल में था।

अभ्यास

१. स्थानीय स्वशासन की संस्थाएं किन कारणों से स्थापित की जाती हैं?

२. भारत में स्थानीय स्वशासन के विकास पर एक निबंध लिखिये।

३. कॉरपोरेशन का क्या अर्थ है? कलकत्ता, बंबई और मद्रास के कॉर-पोरेशनों के विषय में आप क्या जानते हैं?

४. शहरों की जन-संख्या किन कारणों से बढ़ती है? शहरों की मुख्य समस्याओं पर प्रकाश डालिये।

५. उत्तर-प्रदेश की नगरपालिकाओं और जिला-बोर्डों के नवीन संगठन की आलोचना कीजिये।

६. म्युनिसिपल कार्य-प्रणाली के विषय में आप क्या जानते हैं?

७. इंप्रूवमेंट ट्रस्ट किन उद्देश्यों से बनाये गये हैं? उनकी सफलता के संबंध में अपना मत लिखिये।

८. स्थानीय स्वशासन और राज्य की सरकार के संबंध की आलोचना कीजिये।

९. स्थानीय कर्मचारियों को किस प्रकार अधिक अच्छा बनाया जा सकता है।

१०. सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए उत्तर-प्रदेश की नगरपालिकाएं कौन कौन काम करती हैं?

११. जिला-बोर्डों के काम का संक्षिप्त विवरण लिखिये।

१२. स्थानीय स्वशासन के कामों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

१३. म्युनिसिपल आमदनी के मौजूदा साधनों पर प्रकाश डालिये। उसे किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है?

१४. म्युनिसिपल खर्च की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

१५. स्थानीय स्वशासन के प्रति हमारा क्या कर्तव्य है?

२३

स्वतंत्रता के पश्चात्

(१) आंतरिक शासन

प्राक्कथन—१५ अगस्त सन् १९४७ को, भारत स्वतंत्र हुआ था। उस दिन से २६ जनवरी सन् १९५० तक, उसका शासन डोमीनियन संविधान के अनुसार होता रहा और तत्पश्चात् लोकतंत्रात्मक गणराज्य के संविधान के अनुसार हो रहा है। पिछले छः वर्षों में देश को भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। उनमें से कुछ आज भी बनी हुई हैं। यद्यपि यह कहना कठिन है कि स्वतंत्र भारत की सरकार इन कठिनाइयों को दूर करने में पूर्णरूपेण सफल हुई है, पर इतना कहने में किसी को संकोच नहीं हो सकता कि उसने इनके दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है।

डोमीनियन की स्थापना के पूर्व भारतीय परिस्थिति—भारतीय डोमीनियन की स्थापना के पूर्व, यूरोपीय महासमर के प्रभावों के कारण, संसार के अन्य देशों की भाँति, भारत की भी परिस्थिति चिंताजनक थी। भोजन तथा वस्त्र का अभाव था, शिक्षा की कमी थी और रोगियों के लिए औषधियाँ तक न मिलती थीं। मुद्रा-बाहुल्य के कारण, वस्तुओं का मूल्य अत्यधिक बढ़ गया था। चोर-बाजार गरम था और मुनाफाखोरों की बन आयी थी। श्रमजीवियों की कमी थी और जो थे, वे ऐसे लोगों के प्रभाव में थे, जो उत्पादन-वृद्धि द्वारा, देश का हित-साधन न करके, उन्हें श्रेणी-संघर्ष की ओर ले जाने का प्रयत्न कर रहे थे। सांप्रदायिक वैमनस्य के कारण हिंदुओं और मुसलमानों में फूट का अस्तित्व था और उनके कुत्सित कार्यों को मानवता धिक्कार रही थी। सरकारी नौकर तक अधःपतन से मुक्त न थे। उनमें से कुछ सांप्रदायिक पक्षपात की ओर झुके हुए थे और कुछ आर्थिक लोभ की ओर। मानसिक दासत्व राजनीतिक दासत्व की अपेक्षा कई गुना अधिक था और उसका अस्तित्व उस शिक्षित समुदाय में भी था जिसके अधिकांश व्यक्ति राजनीतिक स्वतंत्रता का राग अलापते तथा अन्य सब बातों में राष्ट्रीय उन्नति के लिए प्रयत्नशील थे। यह थी देश की आंतरिक स्थिति, जब ब्रिटिश सरकार ने, भारत का शासन भारतीयों के हाथ में देने का निश्चय किया।

स्वतंत्रता के कारण जटिलतर परिस्थिति—१५ अगस्त सन् १९४७ को शृंखला-मुक्त नवीन भारत का उदय हुआ और भारतीय परिस्थिति पहले की अपेक्षा अधिक जटिलतर हो गयी। स्वतंत्रता के बदले भारत को अंग-विच्छेद स्वीकार करना पड़ा। मुस्लिम लीग तथा उसके नेताओं की निरंतर माँग, ब्रिटिश सरकार की "भेद और शासन" की नीति, तथा कांग्रेसी नेताओं की उत्सुकता के कारण, उस भारत में दो स्वतंत्र डोमीनियनें बनीं जिसकी राजनीतिक एकता स्थापित करने का ब्रिटिश सरकार को गौरव था। भारत अखंड न रहकर खंडित हो गया और उसकी उस मौलिक एकता की इतिश्री हो गयी जो वैदिक काल से उस समय तक अकाट्य तथा सर्वमान्य थी और जो देश की भौगोलिक रचना के अतिरिक्त उसके सांस्कृतिक जीवन तथा उसकी इच्छाओं और आकांक्षाओं का मूर्तिमान स्वरूप थी। ब्रिटिश सरकार ने देश को छोड़ते-छोड़ते परिस्थिति को जटिलतर बनाने वाली एक बात और कर डाली। भारतीय रियासतें, जो समस्त ब्रिटिश काल में, व्यावहारिक दृष्टि से, भारत-सरकार के अधीन थीं, उन सब बंधनों से मुक्त कर दी गयीं जो संधियों, सनदों, संबंधों तथा चलनों पर आधारित थे। प्रभु-सत्ता हटा ली गयी और इस प्रकार भारतीय नरेशों तथा नवाबों को यह समझने का अवसर मिला कि वे नव-निर्मित भारत-सरकार से सर्वथा स्वतंत्र थे और स्वतंत्र शासकों की भांति उससे व्यवहार कर सकते थे।

अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति—यह थी देश की आंतरिक परिस्थिति, जब भारतीयों ने देश का शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया। पर अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति इससे भी अधिक भयानक थी। १५ अगस्त सन् १९४७ तक समस्त भारत का पर-राष्ट्र-संबंध ब्रिटिश सरकार के अधीन था। स्वतंत्र डोमीनियनों के बनने पर वह भारतीयों के हाथ में आ गया। युरुप के द्वितीय महासमर का अंत तो लगभग दो बरस पूर्व हो चुका था, पर युद्ध का वातावरण अब भी शेष था और विजयी राष्ट्र अपनी शक्ति-वृद्धि तथा स्वार्थ-साधन में लिप्त थे। वे दो प्रधान गुट्टों में विभक्त थे जिनमें से एक सोवियट रूस को अपना नेता मानता था और दूसरा इंगलैंड और अमरीका को। संसार के विभिन्न देशों में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार हो रहा था और किसी देश में भारत का कोई ऐसा राजदूत अथवा प्रतिनिधि न था जो राष्ट्रीय दृष्टि-कोण को समझता तथा उसके अनुकूल काम करता हो। पाकिस्तान की नव-निर्मित डोमीनियन के कारण अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति और भी अधिक जटिल हो गयी थी। धर्म के नाम पर पूर्वी और पश्चिमी पंजाब में अनेक हिंदू और मुसलमान हताहत हो रहे थे।

इसके कारण शरणार्थियों को विकट समस्या नवनिर्मित डोमीनियन के सम्मुख थी। देश के बँटवारे के कारण, मतभेद की अनेक बातें सामने आ गयी थीं और बहुतों के आने की आशंका थी। अतएव अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी काफी जटिल थी।

डोमीनियन तथा प्रांतीय सरकारों का निर्माण—देश की उपर्युक्त आंतरिक परिस्थिति तथा अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में डोमीनियन सरकार का निर्माण हुआ। संविधान-सभा के हाथ में प्रभु-सत्ता का हस्तांतरण हुआ और उसने नेताओं द्वारा आमंत्रित लॉर्ड माउंटबैटन को गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त करना स्वीकार किया। डोमीनियन मंत्रिमंडल की घोषणा की गयी।

प्रांतीय सरकारों का भी निर्माण हुआ। १५ अगस्त के पूर्व ही प्रांतीय गवर्नरों ने अपना त्यागपत्र दे दिया था। उस दिन मद्रास, बंबई और आसाम के गवर्नरों को अपने पद पर बने रहने का निमंत्रण दिया गया और उन्होंने उस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया। अन्य प्रांतों के लिए नये गवर्नर नियुक्त हुए।

डोमीनियन सरकार की शासन-नीति—सत्ता-हस्तांतरण के अवसर पर डा० राजेंद्रप्रसाद ने, जो संविधान-सभा के सभापति थे, स्वतंत्र भारत की शासन-नीति पर कुछ प्रकाश डाला। आंतरिक शासन में अल्प-संख्यकों को धर्म, संस्कृति और भाषा की स्वतंत्रता का आश्वासन देने के पश्चात्, उन्होंने स्वतंत्र भारत के आंतरिक कार्य-क्रम पर कुछ प्रकाश डाला। "सभी लोगों को हम यह आश्वासन देना चाहते हैं कि हमारी यह अथक कोशिश होगी कि देश से गरीबी और दीनता, भूख और बीमारी दूर हो जाय, मनुष्य और मनुष्य के बीच में भेदभाव उठ जाय, कोई मनुष्य दूसरे का शोषण न करे और सबके लिए सुंदर और समुचित जीवन बिताने का साधन जुटा दिया जाय।" पं० जवाहर-लाल नेहरू के विचार इस संबंध में निम्नलिखित थे—"हमारा ध्येय है भारत के जन-साधारण, किसान और मजदूर को स्वाधीनता और सुयोग देना; अज्ञान, बीमारी और गरीबी के विरुद्ध लड़ना और उनको मिटाना; समृद्ध, संपन्न और प्रगतिशील जन-तंत्र का निर्माण करना; ऐसी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था बनाना, जिससे देश के प्रत्येक नर-नारी को समुचित अधिकार और जीवन के पूर्ण विकास का अवसर मिल सके।" सरदार वल्लभभाई पटेल के शब्दों में स्वतंत्र भारत की सरकार का उद्देश्य इस प्रकार था—"हमें इस बात का प्रबंध करना है कि देश में छोटे से छोटे और बड़े से बड़े को एक ही दर्जा मिले; मजदूरों को अपनी मेहनत के फल का पूरा हिस्सा मिले और जो लाखों किसान अपना लहू-पसीना एक कर देते हैं, उन्हें उसका पूरा फल मिले और

भारत-सरकार देश के हर स्त्री और पुरुष को खाना, कपड़ा, रहने की जगह और शिक्षा देने के अपने कर्तव्य को अच्छी तरह पूरा करे।" आचार्य कृपलानी के विचार भी न्यूनाधिक इसी प्रकार के थे—"आज हमारा शत्रु बाहर नहीं, बल्कि भीतर ही है। हमारे वास्तविक शत्रु भुखमरी, निर्धनता, अस्वास्थ्य, अज्ञान, दुर्भावना, मूर्खता और सांप्रदायिक उत्तेजना के कारण फैली हुई हिंसा और अव्यवस्था की भावना है। इन शत्रुओं के विरुद्ध हमें अपनी सारी शक्ति केंद्रित करनी पड़ेगी।"

डोमीनियन सरकार की पर-राष्ट्र-नीति—सत्ता हस्तांतरण के अवसर तथा उसके पश्चात् डोमिनियन सरकार की पर-राष्ट्र-नीति पर भी कुछ प्रकाश डाला गया था। इस संबंध में डा० राजेंद्र प्रसाद के विचार इस प्रकार थे—दुनियाँ के सभी देशों को हम यह आश्वासन दिलाना चाहते हैं कि हम अपनी परंपरा के अनुसार सबके साथ मित्रता का बर्ताव रखना चाहते हैं। किसी से हमारा द्वेष नहीं है। हमें किसी के साथ घात नहीं करना है और हम उम्मीद करते हैं कि कोई हमारे साथ भी ऐसा न करेगा। हमारी एक ही आशा और अभिलाषा है कि हम सबके लिए स्वतंत्रता और मानव-जाति में शांति और सुख स्थापित करने में मददगार हो सकें।" सरदार पटेल के विचारानुकूल स्वतंत्र भारत का पहला कर्तव्य यह था कि "भीतरी और बाहरी खतरों से वह अपनी अच्छी तरह रक्षा करे।" डोमीनियन सरकार, उपनिवेशों में स्थित भारतीयों की दशा सुधारना चाहती थी और एशियाई राष्ट्रों को संगठित करने के पक्ष में थी। पाकिस्तान में छूटे हुए भारतीयों की भी उसे चिंता थी। देश के विभाजन से भारत के अनेक राष्ट्रवादी नेता दुखी थे। खंडित देश की स्वतंत्रता का आनंद वे उसी प्रकार मना रहे थे जिस प्रकार एक घायल सिपाही युद्ध में विजय का आनंद मनाता है। सीमा पार के भाइयों की याद उन्हें सदा सताती थी। उन्हें आशा थी कि दोनों का पुनर्मिलन हो जायगा, किंतु जब तक यह न हो वे उन्हें पाकिस्तान में ही रहने का परामर्श देते थे। डा० राजेंद्र प्रसाद के विचार इस संबंध में इस प्रकार थे—"ऐसे लोगों को जो बँटवारे से दुखी हैं और पाकिस्तान में रह गये हैं, हम अपनी शुभ-कामना भेजते हैं। उनको घबड़ाना नहीं चाहिये; अपने घर-बार धर्म और संस्कृति को बचाये रखना चाहिये तथा हिम्मत और सहिष्णुता से काम लेना चाहिये। उनके इस संबंध में भय करने का कोई कारण नहीं कि उनके साथ ठीक और न्यायपूर्ण व्यवहार न होगा और उनकी रक्षा न होगी। जो आश्वासन दिया गया है उसको मान लेना चाहिये और आज जहाँ पर वे रहते हैं, वहीं अपनी वफ़ादारी और सच्चाई से अपनी मुनासिब जगह उन्हें हासिल करनी चाहिये।"

डोमीनियन सरकार का आंतरिक शासन; देश का बँटवारा—देश का बँटवारा डामीनियन सरकार की सर्वप्रथम समस्या थी। संसार के इतिहास में किसी अन्य ऐसे उदाहरण का मिलना कठिन है जब कि इतने बड़े देश का बँटवारा इतने कम समय में किया गया हो। लॉर्ड माउंटबैटेन के विचारानुकूल, जब विभाजन का सिद्धांत स्वीकृत हो चुका था, तो शीघ्रतिशीघ्र उसे कार्यान्वित करना ही उचित था। अतएव वे इस काम में एकाग्र-चित्तता से लग गये। विभाजन-संबंधी समितियों ने भी उन्हीं की भाँति तत्परता और लगन से काम किया। इसका तथा दोनों नव-निर्मित्त डोमीनियनों के परस्पर सहयोग का प्रभाव यह हुआ कि विभाजन-संबंधी समस्त काम इतने कम समय में संपन्न हो गया, जिसका ब्रिटिश सरकार तक को अनुमान न था। सरदार वल्लभभाई पटेल के विचार इस संबंध में इस प्रकार थे—'मुझे निश्चय है कि जब इस कठिन और चिंतापूर्ण स्थिति का इतिहास लिखा जायगा जिसमें से हम गुज़रे हैं, तो विभाजन को संयुक्त प्रयास और कार्य-संपादन की योग्यता का एक चमत्कार समझा जायगा।"

शांति और व्यवस्था की स्थापना—भारतीय डोमीनियन की दूसरी महत्वपूर्ण समस्या शांति और व्यवस्था की रक्षा की समस्या थी। देश के बँटवारे तथा सांप्रदायिकता-जनित उन्माद के कारण सीमा-प्रांत, सिंध, पश्चिमी और पूर्वी पंजाब तथा दिल्ली के प्रांतों में रक्तपात, नर-संहार, लूटमार और आगजनी के जो भयंकर कांड हुए उनका स्मरण करके आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पैशाचिकता का नग्न तांडव हुआ। चलती हुई रेलगाड़ियों से यात्री नीचे फेंके गये, स्त्रियाँ भगायी गयीं और सहस्रों निर्दोष व्यक्ति हताहत हुए। पाकिस्तान में होनेवाले अत्याचारों का विवरण सुनकर, जिसे शरणार्थी सजल नेत्रों से सुनाते थे, लोगों के हृदय में बदला लेने को भावना का उदय होता था। इस प्रकार डोमीनियन सरकार की शांति और व्यवस्था की रक्षा की समस्या एक कठिन समस्या थी। तिस पर संयुक्त प्रांतीय हिंदू-सभा ने कांग्रेसी शासन की सांप्रदायिक नीति के कारण, सक्रिय आंदोलन आरंभ किया और कुछ ही दिनों पश्चात् एक ऐसे मुस्लिम-एंग्लो-इंडियन षड्यंत्र का पता चला जिसका उद्देश्य सरकार का ध्वंस करना था। डामीनियन सरकार ने अपूर्व दृढ़ता के साथ इस परिस्थिति का सामना किया। भारत और पाकिस्तान की सरकारों ने मिलकर शांति संबंधी कई अपीलें निकालीं और भारतीय नेताओं ने भी इस प्रकार की अपीलें कीं। गांधीजी ने तो इस संबंध में आमरण व्रत तक आरंभ किये। सरकार की ओर से सैनिक कार्रवाई भी की गयी और बे लोग

गिरफ्तार कर लिये गये जो शांति और व्यवस्था संबंधी अपराधों के दोषी थे। कुछ सरकारी नौकरों को, जिनके विषय में सांप्रदायिक पक्षपात् की शिकायतें आयीं, कड़ी चेतावनी दी गयी। फलस्वरूप शांति और व्यवस्था की वह समस्या जो १५ अगस्त सन् १९४७ को बड़ी जटिल प्रतीत होती थी, क्रमशः हल हो गयी और भारतीय डोमीनियन और तत्पश्चात् स्वतंत्र भारत के हिंदू और मुसलमान निवासी उसी प्रकार रहने लगे, जिस प्रकार वे देश के बंटवारे के पूर्व रहते थे।

शरणार्थियों की समस्या—डोमीनियन सरकार की तीसरी समस्या शरणार्थियों की समस्या थी। संसार के इतिहास में किसी अन्य ऐसे उदाहरण का मिलना कठिन है जिसमें इतनी अधिक जन-संख्या का विनिमय हुआ हो। बँटवारे के पूर्व ही सांप्रदायिक वैमनस्य ने देश को अपने पंजे में जकड़ लिया था। फलस्वरूप जिन क्षेत्रों में मुसलमान बहुसंख्यक थे, वहाँ के हिंदू अपने को सुरक्षित न समझते थे और जिन क्षेत्रों में हिंदू बहुसंख्यक थे, वहाँ के मुसलमानों की भावना इसी प्रकार की थी। अतएव पाकिस्तान की हिंदू जनता, भारत की ओर आने लगी और भारतीय डोमीनियन में, पूर्वी पंजाब की मुस्लिम जनता पाकिस्तान की ओर जाने लगी। कुछ लोग अपनी चल संपत्ति को लेकर पैदल अथवा बैलगाड़ियों में चले और कुछ के निष्क्रमण का प्रबंध सरकार को करना पड़ा। स्पेशल रेलगाड़ियाँ चलायी गयीं, मोटरों का प्रबंध हुआ और हवाई जहाज तक प्रयुक्त हुए। लगभग ६० लाख शरणार्थी इन दिनों पाकिस्तान से भारत को आये, जिनमें ३५ लाख के निष्क्रमण में सरकार ने सहायता पहुँचायी। कालांतर में पूर्वी पाकिस्तान की सांप्रदायिक नीति के कारण लगभग ९ लाख शरणार्थी भारत में और आये।

इसमें संदेह नहीं कि शरणार्थियों के निष्क्रमण की समस्या कठिन थी किंतु इससे भी अधिक कठिन समस्या उनके बसाने तथा उनकी जीविका के प्रबंध की थी। इस कठिन काम को करने के लिए केंद्रीय मंत्रि-परिषद में पुनर्वास-मंत्री की नियुक्ति हुई। अनेक शरणार्थी पूर्वी पंजाब और दिल्ली के प्रांतों में बसाये गये और कुछ बंबई और संयुक्त-प्रांत में। भारतीय रियासतों ने भी उन्हें अपनी रियासतों में बसने की सुविधा दी। उनके भोजन और वस्त्र तथा उनके बच्चों की निःशुल्क शिक्षा का प्रबंध किया गया। आरंभ में भारत-सरकार की नीति का मूलमंत्र, सब उपलब्ध साधनों द्वारा, शरणार्थियों की सहायता करना था। उनके लिये शरणार्थी-शिविर खोले गये। कालांतर में भारत-सरकार की उक्त नीति में परिवर्तन हुआ। अब वह शरणार्थियों को अपने पैरों पर खड़ा करना

चाहती थी। फलस्वरूप शरणार्थी-शिविर क्रमशः तोड दिये गये और शरणार्थियों के रहने के लिए बड़े शहरों के निकट उपनिवेश-नगर बसाये गये। शरणार्थी-कृषकों को खेती के लिए भूमि दी गयी और बहुतों को काम-काज आरंभ करने के लिए ऋण दिया गया। शरणार्थियों को काम-काज की शिक्षा देने के लिए कामकाजी शिक्षा-केंद्र खाले गये, हरिजनों की सहायता की व्यवस्था की गयी, बालक-बालिकाओं की शिक्षा का प्रबंध किया गया और बेकार लोगों को काम-काज दिलाने के लिए सरकारी कार्यालय खोले गये। इस प्रकार शरणार्थियों की वह समस्या, जो सन् १९४७ में बड़ी कठिन प्रतीत होती थी, आज एक प्रकार से हल हो गयी सी प्रतीत हो रही है।

खाद्यान्न समस्या—डोमीनियन सरकार की चौथी समस्या खाद्यान्न की समस्या थी। देश के विभाजन के कारण भारतीय यूनियन को पूर्वकालीन भारत की ७७·७% जन-सख्या पर ७३·१% भूमि मिली थी। देश का वह भाग, जिसमें सिंचाई का प्रबंध उच्च कोटि का था और जिसकी उपज आवश्यकता से अधिक थी, पाकिस्तान में चला गया था। फल स्वरूप भारत में खाद्यान की कमी थी, इसकी पूर्ति के लिए सरकार ने विदेशों से अन्न मँगवाया और इस बात का भी प्रयत्न किया कि देश खाद्यान्न में स्वपर्याप्त हो जाय। उसने ऊसरों को हल तले लाने का प्रयत्न किया, नहरों को बनवा तथा पाताल कुँओं को खोदवा कर सिंचाई का प्रबंध किया, रासायनिक खादों के लिए फैक्टरियाँ खोलीं और किसानों को अच्छे बीज दिये। वह कृषि में वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रयोग के लिए प्रयत्नशील रही। सब लोगों तक अन्न पहुँचाने के लिए, उसने शहरों में राशन आरंभ किया और कृषि एवं जानवरों के विषय में वैज्ञानिक अन्वेषण कराये। इन सब प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप खाद्यान्न की स्थिति सुधार करके राशन का अंत कर दिया गया है और विदेशों से जो अन्न मँगाया था, उसमें कमी हो गयी है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में खाद्यान्न की दृष्टि से भारत स्वपर्याप्त हो जायगा।

दस्तकारियों की अवस्था—डोमीनियन सरकार की पाँचवीं समस्या दस्तकारियों के संबंध में थी। देश के विभाजन का कुप्रभाव भारतीय दस्तकारियों पर भी पड़ा। कई दस्कारियों के केंद्र भारतीय प्रदेश में आये, पर उनके लिए कच्चे माल देने वाले प्रदेश पाकिस्तान में चले गये। श्रमजीवियों की भी कमी थी। जो कुछ थे उनकी अवस्था संतोषप्रद न थी और वे हड़ताल आदि के द्वारा स्वार्थसाधन में लिप्त थे। यातायात के उपयुक्त साधनों का अभाव था। आवश्यकताओं के लिए उनकी माँग इतनी अधिक थी कि दस्तकारियों के अन्य

लिए न तो कच्चा माल ठीक समय पर मिल सकता था और न बनी हुई वस्तुओं की बिक्री की यथोचित व्यवस्था थी। पूँजी की भी कमी थी। इन बातों के कारण, स्वतत्र होने के समय, भारतीय दस्तकारियों की अवस्था आशातीत न थी।

स्वतत्र भारत की सरकार ने, दस्तकारियों की अवस्था सुधारने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। कच्चे माल की प्राप्ति के लिए दूसरे देशों से, विशेषतया पाकिस्तान से, व्यापारिक संधियाँ की गयीं। श्रमजीवियों की दशा सुधारने के लिए सरकार ने कई ऐक्ट पास किये। इन सबमें इस बात का ध्यान रखा गया कि मजदूर छोटी-छोटी बातों में हड़ताल का सहारा न पकड़ें। यातायात के साधनों की सुविधा, दस्तकारियों को दी गयी। विकास की दृष्टि से सरकार ने दस्तकारियों को तीन भागों में विभक्त किया। पहले वर्ग में वे दस्तकारियाँ हैं जिनका एकाधिकार केंद्रीय सरकार को है। दूसरे वर्ग में वे दस्तकारियाँ हैं जो आधार (Basic) दस्तकारियाँ कही जाती हैं, जैसे लोहे, कोयले, जहाज बनाने आदि की दस्तकारियाँ। इनके भावी विकास का उत्तरदायित्व, भारत-सरकार ने अपने ऊपर लिया है। तीसरे वर्ग में वे दस्तकारियाँ हैं जिनका सरकार नियमन और नियंत्रण करती है। दस्तकारियों के द्रुत विकास के लिए, सरकार ने विदेशी पूँजी की आवश्यकता को स्वीकार किया है, पर सावधानी के साथ आवश्यक नियंत्रण के अंतर्गत।

दस्तकारियों की दृष्टि से, भारत की गणना, संसार के प्रमुख दस देशों में की जाती है। कुछ दस्तकारियाँ तो बड़े पैमाने की हैं और उनकी अवस्था भी संतोषप्रद है। कुछ को संरक्षण द्वारा, सरकार ऊपर उठा रही है। किंतु देश के साधनों और जनसंख्या को देखते हुए दस्तकारियों की अवस्था संतोषप्रद नहीं कही जा सकती। भारत के लगभग २% श्रमजीवी ही बड़े पैमाने की दस्तकारियों में काम कर रहे हैं। आधारभूत दस्तकारियों में भारत आज भी विदेशों पर निर्भर है। किंतु यदि सरकार की नीति इसी प्रकार की बनी रही और उसके साथ जनता और श्रमजीवी सहयोग करते रहे तो यह आशा निर्मूल नहीं कि निकट भविष्य में भारत दस्तकारियों में भी स्वपर्याप्त हो जायगा।

रियासतों की समस्या—स्वतंत्र भारत की छठी समस्या का संबंध भारतीय रियासतों से था। ब्रिटिश शासन-काल में भारत में लगभग ५६४ रियासतें थीं, जो संधियों, सनदों, संबंधों और प्रथाओं के अनुसार ब्रिटिश प्रभु सत्ता के अंतर्गत थीं। ३ जून सन् १९४७ की घोषणा (जिसके अनुसार ब्रिटिश प्रभु-सत्ता हटा ली गयी) का अर्थ विविध रियासतों में भिन्न भिन्न लगाया गया। ट्रावनकोर, हैदराबाद, भूपाल और ग्वालियर ने सर्वप्रथम

स्वतंत्र होने के पक्ष में अपने विचार प्रगट किये, किंतु कालांतर में उनका भ्रम दूर हो गया और हैदराबाद के अतिरिक्त, वे सब निर्धारित शर्तों के अनुसार भारतीय यूनियन में सम्मिलित हो गयीं। जूनागढ़ ने भौगोलिक अनिवार्यताओं की अवहेलना करके, पाकिस्तान से मिलना चाहा। किंतु भारतीय डोमीनियन ने इसे स्वीकार न किया। इस संबंध मे उसका सिद्धांत जनानुमति के अनुसार, अंतिम निर्णय के पक्ष में था। कालांतर में जनमत-संग्रह किया गया और निर्णय भारतीय युनियन के साथ मिलने के पक्ष में हुआ। काश्मीर का मामला संयुक्त-राष्ट्र-संघ के विचाराधीन है और हैदराबाद की रियासत पुलिस कार्रवाई के पश्चात् भारतीय यूनियन में मिल गयी है।

५६४ भारतीय रियासतों में अधिकांश बहुत छोटी थीं। भारत के संघात्मक संविधान में उनका स्वतंत्र इकाइयों के रूप में सम्मिलित होना असंभव था। देशी-राज्य-प्रजा-सम्मेलन ने लुधियाना के अधिवेशन में इस संबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये थे—"भविष्य के संघ-राज्य में वे ही रियासतें या उनके संघ स्वतंत्र इकाइयों के रूप में सम्मिलित हो सकेंगे जिनको जनसख्या कम से कम २० लाख और आय ५० लाख रुपये सालाना होगी। जो रियासतें इस शर्त को पूरा न कर सकेंगी, उन्हें पड़ोस के प्रांत में मिला लिया जायगा।" उदयपुर के अधिवेशन में यह बात दोहरायी गयी और जनता की सामाजिक और आर्थिक उन्नति, सम्मिलित होने का मुख्य आधार समझी गयी।

भारत-सरकार ने रियासतों के प्रति न्यूनाधिक इसी नीति को अपनाया। ५ जुलाई सन् १९४७ को, सरदार वल्लभ भाई पटेल की अध्यक्षता में रियासती विभाग की स्थापना हुई। अपने उस समय के एक वक्तव्य में, रियासतों के संबंध में, उन्होंने निम्नलिखित विचार प्रगट किये—"यह देश और इसकी संस्थाएँ उस जनता का गर्वपूर्व उत्तराधिकार है जो यहाँ बसती है। यह केवल संयोग की बात है कि हम से कुछ लोग रियासतों में रहते हैं और कुछ ब्रिटिश भारत में। पर सभी समान रूप से इसकी संस्कृति और प्रवृत्तियो के अधिकारी हैं......अतः मेरा सुझाव है कि हमारे लिए यह अधिक अच्छा होगा कि हम सब साथ मिल बैठकर मित्रों की भाँति नियमादि बनावें न कि विदेशियों की भाँति संधियाँ करें। मैं अपने मित्रों—भारतीय राज्यों के शासकों और जनता—को आमंत्रित करता हूँ कि वे मैत्री और सहयोग की इस भावना से प्रेरित होकर संविधान-सभा में आवें और मिल बैठकर उसके कार्यों में भाग लें।.........मैं आशा करता हूँ कि भारतीय रियासतें यह समझ लेंगी कि जनहित के लिए सहयोग न करने का विकल्प ऐसी अराजकता और

अव्यवस्था है, जो छोटे बड़े सभी को विनाश की ओर खींच ले जायगी"। रियासती विभाग ने रियासतों से अपील की कि वे प्रवेश-पत्र पर हस्ताक्षर करके भारतीय संघ में सम्मिलित हो जायँ। आरंभ में तीन ही विषय पर-राष्ट्र-नीति, रक्षा और यातायात के साधन—संघ को समर्पित किये जाने को थे। रियासतों ने उपयुक्त उत्तर दिया। जनवरी सन् १९४८ में, सरदार पटेल ने यह घोषणा की कि हैदराबाद और जूनागढ़ के अतिरिक्त अन्य सभी रियासतें जिनकी सीमाएँ भारत की सीमा से लगी थीं, भारत से संबद्ध हो गयी हैं। वर्ष का अंत होते-होते उक्त दोनों रियासतें भी, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, भारतीय संघ में सम्मिलित हो गयीं। देश के विभाजन के पश्चात्, संघ को समर्पित विषयों में, परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। नवप्राप्त स्वतंत्रता की रक्षा के लिए, यह आवश्यक था कि भारतीय संघ, ढीलाढाला न होकर दृढ़ हो। अतः रियासतों के साथ नये समझौते हुए। इनके द्वारा संघ के संबंध में रियासतों की स्थिति वैसी ही हो गयी, जैसी पूर्वकालीन ब्रिटिश भारतीय प्रांतों की।

संघ में सम्मिलित होने के पश्चात्, रियासतों की संख्या कम करने का काम आरंभ हुआ। यह तीन तरीकों से पूरा किया गया। (१) कुछ रियासतों का लगे हुए प्रांतों में विलयन कर दिया गया। (२) कुछ रियासतों के रियासती संघ बनाये गये। ये संघांतरित इकाइयों के रूप में भारतीय यूनियन में प्रविष्ट हुए। (३) कुछ रियासतें चीफ कमिश्नरों के प्रांतो की भांति, केंद्र के अधीन कर दी गयीं। इनके अतिरिक्त तीन रियासतें, जो पहले से ही बहुत बड़ी थीं—हैदराबाद, मैसूर और जम्मू और काश्मीर—स्वतंत्र इकाइयों की भाँति भारतीय संघ का अंग मानी गयीं।

रियासतों के उक्त एकीकरण एवं विलयन का प्रभाव उनके नरेशों तथा प्रजा दोनों पर पड़ा है। नरेशों के आनुवंशिक शासकीय अधिकारों तथा उनकी निरंकुशता का अंत हो गया है। कुछ नरेश (हैदराबाद और मैसूर के) राष्ट्रपति की अनुमति से, अपने राज्यों के राजप्रमुख मान लिये गये हैं। जम्मू और काश्मीर के नरेश को, राष्ट्रपति ने "सदरे रियासत" स्वीकार कर लिया है। रियासती संघो के राजप्रमुखों की नियुक्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार राज्यपालों की। उनकी संवैधानिक स्थिति भी राज्यपालों की सी है। वे अपने अपने राज्यों के संवैधानिक सर्वोच्च अधिकारी हैं, निरंकुश शासक नहीं। रियासतों का शासन, संविधान के अंतर्गत, लोकतंत्रात्मक उत्तरदायी सरकार के सिद्धांतों के अनुसार हो रहा है। वहाँ पर उसी प्रकार की मंत्रि-परिषदें

काम कर रही हैं जिस प्रकार की अ वर्ग के राज्यों में। रियासती सेनाओं का भी, आवश्यक परिवर्तनों के पश्चात्, भारतीय सेना में विलयन हो गया है।

राजनीतिक एकीकरण और बिलयन का प्रभाव रियासतों की आर्थिक स्थिति पर भी पड़ा है। कहना अनुचित न होगा कि उनका भारतीय संघ के साथ आर्थिक एकीकरण हो गया है। भारतीय रियासतों को इस बात की शिकायत थी कि भारत-सरकार की आयात-कर, रेलवे आदि की आय इस प्रकार की थी जिसका कुछ अंश उन्हें भी मिलना चाहिये। अतः आर्थिक संबंधों की जाँच के लिए भारत-सरकार ने २२ अक्टूबर सन् १९४८ को श्री टी० कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में इंडियन स्टेट्स फाइनेंसेज इनक्वायरी कमेटी (Indian States Finances Inquiry Committee) की नियुक्ति की। उसकी निम्न-लिखित सिफारिश उल्लेखनीय है—रियासतों का संघ के साथ आर्थिक एकीकरण होना चाहिये। यह बात संविधान में निहित है। अतः संघ-सरकार को रियासतों के प्रति उन्हीं कर्तव्यों का पालन तथा अधिकारों का उपयोग करना चाहिये जिनका प्रांतों के प्रति। प्रांतों की ही भांति उसे रियासतों में अपने ही कार्यपालिका-संगठनों द्वारा काम करना चाहिये तथा समानता के आधार पर उन्हें आर्थिक सहायता देनी चाहिये। संघ को, प्रांतों के साथ समानता के आधार पर रियासतों को अपनी सेवाओं का लाभ पहुँचाना चाहिये और उन्हें संघीय करों के भाग, सहायक अनुदान तथा दूसरी प्रकार की आर्थिक एवं विशेषज्ञों की सहायता देनी चाहिये। इस आधारभूत सिद्धांत के आधार पर कमेटी ने इस बात पर जोर दिया कि रियासतों को आयात-कर लगाने का अधिकार न होना चाहिये; वहाँ पर आय-कर उसी दर से लगना चाहिये जिस दर से प्रांतों में; रेल, डाकखाने, मुद्रा, टकसाल, ऑडिट और ब्रॉडकास्टिंग पर रियासती सरकारों का आधिपत्य न होना चाहिये; जिन रियासतों को इनके कारण आर्थिक क्षति पहुँची हो उन्हें आर्थिक सहायता देनी चाहिये। भारत-सरकार ने कमेटी की उक्त सिफारिशों को मानकर भारतीय रियासतों का संघ के साथ आर्थिक एकीकरण कर दिया है।

एकीकरण एवं विलयन के पूर्व नरेशों को अपने निजी व्यय की समस्त रकम रियासती कोष से मिलती थी। कुछ रियासतें तो ऐसी थीं जिनमें राजा और राज्य की आय में विशेष अंतर न था। अपने सुख-भोग के लिए नरेश रियासती कोष से आवश्यकतानुकूल धन ले लिया करते थे। विलयन के पूर्व इस बात पर भी विचार किया गया। नरेशों के लिए, निर्धारित सिद्धांतों के अनुसार, एक रकम निश्चित कर दी गयी है जो उन्हें प्रतिवर्ष मिलती रहेगी। जिन

रियासतों की वार्षिक आय एक लाख रुपया या इससे कम है उन्हें आय का १५ प्रतिशत भाग 'प्रिवीपर्स' के रूप में दिया गया है, एक लाख से पांच लाख रुपया आय वाली रियासतों के नरेशों को १० प्रतिशत और पांच लाख से दस लाख रुपया आय वाली रियासतों के नरेशों को ७½ प्रतिशत। किसी नरेश को १० दस लाख रुपया सालाना से अधिक न मिलेगा, किंतु हैदराबाद, बड़ौदा, मैसूर, जयपुर, ट्रावनकोर, बीकानेर, पटियाला, जोधपुर तथा इंदौर के नरेशों को विशेष व्यवस्था के अनुसार अधिक धन-राशि मिलेगी। नरेशों की निजी संपत्ति के विषय में भी विशिष्ट नियम बनाये गये हैं पर वे अभी तक कार्यान्वित नहीं हो पाये हैं। कुछ लोग नरेशों की उपरिवर्णित प्रिवीपर्स के विरोधी हैं। भारत सरकार अभी तक अपने पूर्व निश्चय पर दृढ़ है। किंतु यदा-कदा इस बात पर जोर दिया जाने लगा है कि नरेश स्वतः अपनी 'प्रिवीपर्स' में कमी कर दें।

विरोधी दल की समस्या—भारत के डोमोनियन संविधान में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था थी और गणतंत्रात्मक संविधान में भी उसी प्रकार की सरकार की व्यवस्था की गयी है। उत्तरदायी सरकार की सफलता के लिए राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। बहुसंख्यक दल सरकारी दल हो जाता है और अल्पसंख्यक दल विरोधी दल। अल्पसंख्यक दल सरकारी कामों की आलोचना करता तथा उसे अपने कामों में सतर्क रखता है। इंगलैंड में तो विरोधी दल के नेता को सरकारी वेतन मिलता है। विरोधी दल के अभाव या उसकी अतिशय दुर्बलता में सरकारी दल मनमानी करने लगता है। भारत की दशा आजकल न्यूनाधिक इसी प्रकार की है। स्वतंत्र भारत में विरोधी दलों का अस्तित्व ही नहीं है। भारतीय संसद में कांग्रेस का अकाट्य बहुमत है और यद्यपि देश में कांग्रेस पार्टी के विरोधियों की संख्या कम नहीं है, तो भी संगठित विपक्षी दल की अनुपस्थिति में, उनके वोट विपक्षी अभ्यर्थियों में केंद्रित नहीं किये जा सकते। देश की उक्त अवस्था उत्तरदायी सरकार के अनुकूल नहीं है। किंतु स्थिति निराशाजनक भी नहीं है। सरकार की गलतियों के कारण विरोधी दल को प्रोत्साहन मिलता है। भारत की मौजूदा सरकार ऐसी गलतियों से मुक्त नहीं है। अतः यह आशा निर्मूल नहीं कि निकट भविष्य में भारत में एक प्रभावशाली विरोधी दल बन जायगा।

कांग्रेस की स्थिति में परिवर्तन—स्वतंत्रता के पश्चात् कांग्रेस की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये हैं। सन् १९४७ के पूर्व वह समस्त देश की प्रतिनिधि-संस्था थी और कांग्रेस के अध्यक्ष को राष्ट्रपति कहा जाता था।

स्वतंत्रता के पश्चात् उसमें कई विच्छेद हुए। पहले समाजवादी उससे बाहर हो गये और तत्पश्चात् मद्रास और उत्तर प्रदेश के कुछ कांग्रेसी सदस्य सरकारी बेंचों से अलग बैठने लगे। बंगाल में डा० प्रफुल्ल घोष की अध्यक्षता में 'कृषक-प्रजा-मजदूर पार्टी' का जन्म हुआ और १९५० में, कांग्रेस के अध्यक्ष के निर्वाचन के पश्चात् आचार्य कृपलानी ने 'लोकतंत्रात्मक मोर्चा' (Democratic Front) नाम के एक नये दल का निर्माण किया, जो गांधीवाद आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करना चाहता था। इन विच्छेदों के कारण कांग्रेस समस्त राष्ट्र की प्रतिनिधि-संस्था न रहकर एक दल की प्रतिनिधि-संस्था हो गयी है।

सरकार और राजनीतिक दल में क्या संबंध होना चाहिये, यह भी स्वतंत्र भारत की एक महत्वपूर्ण समस्या है। सन् १९४७ में आचार्य कृपलानी ने अध्यक्ष-पद से त्याग-पत्र देकर, देश का ध्यान इस समस्या की ओर प्रभावशाली ढंग से आकृष्ट किया था। उनके मतानुकूल यह खेद की बात थी कि कांग्रेस कार्यपालिका और केंद्रीय सरकार दोनों एक ही प्रकार के मतों को प्रगट करती थीं। उनके सम्मुख एक प्रश्न यह भी था कि कांग्रेस उस समय तक सरकार को अपना सक्रिय सहयोग कैसे दे सकती थी, जब तक उसके अध्यक्ष को उन सब महत्वपूर्ण प्रश्नों से अवगत न कराया जाय, जो राष्ट्र के सम्मुख थे। उन्हें इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर न मिला। फलस्वरूप वे कांग्रेस के अध्यक्ष के पद से अलग हो गये। सन् १९५० में यह समस्या पुनः देश के सम्मुख आयी। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का अध्यक्ष चुना जाना, कांग्रेस के अनुदार पक्ष की विजय थी। अतएव पं० जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस कार्य-समिति में सम्मिलित होने में आनाकानी की। उन्होंने सर्वप्रथम अपनी सरकार की नीति का कांग्रेस कार्य-समिति तथा कांग्रेस के खुले अधिवेशन द्वारा समर्थन करवा लिया और तब बहुत समझाने-बुझाने के पश्चात् कांग्रेस कार्य समिति में सम्मिलित हुए। कालांतर में बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन को भी अध्यक्ष पद से हटना पड़ा और पं० जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। इस प्रकार एक ही व्यक्ति देश का प्रधान मंत्री तथा कांग्रेस का अध्यक्ष होने लगा। यह व्यवस्था कब तक चलेगी यह बतलाना कठिन है। किंतु देश के बहुत से नेता इसके अनुकूल नहीं हैं।

कांग्रेस के भविष्य की समस्या भी देश के सम्मुख है। उसका ध्येय भारत को स्वतंत्र बनाना था। कुछ लोगों का विचार था कि इस ध्येय की प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस को विघटित कर देना चाहिये था। गांधीजी उसे लोक-सेवक-

मंडल में परिवर्तित कर देना चाहते थे। किंतु अन्य कांग्रेसवादी इस मत के न थे। कांग्रेस के रचनात्मक कार्य-क्रम की पूर्ति के लिए वे उसे एक ठोस संस्था में परिवर्तित कर देना चाहते थे। कालांतर में दूसरे पक्ष वालों की विजय हुई। कांग्रेस राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्था न रह कर एक राजनीतिक दल में परिवर्तित हो गयी। उसमें कई बार विच्छेद हुए और संभवतः भविष्य में भी होते रहेंगे। फल-स्वरूप भविष्य में कांग्रेस का वह मान न रह जायगा, जो उस समय तक था जब वह देश की प्रतिनिधि-संस्था के रूप में, ब्रिटिश सरकार से भारतीय स्वतंत्रता के संग्राम को लड़ रही थी।

स्वतंत्र भारत के उक्त पर्यालोचन से यह स्पष्ट है कि भारत-सरकार को गत छः बरसों में देश के आंतरिक शासन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। वह उनमें से अधिकांश को सफलतापूर्वक दूर कर सकी है और जो कुछ बची हैं उनके दूर करने के लिए प्रयत्नशील है। उसके विपक्ष में सबसे महत्वपूर्ण बात देश की आर्थिक स्थिति है। सरकार उसे भी सुधारने का प्रयत्न कर रही है।

गांधीजी की हत्या—स्वतंत्र भारत के आंतरिक शासन से, विशेषतया सांप्रदायिकता संबंधी नीति से, भारतीय जनता के कुछ लोग असंतुष्ट थे। उनका विचार था कि डोमीनियन की सरकार कांग्रेस की पूर्वकालीन नीति की भाँति मुसलमानों का तोषण और हिंदू-हितों का बलिदान कर रही थी। पाकिस्तान की सांप्रदायिक नीति के कारण उनके विचार और भी उत्तेजित हो रहे थे। वहाँ एक मुस्लिम राज्य की स्थापना की जा रही थी जो शरीयत पर अवलंबित था और जिसमें गैर-मुसलमानों का लेशमात्र भी स्थान न था। विपरीत इसके भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य (Secular State) था, जिसमें धर्म का विचार किये बिना सब व्यक्तियों को स्वतंत्रतापूर्वक रहने तथा नागरिकता के अधिकारों के भोगने का अधिकार था। फलस्वरूप जब कि पाकिस्तान के हिंदू अपना सर्वस्व छोडकर वहाँ से भाग रहे थे, भारत के मुसलमान स्वतंत्रता-पूर्वक अपना जीवन बिता रहे थे। साथ ही उन्हें इस बात की भी आशंका थी कि पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध छिड़ने पर भारत के मुसलमान पंचम वर्ग की भाँति भारत को धोखा तथा पाकिस्तान का साथ देंगे और तब मुस्लिम लीगियों का यह नारा कि "हँस कर लिया है पाकिस्तान, लड़ कर लेंगे हिंदुस्तान" चरितार्थ हो जायगा। अतएव वे चाहते थे कि डोमीनियन सरकार तथा प्रांतीय सरकारें मुसलमानों के तोषण की नीति का परित्याग कर दें और अखंड भारत में हिंदू-राज्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हों।

किंतु भारत की डोमीनियन सरकार उनकी यह बात मानने में असमर्थ थी। इसमें संदेह नहीं कि उसने हिंदू महासभा के कार्य-क्रम की उचित बातों को अपना लिया था किंतु उसके लिए यह असंभव था कि वह अपने राष्ट्रीय स्वरूप को छोडकर सांप्रदायिकता का आवरण धारण करे। अतएव सांप्रदायिकता के हिंसात्मक प्रदर्शनों को उसने कडाई के साथ दबाया। किंतु उससे भी अधिक कड़ाई गांधीजी के त्याग-बल की थी। कलकत्ते में सांप्रदायिक सद्भावना के लिए आमरण उपवास आरंभ करके उन्होंने वहाँ की परिस्थिति को विद्युत्-गति से बदल दिया था। दिल्ली में भी उनके उपवास का यही परिणाम हुआ था। धरा निर्दोषों के रक्त से रंजित होने से बचा ली गयी थी और नर-पैशाचिकता का नग्न तांडव न होने पाया था। हिंदू सांप्रदायिकतावादियों की दृष्टि में गांधीजी के उक्त उपवासों का प्रभाव हिंदू-हितों के विरुद्ध था। हिंदू जाति तथा भारत-सरकार उनके प्राणों की रक्षा के लिए दबती जाती थी और मुसलमान और पाकिस्तान अधिकाधिक उद्दंड होते जा रहे थे।

ऐसी परिस्थिति में हिंदू-राष्ट्रवादी, कांग्रेसी सरकार तथा गांधीजी की ओर से कुछ खिंचने से लगे। उनके पास कोई ऐसी शक्ति तो न थी जिसके आधार पर वे प्रत्यक्ष रूप से गांधीजी तथा डोमीनियन सरकार का विरोध कर सकते। अतएव उन्होंने एक निर्मम, निंदनीय मार्ग अपनाया। सरकार के विरुद्ध षडयंत्र रचा गया जिसका तथाकथित उद्देश्य डोमीनियन सरकार के मंत्रियों का वध था। गांधीजी की प्रार्थना-सभा में बम फेंका गया किंतु वार खाली गया। इसके दस दिन पश्चात् नाथूराम विनायक गोडसे नामक एक व्यक्ति ने ३० जनवरी सन् १९४८ को लगभग दो गज के फॉसले से, प्रार्थना-सभा में जाते हुए गांधीजी पर, तीन बार गोली चलायी। "बापू" संसार से उठ गये और दूसरे दिन उनका नश्वर शरीर शीतल चंदन की लकड़ियों से जलाकर भस्म कर दिया गया। अहिंसा का पुजारी हिंसा का शिकार बना और समस्त संसार उसके वियोग से शोकातुर हो, प्रकाश के लिए भटकने लगा। भारत-माता का वह लाल उससे छिन गया जिसने अपने को अनेक बार शृंखलाबद्ध करके उसे शृंखला-मुक्त करने का मार्ग दिखलाया था।

भारतीय डोमीनियन की राजधानी में 'बापू' की हत्या के कारण, डोमीनियन सरकार की सफलताओं का रंग बहुत कुछ फीका पड़ गया। वे लोग भी, जो हत्या के पूर्व दिन तक उसकी प्रशंसा करते थे, उस दिन से उसकी आलोचना करने लगे और इस बात पर जोर देने लगे कि डोमीनियन सरकार का गृह-विभाग अपने काम में असफल सिद्ध हुआ था। कुछ तो सरकार के पद-त्याग की

भी चर्चा करने लगे और कुछ ने इस बात पर जोर दिया कि मंत्रि-मंडल में सांप्रदायिक मंत्रियों का होना ठीक न था। उनके विचार में भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई सांप्रदायिकता और पूँजीवाद के शासन के लिए नहीं लड़ी गयी थी। कालांतर में डोमीनियन सरकार की पर-राष्ट्र-नीति की आलोचना की जाने लगी और काश्मीर के प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्र-सम्मेलन के रुख के आधार पर यह कहा जाने लगा कि डोमीनियन सरकार, पर-राष्ट्र-संबंध संचालन में भी असफल सिद्ध हुई है।

'बापू' की हत्या के कारण भारत का वातावरण पूर्णतया बदल गया। जो काम वे अपने जीवन-काल में करना चाहते थे किंतु न कर सके थे, उनकी मृत्यु के पश्चात् वे सब स्वतः बड़ी शीघ्रता से होने लगे। सांप्रदायिकता का अंत सा हो गया है। नये संविधान में संयुक्त निर्वाचन की व्यवस्था की गयी है और सरकारी नौकरियों से साप्रदायिक प्रतिनिधित्व का अनुपात मिटा दिया गया है। भारत आज सचमुच एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है जिसमें सब धर्मों के अनुयायी स्वतन्त्रतापूर्वक रह तथा नागरिकता के अधिकारों का उपयोग कर सकते हैं। यही 'बापू' की हार्दिक इच्छा थी। इसी के लिए वे जीवन पर्यंत भारत-माता की सेवा में संलग्न थे।

२४

स्वतंत्रता के पश्चात्

(२) पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन

पर-राष्ट्र-नीति के मूल सिद्धांत--भारतीय डोमिनियन के निर्माण के अवसर पर, भारतीय नेताओं ने डोमिनियन सरकार की पर-राष्ट्र-नीति के संबंध में कुछ वक्तव्य निकाले थे। यदि उनका तथा उनके पश्चात् निकाले गये वक्तव्यों का हम विश्लेषण करें, तो हमें स्वतंत्र भारत की पर-राष्ट्र-नीति के निम्नलिखित आधारभूत सिद्धांत मिलते हैं—

(१) संसार के दो प्रधान गुट्टों से अपने को अलग रखना। द्वितीय महासमर के पश्चात्, संसार के विभिन्न देश दो गुट्टों में विभक्त हो गये हैं। उनमें से एक सोवियट रूस को अपना नेता समझता है और दूसरा संयुक्त-राज्य-अमरीका को। दोनों की विचारधाराओं में आधारभूत भेद हैं। भारत इन दोनों गुट्टों में से किसी का साथ नहीं देना चाहता। वह प्रत्येक प्रश्न पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार करके, स्वतंत्र निर्णय के पक्ष में है। (२) दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों को, अपने हित तथा अन्य बातों के लिए, एक दूसरे से ग्रथित करना। (३) जब कभी जिस किसी ढंग से संभव हो, संसार की शांति को बढ़ाना। (४) निर्बल राष्ट्रों का पक्ष ग्रहण करना, चाहे ऐसा करने में उसे उन राष्ट्रों की अप्रसन्नता का ही सामना क्यों न करना पड़े, जिनका उनसे स्वार्थ-साधन होता हो। (५) उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संयुक्त-राष्ट्र-संघ का अधिक से अधिक प्रयोग करना, जिनके लिए वह स्थापित किया गया है। (६) संसार के विभिन्न देशों से अंतर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित करना, जिससे भारत संसार की और संसार भारत की गतिविधि से परिचित हो जाय।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत का पर-राष्ट्र-संबंध संचालन इन्हीं आधारभूत सिद्धांतों के अनुसार हो रहा है। केवल तटस्थता शब्द की अधिक विस्तृत व्याख्या कर दी गयी है। श्री जवाहरलाल नेहरू के मतानुकूल, तटस्थता शब्द निरंतर सुप्तावस्था का द्योतक नहीं है। वह उस सकारात्मक क्रियाशीलता का परिचायक है जिसके अनुसार शांति-भंग या स्वतंत्रता के खतरे के अवसरों पर आवश्यक कार्रवाई की जा सकती है।

राजदूत और राजदूतावास—स्वतंत्र होने के पश्चात् भारत ने विभिन्न देशों के लिए अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये हैं। इनमें से कुछ को राजदूत (Ambassador), कुछ को पूर्ण अधिकारी दूत (Envoy Plenipotentiary), कुछ को हाई कमिश्नर और कुछ को कांसल-जनरल कहा जाता है। दूसरे देशों के प्रतिनिधि भारत में रहते हैं। उनके भी कई वर्ग हैं। इन राजदूतों और प्रतिनिधियों के कारण, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की प्राप्ति तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंध-संचालन में बड़ी सुविधा होती है। भारत को संसार के विभिन्न देशों में होनेवाली बातों की प्रामाणिक सूचना मिलती है और अन्य देशों को भारत में होनेवाली बातों की। राजदूत, मित्र या तटस्थ देशों में ही रहते हैं। युद्ध के दिनों में शत्रु-राज्यों से विभिन्न राज्य अपने राजदूतों को वापस बुला लेते हैं। कभी-कभी प्रामाणिक सूचना की प्राप्ति के लिए, राजदूत अपने देशों की सरकारों द्वारा अल्प काल के लिए बुलाये जाते हैं। राजदूत या प्रतिनिधियों के अतिरिक्त, प्रत्येक दूतवास में कई अन्य अधिकारी भी होते हैं। विदेशों से सांस्कृतिक संबंधों की स्थापना के लिए 'सांस्कृतिक संबंधों की भारतीय कौंसिल' (Indian Council of Cultural Relations) की स्थापना की गयी है और कभी-कभी भारतीय मंत्री तथा नेता विदेशों को इसी उद्देश्य से जाते हैं। इस संबंध में श्री जवाहरलाल नेहरू का किया गया संयुक्त-राज्य-अमरीका और कैनाडा का दौरा उल्लेखनीय है।

भारत और राष्ट्रमंडल—भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट के पूर्व भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अंग था। स्वतंत्रता ऐक्ट के पश्चात् भारत को डोमोनियन का दर्जा मिला और वह ब्रिटिश डोम नियनों के राष्ट्रमडल का सदस्य बन गया। इनका परस्पर संबंध वेस्टमिंस्टर स्टेच्यूट के अनुसार था। डोमीनियन की स्थिति में ही भारत ने संपूर्ण प्रभुता-संपन्न लोकतत्रात्मक गण-राज्य होने का निश्चय किया। फलस्वरूप संवैधानिक दृष्टि से उसका ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में रहना असंभव हो गया। राष्ट्रमंडल के सब सदस्य 'डोमीनियन' कहे जाते थे, भारत एक स्वतंत्र राज्य था। उनमें से प्रत्येक में क्राउन (Crown) के प्रतिनिधि-स्वरूप गवर्नर जनरल का अस्तित्व था, किंतु स्वतंत्र भारत में ऐसा न हो सकता था। राष्ट्रमंडल का नाम ही ब्रिटिश राष्ट्रमंडल था और भारतीय राष्ट्र ब्रिटिश राष्ट्र न था। किंतु भारत का ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से पूर्णरूपेण अलग हो जाना न तो उसके अन्य सदस्यों को पसंद था और न स्वयं भारत को। कुछ लोगों के मतानुकूल वह भारत के भी हित में न था। किंतु संपूर्ण प्रभुता-संपन्न लोकतंत्रात्मक गण-राज्य को राष्ट्रमंडल में रखने की समस्या भी बड़ी कठिन थी।

इसके हल के लिए अप्रैल सन् १९४९ में राष्ट्रमंडल के प्रधान मंत्रियों का एक सम्मेलन लंदन में हुआ। उसमें यह निश्चय किया गया कि ब्रिटिश राष्ट्रमंडल को भविष्य में केवल राष्ट्र-मंडल कहा जायगा। डोमीनियन शब्द को निकाल दिया गया और क्राउन के स्थान पर राजा (king) शब्द स्वीकार किया गया। भारत ने स्वतंत्र सहयोग के लिए इंगलैंड के राजा की आवश्यकता को स्वीकार किया। समझौते की उक्त भावना के कारण भारत आज भी राष्ट्रमंडल का सदस्य बना हुआ है और उसे वे सब अधिकार, रियायतें और उन्मुक्तियाँ प्राप्त हैं, जो डोमोनियन की स्थिति में प्राप्त थीं।

स्वतंत्र भारत के उक्त निर्णय से कुछ लोग संतुष्ट नहीं हैं। सैद्धांतिक दृष्टि से इस बात पर जोर दिया जाता है कि किस प्रकार एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न देश, दूसरे देश के राजा की आवश्यकता के बंधन को स्वीकार करके स्वतंत्र सहयोग के आधार पर राष्ट्रमंडल में रह सकता है। कुछ लोग कांग्रेस की पूर्वकालीन घोषणाओं के आधार पर, राष्ट्रमंडल की सदस्यता को अनुचित समझते हैं और कुछ यह कहते हैं कि नये संबंध के कारण, भारत ने तटस्थता की नीति का परित्याग करके, एंग्लो-अमरीकन गुट्ट को परोक्ष रूप से स्वीकार कर लिया है। मौजूदा सरकार के मतानुकूल ये आलोचनाएँ व्यर्थ हैं। नये संबंध द्वारा भारत-सरकार ने कोई ऐसा काम नहीं किया है, जो उसकी पूर्ण स्वतंत्रता तथा पर-राष्ट्र-संबंध में तटस्थता की नीति के अनुकूल न हो।

भारत और दक्षिणी-पूर्वी एशिया—स्वतंत्रता के गत चार वर्षों में भारत को दक्षिणी पूर्वी एशिया की राजनीति में काफी दिलचस्पी लेनी पड़ी है। कोरिया से इंडोनेशिया तक का समस्त प्रदेश उथल-पुथल की अवस्था में है। दो प्रतिद्वंद्वी अपनी विचारधाराओं एवं कार्य-पद्धतियों के कारण, इसकी अवस्था को और भी अधिक बिगाड़ने में लगे हैं। एंग्लो-अमरीकन गुट्ट के देश इसे अस्त-व्यस्त अवस्था में इस लिए रखना चाहते हैं कि युरुप के विभिन्न देश, अपनी मौजूदा स्थिति को सुधार कर, इसे पुनः अपने आधिपत्य में रखने के योग्य बन जायँ। साम्यवादियों का प्रभाव भी नित्यप्रति बढ़ता जा रहा है पर संभवतः इतना अधिक नहीं, जितना एंग्लो-अमरीकन गुट्ट के लोग कहते हैं। इन दोनों प्रति-द्वंद्वियों के बीच में इस प्रदेश के विभिन्न देशों के देशभक्त हैं, जो अपने देशों को साम्राज्यवादी शक्तियों के पंजे से छुड़ा कर, संसार के अन्य स्वतंत्र राष्ट्रों की भाँति, मर्यादापूर्वक रखना चाहते हैं।

निर्बल जातियों का उभारना, स्वतंत्र भारत की पर-राष्ट्र-नीति का एक मूल मंत्र है। दक्षिणी-पूर्वी एशिया में उसने इसी नीति को कार्यान्वित करने का प्रयत्न

किया है। जब हॉलैंड ने इंडोनेशिया की नवनिर्मित रिपब्लिक पर नृशंस अत्याचार आरंभ किये, भारत ने इस समस्या पर विचार करने के लिए एशियायी देशों के एक सम्मेलन को आमंत्रित किया। इसके पूर्व सन् १९४७ में इस प्रकार का एक गैर-सरकारी सम्मेलन हो चुका था। २० जनवरी सन् १९४९ से नये सम्मेलन के अधिवेशन दिल्ली में आरंभ हुए और इसमें एशिया के १७ विभिन्न देशों ने, जो संयुक्त-राष्ट्र-संघ के भी सदस्य थे, भाग लिया। भारत के कहने पर, विभिन्न एशियायी देशों ने, हॉलैंड के हवाई जहाजों को अपने राज्यक्षेत्र के ऊपर से जाने को मना कर दिया। सम्मेलन ने इंडोनेशिया के संबंध में तीन प्रस्ताव पास किये। पहले में संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सुरक्षा-परिषद से यह सिफारिश की गयी थी कि १ जनवरी सन् १९५० तक इंडोनेशिया की प्रभुता उसे हस्तांतरित कर दी जाय। दूसरे में सम्मिलित विभिन्न राज्यों से यह कहा गया था कि वे संयुक्त-राष्ट्र-संघ में अपने प्रतिनिधियों तथा राजदूतों को इस संबंध में एक दूसरे के साथ परामर्श करने का आदेश दें। तीसरे में उस व्यवस्था पर जोर दिया गया था जिसके अनुसार सदस्य-राज्य एक दूसरे का परामर्श लें तथा एक दूसरे के साथ सहयोग कर सकें। भारत द्वारा निर्दिष्ट उद्देश्य से एशियायी सम्मेलन के बुलाये जाने के कारण, कुछ देशों में सनसनी फैली। उसकी आलोचना यह कह कर की गयी वह एशियायी देशों का नेतृत्व करना चाहता था और एक पृथक् एशियायी गुट्ट के बनाने के लिए प्रयत्नशील था। इसमें कोई आश्चर्य की बात न थी। स्वार्थपरायण देश साधारणतया इस प्रकार की आलोचना करते हैं। सम्मेलन के आमंत्रित करने में, भारत न तो एक पृथक् गुट्ट के निर्माण का दोषी था और न एशिया के नेतृत्व ग्रहण करने का। पर सयुक्त-राष्ट्र-संघ के अंतर्गत वह यह अवश्य चाहता था कि अमरीकन पूँजी की सहायता से युरुप के देश, एशियाई देशों के न्यायोचित राष्ट्रीय उत्थान में अड़चन न डाल सकें। कालांतर में इंडोनेशिया के गणराज्य की स्थापना हुई। २३ मार्च सन् १९५१ को भारत और इंडोनेशिया में मित्रता की संधि की गयी जो अब तक चालू है।

इंडो-चाइना के संबंध में भारत का दृष्टिकोण न्यूनाधिक इसी प्रकार का [illegible] यह प्रदेश फ्रांस के कानूनी आधिपत्य में है, पर यहाँ के निवासियों [illegible] फ्रांस का विरोध करके, वियतमिन्ह (Viet Minh) नाम की [illegible] निर्माण किया है। फ्रांस ने, इसे दबाने के लिए, कंबोडिया के [illegible] बाओ दायी की अध्यक्षता में अपनी कठपुतली सरकार की [illegible] की [illegible] इंडो-चाइना का लगभग नौ-दशांश वियतमिन्ह रिपब्लिक [illegible] अधीन है [illegible]

एक दशांश बाओ दायी के अधीन। साम्यवादी चीन ने वियतमिन्ह रिपब्लिक को अभिज्ञात कर लिया है और भारत ने भी यही किया है। श्री जवाहरलाल नेहरू के मतानुकूल भारत उस सरकार के अभिज्ञात करने मे असमर्थ था, जो सैनिक बल पर अवलंबित थी और जिसकी रक्षा और पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन का उत्तरदायित्व एक गैर-एशियायी शक्ति के अधीन था।

दक्षिणी-पूर्वी एशिया की स्थिति पर, १० जनवरी सन् १९५० को बुलाये गये कोलंबो-सम्मेलन में भी, विचार किया गया। इसमें राष्ट्रमंडल के वैदेशिक मंत्री सम्मिलित हुए थे। सम्मेलन के कार्यक्रम में, दक्षिणी-पूर्वी एशिया के संबंध में निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण बातें सम्मिलित की गयी थीं—(१) प्रदेश का आर्थिक सुधार, (२) साम्यवादी प्रचार रोकने की समस्या, (३) प्रदेश की रक्षा की समस्या। सम्मेलन के मतानुकूल दूसरी समस्या के हल के लिए यह आवश्यक था कि इस प्रदेश का आर्थिक विकास किया जाय। अतएव राष्ट्र-मंडल के विभिन्न सदस्यों ने, इस काम की पूर्ति के लिए, इस प्रदेश मे अपने हित के अनुपातानुसार सहायता देने का वचन दिया है। रक्षा के लिए राष्ट्र-मंडल के कुछ सदस्य अटलांटिक-पैक्ट की भाँति एक पैसीफिक-पैक्ट के पक्ष में थे। किंतु श्री जवाहरलाल नेहरू इसके पक्ष में न थे। फलस्वरूप ऐसे पैक्ट का निर्माण न हो सका।

भारत और चीन—गत ३५ वर्ष से चीन की अवस्था असंतोषप्रद रही है। इस काल के आरंभ में चीन और जापान में युद्ध चल रहा था और च्यांग-काई-शेक के नेतृत्व में चीन की राष्ट्रीय सरकार जापान से युद्ध करने में संलग्न थी। दूसरे महासमर के काल में चीन में साम्यवाद का प्रसार हुआ और जापान की पराजय के पश्चात् उसके आंदोलन ने इतना जोर पकड़ा कि आजकल न्यूनाधिक समस्त चीन साम्यवादी कहा जा सकता है। चीन की राष्ट्रीय सरकार ने इसका भी विरोध किया, किंतु उसे किसी प्रकार की सफलता न मिली। अंत में वह फारमूसा के टापू को चली गयी है। फल-स्वरूप लाल चीन और राष्ट्रीय चीन का गृह-युद्ध एक प्रकार से समाप्त-सा हो गया है।

चीन के संबंध में भारत को एक नाजुक परिस्थिति का सामना करना पड़ा। साम्यवादी प्रसार के पूर्व, भारत चीन की राष्ट्रीय सरकार के अनुकूल था। चीन की पीपुल्स रिपब्लिक की घोषणा के पश्चात्, उसके सम्मुख लाल चीन की सरकार के अभिज्ञात करने का प्रश्न आया। आरंभ में इंगलैंड और अमरीका लाल चीन के विरोधी थे। भारत राष्ट्र-मंडल का सदस्य था और कुछ लोगों का अनुमान था कि वह इस बात में इगलैंड का साथ देगा। ऐसा

करने से वह निश्चित रूप से एंग्लो-अमरीकन गुट्ट के अंतर्गत आ जाता। लाल चीन के अभिज्ञात करने से इंगलैंड और अमरीका के विरोध की आशंका थी। किंतु भारत ने इस समस्या के हल में किसी भी गुट्ट का साथ न दिया। स्वतंत्र निर्णय के आधार पर उसने लाल चीन की सरकार को अभिज्ञात कर लिया। कालांतर में आर्थिक जोखिम के कारण, इंगलैंड ने भी लाल चीन की सरकार को अभिज्ञात कर लिया है। भारत इस बात के लिए भी प्रयत्नशील है कि चीन की मौजूदा सरकार को संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सुरक्षा-समिति में स्थायी स्थान मिल जाय।

भारत और कोरिया—दूसरे महासमर के पूर्व कोरिया जापान के अधीन था। वहाँ के निवासी इसे नापसंद करते थे और स्वतंत्र कोरिया के निर्माण के पक्ष में थे। फलस्वरूप महासमर के काल में ही याल्टा (Yalta) और पोट्सडैम (Potsdam) के समझौतों के अनुसार, मित्र-राष्ट्रों ने स्वतंत्र कोरिया के निर्माण का निश्चय किया। मई सन् १९४६ में जापान के आत्म-समर्पण के पश्चात्, ३८ वें अक्षांश द्वारा कोरिया के दो भाग कर दिये गये। इस प्रकार उत्तरी कोरिया सोवियट रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया और दक्षिणी कोरिया अमरीका के प्रभाव-क्षेत्र में। आरंभ ही से कोरिया के उक्त दोनों भागों का संबंध तनातनी का था। उत्तरी भाग ने, समस्त देश के लिए, सोवियट रूस के ढंग का साम्यवादी संविधान बनाया और इस बात पर जोर दिया कि विदेशी सेनाएँ हटा ली जायँ। दक्षिणी भाग ने भी अपना लोक-तंत्रात्मक संविधान बनाया। उसकी राष्ट्रीय असेंबली ने, प्रस्ताव पास करके संयुक्त-राष्ट्र-संघ से कहा कि अमरीकी सेनाएँ दक्षिणी कोरिया में बनी रहें। रूस और उसके साथी देशों ने उत्तरी कोरिया की सरकार को अभिज्ञात किया और ब्रिटेन और अमरीका ने दक्षिणी कोरिया की सरकार को। मार्च सन् १९४९ को उत्तरी कोरिया और रूस की सरकारो में एक आर्थिक और सांस्कृतिक समझौता हुआ जिसके कारण उत्तरी कोरिया की आर्थिक स्थिति दक्षिणी कोरिया की अपेक्षा श्रेष्ठतर हो गयी और वह समस्त देश की एकता के लिए प्रयत्नशील हुआ। अगस्त सन् १९४९ में उत्तरी कोरिया की सेनाओं ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण किया। मामला संयुक्त-राष्ट्र-संघ के विचाराधीन किया गया। उसने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित किया और उसके सदस्यो ने, संयुक्त-राज्य-अमरीका के नेतृत्व में, सैनिक बल द्वारा, उत्तरी कोरिया की पराजय का निश्चय किया।

कोरिया की उक्त स्थिति के कारण, भारत को एक कठिन समस्या का

सामना करना पड़ा। सुरक्षा-परिषद् के निर्णय के अनुसार उसने यह तो स्वीकार कर लिया कि उत्तरी कोरिया आक्रमण का दोषी है, पर परंपरागत शांति-प्रियता के कारण, वह इस लिए तैयार न था कि अन्य देशों की भाँति भारतीय सेनाएँ भी उत्तरी कोरिया के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हों। उसके उक्त निर्णय की संयुक्त-राज्य-अमरीका और ब्रिटेन में कड़ी आलोचना हुई, पर वह अपने निश्चय से लेशमात्र भी न डिगा। उत्तरी कोरिया के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने से वह प्रगट रूप से एंग्लो-अमरीकन गुट्ट में आ जाता। ऐसा करना उसकी पर-राष्ट्र-नीति के आधारभूत सिद्धांतों के विरुद्ध था। कालांतर में चीन की साम्यवादी सरकार ने खुल्लमखुल्ला उत्तरी कोरिया की सहायता करना आरंभ कर दिया। फलस्वरूप यह लड़ाई, जो उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में, गृह-युद्ध के रूप में आरंभ हुई थी, संसार-व्यापी महासमर में परिवर्तित होने की दिशा में अग्रसर दिखलायी पड़ने लगी।

इस गंभीर परिस्थिति को रोकने के लिए, भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने, शांति-वाहक बनने की कोशिश की। समस्त संसार को विदित था कि कोरिया की लड़ाई उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में नहीं, वरन् सोवियट रूस और संयुक्त-राज्य-अमरीका में थी। साम्यवादी चीन निडर होकर, उत्तरी कोरिया की सहायता इस लिए कर रहा था कि संयुक्त-राज्य-अमरीका की सरकार ने उसे अब तक अभिज्ञात न किया था। फलस्वरूप १२ जुलाई सन् १९५० को श्रीजवाहरलाल नेहरू ने मार्शल स्टैलिन और सयुक्त-राज्य-अमरीका के गृह-सचिव डीन एचेसन दोनों के पास निम्नलिखित आशय का एक संदेश भेजा—भारत, कोरिया की लड़ाई को सीमित करने तथा उसके शांतिमय निर्णय के पक्ष में है। इस उद्देश्य से वह चाहता है कि सोवियट रूस के प्रतिनिधि सुरक्षा-परिषद में पुनः सम्मिलित हों, साम्यवादी चीन को उसमें एक स्थान मिले और संयुक्त-राज्य अमरीका, सोवियट रूस और साम्यवादी चीन की सरकारें, अन्य शांतिप्रिय सरकारों के सहयोग से, कोरिया की लड़ाई बंद करने तथा उसकी समस्या को स्थायी रूप से हल करने के लिए प्रयत्नशील हों। मार्शल स्टैलिन ने उक्त संदेश से सहमति प्रगट की। "मै शांति स्थापित करनेवाले आपके प्रयत्न का स्वागत करता हूँ। मैं आपके इस विचार से पूर्णतया सहमत हूँ कि सुरक्षा-परिषद् में कोरिया में शांति की समस्या हल की जाय और उसके विचारों में साम्यवादी चीन के सहित पाँचों महाशक्तियाँ भाग लें। शीघ्र निर्णय के लिए मैं यह भी उपयुक्त समझता हूँ कि सुरक्षा-परिषद कोरिया के निवासियों के प्रतिनिधियों को भी सुने।" डीन एचेसन का उत्तर इससे भिन्न था। संयुक्त-राष्ट्र-

संघ के उद्देश्यों की प्रशंसा करने पश्चात्, उसमें साम्यवादी चीन को सुरक्षा-परिषद के सदस्य बनाने के संबंध में निम्नलिखित विचार प्रगट किये गये थे—"हमारे विचार में चीन की प्रतिद्वंद्वी सरकारों में से सुरक्षा-परिषद का स्थान किसे मिले, इसका निर्णय संयुक्त-राष्ट्र-संघ ही कर सकता है। इस समय इस संबंध में, सदस्य-राष्ट्रों में, मतभेद है। मैं जानता हूँ कि आप इस बात में मुझसे सहमत होंगे कि इसका निर्णय गैर-कानूनी आक्रमण या किसी अन्य ऐसे आचरण के अनुसार न होना चाहिये जो संयुक्त-राष्ट्र-संघ को धमका या दबा कर उससे किसी काम को कराना चाहता हो।" अमरीका के गृह-सचिव का उक्त उत्तर शीघ्र हल के अनुकूल न था।

किंतु भारत शांति-स्थापना के प्रयत्न में दृढ़ रहा। उसने इस बात का प्रयत्न किया कि संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सेनाएँ ३८ वीं अक्षांश-रेखा को पार करके आगे न बढ़ें। पार करने में युद्ध के प्रसार की आशंका थी। उसने इस बात का भी प्रयत्न किया कि लाल चीन को आक्रमणकारी देश न घोषित किया जाय। इसके ये दोनों प्रयत्न भी असफल रहे। सन् १९५२ में भारत के प्रतिनिधि ने, संयुक्त-राष्ट्र-संघ की असेंबली में, युद्ध-स्थगन एवं युद्ध-बंदियों के विनिमय के संबंध में एक प्रस्ताव रखा जो ५ के विरुद्ध ५३ मतों से स्वीकार किया गया। किंतु लालचीन और रूस ने उसे अस्वीकार कर दिया। यह असफलता अल्पकालीन थी। ८ जून सन् १९५३ को उत्तरी और दक्षिणी कोरिया की कमानों में एक समझौता हुआ जिसकी शर्तें न्यूनाधिक वे ही थीं जो कोरिया संबंधी भारतीय प्रस्ताव की। तीन बरस के विनाशकारी युद्ध के पश्चात् दोनों देशों में विराम-संधि हो गयी है और भारत की अध्यक्षता में युद्ध-बंदियों का विनिमय हो रहा है।

भारत और जापान—द्वितीय महासमर के पूर्व जापान एशिया का सबसे अधिक उन्नतिशील देश था। भारत के राजनीतिज्ञ उसकी उन्नति के लिए उसकी प्रशंसा तथा चीन में उसकी साम्राज्यवादी नीति के लिए उसकी निंदा करते थे। द्वितीय महासमर में, आत्म-समर्पण के पश्चात् वह एक प्रकार से संयुक्त-राज्य-अमरीका के अधीन कर दिया गया। जनवरी सन् १९५० में कोलंबो के सम्मेलन में इस प्रश्न पर भी विचार किया गया। सम्मेलन के सदस्य इस बात पर सहमत थे कि जापान के साथ शीघ्रता से संधि की जाय, पर संयुक्त-राज्य-अमरीका के हितों के कारण, उसने इस संबंध में कुछ भी निश्चय नहीं किया कि संधि किस प्रकार की हो। भारत कोलंबो सम्मेलन के उक्त निर्णय से सहमत था। वह एशियायी देशों को युरप और अमरीका के आधिपत्य से मुक्त करने की नीति को स्वीकार कर चुका था। कालांतर में दिसंबर सन् १९५१ में जापान के साथ

संधि की गयी। इसके लिए सैनफ्रैंसिस्को में एक सम्मेलन किया गया। भारत उस सम्मेलन में सम्मिलित न हुआ। ९ जून सन् १९५२ में भारत और जापान में पृथक् सधि हुई।

भारत और दक्षिणी अफ्रीका—विगत कुछ बरसों से भारत और दक्षिणी अफ्रीका का संबंध संतोषप्रद नहीं रहा है। इसका मुख्य कारण दक्षिणी अफ्रीका द्वारा प्रवासी भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार है। उन्नींसवीं शताब्दी के मध्य में, बहुत से भारतीय मजदूर, दक्षिणी अफ्रीका की सरकार की माँग पर, उस देश को गये थे। उनके परिश्रम के कारण वहाँ का आर्थिक विकास हुआ। मज़दूरों के साथ-साथ व्यापारी भी गये और इस प्रकार अनेक भारतीय, दक्षिणी अफ्रीका के अधिवासी बन गये। कालांतर में वहाँ के युरोपीय निवासी उनसे इसलिए भयभीत हुए कि उनके कारण उनके जीवन का स्तर गिर जायगा। भारतीय मितव्ययी थे और परिश्रम अधिक करते थे। अपने इन गुणों के कारण वे अवाछनीय समझे गये और उनके साथ ऐसा व्यवहार किया जाने लगा कि वे दक्षिणी अफ्रीका को छोड़कर अपने देश को चले जायँ। सरकार ने आर्थिक सहायता देकर भी उन्हें दक्षिणी अफ्रीका से चले जाने की नीति अपनायी। पर उसे विशेष सफलता न मिली।

स्वतंत्रता के पूर्व, ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के सदस्य होने के नाते, भारत-सरकार ने दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयों की स्थिति सुधारने के कई प्रयत्न किये थे। इसके पूर्व महात्मा गांधी ने इसी उद्देश्य से सत्याग्रह आंदोलन चलाया था। पर छोटी-मोटी बातों के अतिरिक्त, भारतीयों की स्थिति में कोई ऐसा परिवर्तन न हो सका था, जो उनकी स्थिति को संतोष-प्रद बना सकता। युनाइटेड पार्टी के नेता फील्ड-मार्शल स्मट्स इस बात पर दृढ़ थे कि दक्षिणी अफ्रीका में रंगीन जातियों को श्वेत जातियों के समकक्ष स्थान नहीं मिल सकता। वे यह भी चाहते थे कि जातीय भेद-भाव के आधार पर भारतीयों के रहने के क्षेत्र निर्धारित कर दिये जायँ। भारत-सरकार तथा दक्षिणी अफ्रीका के अधिवासी भारतीय, दक्षिणी अफ्रीका की सरकार की उक्त नीति से सहमत न थे।

दूसरे महासमर के अंत के पश्चात् नव-निर्मित संयुक्त-राष्ट्र-संघ ने मनुष्य के मानवीय अधिकारों की घोषणा की। इधर भारत भी स्वतंत्र हो गया। फलस्वरूप भारत-सरकार ने, समस्त प्रवासी भारतीयों और विशेष कर दक्षिणी अफ्रीका के अधिवासी भारतीयों की स्थिति के सुधारने के गुरुतर काम को अपने हाथ में लिया। दक्षिणी अफ्रीका के विरुद्ध संयुक्त-राष्ट्र-संघ में शिकायत की गयी। उसके आरोपों की सत्यता तो स्वीकार कर ली गयी, पर दक्षिणी अफ्रीका ने संयुक्त राष्ट्र-

संघ के निदेशों को मानने से इनकार कर दिया। अंत में साधारण असेंबली ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा भारत, पाकिस्तान और दक्षिणी अफ्रीका को यह परामर्श दिया कि वे इस मामले को संयुक्त-राष्ट्र-संघ के चार्टर तथा मानवीय अधिकारों की घोषणा के अंतर्गत एक गोलमेज परिषद् में सुलझा ले।

साधारण असेंबली के उक्त निर्णय के होते हुए भी दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने जातीय भेदभाव की नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया। फील्ड मार्शल स्मट्स और उनकी पार्टी के स्थान पर, सन् १९४८ के निर्वाचन में, डाक्टर मेलन (Malan) और उनकी नैशनलिस्ट पार्टी की सरकार बनी। जातीय भेद-भाव की नीति में इसका कार्यक्रम युनाइटेड पार्टी से भी अधिक उग्र है। डाक्टर मेलन के मतानुकूल "अब यह समय आ गया है कि दक्षिणी अफ्रीका के निवासियों की समस्या उनके वर्ण के आधार पर हल कर ली जाय।" फलस्वरूप दक्षिणी अफ्रीका की पार्लमेंट ने ग्रुप एरियास ऐक्ट पास किया। उसके अनुसार भारतीयों, अफ्रीकी जातियों तथा युरोपियनों के ऐसे क्षेत्र निर्धारित कर दिये गये हैं जिनका परस्पर किसी प्रकार का सबंध नहीं है। दक्षिणी अफ्रीका की सरकार की उक्त नीति के कारण, जो मानवीय अधिकारों के सिद्धांत के विरुद्ध है, भारत-सरकार ने संयुक्त-राष्ट्र-संघ द्वारा प्रस्तावित गोलमेज-परिषद् के विचारों में भाग लेने से इनकार कर दिया। फलस्वरूप यह समस्या अभी तक हल नहीं हो पायी है। किंतु यह बात निर्विवाद है कि संयुक्त-राष्ट्र संघ के निर्णयानुसार, इस समस्या के संबंध में भारत की नैतिक विजय हो चुकी है। दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के आंदोलन भी चल रहे हैं। संभवतः उन्हीं के त्याग-बल से इस समस्या का अंतिम हल हो सकेगा।

भारत में विदेशी क्षेत्र—स्वतंत्र होने के समय भारत में कुछ विदेशी क्षेत्र थे। पांडीचेरी, कारीकल, यनाम, माही और चंद्रनगर नाम के नगर फ्रांस के अधिकार में थे और गोआ, डमन और ड्यू के नगर पुर्तगाल के के अधिकार में। स्वतंत्र भारत की सरकार, विदेशों के इन अधिकारों को अनुचित समझती थी। अतएव उनके भारत में मिलाने की समस्या पर विचार किया जाने लगा। फ्रांस की सरकार ने इस सिद्धांत को स्वीकार कर लिया है कि यदि जनादेश (Referendum) भारत से मिलने के पक्ष में हुआ तो ये क्षेत्र भारत-सरकार को हस्तांतरित कर दिये जायँगे। चंद्रनगर में इस प्रकार का मत-संग्रह कर लिया गया है और उस नगर का वास्तविक शासन भारत-सरकार के अधीन हो गया है। निकट भविष्य में अन्य नगरों के भाग्य का निर्णय इसी आधार पर किया जायगा। पुर्तगाल को भी इसी नीति के

अनुसार अपने क्षेत्रों को भारत-सरकार के अधीन करना पड़ेगा। इस प्रकार निकट भविष्य में भारत में एक भी ऐसा क्षेत्र न रह जायगा जो किसी विदेशी सरकार के अधीन हो।

भारत और तिब्बत—भारत के उत्तर में हिमालय के उस पार तिब्बत का पहाडी देश है। इसके अधिकांश निवासी बौद्ध-धर्म को मानते हैं। अतिकाल से देश में दो सरकारो का अस्तित्व रहा है; प्रथम पंचन लामा की सरकार और दूसरी डलाई लामा की सरकार। पंचन लामा बुद्ध अमीतव के अवतार समझे जाते हैं और डलाई लामा बोधिसत्व के। आध्यात्मिक दृष्टि से पंचन लामा का स्थान डलाई लामा की अपेक्षा उच्चतर है, पर सांसारिक दृष्टि से डलाई लामा का स्थान उच्चतर समझा जाता है; विशेषतया इस लिए कि १७ वीं शताब्दी में एक मंगोल राजा ने उन्हें तिब्बत का गवर्नर नियुक्त किया था। देश के उक्त राजनीतिक अनैक्य के कारण, विदेशियो को उसके मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला है। साम्यवादी चीन ने भी इसी आधार पर उस पर आक्रमण किया है।

साम्यवादी चीन के आक्रमण तथा भारत पर उसकी प्रतिक्रिया का विवरण देने के पूर्व हमें यह जान लेना चाहिये कि व्यवहार में तिब्बत का चीन के साथ क्या संबंध रहा है। कानूनी दृष्टि से तिब्बत चीन के आधिपत्य को कुछ अंश तक मानता आया है। पर वास्तव में वह न्यूनाधिक स्वतंत्र रहा है। पंचन लामा का पक्ष लेकर भूतकाल में चीन ने इस बात का प्रयत्न अवश्य किया है कि देश पर उसका प्रभाव बना रहे और उसकी राजनीतिक एकता न स्थापित होने पावे। पर डलाई लामा की सरकार ने चीन के आधिपत्य का विरोध किया है। अंत में पंचन लामा और डलाई लामा का विरोध इतना अधिक बढ़ा कि पंचन लामा को देश छोड़कर भागना पड़ा। सन् १९३७ में उन्होंने तिब्बत में लौटने की कोशिश की, पर उनकी हार हुई और कुछ दिनों के पश्चात् उनका स्वर्गवास हो गया।

तिब्बत में प्रचलित विचार-धारा के अनुसार पंचन लामा और डलाई लामा की मृत्यु के पश्चात् उनका पुनर्जन्म होता है। जिस शिशु के रूप में वे आते हैं उसम कुछ विशेष गुण होते हैं और खोज द्वारा उसका पता लगाया जा सकता है। पचन लामा की मृत्यु के पश्चात् उनका पुनर्जन्म साम्यवादी चीन में हुआ और उसने उनका पक्ष ग्रहण करके, उन्हें पदासीन करने के लिए, तिब्बत पर आक्रमण कर दिया। इसके दो अन्य कारण भी थे—(१) डलाई लामा की सरकार चीन के आधिपत्य की विरोधिनी थी और

(२) कोरिया की स्थिति के कारण चीन को विदेशी आक्रमण का भय था। अतएव अपनी रक्षा के लिए वह तिब्बत में अपनी स्थिति को अधिक से अधिक दृढ़ बनाना चाहता था।

तिब्बत, भारत का पड़ोसी देश है। अतएव भारत-सरकार चाहती थी कि उस देश में कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न न हो जिससे उसकी शांति और व्यवस्था में बाधा पहुँचे और उसका कुप्रभाव भारत पर भी पड़े। वह तिब्बत की समस्या को शांतिपूर्ण तरीकों से हल करना चाहती थी। अतएव जब साम्यवादी सेनाओं ने तिब्बत पर आक्रमण किया और डलाई लामा को अपनी राजधानी छोड़कर भागना पड़ा, उसने आक्रमण के विरुद्ध आपत्ति की और यहाँ तक स्पष्ट कर दिया कि जब तक चीन की सेनाएँ न रुकेंगी, तिब्बत का शिष्टमंडल पीकिंग को शांतिपूर्ण समझौते के लिए न रवाना होगा और ग्रास्टे में ठहरी हुई सैनिक टुकड़ी वापस न बुलायी जायगी। भारत के इस रुख के कारण कुछ लोगों को आश्चर्य हुआ। एक ओर तो वह साम्यवादी चीन को सुरक्षा-समिति का सदस्य बनाना चाहता था और दूसरी ओर तिब्बत में उसका विरोध कर रहा था। भारत की आपत्ति के उत्तर में चीन की सरकार ने इस बात पर जोर दिया कि तिब्बत की समस्या चीन की आंतरिक समस्या थी और भारत-सरकार की आपत्ति दूसरे राज्यों के प्रभाव पर आधारित थी। अंत में २३ मई सन् १९५१ को चीन और तिब्बत में एक समझौता हुआ। इसके अनुसार चीन की प्रभु-सत्ता के अंतर्गत तिब्बत को स्वशासन का अधिकार दिया गया है। इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि भारत के हितों पर कुप्रभाव न पड़े। समस्या का हल अभी तक नहीं हो पाया है किंतु स्थिति पहले की अपेक्षा अधिक सुलझी हुई दिखलायी पड़ती है।

भारत और नैपाल—तिब्बत की भांति भारत के उत्तर में नैपाल का पहाडी देश है। भारत से इसका संबंध सदा घनिष्ठता का रहा है। इसका मूल आधार सन् १८१६ की संधि थी, जो नैपाल की प्रथम लड़ाई के पश्चात् की गयी थी। सन १९२३ में उस संधि के स्थान पर मित्रता की दूसरी संधि की गयी। जब भारत स्वतंत्र हुआ, भारत-सरकार ने नैपाल से पहले तो यथास्थिति समझौता किया और तत्पश्चात् ३१ जुलाई सन् १९५० को उसके साथ एक नयी संधि की। राजदूतों की नियुक्ति, दोनों देशों के नागरिकों के आर्थिक अधिकारों आदि बातों के साथ-साथ इस संधि द्वारा यह निश्चित किया गया कि भारत-सरकार और नैपाल की सरकार में सदा मित्रता और घनिष्ठता रहेगी और दोनों देश एक दूसरे की प्रभुता, प्रादेशिक स्थिरता तथा स्वतंत्रता को स्वीकार

तथा उसका आदर करेंगे। दोनों सरकारों ने यह भी वादा किया कि वे एक दूसरे को ऐसी भ्रांतियों और संघर्षों की सूचना देती रहेंगी जिनका दोनों सरकारों में मित्रता के संबंध पर कुप्रभाव पड़ता हो। इस संधि द्वारा समस्त पूर्वकालीन सधियाँ समाप्त समझी गयीं। एक अनुच्छेद द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यह संधि तब तक लागू रहेगी जब तक किसी सरकार के द्वारा, एक बरस की नोटिस के पश्चात्, वह समाप्त न की जाय।

भारत और नैपाल की उक्त संधि के पश्चात् नैपाल में आंतरिक विप्लव हुआ। पिछले कुछ बरसों से नैपाल के अनेक निवासी शासन-सुधार पर जोर दे रहे थे। महाराजा की उनके साथ सहानुभूति थी। किंतु वे देश के केवल नाममात्र के शासक थे। वास्तविक शासनाधिकार प्रधान-मंत्री को थे। यह पद भी सन् १८४६ के पश्चात् आनुवंशिक हो गया था। नवंबर सन् १९५० में नैपाल की स्थिति सहसा गंभीर हो गयी। सपरिवार महाराजा ने पहले तो अपना महल छोड़कर नैपाल के भारतीय राजदूतावास में शरण ली और तत्पश्चात् वे भारत चले आये। उधर नैपाली कांग्रेस की अध्यक्षता में शासन-सुधार का जन-आंदोलन चला और समानांतर सरकारी संस्थाएँ स्थापित की जाने लगीं। नैपाल-सरकार ने महाराजा के तीन बरस के पोते को महाराजा घोषित किया किंतु भारत-सरकार ने उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया। इस प्रकार परिस्थिति और भी जटिल हो गयी। अंत में भारत-सरकार के हस्तक्षेप के कारण, एक समझौता हुआ जिसके द्वारा महाराजा त्रिभुवन वीर विक्रम शाह, जिन्होने भारत में शरण ली थी, पुनः नैपाल के महाराजा स्वीकार किये गये। साथ ही साथ शासन-सुधार की दो घोषणाएँ की गयीं। पहली के अनुसार, प्रौढ़ मताधिकार पर निर्वाचित एक संविधान-सभा स्वीकृत की गयी। यह यथासंभव नैपाल का संविधान बनाने को थी। दूसरी के अनुसार १४ मंत्रियों के एक मंत्रि-परिषद की व्यवस्था की गयी, जिसके सात सदस्य जनता के प्रतिनिधि होने को थे और जो संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धांत के अनुसार देश का केंद्रीय शासन संचालित करने को थी। नैपाल का शासन आजकल इसी समझौते के अनुसार हो रहा है। किंतु देश की स्थिति अभी तक पूर्णतया सुधर नहीं पायी है। भारत-सरकार यथा-संभव परामर्श और सहायता देकर नैपाल की स्थिति सुधारने के लिए प्रयत्नशील है।

भारत और पाकिस्तान—स्वतंत्रता के पश्चात् भारत और पाकिस्तान का परस्पर संबंध ऐसा है कि सुगमता से समझ में नहीं आता। एक ओर तो दोनों देशों ने लगभग एक दर्जन ऐसे समझौते किये हैं कि उनका परस्पर

संबंध अच्छा हो जाय। ये समझौते साधारणतया दो मुख्य विषयों के हैं—(१) सरकारी, अर्द्ध-सरकारी तथा स्थानीय संस्थाओं के भुगतान और पावने के संबंध में (२) यातायात के साधनों और व्यापार के संबंध में। दूसरी ओर दोनों देशों में इतना अधिक मतभेद है कि उनकी दो समस्याएँ संयुक्त-राष्ट्र-संघ के विचाराधीन हैं और कभी-कभी दोनों में युद्ध तक को चर्चा होने लगती है। मतभेद की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(१) शरणार्थियों की संपत्ति—देश के विभाजन के कारण, पाकिस्तान के अधिकांश हिंदू भारत को और पूर्वी पंजाब के अधिकांश मुसलमान पाकिस्तान को चले गये थे। चूँकि विभाजन बडी शीघ्रता से किया गया था और उसके साथ सांप्रदायिक बर्बरता के अत्याचार हो रहे थे, इसलिए जितने लोग एक देश से दूसरे देश को गये, वे अपनी अधिकांश संपत्ति को अपने मूल देश में ही छोड़ गये। इस संपत्ति के कारण, दोनों देशों में मतभेद है। जनवरी सन् १९४९ में इस संबंध में एक समझौता अवश्य हुआ था जिसके अनुसार शहरों की अचल संपत्ति की बिक्री या उसके विनिमय और चल संपत्ति के एक देश से दूसरे देश में ले जाने के निरीक्षण के लिए संयुक्त कमीशनों की व्यवस्था की गयी थी। कालांतर में ऐसा विदित हुआ कि इस समझौते के अनुसार सतोषपूर्वक कार्रवाई नहीं की गयी है और शरणार्थियों की सपत्ति पूर्ववत् अधिकृत की गयी है। २६ जुलाई सन् १९४९ को पाकिस्तान की सरकार ने, एक ऑर्डीनेंस द्वारा इस प्रकार की संपत्ति की बिक्री बंद कर दी और इसके कुछ दिनों पश्चात्, सर जफरुल्ला खाँ ने संयुक्त-राष्ट्र-संघ में दिये गये एक भाषण में एक ऐसे निष्पक्ष न्यायालय की माँग पेश की जो शरणार्थियों की संपत्ति का सर्वमान्य निर्णय कर सके। इतनी बात-चीत के होते हुए भी शरणार्थियों की सपत्ति का कोई ऐसा निर्णय नहीं हो सका है जिससे दोनों देशों को संतोष हो।

(२) आर्थिक बातें—आर्थिक प्रश्नों के संबंध में भी दोनों देशों में मतभेद है। स्वतंत्रता के पूर्व देश का आर्थिक विकास समस्त देश को एक इकाई मान कर किया गया था। अतएव विभाजन के कारण कुछ ऐसे प्रश्नों का उठना अनिवार्य था जिनके कारण दोनों देशों में मतभेद हो। रेलें, सड़कें, बैंकों में जमा धन, नहरें आदि ऐसी बातें थीं जिनके संबंध में सर्वमान्य समझौता तुरंत ही न हो सकता था। सीमा संबंधी झगड़े भी अनिवार्य थे। तिस पर विभाजन के कारण कच्चा माल उत्पादन करने वाले कुछ प्रदेश पाकिस्तान को चले गये थे, पर उनकी मीलें भारत में थीं। खाद्यान्न की दृष्टि से भारत स्वपर्याप्त न रह गया था पर पाकिस्तान के पास आवश्यकता से अधिक

खाद्यान्न था। मतभेद की उक्त बातों के निराकरण के लिए कई समझौते किये गये। कुछ बातें हल भी हो चुकी हैं और कालांतर में दूसरी बातें भी हल हो जाएँगी। पर आजकल आर्थिक बातों के कारण दोनों देशों में मतभेद का अस्तित्व है।

(३) **काश्मीर की समस्या**—काश्मीर के प्रश्न पर भी दोनों देशों में मतभेद है। भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् काश्मीर के महाराजा ने भारत और पाकिस्तान दोनों डोमोनियनों से यथास्थिति समझौते किये थे। कालांतर में उक्त समझौते के होते हुए भी, कबाइली जातियों ने, पाकिस्तान की सहायता से, रियासत पर हमले आरंभ किये जिनका रोकना महाराजा के लिए असंभव हो गया। ऐसा विदित होने लगा कि रियासत उक्त चाल द्वारा, जबरदस्ती पाकिस्तान में मिला ली जायगी। ऐसी संकटग्रस्त परिस्थिति में महाराजा ने भारतीय संघ में सम्मिलित होने की प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गयी। इस प्रकार काश्मीर भारत का अंग बन गया और उसकी रक्षा के लिए भारतीय सेनाएँ श्रीनगर को भेजी गयीं और वह नगर बचा लिया गया। कबाइली और पाकिस्तानी सेनाओं को पीछे हटना पड़ा। चूँकि अब काश्मीर भारत का अंग था और निश्चित रूप से यह कहा जा सकता था कि पाकिस्तानी सेनाएँ उस पर आक्रमण कर रही थीं इस लिए भारत-सरकार ने काश्मीर के प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा निर्णीत होने के लिए उसके विचाराधीन कर दिया। उसने जाँच के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की जिसने १३ अगस्त सन् १९४८ को अपना निम्नलिखित निर्णय दिया—(१) काश्मीर की लड़ाई बंद कर दी जाय। यह बात १ जनवरी सन् १९४९ से कार्यान्वित की गयी। २७ जुलाई सन् १९४९ को वे सीमाएँ भी निर्धारित कर दी गयीं जहाँ तक पाकिस्तान और भारत की सेनाएँ रह सकती थीं। (२) दोनों देशों में एक विराम-संधि की जाय जिसके अनुसार पाकिस्तानी सेनाएँ काश्मीर से हटा ली जायँ और तत्पश्चात् भारतीय सेनाएँ भी रियासत की रक्षा के अतिरिक्त, वहाँ से हटा ली जायँ। (३) ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जाय कि स्वतंत्रतापूर्वक जनानुमति द्वारा रियासत के भविष्य का निपटारा कर दिया जाय। एडमिरल चेस्टर निमिट्ज (Nimitz) जनानुमति के अधिकारी नियुक्त हुए। किंतु इस निर्णय की दूसरी बात के संबंध में मतभेद हो गया। पाकिस्तान ने काश्मीर से अपनी सेनाओं को हटाने में आनाकानी की। कुछ दिनों तक और बातचीत होती रही। अंत में कमीशन ने अपने निर्णय को वापस कर लिया और काश्मीर का प्रश्न पुनः संयुक्त राष्ट्र-संघ के विचाराधीन हो गया।

कुछ दिनों के पश्चात् सुरक्षा-परिषद् ने काश्मीर के प्रश्न को पुनः उठाया। १७ दिसंबर सन् १९४९ को उसने अपने सभापति, जनरल मेकनाटन को दोनों देशों के प्रतिनिधियों के परामर्श से इस प्रश्न के हल का अधिकार दिया। उन्होंने दोनों देशो के प्रतिनिधियों से बातचीत की और तत्पश्चात हल की एक योजना बनायी जिसकी मुख्य बातें इस प्रकार थीं—(१) काश्मीर का प्रश्न निष्पक्ष जनानुमति के लोकतंत्रात्मक ढंग से शीघ्र से शीघ्र हल किया जाय। (२) दोनों राज्य एकमत से 'लड़ाई बंद करो' लाइन के दोनों ओर से अपनी सेनाएँ इस प्रकार हटा ले कि किसी भी पक्ष को किसी प्रकार की आशंका न रह जाय। (३) 'लडाई बंद करो' लाइन के दोनों ओर की काश्मीरी सेनाएँ इतनी कम कर दी जायँ जितनी शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिए आवश्यक हों। (४) दोनों राज्य एकमत होकर यह स्वीकार करें कि उनकी अनुमति से संयुक्त-राष्ट्र-संघ का मंत्री जिस व्यक्ति को संयुक्त-राष्ट्र-संघ का प्रतिनिधि नियुक्त करे वह लोकतंत्रात्मक ढंग से इस समस्या के हल का निरीक्षण करे।

यह योजना भारत को स्वीकार न थी। जिस बात की जाँच के लिए, भारत ने काश्मीर के प्रश्न को संयुक्त-राष्ट्र-संघ के विचाराधीन किया था उसकी ओर लेशमात्र भी ध्यान न देकर वह काश्मीर की समस्या को जटिलतर बना रहा था। प्रश्न तो यह था कि कौन राज्य आक्रमण का दोषी था। संयुक्त-राष्ट्र-संघ इस बात पर विचार कर रहा था कि अंत में काश्मीर का प्रश्न किस प्रकार हल किया जाय।

१४ मार्च सन् १९५० को सुरक्षा-परिषद ने काश्मीर की समस्या के हल के लिए एक निर्णायक का नियुक्ति का प्रस्ताव पास किया। पाँच महीने के भीतर भारत और पाकिस्तान अपनी सेनाओं को हटाने को थे और तत्पश्चात् निर्णायक महोदय जनानुमति के आधार पर लोकतंत्रात्मक ढंग से काश्मीर के प्रश्न को हल करने को थे। सर ओवेन डिक्सन (Sir Owen Dixon) जो ऑस्ट्रेलिया के न्यायाधीश थे, इस प्रश्न के लिए निर्णायक नियुक्त हुए। उन्होंने काश्मीर के प्रश्न की जाँच करके अपनी रिपोर्ट तैयार की और यह स्वीकार किया कि पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण किया है। किंतु उन्हें इस बात की न तो जाँच करने का अधिकार था और न घोषणा करने का। सुरक्षा-परिषद का प्रस्ताव इस संबंध में चुप था। अतएव उन्होंने सुरक्षा परिषद से यह सिफारिश की कि काश्मीर की समस्या का हल परस्पर वार्तालाप द्वारा भारत और पाकिस्तान पर छोड़ दिया जाय और जब तक समझौता न हो जाय, 'लडाई बंद करो' की रेखा के अनुसार काश्मीर का प्रदेश पाकिस्तान और भारत के अधीन

रहे। भारत को यह निर्णय भी अमान्य था। इसके संबंध में सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह थी कि पाकिस्तान को आक्रमणकारी मानते हुए भी संयुक्त-राष्ट्र-संघ उसके विरुद्ध वह कार्रवाई करने में हिचकिचाता था, जो साधारणतया इस प्रकार के राज्यों के साथ की जाती तथा उसके चार्टर के अनुसार की जानी चाहिये थी।

३० अप्रैल सन् १९५१ को सुरक्षा-परिषद ने नॉर्थ कैरोलिना (North Carolina) विश्व-विद्यालय के अध्यक्ष डा० फ्रैंक ग्रेहम (Dr. Frank Graham) को, काश्मीर की समस्या के हल के लिए संयुक्त-राष्ट्र-संघ का प्रतिनिधि नियुक्त किया। उन्होंने सुरक्षा-परिषद के समक्ष इस समस्या के हल के संबंध में चार रिपोर्टें प्रस्तुत कीं। भारत को उनमें से एक भी मान्य न थी। ६ नवंबर सन् १९५२ को सुरक्षा-परिषद ने इस संबंध में एक नया प्रस्ताव पास किया। भारत को वह भी अमान्य था। इन सबमें इस बात का प्रयत्न किया गया था कि "युद्ध बंद करो" रेखा के दोनों ओर विरोधी सरकारें कितनी कितनी सेनाएँ रखें। भारत पाकिस्तान की सेना के होने का विरोधी था। चूँकि काश्मीर भारत में सम्मिलित हो गया था इसलिए वह पाकिस्तान को आक्रमक देश समझता था। अतः वह चाहता था कि पाकिस्तान के साथ वही बर्ताव किया जाय जो आक्रमक देशों के साथ किया जाता था। ऐसा विदित होता था कि संयुक्त-राष्ट्र-संघ काश्मीर के विभाजन की ओर देख रहा था, किंतु भारत काश्मीर को अपना अंग समझता था।

सन् १९५३ में काश्मीर में विप्लवकारी आंतरिक परिवर्तन हुए। काश्मीर के प्रधान मन्त्री, शेख मुहम्मद अब्दुल्ला, स्वतंत्र काश्मीर की कल्पना से प्रभावित हो, विदेशियों के षड्यंत्र का शिकार बनने लगे। उनके कुछ भाषण भी नीतिमत्ता-विहीन थे। उनकी मंत्रिपरिषद में भी भयंकर मतभेद था। अतः सदरे-रियासत ने उन्हें प्रधान मंत्री के पद से हटाकर, बख्शी गुलाम मुहम्मद को प्रधानमंत्री नियुक्त किया। शेख अब्दुल्ला गिरफ्तार करके नज़रबंद कर दिये गये। इस परिवर्तन की प्रतिक्रिया पाकिस्तान में भी हुई। वहाँ के प्रधान मंत्री मिस्टर मुहम्मदअली ने भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू से भेंट करके विचार-विनिमय की इच्छा प्रगट की। दोनों का सम्मिलन भी हुआ। कुछ दिनों के पश्चात पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी पाकिस्तान जाकर मिस्टर मुहम्मदअली से बातचीत की। किंतु अभी तक कोई ऐसा समझौता नहीं हो पाया है जो दोनों पक्षों को मान्य हो। ऐसा विदित होता है कि काश्मीर की समस्या का हल परस्पर वार्तालाप से ही हो सकेगा, किसी बाह्य संगठन के हस्तक्षेप अथवा

मध्यस्था से नहीं। किंतु जब तक ऐसा समझौता न हो जाय तब तक दोनों देशों में मनोमालिन्य का होना अनिवार्य है।

(४) **हैदराबाद की समस्या**—हैदराबाद और जूनागढ़ के कारण भी भारत और पाकिस्तान में मतभेद है। इन रियासतों के शासक तो मुसलमान थे, पर अधिकतर निवासी हिंदू थे। ब्रिटेन की प्रभुसत्ता के हटने पर, भौगोलिक अनिवार्यता की अवहेलना करके, जूनागढ़ के नवाब ने अपनी रियासत को पाकिस्तान में मिलाना चाहा और निजाम ने, यह जानते हुए भी कि रियासतें स्वतंत्र न हो सकती थीं, स्वतंत्र होने का विचार किया। इस संबंध में भारत-सरकार की नीति जनानुमति के अनुसार आचरण की थी। जूनागढ़ के नवाब के पाकिस्तान चले जाने पर, जनानुमति के निर्णय के अनुसार, वह रियासत भारत में मिला ली गयी। पाकिस्तान को यह बात नापसंद थी। हैदराबाद के साथ पहले तो यथास्थिति समझौता किया गया पर निजाम की सरकार उसके अनुसार न चलती थी। उसे कई बार चेतावनी दी गयी, पर परिणाम कुछ भी न निकला। रियासत में, इत्तिहादुल मुसलमीन की सहायता से सैयद कासिम रिज़वी और उसके रजाकर साथी, उत्पात मचा रहे थे। हिंदू जनता तथा उन मुसलमानों पर भी जो रियासत के भारत के मिलने के पक्ष में थे, भयंकर अत्याचार हो रहे थे और निजाम की सरकार उनके दमन के संबंध में निष्क्रिय थी। अंत में भारत-सरकार ने हैदराबाद के संबंध में एक श्वेतपत्र प्रकाशित किया, जिसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया था कि 'भारत-सरकार हैदराबाद के कुशासन को अकर्मण्य होकर नहीं देख सकती। भारत और हैदराबाद के संबंध-निर्धारण का एकमात्र तरीका यह है कि रियासत भारतीय संघ में मिल जाय और उसका लोकतंत्रीकरण किया जाय।" निजाम ने इसे अस्वीकार किया। फलस्वरूप हैदराबाद के विरुद्ध पुलिस कार्रवाई की गयी और अंत में निजाम ने यह स्वीकार कर लिया कि हैदराबाद की रियासत भारतीय संघ में मिल जायगी और उसका शासन-प्रबंध लोकतंत्रात्मक प्रणाली के अनुसार किया जायगा। कालांतर में निजाम ने भारत के लोकतंत्रात्मक गण-राज्य के संविधान को स्वीकार करके, अपनी रियासत को संघांतरित राज्य में परिवर्तित कर दिया है। राष्ट्रपति ने उन्हें अपनी रियासत का राजप्रमुख नियुक्त किया है।

हैदराबाद की उक्त गतिविधि पाकिस्तान को नापसंद थी। उसने हैदराबाद की पुलिस कारंवाई को संयुक्त-राष्ट्र-संघ के विचारार्थ उसके सम्मुख रखा। पर कुछ परिणाम न निकला। हैदराबाद की समस्या भारत की आंतरिक समस्या थी और इसके संबंध में संयुक्त-राष्ट्र-संघ को किसी प्रकार के हस्तक्षेप

का अधिकार न था। इस स्पष्ट बात के होते हुए भी, पाकिस्तान को हैदराबाद के संबंध में जबरदस्ती का आभास होता है। फलस्वरूप हैदराबाद और जूनागढ के विषय में भी, दोनों राज्यों में मनोमालिन्य है।

(५) विदेशी राज्यों का प्रभाव—विदेशी राज्यों की नीति के कारण भी भारत और पाकिस्तान में मनोमालिन्य है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि द्वितीय महासमर के पश्चात् संसार के अधिकांश देश दो गुट्टों में विभाजित हो गये हैं और भारत ने उन दोनों के प्रति तटस्थ रहने का निर्णय किया है। यह बात हृदय से न तो अमरीकी गुट्ट पसंद करता है और न रूसी गुट्ट। यदि भारत और पाकिस्तान का मनोमालिन्य दूर हो जाय और दोनों देश एक दूसरे का साथ देने लगें, तो यह आशंका निर्मूल नहीं कि वे एशियायी राज्यों का नेतृत्व करके एक तीसरे गुट्ट का निर्माण करेंगे जो अमरीकी और रूसी गुट्ट को निर्धारित सीमा में रहने के लिए बाध्य करेगा। संसार के विभिन्न देश भारत और पाकिस्तान के इस प्राधान्य के अनुकूल नहीं हैं। फलस्वरूप वे भारत और पाकिस्तान के मामलों पर निष्पक्षता से विचार न करके, अपने स्वार्थ के अनुसार उन पर विचार करते हैं और कभी-कभी ऐसी बातें कह डालते हैं जिनके कारण प्रत्येक देश दूसरे देश के अधिक निकट आने की अपेक्षा, उसके विरुद्ध भडक तथा उससे दूर हो जाता है।

(६) सांप्रदायिक वैमनस्य—भारत और पाकिस्तान के मनोमालिन्य का सर्वप्रधान कारण सांप्रदायिक वैमनस्य है। रक्तपात और नर-सहार के जिस दूषित वातावरण मे देश का विभाजन हुआ था उसकी दुखद स्मृतियाँ आज भी संबद्ध व्यक्तियों को सता रही हैं। तिसपर स्वतंत्रता के पश्चात् भी उसी प्रकार के नृशंस कार्य होते जा रहे हैं जिनके कारण लाखों की संख्या में एक देश के निवासी दूसरे देश की ओर जाने लगते हैं और शरणार्थियों की विकट समस्या दोनों देशों के सम्मुख उपस्थित हो जाती है। जनवरी सन् १९५० से इस प्रकार के अनेक कार्य विशेषतया पाकिस्तान में हुए और लाखों की संख्या में सताये गये अथवा भयभीत हिंदू भारत को आने लगे। प्रतिक्रिया-स्वरूप पश्चिमी बंगाल के मुसलमान भी पाकिस्तान की ओर जाने लगे। वातावरण इतना अधिक क्षुब्ध हुआ कि दोनों देशों में युद्ध की चर्चा होने लगी। इसे रोकने के लिए ८ अप्रैल सन् १९५० को नेहरू-लियाकत-अली समझौता हुआ। इसकी मुख्य शर्तें इस प्रकार हैं—

(१) दोनों देशों की सरकारें इस बात पर सहमत हैं कि वे अपने समस्त क्षेत्राधिकार में, धर्म के आधार पर विभेद किये बिना, अल्पसंख्यकों

हो, तो ३१ दिसंबर सन् १९५० तक, उसके मालिक के वापस आने पर, वह उसे लौटा दी जायगी। यदि ऐसा संभव न हो तो संबंधित सरकार उसके पुनर्वास की व्यवस्था करेगी। (र) यदि किसी अचल संपत्ति का मालिक वापस न आवे, तो उसके मालिकाना अधिकार में किसी प्रकार का अतिक्रमण न किया जायगा और वह उसे बिक्री या विनिमय द्वारा किसी दूसरे शरणार्थी या अन्य व्यक्ति को दे सकेगा। अल्पसंख्यकों के तीन प्रतिनिधियों तथा सरकार के एक प्रतिनिधि की कमेटी ऐसी संपत्ति की ट्रस्टी की भाँति काम करेगी। कानून के अंतर्गत कमेटी ऐसी संपत्ति का किराया वसूल कर सकेगी।

(३) पूर्वी बंगाल तथा पश्चिमी बंगाल, आसाम और त्रिपुरा के राज्यों के संबंध मे दोनों सरकारें इस बात में एकमत हैं कि वे (अ) सामान्य अवस्था के पुनस्संस्थापन के लिए अपने प्रयत्न जारी रखेंगी और अव्यवस्था को पुनः आने से रोकने के लिए उपयुक्त कार्रवाई करेंगी। (ब) उन सब लोगों को दंड देंगी जो किसी व्यक्ति के शरीर और सपत्ति के प्रति अपराध या किसी अन्य फौजदारी अपराध के दोषी हों। अव्यवस्था को रोकने के लिए जहाँ आवश्यक हो, सामूहिक जुर्माने किये जायँगे। यदि आवश्यक हो तो अव्यवस्था करने-वालों को शीघ्रातिशीघ्र दंड देने के लिए विशेष न्यायालय नियुक्त किये जायँगे। (स) लूटी गयी संपत्ति के पकड़ने के लिए यथाशक्त प्रयत्न करेंगी। (द) ऐसे साधन अपनावेंगी जो अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों के सहयोग से भगाई गयी स्त्रियों का पता लगाने में सहायता देंगे। (य) जबरदस्ती किये गये धर्म-परिवर्तन को अभिज्ञात न करेंगी। अव्यवस्था की अवधि में किये गये धर्म-परिवर्तन जबरदस्ती किये गये धर्म-परिवर्तन समझे जायँगे। जिन व्यक्तियों ने जबरदस्ती दूसरों का धर्म-परिवर्तन किया है वे दंडनीय समझे जायँगे। (र) हाल की अव्यवस्था के कारणों की जाँच तथा भविष्य में उसके रोकने के लिए सिफारिश करने को एक जाँच कमीशन नियुक्त करेंगी। कमीशन का सभापतित्व हाईकोर्ट का कोई न्यायाधीश करेगा और उसके सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जिनमें लोगों को विश्वास हो। (ल) शीघ्रातिशीघ्र ऐसी कार्रवाई करेंगी कि सांप्रदायिक वैमनस्य को बढ़ाने वाली बातों का प्रचार न हो। जो इस अपराध के दोषी हो उन्हें कठोर दड दिया जायगा। (व) इस प्रकार का प्रचार-कार्य न होने देगी जिससे दूसरे देश के प्रदेश पर अतिक्रमण होता हो या लड़ाई छिड़ने की आशंका उत्पन्न हो। जो व्यक्ति ऐसे अपराध के दोषी हों उनके विरुद्ध कार्रवाई की जायगी।

(४) लोगों में विश्वास उत्पन्न करने की दृष्टि से, जिससे शरणार्थी अपने घरों को लौट जायँ, दोनों सरकारों ने अव्यवस्थित प्रदेशों में, आवश्यक अवधि

तक, अपने एक-एक मंत्री को रखने तथा पूर्वी बंगाल, पश्चिमी बंगाल और आसाम के मंत्रि-परिषदों में अल्प-संख्यकों के एक प्रतिनिधि सम्मिलित करने का निश्चय किया है। आसाम के मंत्रि-परिषद में पहले ही से ऐसा मंत्री है। पूर्वी बंगाल और पश्चिमी बंगाल के मंत्रि-परिषदों में शीघ्र ही एक ऐसा मंत्री नियुक्त किया जायगा।

(५) इस समझौते के कार्यान्वित करने में सहायता पहुँचाने के लिए दोनों सरकारों ने निश्चित किया है, कि उपर्युक्त (४) में सांकेतित मंत्रियों के अतिरिक्त वे आसाम, पूर्वी बंगाल और पश्चिमी बंगाल के लिए अलग-अलग एक अल्प-संख्यक कमीशन नियुक्त करेंगी। कमीशन इस बात की जाँच करेगा कि समझौता किस सीमा तक कार्यान्वित किया गया है। वह उसके संबंध में सिफारिशें भी कर सकेगा।

नेहरू-लियाकतअली समझौता अपने काल का एक महत्वपूर्ण समझौता था। कुछ लोगों के मतानुकूल "उसके कारण भारत और पाकिस्तान के परस्पर संबंध का एक नया अध्याय आरंभ हुआ है"। दूसरे लोग उसे व्यर्थ समझते हैं। उनके मतानुकूल समझौते में एक भी ऐसी बात न थी जिसके संबंध में पहले से ही समझौता न हो गया हो। समझौता करने से ही सब कुछ नहीं हो जाता। उसके कार्यान्वित करने की इच्छा, समझौता करने की इच्छा से अधिक आवश्यक थी। इस प्रतिकूल मत के होते हुए भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि समझौते के पश्चात् दोनों देशों में सांप्रदायिक उत्पात कम हो गया है और बहुत से शरणार्थी अपने-अपने घरों को लौट गये हैं। इस समझौते के पश्चात् कुछ व्यापारिक समझौते भी हुए हैं, जिनसे दोनों देशों का परस्पर संबंध पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर हो गया है।

भारत और पाकिस्तान में मनोमालिन्य के उक्त कारणों की समीक्षा के पश्चात् हमें यह जान लेना चाहिये कि उक्त मनोमालिन्य चिरकालीन नहीं हो सकता। दोनों देश अतिकाल से एक ही देश के अंग रहे हैं। उनकी अनेक बातें दोनों देशों को एक इकाई मानकर की गयी हैं। कालांतर में जैसे-जैसे नयी समस्याएँ उपस्थित होंगी, उन्हें एक दूसरे की ओर खिंचना पड़ेगा। विभाजन-जनित समस्याओं के कारण इस समय उनमें मतभेद है। किंतु ये समस्याएँ क्रमशः हल होती जा रही हैं। अब काश्मीर की समस्या ही एक ऐसी महत्वपूर्ण समस्या है जिसके विषय में दोनों देशों में मतभेद है। कुछ लोगों का यह विचार है कि परस्पर वार्तालाप द्वारा यह समस्या भी हल की जा सकती है। भारत की ओर से जनवरी सन् १९५० में एक ऐसे समझौते की भी

बातचीत आरंभ हुई थी कि कोई भी देश दूसरे पर आक्रमण न करेगा। काश्मीर की समस्या के हल के बिना, पाकिस्तान ऐसे समझौते के लिए तैयार न था। फिर भी ऐसे समझौते की इच्छा दोनों देशों में समान रूप से विद्यमान है। संसार की समस्याएँ भी नित्यप्रति जटिलतर होती जा रही हैं। यह आशंका सर्वथा निर्मूल नहीं कि किसी भी समय संसार संकटग्रस्त हो जाय। ऐसी अवस्था में दोनों देशों की रक्षा के लिए यह आवश्यक होगा कि वे मिलकर अपनी नीति को निर्धारित करें। सारांश यह कि भारत और पाकिस्तान का मौजूदा मनोमालिन्य अस्थायी है और कालांतर में दोनो देशों की मित्रता और घनिष्ठता अवश्यंभावी है।

भारत और संयुक्त-राष्ट्र संघ—अपने पर-राष्ट्र-संबंध के संचालन में, भारत जब कभी जिस किसी ढंग से सम्भव हो, संसार की शांति को बढ़ाना चाहता है। वह उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, संयुक्त राष्ट्र-संघ का अधिक से अधिक प्रयोग करना चाहता है जिनके लिए वह स्थापित किया गया है। अतएव भारत संयुक्त-राष्ट्र-संघ का सदस्य है। उसके प्रतिनिधियों ने उसकी विभिन्न संस्थाओं के विचारों में भाग लिया तथा उनके हल में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। उसने अपनी भी दो समस्याएँ, उसके द्वारा निर्णय के लिए, उसके समक्ष रखी हैं—(१) दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के प्रति बर्ताव की समस्या और (२) पाकिस्तान द्वारा काश्मीर पर आक्रमण की समस्या। पहली समस्या के सैद्धांतिक सत्य को संयुक्त-राष्ट्र-संघ ने स्वीकार कर लिया है, पर वह उसके संबंध में कोई ऐसी कार्रवाई के करने में असमर्थ है जो दक्षिणी अफ्रीका की सरकार को भारतीयों के प्रति अच्छे बर्ताव के लिए बाध्य कर सके। भारत में संयुक्त-राष्ट्र-संघ की उक्त मनोवृत्ति के कारण कुछ असंतोष है। यही बात पाकिस्तान की समस्या के विषय में भी कही जा सकती है। संयुक्त-राष्ट्र-संघ पाकिस्तान को आक्रमक घोषित न करके, अंतर्राष्ट्रीय गुत्थियों के कारण, उस समस्या पर ऐसे दृष्टि-कोण से विचार कर रहा है, जो भारतीयों को मान्य नहीं है। फिर भी भारत संयुक्त-राष्ट्र-संघ से सहयोग कर रहा है। उसने एशियायी सम्मेलन, संयुक्त-राष्ट्र-संघ के अंतर्गत, किये हैं। कोरिया की समस्या के हल के लिए उसने जिस दृढ़ता से काम किया है वह सराहनीय है। उसने संयुक्त-राष्ट्र संघ की विभिन्न सस्थाओं की सदस्यता स्वीकार करके, अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए बहुमूल्य सहयोग प्रदान किया है। संयुक्त-राज्य-अमरीका के अत्यधिक प्रभाव के कारण कुछ लोगों की यह धारणा है कि संयुक्त-राष्ट्र-संघ की आत्मा का हनन हो गया है। भारत-सरकार अभी तक सर्वथा इस मत के

अनुकूल नहीं कही जा सकती, किंतु भारत के कुछ लोगों में इस प्रकार की मनोवृत्ति का उदय हो रहा है, विशेष कर इसलिए कि उसने भारत की समस्याओं पर उस दृढ़ता से विचार नहीं किया है, जो कोरिया के विषय में दिखलायी गयी है।

पर-राष्ट्र-संबंध के मल सिद्धांतों का व्यावहारिक स्वरूप—भारत की पर-राष्ट्र-नीति के मूल तत्वों का विवरण हम इस अध्याय के आरंभ में दे चुके हैं। ऊपर पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन की महत्वपूर्ण बातों का भी विवरण हो चुका है। क्या इन दोनों में सामंजस्य है? बहुत अंश तक अवश्य है। भारत संसार की शांति बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील है। कोरिया के संबंध में उसके प्रयत्न इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वह संयुक्त-राष्ट्र-संघ की भी उसके उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता कर रहा है। उसने अपने दो मामले उसके विचाराधीन कर रखे हैं। भारतीय प्रतिनिधि उसकी विभिन्न कमेटियों के विचारों में भाग लेते हैं। भारत ने अटलांटिक पैक्ट की भाँति अलग संस्थाओं के निर्माण द्वारा संयुक्त-राष्ट्र-संघ के प्रभाव को घटाने का प्रयत्न नहीं किया है। वह एशिया का निर्बल जातियों को ऊपर उठाने में प्रयत्नशील है। इंडोनेशिया और वियतमिन्ह रिपब्लिक के संबंध में किये गये उसके काम इस संबंध में उल्लेखनीय हैं। उसने फ्रांस और हॉलैंड की नाखुशी का ख्याल न करके इन देशों की खुल्लम-खुल्ला सहायता की है। वह यह नहीं चाहता कि एशियायी देशों में ऐसी सरकारें हों जो विदेशी सेना के बल पर देश पर शासन करें। इसी उद्देश्य से वह कोरिया की लड़ाई को शांतिपूर्ण तरीकों से हल करना चाहता था और स्वयं अपने क्षेत्राधिकार से, जनानुमति के आधार पर, फ्रांसीसियों और पुर्तगाल वालों को निकालना चाहता है। उसने अपने पर-राष्ट्र-संबंध भी स्थापित कर लिये हैं। पर क्या वह तटस्थता की नीति में सफल हुआ है? इस प्रश्न का उत्तर भी हमें 'हाँ' में ही देना पड़ेगा। भारत ने दो गुट्टों में से अब तक किसी का साथ इस प्रकार नहीं दिया है कि वह एक पक्षीय समझ लिया जाय। यदि एक ओर वह संयुक्त-राष्ट्र-संघ के साथ है तो दूसरी ओर, अपनी सेनाओं को, कोरिया की लड़ाई में सम्मिलित न करके, उसने अमरीका कैंप में आत्मार्पण नहीं किया है। यदि एक ओर वह लाल चीन को अभिज्ञात करके सुरक्षा-परिषद में उसे स्थान दिलाना चाहता है तो दूसरी ओर तिब्बत में उसके सैनिक आक्रमण को गलत बतलाने के कारण वह साम्यवादी रूस का साथी नहीं कहा जा सकता। सारांश यह कि वह प्रत्येक अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न पर न्याय की दृष्टि से विचार करता है, किसी एक पक्ष के सदस्य की भांति नहीं।

पर-राष्ट्र-नीति की आलोचना— पर-राष्ट्र-नीति के विषय में आजकल भारत में तीन विभिन्न वर्गों के लोग पाये जाते हैं। पहले वर्ग वाले आदर्शवादी कहे जा सकते हैं। ये मनुष्य के अधिकतम नैतिक विकास के पक्ष में हैं। फलस्वरूप ये सेना, युद्ध, पर-राष्ट्र-नीति आदि सभी बातों को अनावश्यक समझते हैं। भारत की मौजूदा स्थिति में ऐसे लोगों का कोई स्थान नहीं। व्यावहारिक जीवन में आदर्शवाद कपोल-कल्पना के समान है। दूसरे वर्ग वाले फासिस्टवाद की ओर झुके हुए हैं। वे छोटी-छोटी बातों से क्रुद्ध हो लड़ाई या बदले की चर्चा करने लगते हैं। पर-राष्ट्र-संबंध संचालन में वे अधिक उत्साही हो भारत के खोये हुए प्रदेशों को पुनः अधिकृत करना चाहते हैं। भारत की मौजूदा स्थिति मे इन लोगों का भी कोई स्थान नहीं है। तीसरे वर्ग के लोग यथार्थवादी कहे जा सकते हैं। ये कल्पना के संसार में न रहकर वास्तविक संसार के अनुसार पर-राष्ट्र-नीति निर्धारित करना चाहते हैं। यदि एक ओर ये मनुष्य के नैतिक विकास पर जोर देते हैं तो दूसरी ओर सेना और युद्ध की आवश्यकता को स्वीकार करते तथा युद्ध के लिए तत्पर रहने पर भी जोर देते हैं। भारत की मौजूदा सरकार यथार्थवादी दृष्टि-कोण की है और इसी के अनुसार अपनी पर-राष्ट्र-नीति को निर्धारित तथा पर-राष्ट्र-संबंध का संचालन कर रही है।

कुछ यथार्थवादियों के मतानुकूल स्वतंत्र भारत का पर-राष्ट्र-संबंध संचालन उतने अच्छे ढंग से नहीं किया गया है जितने अच्छे ढंग से वह अन्यथा किया जा सकता था। उनके विचारानुकूल भारतीय राजनीतिज्ञों में दूर-दर्शिता का अभाव तथा वक्तव्य निकालने और भाषण देने की अनुपम रुचि है। फलस्वरूप वे कभी-कभी ऐसी बातें कह डालते हैं जिनके विरुद्ध कुछ ही दिनों में उन्हें आचरण करना पड़ता है। उदाहरण के लिए राष्ट्र-मंडल में भारत के स्थान का उल्लेख किया जा सकता है। जब संविधान सभा में, ध्येय संबंधी प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था, उसी समय भारतीय राजनीतिज्ञों को, राष्ट्र-मंडल की सदस्यता की आवश्यकता पर विचार कर लेना चाहिये था। किंतु ध्येय संबंधी प्रस्ताव को स्वीकार तथा भारत को सर्व प्रभुत्व-संपन्न लोकतंत्रात्मक गण-राज्य घोषित करके राष्ट्र-मंडल की रियायतों तथा लाभों के लिए उसकी सदस्यता को स्वीकार करना कुछ ठीक नहीं प्रतीत होता है। यह सच है कि व्यवहार में स्वतंत्र भारत और राष्ट्र-मंडल के सदस्य भारत, में कुछ भी अंतर नहीं है। किंतु अंतर्राष्ट्रीय जगत में साधारणतया वास्तविकता पर उतना जोर नहीं दिया जाता जितना कानूनी बारीकियों पर और इस दृष्टि से यह स्वीकार करना अनिवार्य है कि सर्वप्रभुत्व-संपन्न लोकतंत्रात्मक गण-राज्य और राष्ट्र-मंडल के सदस्य वतमेंछ्यकुभरहैअं।

दूसरी बात जिसके संबंध में भारत के पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन की आलोचना की जाती है वह काश्मीर की समस्या है। इसमें संदेह नहीं कि पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया था और भारतीय और पाकिस्तानी सेनाएँ एक दूसरे के सामने थीं। युद्ध छिड़ जाने की भी आशंका थी। इसका प्रभाव पाकिस्तान पर उतना ही अधिक पड़ता जितना भारत पर। फिर भारत, अति व्यग्रता से परस्पर वार्तालाप किये बिना, इस समस्या को संयुक्त-राष्ट्र-संघ के समक्ष क्यों ले गया? क्या उसने इस बात पर विचार किया था कि पाकिस्तान का रुख इसके संबंध में क्या होगा? क्या उसका इस बात में विश्वास था कि संयुक्त-राष्ट्र-संघ के सदस्य अपने हित का ध्यान न करके नितांत सत्य के पक्ष में अपना मत प्रकाश करेंगे। गत सौ बरसों का अंतर्राष्ट्रीय इतिहास इस निष्कर्ष के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रीय स्वार्थ-साधन उसका मूलमंत्र रहा है। काश्मीर की समस्या को संयुक्त-राष्ट्र-संघ के विचारार्थ, उसके समक्ष रखने के पूर्व, भारत को इन बातों पर विचार कर लेना चाहिये था। उसे विपक्षियों की दलीलों तथा अंतर्राष्ट्रीय जगत के रवैये के अनुसार ही अपने सब कामों को करना चाहिये था। ऐसा न करने के कारण काश्मीर की समस्या राज्यों के गोरखधंधे में उलझ गयी है और उसका ऐसा निर्णय दृष्टिगोचर नहीं होता, जो भारत की मान-मर्यादा तथा सत्य के अनुकूल हो।

तीसरी बात जिसके संबंध में भारत की पर-राष्ट्र-नीति की कड़ी आलोचना की जा रही है, वह मुद्रा-अवमूल्यन की है। १३ सितंबर सन् १९४९ को भारत ने इंगलैंड के साथ-साथ अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया। इस संबंध में विशेषज्ञों का परामर्श लिया गया या नहीं और यदि लिया गया तो उनके परामर्श के अनुसार काम किया गया या नहीं, ये विवादास्पद प्रश्न हैं। किंतु यह निश्चित है कि पाकिस्तान का परामर्श नहीं लिया गया। अब तक भारत और पाकिस्तान के रुपये के मूल्य में किसी प्रकार का अंतर न था। किंतु इस तिथि के पश्चात् हो गया। पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया। फलस्वरूप भारत के लगभग १५०) पाकिस्तान के १००) रुपये के बराबर हो गये। उन दिनों पाकिस्तान की नीति की कड़ी आलोचना की गयी। यहाँ तक कह डाला गया कि पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति कुछ ही दिनों में डाँवाडोल हो जायगी। किंतु वास्तविक स्थिति इसके भिन्न निकली। खाद्यान्न के संकट के कारण सन् १९५१ के आरंभ में भारत ने पाकिस्तान के साथ एक व्यापारिक समझौता किया, जिसमें उसे पाकिस्तान के रुपये की विनिमय की दर को उसकी ही शर्तों पर स्वीकार करना पड़ा।

तटस्थता की नीति की भी कड़ी आलोचना की जा रही है। संसार की मौजूदा स्थिति में या तो निर्बल शक्तियाँ तटस्थ रह सकती हैं या महाशक्तियाँ। भारत ऐसा राज्य, जो एशिया के मध्य में स्थित है और जिसके चारों ओर ऐसी स्थिति है कि किसी भी समय आग उभड़ सकती है, तटस्थ रह सकता है अथवा नहीं, यह एक विवादास्पद बात है। तटस्थता की नीति के कारण, संसार के विभिन्न राज्य, भारत के प्रति वह सहानुभूति नहीं दिखला रहे हैं जिसका वह वास्तव में अधिकारी है। सयुक्त-राष्ट्र-संघ में आज उसका प्रभाव इतना अधिक नहीं जितना पहले था। वह संस्था ही अपने उच्चादर्शों से गिरता हुई दिखलायी पड रही है। सारांश यह कि तटस्थता की नीति के कारण अंतर्राष्ट्रीय जगत में भारत का स्थान उतना ऊँचा नहीं है जितना वास्तव में होना चाहिये।

पर-राष्ट्र-नीति के मूल आधार—क्या भारत को अपनी पर-राष्ट्र-नीति में परिवर्तन करना चाहिये। इस दिशा में पहला पग उठाया जा चुका है। तटस्थता की नयी व्याख्या की गयी है। यदि भारत के हितों पर आघात होता हो या उसकी सुरक्षा खतरे में हो, तो वह तटस्थता की आड़ में ऐसी बातों को सहन न करेगा। संभवतः भारत को अपनी पर-राष्ट्र-नीति में कुछ अन्य परिवर्तन भी करने पडेंगे। उसकी पर-राष्ट्र-नीति का उद्देश्य यह होना चाहिये कि अंतर्राष्ट्रीय जगत में उसका वह स्थान हो जाय जिसका वह अधिकारी है। इसके दो आधार हो सकते हैं—(१) सामूहिक सुरक्षा का आधार और (२) प्रादेशिक पैक्ट का आधार। सामूहिक सुरक्षा संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सफलता पर निर्भर करती है। यह संस्था शक्तिशाली तो है पर इतनी शक्तिशाली नहीं कि उस पर पूर्णतया विश्वास किया जा सके। भारत ने अभी तक किसी प्रादेशिक पैक्ट का निर्माण नहीं किया है। उसने अपने निकटवर्ती देशों से व्यापारिक संधियाँ अवश्य की हैं, पर वे संधियाँ इस प्रकार की नहीं हैं कि उनके आधार पर भारत की सुरक्षा आधारित की जा सके। इन दोनों से भी अधिक महत्वपूर्ण बात आंतरिक दृढ़ता है। सफल पर-राष्ट्र-संबंध के लिए यह आवश्यक है कि आंतरिक बातों में देश को किसी का मुँह न ताकना पड़े। भारत की स्थिति आजकल ऐसी नहीं है। आंतरिक विकास के लिए वह दूसरे देशों पर निर्भर है। ऐसी अवस्था में किसी [illegible] अंतर्राष्ट्रीय स्थान बहुत ऊँचा नहीं हो सकता। सारांश यह कि अपने अंतर्राष्ट्रीय स्थान को ऊँचा करने के लिए यह आवश्यक है कि भारत में [illegible] दृढ़ता हो। [illegible] वह प्रादेशिक पैक्टों और सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांतों [illegible] में अपने प्रभाव को बढ़ाने में सफल हो सकेगा।